प्रसाद के नाटकों
का
ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन

डा० जगदीश चन्द्र जोशी
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक—
उपमा प्रकाशन
जयपुर

वितरक—
आत्माराम एण्ड संस दिल्ली
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

शाखाएँ—
चौड़ा रास्ता जयपुर
हौज खास, नई दिल्ली
विश्व-विद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
१७-अशोक मार्ग, लखनऊ

मूल्य १०-००

मुद्रक—
राजधानी प्रिंटर्स,
जयपुर।

दिवंगत

आचार्य श्री मोहन वल्लभ जी पंत को—

सादर

भूमिका

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों पर यदि ऐतिहासिक सांस्कृतिक दृष्टि से फिर विचार करने का अवसर मिले तो सम्भवतः मैं कुछ भी नया न कह सकूँ, यही सोचकर कई वर्षों के अन्तराल के बाद अपने शोध-ग्रन्थ को उसी रूप में पुनः प्रस्तुत करते हुए मुझे असंतोष नहीं है। नये प्रश्न उठाये जा सकते थे और उन पर स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकना संभव था किन्तु इन सभी प्रश्नों को एक और ग्रन्थ में देना उपयोगी समझ कर रुक गया हूँ।

आज भी मेरी मान्यता यही है कि प्रसाद के नाटकों के रचना-तन्त्र के पीछे भारतीय नाट्य-शास्त्र का प्रभाव बहुत ही कम है जितना है वह भी सीधा नहीं है संस्कृत नाटकों से प्रेरित है। भारतेंदु-युगीन नाट्य परम्परा से भी वे जुड़े हैं किन्तु उन पर सर्वाधिक प्रभाव शेक्सपियर की नाट्य-शैली का है, जो कहीं पर सीधे और कहीं पर पारसी थियेटर के माध्यम से उनके नाटकों को प्रभावित करती रही है। पारसी थियेटर का प्रभाव उनमें कम नहीं है। इन सभी पर विचार करना आवश्यक है किन्तु यहाँ चाहते हुए भी मैं ऐसा कर नहीं सकता था।

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि से इधर प्रसाद के नाटकों पर बहुत विचार हुआ है लेकिन कोई नई बात कही गई हो ऐसा नहीं लगता। रामगुप्त के सम्बन्ध में पुरातत्व ने नई खोजें की हैं और उनके आधार पर रामगुप्त का राजत्व प्रमाणित हो चुका है किन्तु प्रसाद के नाटक के संदर्भ में इन खोजों से नया प्रकाश नहीं पड़ता। स्कंदगुप्त के बाद गुप्त शासकों ने सुदीर्घ काल तक राज्य किया फिर भी यह सिद्ध नहीं हो सका है कि स्कंदगुप्त के पुत्रों ने उसकी मृत्यु के उपरांत शासन सूत्र सँभाला, अतः प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि नवीन अनुसंधानों के आलोक में भी पूर्णतः प्रामाणिक प्रतीत होती है।

आधुनिक युग में लिखे गये नाटकों का ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विवेचन क्यों किया जाय, यह चिन्त्य है कई बार मुझसे पूछा भी गया है। नाटक का रंगमंच और अभिनय से संबंध है इतिहास और संस्कृति तो उसके लिए कथा-स्रोत और पीठिका का ही कार्य कर सकते हैं। प्राचीन नाटकों के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अनुसंधान से इतिहास को सहायता मिलती है, अतः उस तरह का अध्ययन तो फिर भी उपयोगी हो सकता है इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि प्रसाद के कवि नाटककार और कथाकार में भारतीय इतिहास और संस्कृति का इतना गहरा और व्यापक प्रभाव है कि उनके कृतित्व के किसी भी रूप का सही मूल्यांकन कर

सकना तब तक संभव नहीं जब तक उनकी रचनाओं की उस विस्तृत पीठिका को स्व तन्त्ररूप से न समझा जाय। हिन्दी के आधुनिक रचनाकारों में प्रसाद सर्वाधिक अतीतोन्मुख हैं। अतीत उनके लिए पलायन का साधन नहीं है उनके अनुसंधान का क्षेत्र है उन्होंने एक इतिहासकार की शोध परक दृष्टि से इतिहास का अध्ययन किया है अतः उनकी सृजनात्मक प्रतिभा इतिहास के क्षेत्र में आ कर अपनी रचनाओं के लिए उपकरण जुटाने में समर्थ रही है। ऐसे रचनाकार का मूल्यांकन ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भों की छानबीन के बिना लगभग असंभव है।

रचना-तिथि अथवा प्रकाशन-तिथि के आधार पर नाटकों का विवेचन न कर, ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार विवेचन करने के पीछे यही उद्देश्य रहा है कि प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि एवं उनके अध्ययन को भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सके। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक बौद्ध-काल से हर्षवर्द्धन तक बारह तेरह सौ वर्षों के भारतीय इतिहास की परिधि में आते हैं। 'विशाख' को मैं छोड़ गया हूँ क्योंकि वह इस परिधि के भीतर होते हुए भी भारत के हिन्दू सम्राटों के इतिहास से संबद्ध नहीं है, क्षेत्रीय इतिहास की अस्पष्ट सीमाओं से संयुक्त है। प्रसाद का भारतीय इतिहास का जो विराट् अभिदर्शन था, विशाख सम्बन्धी इतिवृत्त की उसमें संगति नहीं जुड़ती।

यहां मैं अपने ही एक कथन को दुहराने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ—'प्रसाद के नाटकों में भारतीय इतिहास और संस्कृति का समावेश अनायास ही नहीं हो गया है। उनके एक एक शब्द के पीछे प्रसाद का गहरा अध्ययन है। इससे सिद्ध होता है कि नाट्य रचना करते समय प्रसाद ने इतिहास के साधारण तथ्यों चरित्र की सामान्य विशेषताओं और वातावरण के छोटे से छोटे स्वरूप को भी नहीं भुलाया है। उनका नाटककार इतिहास के प्रति पूर्ण सजग रहा है और इतिहासकार ने सर्वत्र नाटककार के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखी है।

दुस्त प्रकाशकों के हाथ पड़ जाने से किसी कृति की क्या हो जाता है, इसका पर्याप्त अनुभव कर चुका हूँ। वर्षों बाद आज उस प्रकार के संतोष का अनुभव कर रहा हूँ जैसे अभी अभी पहली कृति का प्रकाशन हुआ हो। मूल्यांकन के रूप में अन्तिम परिच्छेद जोड़कर लग रहा है कि ग्रन्थ पूरा हुआ है। 'आत्माराम एण्ड सन्स' जयपुर के श्री नरेन्द्र ने जिस तत्परता से इसका प्रकाशन किया है उसका अनुभव ही किया जा सकता है।

आचार्य मोहन वल्लभ जी पंत आज अपने पार्थिव शरीर को छोड़ चुके हैं किन्तु अपनी शिष्य परम्परा में आचार्य अमर रहता है। यह ग्रन्थ अपने नवीन संस्करण में, इस नूतन रूप में उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

शिवरात्रि

९ मार्च, १९७० — जगदीश चन्द्र जोशी

विषय-सूची

इतिहास का स्वरूप और उसके मूल उत्स

इतिहास का सामान्य अर्थ भूत काल की घटनाओं और उन घटनाओं से सम्बन्धित स्त्री पुरुषों के चरित्रों का लिपिबद्ध स्वरूप है इसलिये सदा ही इतिहास का सम्बन्ध नाम घटना और तिथियों से जोड़ा जाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से 'इतिहास' शब्द अपने इसी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है किन्तु मूल रूप में उक्त अर्थ देने पर भी इतिहास रचना के स्वरूपों और उसकी व्याख्या में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। युगों-युगों की विचारधाराएँ अपने बहुमुखी स्रोतों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रवाहित होती रहती हैं। उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूपों और उसकी प्रणालियों में भी अन्तर होता रहता है। प्राचीन इतिहासकार के सम्मुख इतिहास प्रधानतः व्यक्तिपरक होता था वह महत्वपूर्ण व्यक्तियों सम्राटों और साम्राज्ञियों सेनापतियों तथा राजनीतिज्ञों एवं तेजस्वी राजदूतों तथा धार्मिक मठाधीशों के अच्छे अथवा बुरे क्रिया-कलापों का लेखा जोखा मात्र था। उसमें युद्धों राजनीतिक षड्यन्त्रों धार्मिक विद्रोहों इत्यादि की सूचना भर होती थी। यही कारण है कि जान रिचार्ड ने इसको 'ढोल और तूर्य का इतिहास''[1] कहा है उक्त इतिहास ठोस तथ्यों का इतिहास था उसमें व्यक्तिगत उद्देश्यों की चर्चा के साथ प्रेम और घृणा असफलता महत्वाकांक्षा अधःपतन एवं मैत्री और विरोध की कहानी होती थी।

परन्तु कालान्तर में इतिहास के दृष्टिकोण में भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया आधुनिक इतिहासकार के लिये इतिहास का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है। नये इतिहास का भी एक दर्शन है जो एक ओर तो विश्लेषणात्मक एवं तर्कपूर्ण विवेचना के क्षेत्रों को स्पर्श करता है और दूसरी ओर सश्लिष्ट प्रभाव की व्यंजना को। मानव समाज के असंख्य घात प्रतिघात में आधुनिक इतिहासकार ऐसे चिरन्तन नियमों का अन्वेषण करता है जिसका सम्बन्ध व्यक्तिविशेष और कालविशेष से न होकर मानव सभ्यता के चिरन्तन एवं शाश्वत सत्यों से है। आज का इतिहासकार इतिहास को काल खण्डों में विभाजित करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता उसका दृष्टिकोण उस दार्शनिक का सा होता है जो मानव जीवन के इतिहास के

---

१ 'हिस्ट्री आफ ड्रम एण्ड ट्रम्पेट' इंगलिश हिस्ट्री इन शेक्सपीयर मेरियट पृ० ११ १४।

आदि मध्य और अन्त को स्वतंत्र न मान कर काल की अविच्छिन्न धारा के रूप में देखता है। वह इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकता कि किसी भी ऐतिहासिक युग में घटित महत्वपूर्ण परिवर्तन अथवा क्रांतियाँ एकाएक हो जाती है। उसकी दृष्टि में ऐसे किसी भी परिवर्तन का कारण उस युग से पूर्व के युगों में अवश्य निहित होता है इसीलिये आज का इतिहासकार एक सफल वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की तरह कार्य कारण परम्परा के सूक्ष्म विवेचनों द्वारा प्रत्येक देश और काल के ऐतिहासिक स्वरूपों और परिवर्तनों पर विचार करता है।

इतिहास के इन दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूलतः इन दोनों में विरोध नहीं है, प्रथम प्रकार का ऐतिहासिक विवेचन व्यक्ति और काल सापेक्ष्य है और द्वितीय प्रकार का व्यक्ति और काल निरपेक्ष। इसमें सन्देह नहीं कि विशेष काल में विशेष प्रकार के व्यक्ति अनायास ही जन्म नहीं लेते मूलतः वे युगों के अजस्र प्रवाह की एक लहर की तरह होते हैं जो काल की अखंड धारा में एक बार ऊँचे उठकर पुनः विलीन हो जाते हैं। वास्तव में उक्त दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक है। इतिहासकार एक के आधार पर दूसरे को समझने का प्रयत्न करता है। मोटे रूप से इतिहास के इन दोनों स्वरूपों में से एक को इतिवृत्तात्मक इतिहास कह सकते हैं और दूसरे को सांस्कृतिक इतिहास। इतिवृत्त का सम्बन्ध विशेष व्यक्तियों एवं काल विशेष से होता है परन्तु संस्कृति किसी भी सभ्यता का अविच्छिन्न प्रवाह है जो समष्टिपरक और व्यक्ति निरपेक्ष है।

उक्त विवेचन के आधार पर किसी इतिहासकार के पास दो प्रकार की सामग्री होती है। किसी भी काल के महत्वपूर्ण व्यक्तियों एवं उनके क्रियाकलापों के आधार उस काल के इतिहासकारों के ग्रन्थ मुद्रायें शिलालेख ताम्रपत्र अभिलेख मूर्तियाँ स्तम्भ इत्यादि ही हो सकते हैं, परन्तु किसी भी काल की सभ्यता के इतिहास के लिये ये प्रमाण पर्याप्त नहीं होते। इतिहास जिसे तथ्य प्रमाण कहता है वह इतना कम है कि केवल उसके आधार पर इतिहास की रूप रेखाएं भी नहीं बन सकती। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से भारत मिश्र यूनान रोम और चीन के इतिहास का आधार केवल शिलालेख इत्यादि नहीं है वरन् प्राचीन साहित्य और पौराणिक कथाएँ और किंवदन्तियाँ लोक विश्वास एवं रीतिरिवाज भी हैं। यदि इसी कथन को और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो सिन्धु घाटी की सभ्यता के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीनतम सभ्यताओं का ऐतिहासिक आधार प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ और ऐसी लोक-कथाएँ ही हैं जिनको कालान्तर में लिपिबद्ध कर ऐतिहासिक मान लिया गया।

कोई भी इतिहासकार अपने इतिहास के लिए सर्वप्रथम "ज्ञात इतिहास" का आश्रय लेता है। ज्ञात इतिहास का सम्बन्ध उन घटनाओं एवं व्यक्तियों से है जो एक

विशेष वातावरण और देश काल की सीमा में रहते हुए भविष्य के लिए अपने जीवन एवं युग के कुछ न कुछ चिह्न छोड़ जाते हैं। उनके ये स्मारक ही ज्ञात इतिहास के उपकरण होते हैं। ये चिह्न कभी तो प्रामाणिक होते हैं कभी केवल आनुमानिक। इस 'ज्ञात इतिहास' को भी हम 'ध्रुव' और "चल" इतिहास नाम के दो भागों में बाँट सकते हैं। ध्रुव इतिहास तो ज्ञात इतिहास का वह भाग कहा जा सकता है जिसमें कालान्तर में कभी भी किसी प्रकार का महत्वपूर्ण अन्तर नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राचीन युग के स्मारक उसके लिए मूर्त प्रमाण हैं। वस्तुतः इसे ही प्रामाणिक इतिहास भी कहा जा सकता है। "चल इतिहास" का सम्बन्ध ज्ञात इतिहास के उस स्वरूप से है जिसके लिए भूतकालीन प्रामाणिक स्मारक उपलब्ध नहीं हैं किन्तु आनुमानिक होते हुए भी उसमें इतिहास की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं साथ ही उसके अभाव में ज्ञात इतिहास की सारी कड़ियाँ जुड़ भी नहीं पातीं। कालान्तर में कभी भी अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने पर 'चल इतिहास' में पर्याप्त परिवर्तन किया जा सकता है। ध्रुव इतिहास के आधार सब कालों के लिये सत्य हैं क्योंकि उसके सम्बन्ध में निश्चित प्रमाणों का अभाव नहीं होता। "चल इतिहास" के आधार प्राचीन प्रवाद लोक विश्वास और रीति रिवाज होते हैं जिनको समाज शास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त अनुसन्धान द्वारा इतिहास के समकक्ष मान लिया जाता है। इसी 'चल इतिहास' को कभी सुधारने और कभी भ्रष्ट करने में दंतकथाओं (लीजेन्ड्स) का बहुत बड़ा हाथ होता है। प्राचीन यूनान के सम्बन्ध में जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री आज प्राप्त होती है वह कितनी ऐतिहासिक है और कितनी नहीं यह कहना असम्भव है। होमर ने "ट्रोजन इतिहास" पर जो काव्य लिखे उनमें तत्कालीन नायकों के असम्भव क्रिया कलापों की कमी नहीं है परन्तु प्राचीन लेखकों ने काल्पनिक वृत्तों को भी थोड़ा सा संतुलित कर इतिहास का स्वरूप दे दिया।[1] एक्युसिलस (५०० ई० पू०) ने ग्रीस के राजकुलों के इतिहास के लिए हेसियड की कविताओं को प्रमाण मान लिया। हेलेनिकस (४०० ई० पू०) ने होमर की मूल कथाओं को किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण मानकर मानव वीरों और उनके विलक्षण क्रियाकलापों को मानवोचित स्तर पर उतार कर इतिहास का स्वरूप दे दिया। हेरोडोटस और थ्यूसीडाइडस ने अपनी पुस्तकों में इतिहास और किस्से कहानियों का ऐसा सम्मिश्रण किया कि बाद के इतिहासकारों के सम्मुख इतिहास का कोई निश्चित स्वरूप नहीं रह सका। कुछ इतिहासकारों ने कल्पना और कहानी से परिपूर्ण उन लेखकों के वृत्तान्तों को प्रामाणिक इतिहास मान लिया और कुछ इसके विरोध में उठ खड़े हुए। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समस्त संसार का प्राचीनतम इतिहास अधिकांश दंतकथाओं में ही है। सिकन्दर के सम्बन्ध में प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत

---

१ हिस्ट्री आफ दि इ गलिश नोवल वेकर पृष्ठ १२

करने वाले डायोडोरस साइक्यूलस ट्रोगस पाम्पीयस तथा क्विंटस कर्टियस सभी ने जिन प्रमाणों के आधार पर अपना इतिहास प्रस्तुत किया वे प्रमाण वस्तुत कल्पना प्रसूत और अस्वाभाविक कथानकों पर आधारित हैं।[1] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ मूल इतिहास पर जब कल्पनाओं के आरोप से नये आख्यानों की सृष्टि होती है वहीं जब कल्पनाओं पर इतिहास का आरोपण कर नया इतिहास भी बन सकता है और बनता आ रहा है। लोक-कथाएं वास्तव में साधारण जनता की चीजें हैं। भारतवर्ष में भी लोक कथाओं का स्वरूप परम्परा प्राचीन है और इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार सिकन्दर के इतिहास के निर्माण में भारतीय लोक कथाओं (इस्टर्न फेबल्स[2]) का हाथ रहा है उसी प्रकार सम्भव है यूनान के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी हेलेन और ट्राय के विवरणों के निर्माण में भी रामायण महाभारत जैसे आख्यान काव्यों (एपिक्स) से उद्भूत जन कथाओं का हाथ रहा हो। स्वयं रामायण और महाभारत ग्रन्थों में यह अनुमान लगाना कठिन है कि उनमें इतिहास और कल्पना का क्या अनुपात है। दोनों को लोक विश्वासों और लोक कथाओं ने इतना प्रभावित किया है कि उनमें असम्भव घटनाओं को सत्य के रूप में चित्रित किया गया है। उक्त कथन से इस मान्यता पर कोई बाधा नहीं पड़ती कि सभी असम्भव प्रतीत होने वाली घटनाएं प्रतीकात्मक हैं। सम्भव है ऐसी ही हों परन्तु ये घटनाएं आईं कहाँ से ? इनके स्वरूप का ऐसा निर्माण किस प्रकार हुआ ? स्पष्ट है कि मूल इतिहास कुछ भी रहा हो उस पर कम से कम लोक कथाओं और लोक विश्वासों ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ किया और कल्पनाओं पर आधारित नया इतिहास बनता रहा। राम और युधिष्ठिर ऐतिहासिक व्यक्ति हैं या नहीं इस प्रश्न को छेड़े बिना भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनका ऐतिहासिक होना सम्भव अवश्य है। यद्यपि उनके अलौकिक क्रिया कलापों की बौद्धिक व्याख्या कर उनको ऐतिहासिक सिद्ध करने के प्रयत्न अभी भी चल रहे हैं तथापि उस अलौकिकता को इतिहास की सीमा के भीतर लाना कठिन है। इतिहास में कल्पना के प्रयोग का यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं होता। सहस्रों वर्षों तक लोक मानस की बहुमुखी प्रतिभा अनजाने इस कार्य को करती रहती है और वैयक्तिक इतिहास की धारा को नव नव धाराओं में बाँटकर समग्र जनता की वस्तु बना देती है।[3] भारतवर्ष के राम कृष्ण और युधिष्ठिर, यूनान के हेलेन और सिकन्दर मिस्र की क्लियोपेट्रा इसी

---

१ हिस्ट्री आफ दी इ गलिश नौवल : बेकर पृष्ठ २१

२ वही पृष्ठ २४ २१

३ 'सीजेड इज ए कम्युनल थिंग इन ए कम्प्लीट्युअल स्टेट आफ इक्सपेंशन। दिफरेंट इमैजिनेशन्स वर्क अपौन दिस मास ऐज ए फर्टिलाइजिंग मीडियम"

हिस्ट्री आफ द इंगलिश नौवल बेकर

क्रिया से इतिहास से किंवदंती और किंवदंतियों से पुनः इतिहास बन गये। इस क्रिया-प्रक्रिया के स्पष्ट स्वरूप से कथाओं के जिस विस्तृत भंडार की प्राप्ति हुई है उसके संबंध में यह तो कहना ही पड़ेगा कि वह निश्चय ही लोकमानस से उद्भूत किंवदंतियों और कथाओं का एक व्यक्ति अथवा कई व्यक्तियों द्वारा किया हुआ संपादन मात्र है। परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस प्रकार की लोक कथाओं का भी कुछ न कुछ ऐतिहासिक आधार अवश्य होता है चाहे वह आधार कथा के आवरण में पूर्णतया प्रच्छन्न क्यों न हो गया हो। लोक मानस मौलिक पर ज्ञात इतिहास पर ही कल्पनाओं की नई पर्तें जमाता चलता है। यही कारण है कि आज का इतिहासकार उक्त कथाओं की बाह्य पर्तों को अनावृत कर उनमें से ऐतिहासिक सत्य ढूंढने का प्रयास करता है। लोक कथाओं के आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास के लुप्त एवं अज्ञात स्थलों की गवेषणा का कार्य नया नहीं है। लोक कथाओं और किंवदंतियों का इतिहास से कितना गहरा संबंध है इसका अनुमान भारतीय इतिहास की विक्रमादित्य और कालिदास संबंधी समस्या से भी लगाया जा सकता है। उज्जयिनी के शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नों में कालिदास व इस जनश्रुति ने ५७ ई० पू० के मालव गणपति विक्रमादित्य की कल्पना के लिये इतिहास को बाध्य कर दिया। उक्त लोक कथा का लिखित रूप 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' की कथाओं में स्पष्ट है और आज इतिहास की इतनी गवेषणाओं के उपरान्त भी कालिदास और विक्रम के संबंध में इतिहासकारों की मान्यताओं का एक बहुत बड़ा भाग किंवदंतियों जनश्रुतियों और लोक कथाओं पर ही आधारित है।[1]

इतिहास से लोक कथा का और लोक कथा से पुनः इतिहास का सृजन पौराणिक उपाख्यानों में भी देखा जा सकता है। इतिहासकार के पास ऐतिहासिक तथ्यों को सिद्ध करने की सामग्री जो कुछ भी हो, इतिहास के रिक्त और अन्धकारपूर्ण स्थलों की पूर्ति वह अपनी स्वयं की कल्पना से नहीं करता। अतः इतिहास के एक ओर जन-जीवन में प्रचलित किंवदंतियाँ एवं दन्त कथायें हैं तो दूसरी ओर विभिन्न काल में लिखे गये धार्मिक और पौराणिक उपाख्यान। मूलतः देखा जाय तो पुराण (माइथोलोजी) और दंत कथा (लीजेंड) में महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है क्योंकि अपने मूल रूप में दोनों का उद्भव लोक मानस से होता है। इनमें अन्तर केवल विषय का है। पुराणों का सम्बन्ध अतिमानवीय या दैवी चरित्रों से जोड़ा जाता है। उनका प्रधान क्षेत्र धर्म है। दंत कथाओं के नायकों का कोई सीमित क्षेत्र नहीं होता। वह लोक मानस की स्वतन्त्र कल्पना शक्ति पर निर्भर रहता है। दंत कथाएं मानवों को अतिमानवी सीमाओं तक ले जाकर भी मानव बनाए रखती हैं परन्तु पौराणिक कथाएं अतिमानवों से मानवों के कार्य करवा कर भी उन्हें अतिमानवी स्तर पर

---

१ कालिदास एँड हिज टाइम्स : दे।

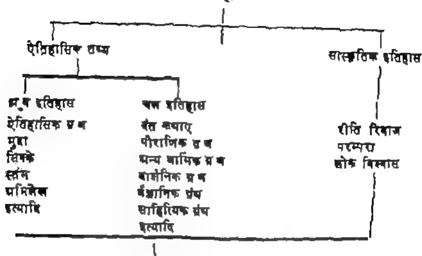
ही रखती हैं। इतना होते हुए भी दोनों के बीच कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती। पुराणों की कथाओं का आधार व्रत कथाएं होती हैं और व्रत कथाओं का आधार पुराण। इतना अवश्य है कि व्रत कथाओं में जहाँ प्रत्येक युग में नये नये रंग चढ़ते रहते हैं और उनके बाह्य स्वरूपों में अन्तर होता जाता है, वहाँ पुराणों के ग्रन्थ रूप में आ जाने के कारण यह अन्तर नहीं आ पाता। दोनों के लिखित रूपों में भी धार्मिक और साधारण दो दृष्टिकोणों के होने से अन्तर आ जाता है। होमर इत्यादि के संबंध में प्राचीन युग की जिन घटनाओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है वे अपने पूर्व रूप में तो व्रत कथाएं ही रही होंगी परन्तु जब उनके उपलब्ध और लिखित रूपों में एक ओर जुपिटर नेप्चून ऐपोलो डायोनिसस हरक्यूलीज और मेकस जैसे दिव्य पुरुष और दूसरी ओर यूथन, हाइड्रा और लिम्फ जैसे अमानवीय पात्र एक ही स्थल पर एक ही घटना में एकत्र हो गये तब वीर देवों के समान उनका पूजन होने लगा और वे निश्चय ही पुराणों की कोटि में आ गये। ट्रायन युद्ध सम्भवत एक ऐतिहासिक घटना थी परन्तु उस पर कल्पना के आवरण ने सैकड़ों व्रत कथाओं को जन्म दिया और कालान्तर में उन कथाओं में भी दैवी आसुरी शक्तियों और वृत्तियों का आरोप कर उसे भी पुराणों के समीप ला दिया गया। भारतवर्ष में पुराणों का विस्तृत इतिहास है। उनमें धार्मिक परिकल्पनाओं की सीमा के भीतर अतिमानवी शक्तियों और चरित्रों की सृष्टि ही नहीं, वरन् इतिहास के ज्ञात सम्राटों और महत्वपूर्ण व्यक्तियों से संबंध रखने वाले स्पष्ट प्रसंगों एवं संकेतों का भी अभाव नहीं है। ब्रह्मा विष्णु का तो है ही मार्कण्डेय शुकदेव और व्यास भी हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि नन्द चन्द्रगुप्त और चाणक्य भी उसी में हैं। अत वे पुराण एक ओर तो प्राच इतिहास की लुप्त घटनाओं और तिथिक्रमों की श्रृंखलाओं को जोड़ने में सहायक होते हैं और दूसरी ओर उस इतिहास के प्रामाणिक वातावरण को नैसर्गिक रूप रंग देने का काम करते हैं।

इतिहासकार के पास इतिहास के निर्माण के लिए उतथ्य प्रमाण व्रतकथाएं और पुराणों के अतिरिक्त कुछ और भी उपकरण होते हैं। ये उपकरण महापुरुषों के धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवचन समाज के नियामकों के आदेश दस एवं प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञों के विचार तथा प्राचीन कवियों एवं नाटककारों की रचनाओं के रूप में उपलब्ध हैं। साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का संबंध व्यक्ति और घटनाओं से प्रत्यक्ष नहीं होता। उनके द्वारा इतिहासकार तत्कालीन धार्मिक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से अपने इतिहास को आवश्यक वातावरण देता है। वस्तुत ये उपकरण सांस्कृतिक इतिहास के आधार हैं। कभी कभी धार्मिक ग्रन्थों द्वारा 'जातकों' की भाँति काल विशेष के व्यक्तियों में सबद्ध प्राच इतिहास की सामग्री भी मिल जाती है अन्यथा उस काल विशेष की महत्वपूर्ण भाँकियाँ तो वे दे-दे देते हैं। भारत के सुदूर ऐतिहासिक काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिए वेदों

उपनिषदों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं। कालान्तर में समाज और राजनीति के आदर्शों को जानने के लिए सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्मृतियां हैं धर्मशास्त्र और कामसूत्र जैसे ग्रन्थों के आधार पर ही प्राचीन धर्म व्यवस्था और नागरिक जीवन के संबंध में इतिहासकार कुछ कह सकने की सामर्थ्य रखता है। यूनान के प्लैटो अरस्तू और सुकरात ने अपने ग्रन्थों में जो राजनीतिक सिद्धांत, धर्म संबंधी तर्क और दार्शनिक विचार दिये हैं उनके द्वारा ही इतिहासकार को यूनान की सांस्कृतिक महत्ता का आभास मिलता है। साहित्यक ग्रंथ का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। होमर इत्यादि के साहित्य के संबंध में कहा जा चुका है कि प्राचीन साहित्यकारों ने इतिहास और दन्त कथाओं के सहारे अपने स्वतन्त्र इतिहासों का निर्माण किया था। इससे ध्रुव इतिहास को चाहे कितनी ही क्षति क्यों न पहुँची हो और चाहे उनसे पूर्ण घटित इतिहास के कितने ही भ्रष्ट संकेत क्यों न मिले हों इसमें संदेह नहीं कि उनकी कृतियों द्वारा उनके स्वयं के युग के वातावरण एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी इतिहासकारों को अवश्य हुई है। प्राचीन भारत की संस्कृति का स्वरूप जितना नाट्य शास्त्र अष्टाध्यायी और महाभाष्य से मिलता है उतना ही भास कालिदास शूद्रक हर्ष भवभूति और विशाखदत्त जैसे कवियों और नाटककारों के काव्य और नाटकों से भी। इन सब कवियों और नाटककारों के ग्रन्थ अपने अपने युगों की सांस्कृतिक परम्पराओं और लोक जीवन के स्वरूपों की ओर तो स्पष्ट संकेत करते ही हैं कभी कभी ध्रुव इतिहास को पूर्ण ऐतिहासिक बनाने अथवा उसे समाप्य ऐतिहासिक सामग्री देने में भी सहायक होते हैं। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' एवं 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कथानकों के आधार पर ही इतिहासकारों ने मौर्य काल एवं गुप्त काल के विषय में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की एवं गुप्त कालीन ध्रुव इतिहास में रामगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी संबंधी नया परिच्छेद जोड़ा।

इतिहासकार के उपकरणों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है इतिहास के दो स्वरूप हैं ऐतिहासिक तथ्य और सांस्कृतिक इतिहास। ऐतिहासिक तथ्यों को भी हम दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। इन में प्रथम को ध्रुव इतिहास एवं द्वितीय को चल इतिहास कहा जा सकता है। इतिहासकार के पास ध्रुव इतिहास के लिए ऐतिहासिक ग्रन्थ मुद्रा स्तंभ एवं अभिलेख इत्यादि उपकरण होते हैं। चल इतिहास के लिये उसे दन्त कथा पौराणिक धार्मिक दार्शनिक वैज्ञानिक एवं साहित्य ग्रन्थों से सामग्री लेनी पड़ती है। प्राचीन मूर्तियाँ तथा अन्य कलाकृतियों से दोनों को अपनी अपनी सामग्री मिल सकती है। सांस्कृतिक इतिहास एक ओर तो चल इतिहास के उपकरणों से यथेष्ट सामग्री ग्रहण करता है और दूसरी ओर प्राचीन रीति रिवाज परम्पराएं और लोक विश्वास उसके निर्माण में सहायक होते हैं।

इतिहास की इन सब सामग्रियों पर इतिहासकार अपनी 'संश्लिष्ट सम्भाव्यता' का प्रयोग करता है और तभी ये उपकरण इतिहास का रूप धारण कर पाते हैं।



इतिहासकार की संश्लिष्ट संभाव्यता

उपर्युक्त वृक्ष में सबसे अन्तिम निर्देश इतिहासकार की संश्लिष्ट संभाव्यता र हुआ है। संश्लिष्ट संभाव्यता इतिहासकार की मौलिक प्रतिभा है जिसका प्रयोग वह ज्ञात तथ्यों के बीच की अज्ञात कड़ियों को जोड़ने में करता है। स उद्भावना में इतिहासकार को उक्त दोनों ज्ञात तथ्यों द्वारा निश्चित 'संभाव्यता' े आधार मान कर चलना पड़ता है। वास्तव में इतिहासकार केवल तथ्य संग्रहकर्ता मात्र नहीं है। जैसा हम पहले कह चुके हैं काल की कार्यकारण परम्परा को जोड़ना भी उसका ही काम है और इसके लिये उसे अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग करना पड़ता है। थोड़े से ज्ञात तथ्यों से संपूर्ण इतिहास का सृजन करना संश्लेषण शक्ति द्वारा संभव है और यह संश्लेषण बिना विश्लेषण के सम्भव नहीं। विश्लेषण-संश्लेषण की यह क्रिया अज्ञात तथ्यों में संभाव्य निष्कर्षों का आरोप करती है। इतिहासकार की यही संश्लिष्ट संभाव्यता साहित्यकार की 'कल्पना शक्ति' के अत्यन्त समीप है परन्तु हम इसे 'कल्पना शक्ति' नहीं कह सकते क्योंकि इतिहासकार की संभाव्यता ज्ञात तथ्यों तथा नवीन गवेषणाओं की सीमा में इतनी कसी रहती है कि उसे मौलिक उद्भावनायें करने का अधिकार ही नहीं होता उसे अपनी प्रत्येक उद्भावना के लिये प्रमाण देने होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह संश्लिष्ट संभाव्यता ही इतिहासकारों के दृष्टिकोणों में विभिन्नता का कारण होती है। यही इतिहास में भिन्न भिन्न मान्यताओं को जन्म देती है।

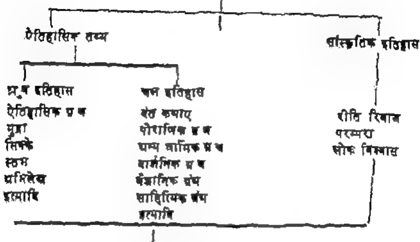
ऐतिहासिक नाटक, इतिहास और कल्पना

इतिहासकार के मूल तत्वों की चर्चा हम कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में पुरातत्व तथा लोक कथा आदि ऐतिहासिक घटनाएं और पौराणिक उपाख्यान सभी का समाहार हो जाता है और इसमें भी सन्देह नहीं कि उक्त समाहार इतिहासकार की 'संभाव्यता' के माध्यम से ही होता है परन्तु यहाँ अन्तिम रूप से यह निश्चित कर लेना होगा कि इतिहासकार किस सीमा तक पुराणों और लोक कथाओं के क्षेत्र में प्रवेश कर इतिहास की सामग्री खोज सकता है। पहले कहा जा चुका है इतिहास भूतकाल के तथ्यों का संग्रह मात्र नहीं है।[1] मुन्शी इतिहास को साहित्य की एक कलात्मक कृति कहते हैं और इतिहासकार की 'स्वानुभव' से प्रेरित सरसता को इसका कारण मानते हैं।[2] हेरोडोटस, थुसिडाइडिस गिबन मेकोले कार्लाइल के इतिहास उनके अनुसार आदर्श हैं और इन सबमें कथन की रसिकता और 'भावनात्मक अपूर्वता' का आनन्द होने के कारण वे इनको कलात्मक कृति' मानते हैं।[3] जिसे मुन्शी इतिहासकार का स्वानुभव' कहते हैं उसे हमने 'सश्लिष्ट संभाव्यता' कहा है। इतिहास को विज्ञान माना जाय या नहीं इसमें मतभेद हो सकता है परन्तु इतिहासकार की दृष्टि वैज्ञानिक होती है यह निर्विवाद है। कल्पना के सहारे अज्ञात युगों के कथानकों को लेकर उपन्यास भले ही लिखा जाय, पर उसे इतिहास तो नहीं कहा जा सकता। इतिहासकार मात्र लोककथा और पुराणों से कहानियां लेकर ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं की सृष्टि नहीं कर सकता, न केवल स्वानुभव के आधार पर इतिहास की घटनाओं और पात्रों की स्पष्ट शब्दों में आलोचना ही कर सकता है न उनके कर्त्तव्याकर्त्तव्यों पर मनमानी टिप्पणियां ही दे सकता है और न इतिहास को एक काल्पनिक कथा का स्वरूप ही दे सकता है। दूसरे शब्दों में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इतिहासकार निर्माण नहीं कर सकता जाम मले ही

---

१ 'वट दे धार मो मोर हिस्ट्री वेन वटर एण्ड पोस्ट एण्ड इन्सं आर ऐन पोमलेट।
पोइट्रस इन मिनिएचर लिटन स्ट्रेची पृ० १६०।
२ भादि बचनों पृ० १६० ऐतिहासिक पात्रो पने हैम नु लिकपणु।
३ वही पृ० १६०।

इतिहास की इन सब सामग्रियों पर इतिहासकार अपनी 'संश्लिष्ट सम्भाव्यता' का प्रयोग करता है और तभी ये उपकरण इतिहास का रूप धारण कर पाते हैं।



इतिहासकार की संश्लिष्ट संभाव्यता

उपर्युक्त वृक्ष में सबसे अन्तिम निर्देश इतिहासकार की संश्लिष्ट संभाव्यता का हुआ है। संश्लिष्ट संभाव्यता इतिहासकार की मौलिक प्रतिभा है जिसका उपयोग वह ज्ञात तथ्यों के बीच की अज्ञात कड़ियों को जोड़ने में करता है। इस उद्भावना में इतिहासकार को उक्त दोनों ज्ञात तथ्यों द्वारा निश्चित 'संभाव्यता' को आधार मान कर चलना पड़ता है। वास्तव में इतिहासकार केवल तथ्य संग्रहकर्ता मात्र नहीं है। जैसा हम पहले कह चुके हैं काल की कार्यकारण परम्परा को खोजना भी उसका ही काम है और इसके लिये उसे अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग करना पड़ता है। थोड़े से ज्ञात तथ्यों से संपूर्ण इतिहास का सृजन करना संश्लेषण शक्ति द्वारा संभव है और यह संश्लेषण बिना विश्लेषण के संभव नहीं। विश्लेषण-संश्लेषण की यह क्रिया अज्ञात तथ्यों में संभाव्य निष्कर्षों का आरोप करती है। इतिहासकार की यही संश्लिष्ट संभाव्यता साहित्यकार की 'कल्पना शक्ति' के अत्यन्त समीप है परन्तु हम इसे 'कल्पना शक्ति' नहीं कह सकते क्योंकि इतिहासकार की संभाव्यता ज्ञात तथ्यों तथा नवीन गवेषणाओं की सीमा में इतनी कसी रहती है कि उसे मौलिक उद्भावनायें करने का अधिकार ही नहीं होता उसे अपनी प्रत्येक उद्भावना के लिये प्रमाण देने होते हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह संश्लिष्ट संभाव्यता ही इतिहासकारों के दृष्टिकोणों में विभिन्नता का कारण होती है। यही इतिहास में भिन्न भिन्न मान्यताओं को जन्म देती है।

ऐतिहासिक नाटक, इतिहास और कल्पना

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक

इतिहासकार के मूल तत्त्वों की चर्चा हम कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में पुरातत्त्व, दंतकथा, लोककथा, आप्त ऐतिहासिक आख्यान और पौराणिक उपाख्यान सभी का समाहार हो जाता है और इसमें भी सन्देह नहीं कि उक्त समाहार इतिहासकार की *'समन्वयता' के माध्यम से ही होता है* परन्तु यहाँ अन्तिम रूप से यह निश्चित कर लेना होगा कि इतिहासकार किस सीमा तक पुराणों और लोक कथाओं के क्षेत्र में प्रवेश कर इतिहास की सामग्री खोज सकता है। पहले कहा जा चुका है इतिहास भूतकाल के तथ्यों का संग्रह मात्र नहीं है।[1] मुन्शी इतिहास को साहित्य की एक कलात्मक कृति कहते हैं और इतिहासकार की 'स्वानुभव' से प्रेरित सरसता को इसका कारण मानते हैं।[2] हेरोडोटस, थुसिडाइडिस, गिबन, मैकॉले, कार्लाइल के इतिहास उनके अनुसार साहित्य हैं और इन सबमें कथन की रमणीयता और 'भावनात्मक अनुभूति' का सामंजस्य होने के कारण वे इनको कलात्मक कृति मानते हैं।[3] जिसे मुन्शी इतिहासकार का 'स्वानुभव' कहते हैं उसे हमने 'परिशिष्ट संभाव्यता' कहा है। इतिहास को विज्ञान माना जाय या नहीं इसमें मतभेद हो सकता है परन्तु इतिहासकार की दृष्टि वैज्ञानिक होती है यह निर्विवाद है। कल्पना के सहारे अतीत युगों के कथानकों को लेकर उपन्यास भले ही लिखा जाय पर उसे इतिहास तो नहीं कहा जा सकता। इतिहासकार मात्र दंतकथा और पुराणों से कहानियाँ लेकर ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं की सृष्टि नहीं कर सकता न केवल स्वानुभव के आधार पर इतिहास की घटनाओं और पात्रों की स्पष्ट शब्दों में आलोचना ही कर सकता है, न उनके कृत व्यक्तित्वों पर मनमानी टिप्पणियाँ ही दे सकता है और न इतिहास को एक काल्पनिक कथा का स्वरूप ही दे सकता है। दूसरे शब्दों में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इतिहासकार निर्माण नहीं कर सकता भले ही

---

१ 'फै॰' दे आर नो मोर हिस्ट्री देन बटर एग्ज सॉल्ट एण्ड हर्ब्स आर ऐन ओमलेट।

कर ले।[1] अन्वेषक होने के कारण ही इतिहासकार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक कहा जाता है। अपने इतिहास के लिए पुराणों और लोक कथाओं से वह उतना ही ग्रहण कर सकता है जितना अन्य स्रोतों से प्रमाणित इतिहास के अनुकूल हो अथवा कम से कम जिसकी रूपरेखा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों से प्राप्त हो सके। वह इन पुराणों और कथाओं की व्याख्या किस रूप में करे इसका निश्चय उसकी संश्लिष्ट संभाव्यता करती है। इतिहास को कलाकृति मानते हुए भी स्वयं मुन्शी को इतिहास में कल्पना तत्त्व की सीमा स्वीकार करनी पड़ी है। 'इतिहासकार बिना किसी आधार के किसी पात्र के कृत्यों का सृजन नहीं करता और न काल्पनिक वातावरण द्वारा चरित्र का निरूपण ही कर सकता है…………इतिहासकार को कल्पना और सर्जकता को अतीत ऐतिहासिक प्रमाणों का कठिन बन्धन स्वीकार करना पड़ता है'।[2] यदि ऐसा न होता तो लोक कथा और पुराण इतिहास ही माने जाते। मुन्शी इतिहास को भी साहित्य की एक कलाकृति मानते हैं। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य की एक कलाकृति 'इतिहास' तथा अन्य कलाकृति 'ऐतिहासिक नाटक' में मूल अन्तर कहाँ पर है। 'कलाकृति' विशेषण के प्रयोग से तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कार्यों में कोई अन्तर नहीं। परन्तु कलाकार की सर्जक कल्पना अतीत को प्रत्यक्ष और पुनर्जीवित कर सकती है जब कि इतिहासकार अपनी सीमा के भीतर कल्पना का उपयोग करने पर भी अतीत को पुनर्जीवित नहीं कर सकता बुद्धिगम्य बनाने पर भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता क्योंकि इतिहास का अतीत मृत अतीत है। इसी प्रकार यदि कोई नाटककार केवल इतिहासकार के पद चिन्हों पर चले उसमें कलात्मक प्रतिभा का प्रयोग न करे तो उसके नाटक निष्प्राण होंगे इसमें सन्देह नहीं[3] इतिहासकार छोटे छोटे और बिखरे हुए रंग बिरंगे टुकड़ों को बड़ी सतर्कता और सावधानी से जोड़कर एक ऐसा आकार दे देता है जिसका स्वरूप उन छोटे-छोटे अवयवों में रहता है। बस, इतनी ही इतिहासकार की कला है परन्तु उन रंग बिरंगे टुकड़ों

---

१ बाई इमेजिनेशन आइ मीन, इन जनरल अण्डरस्टु द ए क्रिएटिव फैकल्टी व्हिच वह इवोक मूव मोस्ट रीमोट राइटर्स टु लेन दि हायेस्ट क्रिटेम्पल्स टु इट ओवर ऐज बाइ इमेजिनेशन इन रियली मैंट मो मोर (ऐंड सो दि वर्ड सिग्नि फाईज) दैन डिस्कवरी और फाइंडिंग आउट और टु एक्सप्रेस इट ऐट लार्ज ए मिक्स ऐंड सेवेरल पैसिज़ नाम इन्टु दि ट्रू ऐसेंस ऑफ मीस ऑब्जेक्ट्स ऑफ अवर कन्टेम्प्लेशन। होम वोल्स ११ १

२ 'आदि वचनों अने बीजां व्याख्यानों'।
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी : पृ० ११२

३ फिलिप लाइक टेमीसन्स ड्रामाज शेक्सपीयर्स रोमन्सेज
सेक बंसल पृ० ९०

को देखने मात्र से ही ऐतिहासिक नाटककार के मनश्चक्षुओं के सामने एक सम्पूर्ण कलात्मक दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है। ये बिखरे हुए टुकड़े उसकी प्रेरणा के लिए मात्र उपकरण मात्र हैं इसीलिए जहाँ इतिहासकार अपनी 'ऐतिहासिक संभाव्यता' का प्रयोग करता है वहाँ नाटककार अपनी 'सर्जक कल्पना' का। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के किसी सूक्ष्म तथ्य पर अपनी सर्जक कल्पना की विद्युत से कितनी ही नई-नई आड़ी तिरछी रेखाएँ खींच सकता है। शेष तथ्य इतिहास का है रेखाएँ ये जो सारे चित्र नाटककार के अपने हैं, चित्रफलक इतिहास का है रंग नाटककार के अपने हैं। इस प्रकार नाटककार की कला के लिए इतिहास आधार मात्र रह जाता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि कोई भी ऐतिहासिक नाटककार किस सीमा तक वस्तु, पात्र और वातावरण के चुनावों में इतिहास का अनुगमन करे और कहाँ तक अपनी स्वतंत्र कल्पना का उपयोग। विचारक इस विषय में एक मत नहीं। भारतीयों के अनुसार कथा सहित पूर्व वृत्तान्त को ही इतिहास कहते हैं।[1] नाटककार इतिहासकार नहीं बल्कि कवि है आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि और ऐतिहासिक का अन्तर इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया है परन्तु आगे नाटक और इतिहास में अन्तर भी बताया गया है। कवि का काम कथा गढ़ना नहीं वह तो पौराणिक[2] का कार्य है।

भारतीय मत

कवि कथावस्तु को सजीव करता है और ऐसा करना भावों और रसों की समुचित व्यंजना से संभव है।[3] "न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन" में 'मात्र' शब्द अत्यन्त महत्त्व का है, कवि का कार्य इतिवृत्त का निर्वाह करना तो है ही उसके अतिरिक्त और भी है। इतिवृत्त का निर्वाह कहाँ तक वह करे इसका संकेत 'किंचित् प्रयोजनम्' में देखा जा सकता है। इतिवृत्त का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है परन्तु उतना ही जितना उसके उद्देश्य के लिए आवश्यक हो। इस प्रकार का समाधान धनञ्जयकार ने किया है, उसके अनुसार नाटक की कथावस्तु प्रख्यात, उत्पाद्य अथवा मिश्र तीन प्रकार की हो सकती है।[4] इसमें सन्देह नहीं कि प्रख्यात कथावस्तु का सम्बन्ध एक ओर तो इतिहास से जोड़ा जा सकता है और दूसरी ओर उसके ही सहायक पुराण अथवा लोक कथाओं से। फलतः प्रख्यात और मिश्र कथावस्तुओं में अपेक्षित ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग आवश्यक है। 'इस धनञ्जयकार ने प्रख्यात और मिश्र वस्तुओं को लेकर नाटक रचना करने वाले कवि

---

१ पूर्ववृत्त कथायुक्त इतिहास प्रचक्षते।

२ भागुत ऐतिहासकार।

३ 'न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम् इतिहासादेव तत्सिद्धेः'

ध्वन्यालोक ३ पृ० ५

कर ले।[1] अन्वेषक होने के कारण ही इतिहासकार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक कहा जाता है। अपने इतिहास के लिए पुराणों और लोक कथाओं से वह उतना ही ग्रहण कर सकता है जितना अन्य स्रोतों से प्रमाणित इतिहास के अनुकूल हो अथवा कम से कम जिसकी रूपरेखा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों से प्राप्त हो सके। वह उन पुराणों और कथाओं की व्याख्या किस रूप में करे इसका निश्चय उसकी संश्लिष्ट संभाव्यता करती है। इतिहास को कलाकृति मानते हुए भी स्वयं मुन्शी को इतिहास में कल्पना तत्त्व की सीमा स्वीकार करनी पड़ी है। 'इतिहासकार बिना किसी आधार के किसी पात्र के कृत्यों का सृजन नहीं करता और न काल्पनिक वातावरण द्वारा चरित्र का निरूपण ही कर सकता है..................इतिहासकार को कल्पना और सर्जकता को अतीत ऐतिहासिक प्रमाणों का कठिन बन्धन स्वीकार करना पड़ता है"।[2] यदि ऐसा न होता तो लोक कथा और पुराण इतिहास ही माने जाते। मुन्शी इतिहास को भी साहित्य की एक कलाकृति मानते हैं। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य की एक कलाकृति 'इतिहास' तथा अन्य कलाकृति 'ऐतिहासिक नाटक' में मूल अन्तर कहां पर है। 'कलाकृति' विशेषण के प्रयोग से तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कार्यों में कोई अन्तर नहीं। परन्तु कलाकार की सर्जक कल्पना अतीत को प्रत्यक्ष और पुनर्जीवित कर सकती है जब कि इतिहासकार अपनी सीमा के भीतर कल्पना का उपयोग करने पर भी अतीत को पुनर्जीवित नहीं कर सकता बुद्धिगम्य बनाने पर भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता क्योंकि इतिहास का अतीत मृत अतीत है। इसी प्रकार यदि कोई नाटककार केवल इतिहासकार के चरण चिह्नों पर चले, उसमें कलात्मक प्रतिभा का प्रयोग न करे तो उसके नाटक निष्प्राण होंगे इसमें सन्देह नहीं[3] इतिहासकार छोटे छोटे और बिखरे हुए रंग बिरंगे टुकड़ों को बड़ी सतर्कता और सावधानी से जोड़कर एक ऐसा आकार दे देता है जिसका स्वरूप उन छोटे-छोटे अवयवों में रहता है। बस इतनी ही इतिहासकार की कला है परन्तु उन रंग बिरंगे टुकड़ों

---

१ बाई इन्वेस्टिगेशन आफ विलीम, इज अनरली अरगस्तु ए ए क्रिटिक डेक्सटी व्हिच वड इन्वीड मुच मोस्ट रोमांस राइटर्स टु हेव दि हायेस्ट प्रिटेन्शन्स टु इट ह्वेर ऐज बाइ इन्वेंशन इज रियली बेट भो मोर (ऐंड सो दि वर्ड हिस्टि-कार्इक) वेन डिस्कवरी और फार्मिंग माइंट और टु एक्सप्लेन इट ऐट मार्च ए विजन ऐंड डेकोरेशन पैसिंग अस इन्टु दि ट्रू ऐसेंस ओफ ओल ओवरलेप्स ओफ अवर कान्सेप्शन। डोम बोल्व ११ १

२ इत्यादि वचनों वाले बीजों व्याख्यानों।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी पृ० १६५

३ क्रिटिक आफ डेमीसन्स ड्रामाज शेक्सपीयर्स रोमनप्लेज

को देखने मात्र से ही ऐतिहासिक नाटककार के मनश्चक्षुओं के सामने एक सम्पूर्ण कलात्मक दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है। वे बिखरे हुए टुकड़े उसकी प्रेरणा के लिए बाह्य उपकरण मात्र हैं, इसीलिए जहाँ इतिहासकार अपनी 'अविकसित संभाव्यता' का प्रयोग करता है वहाँ नाटककार अपनी 'सर्जक कल्पना' का। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के किसी एक मेघ खण्ड पर अपनी सर्जक कल्पना की विद्युत से कितनी ही नई-नई आड़ी तिरछी रेखाएँ खींच सकता है। मेघ खण्ड इतिहास का है रेखाओं से बने सारे चित्र नाटककार के अपने हैं विकल्पक इतिहास का है रंग नाटककार के अपने हैं। इस प्रकार नाटककार की कला के लिए इतिहास आधार मात्र रह जाता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि कोई भी ऐतिहासिक नाटककार किस सीमा तक वस्तु, पात्र और वातावरण के चुनावों में इतिहास का अनुगमन करे और कहाँ तक अपनी स्वतंत्र कल्पना का उपयोग। विचारक इस विषय में एक मत नहीं भारतीयों के अनुसार कथा सहित पूर्व वृत्तान्त को ही इतिहास कहते हैं।[1] नाटककार इतिहासकार नहीं बल्कि कवि है, आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि और ऐतिहासिक का अन्तर इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया है परन्तु अन्यत्र नाटक और इतिहास में अन्तर भी बताया गया है। कवि का काम कथा कहना नहीं यह तो पौराणिक[2] का कार्य है। कवि कथावस्तु को सजीव करता है और ऐसा करना भावों और रसों की यथोचित व्यंजना से संभव है।[3] 'न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन' में मात्र शब्द अत्यन्त महत्त्व का है कवि का काम इतिवृत्त का निर्वाह करना तो है ही उसके अतिरिक्त और भी है इतिवृत्त का निर्वाह कहाँ तक वह करे इसका संकेत 'किंचित् प्रयोजनम्' में ढूँढा जा सकता है।

भारतीय मत

इतिवृत्त का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है परन्तु उतना ही जितना उसके उद्देश्य के लिए आवश्यक हो। इस प्रश्न का समाधान दशरूपककार ने किया है उसके अनुसार नाटक की कथावस्तु 'प्रख्यात' 'उत्पाद्य' अथवा 'मिश्र' तीन प्रकार की हो सकती है।[1] इसमें संदेह नहीं कि प्रख्यात कथावस्तु का सम्बन्ध एक ओर तो इतिहास से जोड़ा जा सकता है और दूसरी ओर उसके ही सहायक पुराण अथवा लोक कथाओं से। अतः प्रख्यात और मिश्र कथावस्तुओं में अपेक्षित ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग आवश्यक है। दश रूपककार' ने प्रख्यात और मिश्र वस्तुओं को लेकर नाटक रचना करने वाले 'कवि

---

१ पूर्ववृत्त कथायुक्त इतिहास प्रचक्षते।
२ वस्तुतः 'इतिहासकार'।
३ 'न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम् इतिहासादेव तत्सिद्धेः'
ध्वन्यालोक ३ पृ ८
१ दशरूपक १।१५ धनञ्जय

कर ले ।[१] अन्वेषक होने के कारण ही इतिहासकार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक कहा जाता है । अपने इतिहास के लिए पुराणों और लोक कथाओं से वह उतना ही ग्रहण कर सकता है जितना अन्य स्रोतों से प्रमाणित इतिहास के अनुकूल हो अथवा कम से कम जिसकी रूपरेखा प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों से प्राप्त हो सके । वह उन पुराणों और कथाओं की व्याख्या किस रूप में करे इसका निश्चय उसकी संश्लिष्ट संभाव्यता करती है । इतिहास को कलाकृति मानते हुए भी स्वयं मुन्शी को इतिहास में कल्पना तत्व की सीमा स्वीकार करनी पड़ी है । 'इतिहासकार बिना किसी आधार के किसी पात्र के कृत्यों का सृजन नहीं करता और न काल्पनिक वातावरण द्वारा चरित्र का निरूपण ही कर सकता है——————इतिहासकार को कल्पना और सर्जकता को अतीत ऐतिहासिक प्रमाणों का कठिन बन्धन स्वीकार करना पड़ता है" ।[२] यदि ऐसा न होता तो लोक कथा और पुराण इतिहास ही माने जाते । मुन्शी इतिहास को भी साहित्य की एक कलाकृति मानते हैं । तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य की एक कलाकृति 'इतिहास' तथा अन्य कलाकृति 'ऐतिहासिक नाटक' में मूल अन्तर कहां पर है । 'कलाकृति' विशेषण के प्रयोग से तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कार्यों में कोई अन्तर नहीं । परन्तु कलाकार की सर्जक कल्पना अतीत को प्रत्यक्ष और पुनर्जीवित कर सकती है जब कि इतिहासकार अपनी सीमा के भीतर कल्पना का उपयोग करने पर भी अतीत को पुनर्जीवित नहीं कर सकता बुद्धिगम्य बनाने पर भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता क्योंकि इतिहास का अतीत मृत अतीत है । इसी प्रकार यदि कोई नाटककार केवल इतिहासकार के चरण चिन्हों पर चले, उसमें कलात्मक प्रतिभा का प्रयोग न करे तो उसके नाटक निष्प्राण होंगे इसमें सन्देह नहीं [३] इतिहासकार छोटे छोटे और बिखरे हुए रंग बिरंगे टुकड़ों को बड़ी सतर्कता और सावधानी से जोड़कर एक ऐसा आकार दे देता है जिसका स्वरूप उन छोटे-छोटे अवयवों न रहता है । बस, इतनी ही इतिहासकार की कला है परन्तु उन रंग बिरंगे टुकड़ों

---

१ वाई इम्प्रैशन आइ डिजीम, इन जनरली अण्डरस्टुड ए डिफिनिट फैकल्टी डिफ्रेन्ट फ्रॉम इमैजिनेशन एज इन्टीड यूज मोस्ट रोमांस राइटर्स टु ट्रेस दि ब्रॉडेस्ट डिटेनम्स टु रिसैमैम्बर, हैव आइ इम्प्रैशन्स अप टु दि मिनिमम एंड ऐज वाइ इम्प्रैशन इज रियली मैंट मो मोर (ऐंड सो दि वर्ड सिग्नि फाइज) दैन डिस्कवरी और फाइंडिंग आउट और टु इन्टरप्रेट इट ऐट वार्थ ए बिग्ड ऐंड स्टेनेसस पैमिट्रेशन इन्टु दि ट्रू ऐसेंस ऑफ ऑल ऑब्जेक्टस ऑफ अवर कन्टेम्प्लेशन । डोम बोल्स ११ १

२ "आदि वचनों अने बीजी व्याख्याओं" ।
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी : पृ० १६८

३ ठिमिड साइक टेमीडस ड्रामाज शेक्सपीयर्स रोमनप्लेज
मेक कॅलन पृ० ६०

कल्पना को ही अपने नाटक का विषय बना सकता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। त्रासद (ट्रैजिडी) नाटकों और सुखान्त नाटकों में अन्तर करते हुए अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि त्रासद नाटककार 'ऐतिहासिक नामों' को नहीं छोड़ता। यहाँ संभवतः 'ऐतिहासिक नामों' से अरस्तू का अभिप्राय 'ऐतिहासिक घटना व पात्र' दोनों से है। जो कार्य अब तक नहीं हुए उनको हम घटनीय नहीं मान सकते और जो काम पहले कभी हो चुके हैं वे अवश्य घटनीय हैं अतः जो घटनीय है वे अवश्य विश्वसनीय भी हैं। यही कारण है कि त्रासदकार अपने नाटक में इतिहास का पल्ला नहीं छोड़ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू केवल उसी ऐतिहासिक घटना को नाटक में स्थान देना स्वीकार करता है जो ऐतिहासिक सत्य होने के साथ संभाव्य और घटनीय भी हो। यह स्पष्ट है कि अरस्तू नाटककार और इतिहासकार के बीच अत्यन्त ही क्षीण संबंध की पुष्टि करता है। उसके नाटककार को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह 'एक दो ऐतिहासिक पात्रों'[1] के अतिरिक्त अन्य सभी का 'संभाव्यता' की सीमा में सृजन कर ले अथवा परम्परा से प्रचलित त्रासद नाटकों की आधारभूत लोक कथाओं में ही सर्वथा परिवर्तन कर ले। उसकी मान्यता है कि 'ज्ञात विषय भी बहुत कम व्यक्तियों के लिए ज्ञात होते हैं'[2]। नाटक और इतिहास में इतना संबंध बतलाने पर भी अरस्तू ने 'दी फ्लावर ऑफ अगाथन' नामक एक पूर्णतया कल्पित नाटक की भी अत्यन्त प्रशंसा की है। स्पष्ट है कि कि अरस्तू के नाटककार को घटना पात्र और समस्त वातावरण में भी मनोनुकूल परिवर्तन कर सकने का अधिकार है। एकमात्र घटनीय संभाव्यता[3] को ध्यान में रखकर वह कितना ही परिवर्तन कर सकता है।

होरेस ने नाटक में इतिहास और कल्पना के प्रयोग में 'संभाव्यता' के स्थान पर 'संगतता' को आवश्यक माना है। लोक प्रचलित कथा को अपना बना लेना ही कवि (नाटककार) का कार्य है। घटनाओं के सम्पूर्ण इतिवृत्त का क्रम क्रम साथ कवि का कार्य अभिलषित पुष्पा उत्पन्न करना नहीं, कुछ से अपने विकास लेना है जिससे वह यथार्थ के साथ साथ सुन्दर का सृजन कर सके। इतिहास की घटनाएं नाम और तिथियाँ उसके लिए महत्व की नहीं होतीं, वह तो शीघ्रता से घटनाओं की ओर बढ़ता है और दर्शक पाठकों को भावोत्तेजक स्थलों की ओर इस प्रकार ले जाता है, जैसे उनका उन घटनाओं से पूर्व परिचय हो। जिस परिस्थिति को वह अपने रंग में रंगने में असमर्थ होता है, उसको

---

१ 'इन सम ट्रैजेडीज देयर आर वन ओर टू नेम्स एँड दि रेस्ट आर फेन्ड'

२ ईवन नोन सब्जैक्ट्स् आर नोन बट टू ए फ्यू।

३ पौसिबिलिटी ओर प्रोबेबिलिटी।

की सीमाओं का भी संकेत कर दिया है। यदि नाटककार ख्यात वृत्त लेकर रचना कर रहा हो तो यह आवश्यक है कि वह प्रसन्नता कल्पना द्वारा उसके प्रभाव को नष्ट न होने दे। उसे अपनी मौलिकता केवल गौण कथानकों तक ही सीमित करनी पड़ेगी, अन्यथा परम्परा के प्रतिकूल हो जाने से दर्शकों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। परन्तु इसके साथ ही यह उचित ही नहीं आवश्यक भी है कि यदि नाटककार के नायक के सामान्य चरित्र के विरोध में कई परम्परा भी हो तो वह उसका अतिक्रमण कर अपने नायक के चरित्र की उदात्तता स्थापित करे,[1] उपर्युक्त विवरण से निम्न बातें स्पष्ट हैं :

१ नाटककार ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर नाट्य रचना करते हैं।

२ ऐसी नाट्य रचना में मुख्य घटना में कल्पना का समावेश नहीं किया जा सकता।

३ कल्पना का समावेश केवल गौण कथानक ('एपिसोड'—कौथ) में ही किया जा सकता है।

४ ऐसे नाटककार के लिए इतिवृत्त केवल माध्यम मात्र है, उसका मुख्य कार्य भावो और रसों की समुचित व्यंजना द्वारा कथावस्तु को सजीव और सप्राण बनाना है।

५. नाटककार इतिहास अथवा परम्परा से प्राप्त कथावस्तु में प्रसंग से भिन्न वस्तु को अपने नाटक में स्थान न दे और कथा सबद्ध होने पर भी ऐसे प्रसंगो का स्थान न दे जो मूल कथा के नायक तथा अन्य पात्रों के चरित्र के अनुकूल न हों।

उक्त सभी बातों से यह स्पष्ट है कि नाटककार को घटना और पात्र में परिवर्तन अथवा नाटक के नियमो का निर्वाह करने के लिए कथा वस्तु में हेर फेर यदि करना ही पड़े तो भात इतिहास की घटनाओं की परिणिति मे नहीं किन्तु उसके क्रम अथवा कार्य-कारण संभावनाओं में परिवर्तन द्वारा ही वह ऐसा कर सकता है।

नाटक में इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण के सम्बंध में अरस्तू 'संभाव्यता' पर विशेष बल देते हैं और उनका मत भी बहुत कुछ भानस्वदर्द नाचाय के मत से मिलता जुलता है। उनके अनुसार, इतिहासकार गद्य लिखता है और कवि(नाटककार) पद्य। इन दोनों में केवल इतना ही अंतर नहीं है। इतिहासकार बीती हुई घटनाओं का वर्णन करता है और कवि (नाटककार) ऐसी ही घटनाओं का वर्णन करता है जो किसी भी काल में संभव हों। इतिहास का संबंध व्यष्टि से है और कवि का समष्टि से। अरस्तू के उक्त कथन से यह भ्रम हो सकता है कि कवि (नाटककार) इतिहास के स्थान पर केवल संभाव्य

पाश्चात्य मत

---

१ दशरूपक १।२०-२२

कल्पना को ही अपने नाटक का विषय बना सकता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। त्रासक (ट्रैजिडी) नाटकों और सुखान्त नाटकों में अन्तर करते हुए अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि त्रासक नाटककार 'ऐतिहासिक नामों' को नहीं पाता। यहाँ सम्भवतः 'ऐतिहासिक नामों' से अरस्तू का अभिप्राय 'ऐतिहासिक घटना व पात्र' दोनों से है। जो कार्य अब तक नहीं हुए उनको हम घटनीय नहीं मान सकते और जो काम पहले कभी हो चुके हैं वे अवश्य घटनीय हैं अतः जो घटनीय है वे अवश्य विश्वसनीय भी हैं। यही कारण है कि त्रासककार अपने नाटक में इतिहास का पल्ला नहीं छोड़ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू केवल उसी ऐतिहासिक घटना को नाटक में स्थान देना स्वीकार करता है जो ऐतिहासिक सत्य होने के साथ संभाव्य और घटनीय भी हो। यह स्पष्ट है कि अरस्तू नाटककार और इतिहासकार के बीच अत्यन्त ही झीने संबंधों की सृष्टि करता है। उसके नाटककार को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह 'एक दो ऐतिहासिक पात्रों'[1] के अतिरिक्त अन्य सभी का 'संभाव्यता' की सीमा में सृजन कर ले अथवा परम्परा से प्रचलित त्रासक नाटकों की आधारभूत लोक कथाओं में ही सर्वथा परिवर्तन कर ले। उसकी मान्यता है कि 'ज्ञात विषय भी बहुत कम व्यक्तियों के लिए ज्ञात होते हैं'[2]। त्रासद और इतिहास में इतना संबंध बतलाने पर भी अरस्तू ने 'दी फ्लावर ऑफ अगाथा' नामक एक पूर्णतया कल्पित त्रासद की भी अत्यन्त प्रशंसा की है। स्पष्ट है कि कि अरस्तू के नाटककार को घटना पात्र और सम्भवतः वातावरण में भी मनोनुकूल परिवर्तन कर सकने का अधिकार है। एकमात्र घटनीय संभाव्यता[3] को ध्यान में रखकर वह जितना ही परिवर्तन कर सकता है।

होरेस ने नाटक में इतिहास और कल्पना के प्रयोग में 'संभाव्यता' के स्थान पर 'संगतता' को आवश्यक माना है। लोक प्रचलित कथा को अपना बना लेना ही कवि (नाटककार) का काम है। घटनाओं के सम्पूर्ण इतिवृत्त को ग्रहण करने वाले कवि का काम प्रमिति धुआं उत्पन्न करना नहीं, धुएं से अग्नि निकाल लेना है जिससे वह अद्भुत के साथ साथ सुन्दर का सृजन कर सके। इतिहास की घटनाएं नाम और तिथियां उसके लिए महत्व की नहीं होतीं वह तो तीव्रता से घटनाओं की ओर बढ़ता है और अपने पाठकों को मनोरंजक स्थलों की ओर इस प्रकार ले जाता है जैसे उनका उन घटनाओं से पूर्व परिचय हो। जिस परिस्थिति को वह अपने रंग में रंगने में असमर्थ होता है, उसका

१ 'इन सम ट्रेजेडीज देयर आर वन और टू नेम्स ऐंड दि रैस्ट आर फेक्ड'

२ ईवन मीन सबजैक्ट्स् आर नोन बट टु ए फ्यू।

३ पौसिबिल सोर्ट ऑफ प्रोबेबिलिटी।

छोड़ देता है और इस प्रकार कल्पना और सत्य का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करता जिसमें कथा का मध्य। उसके प्रारम्भ और अन्त दोनों से संबद्ध रहता है।[1]

होरेस के उद्धरण से ज्ञात होता है कि वह भी इतिहास और कल्पना सम्मिश्रण में इतिहास के क्रम, घटना अथवा पात्रों के यथातथ्य चित्रण को अधि महत्व नहीं देता। ज्ञात घटनाओं को यथा क्रम ग्रहण करना वह आवश्यक न मानता। उसकी कलाकृति की कसौटी कथानक और पात्रों की सम्बद्धता मात्र है होरेस भी ऐतिहासिक इतिवृत्त लेकर रचना करने की कठिनाइयों को स्वीकार कर है। परन्तु वह इतिहास के थोड़े से ज्ञात अवशेषों से (धूम्र से) सम्पूर्ण और सुन चरित्रों को (अग्नि को) निकालने में विश्वास करता है। उन चरित्रों के निर्माण लिए उसने काल्पनिकता की सीमा भी बाँधी है। नाटककार का कार्य यह है कि वह नाटक में किसी भी ऐतिहासिक पात्र के ज्ञात चरित्र की विशेषताओं को अतिरंजित कर चित्रित करे। यदि किसी पात्र में कुछ उद्दण्डता हो तो उसे अत्यन्त क्रोधी और वाहर्य प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी चरित्र के प्रति किसी कुमारी की थोड़ी सी उदासीनता को उसकी अतिशयता के रूप में बदल देना चाहिए।[2] होरेस ऐतिहासिक पात्रों के ज्ञात लक्षणों में एक निश्चित प्रकार की अतिरंजना की आवश्यकता तो मानता है किन्तु वह अन्य किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझता। जहाँ तक ऐतिहासिक घटना के परिवर्तन किए जाने का प्रश्न है, वह 'नाटकीय संबद्धता के साथ साथ लोक विश्वासों के अनुकूल किए गए परिवर्तनों को ही उचित समझता है।[3]

---

१ ए पब्लिक स्टोरी विल बिकम युवर ओन प्रोपर्टी इफ यू डोंट ड्वैल अपोन दि होल सर्किल ओफ ईवेंट्स, व्हिच इज पैल्ट्री एण्ड ओपन टु ऐवीवन, और मस्ट यू बी सो फेथफुल ए ट्रांसलेटर और टु टेक दि पेस ओफ ऐंटरिंग दि औरिजिनल वर्ड फॉर वर्ड। दि आर्ट ओफ पोएट्री— होरेस

२ इफ ऐज ए पायट यू हैव टु रिप्रजैन्ट दि रिनाउन्ड ऐचिलीज लैट हिम बी इरासैटीमेबल रैकलूस इम्पेक्शीऐबल करेजस लैट हिम डिनाइ दैट लौज वर मेड फोर हिम, लैट हिम ऐरोगेट एवीथिंग टु फोर्स ओफ आर्म्स लैट मीडिया बी फियर्स ऐंड इन्ट्रक्टेबल ईनो लेम औवजर्स ऐंड पिटी, एक्सियन परफीडियस, आयो वान्डरिंग ओरेस्टीज इन डिस्ट्रैस'

दि आर्ट ओफ पोएट्री होरेस :

३ 'ही औल्सो इन स्टोरी टु फोला दि कोमन रिपोर्ट ओपोजिशन थार ऐट लीस्ट टु इन्वैंट सिच दैट में बी इज कन्सरमेबुल टु इट एज पोसीबुल'

'ब्रैडिगर' का मत है कि इतिहास से कथानक को ग्रहण करते समय नाटककार को इतिहास के मूल तथ्यों से बहुत दूर नहीं जाना चाहिए।[1] पुराने नाटककार 'शेक्सपियर' ने भी ठीक इतिहास की घटनाओं का स्वीकृत रूप में कथानक में परिवर्तन कर लिया। ब्रैडिगर इस प्रकार के परिवर्तनों को अनुचित मानता है। इसी प्रकार 'मार्लो' ने 'एडवर्ड' के जीवन में ठीक इतिहास के विरुद्ध जिन घटनाओं को कहा है, वह उनकी भी आलोचना करता है। ब्रैडिगर यह मानता है कि घटनाओं का ऐतिहासिक स्वरूप सिद्ध होना चाहिए जो तथ्य के अधिक से अधिक समीप हो।[2]

इसी तरह हमने जिन मतों का उल्लेख किया है, ब्रैडिगर का मत उनसे भिन्न है। उसने यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया है कि कल्पना और ऐतिहासिक सत्य का मिश्रण किस मात्रा तक होना चाहिए। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह ऐतिहासिकता का अत्यन्त महत्त्व देता है। शेक्सपियर और मार्लो आदि के नाटकों के सम्बन्ध में भी मत उसने प्रकट किया है उससे यह भी ज्ञात होता है कि वह कथानक एवं चरित्र दोनों में किसी तरह परिवर्तनों का अनुकरणीय नहीं मानता। ब्रैडिगर के अनुसार नाटक केवल इतिहास का अनुकरण नहीं है उसमें घटनाओं का प्रमाणित करने तथा उनका [illegible] करने की भी क्षमता होनी चाहिए।[3] वस्तुतः घटनाओं को प्रमाणित करने तथा उनका [illegible] करने की यह शक्ति इतिहास से भिन्न है और नाटककार की कल्पना तथा उसकी प्रतिभा पर ही निर्भर है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रैडिगर की दृष्टि में कल्पना का कोई मूल्य ही नहीं।

[illegible] 'ड्रैमिन एवं' ऐतिहासिक कथानक में भी नहीं ऐतिहासिक [illegible] में परिवर्तन करने का अधिकार नाटककार को देता है।[4]

> नाटककार और उपन्यासकार दोनों को ही कहानी की रचना की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वे इतिहासकार नहीं, वे दोनों कला के भावात्मक [illegible] को अपनी [illegible] ग्रहण कर लेते [illegible]

---

१ '[illegible] [illegible] के बाद की [illegible] [illegible] [illegible]

२ 'हिस्टोरिकल [illegible] [illegible] [illegible] एन्ड [illegible] [illegible] [illegible] हिस्ट्री'।

३ '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]'

४ '[illegible] [illegible] [illegible], [illegible]।

५ '[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

छोड़ देता है और इस प्रकार कल्पना और सत्य का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करता है जिसमें कथा का मध्य। उसके प्रारम्भ और अन्त दोनों से संबद्ध रहता है।[1]

होरेस के उद्धरण से ज्ञात होता है कि वह भी इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण में इतिहास के क्रम घटना अथवा पात्रों के यथातथ्य चित्रण को अधिक महत्व नहीं देता। ज्ञात घटनाओं को शब्द शब्द ग्रहण करना वह आवश्यक नहीं मानता। उसकी कलाकृति की कसौटी कथानक और पात्रों की सम्बद्धता मात्र है। होरेस भी ऐतिहासिक इतिवृत्त लेकर रचना करने की कठिनाइयों को स्वीकार करता है। परन्तु वह इतिहास के थोड़े से ज्ञात प्रसंगों से (बूझ से) सम्पूर्ण और सुन्दर चरित्रों को (प्रतिभा को) निकालने में विश्वास करता है। उन चरित्रों के निर्माण के लिए उसने काल्पनिकता की सीमा भी बांधी है। नाटककार का कार्य यह है कि अपने नाटक में किसी भी ऐतिहासिक पात्र के ज्ञात चरित्र की विशेषताओं को अतिरंजित कर चित्रित करे। यदि किसी पात्र में कुछ उद्दंडता हो तो उसे अत्यन्त क्रोधी और साहसी प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी चरित्र के प्रति किसी कुमारी की थोड़ी सी उदासीनता को उसकी अनैतिकता के रूप में बदल देना चाहिए।[2] होरेस ऐतिहासिक पात्रों के ज्ञात स्वरूपों में एक निश्चित प्रकार की अतिरंजना की आवश्यकता तो मानता है, किन्तु वह अन्य किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझता। जहाँ तक ऐतिहासिक घटना के परिवर्तन किए जाने का प्रश्न है, वह 'नाटकीय संबद्धता के साथ साथ लोक विश्वासों के अनुकूल किए गए परिवर्तनों को ही उचित समझता है।[3]

---

१ ए पब्लिक स्टोरी विल बिकम युअर ओन प्रौपर्टी इफ यू डोंट बर्डेन अपौन दि होल सर्किल ऑफ थिंग्स विच इज मस्टी एक ओपन टु ऐवीवन नौर मस्ट यू बी सो फेथफुल ए ट्रांसलेटर औरटु टेक दि पेन्स औफ रेंडरिंग दि औरिजिनल वर्ड फौर वर्ड। दि आर्ट ऑफ पोएट्री— होरेस

२ इफ एज ए पोयट यू ड्रैग टु रिप्रजेंट दि रिनाउन्ड ऐकिलीज लेट हिम बी इरीपेटीगबल रैथफुल इनएक्सोरेबल करेजस लेट हिम डिनाइ दैट लौज वैर मेड फौर हिम लेट हिम ऐरोगेट एवीथिंग टु फोर्स आफ आर्म्स लेट मीडिया बी फियर्स एंड हार्टलेस ईनो दैन सोबबल औफ सिटी आइक्सियन परफीडियस, आयो वान्डरिंग ओरेस्टीज इन डिस्ट्रेस'

दि आर्ट औफ पोयट्री होरेस

३ 'ही सोंट इन स्टोरी टु फौमा दि कौमन रिलीफ ओपीनियन आर ऐट लीस्ट टु एग्रीट विथ दैट मैं बी एज कन्फरमेबुल टु हर एज पोसीबुल'

यहाँ तक इतिहासकार के उपकरणों का विवेचन हुआ। अब देखना यह है कि ऐतिहासिक नाटककार के पास अपने नाटकों के लिए कौन कौन से उपकरण होते हैं। ऐतिहासिक नाटक के दो मूल तत्त्व 'इतिहास' और 'नाटक' स्पष्ट हैं। जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, उसके ज्ञान के लिए नाटककार के सम्मुख भी वे ही मूल उपकरण होते हैं जो इतिहासकार के पास होते हैं। नाटककार का प्रयत्न इतिहास की अनुकृति न होकर इतिहास के साथ घटना चित्रण और पात्र चित्रण ही होता है। घटना और पात्र का अन्तर होते हुए भी दोनों के ऐतिहासिक उपकरणों में कोई अन्तर नहीं होता। नाटककार इतिहास के मूल स्रोतों से सीधा ही अपनी सामग्री ले सकता है और यदि वह चाहे तो समकालीन इतिहासकारों के ग्रन्थों से भी ले सकता है। प्रथम स्थिति में नाटककार इतिहासकार का सम्पूर्ण कार्य स्वयं ही करता है, दूसरी स्थिति में ऐतिहासिक उपकरण इतिहासकार की विशिष्ट मनःस्थिता द्वारा छनकर पूर्ण स्वरूप पा चुके होते हैं। अतः उसके लिए केवल नाटककार का ही कार्य अवशिष्ट रह जाता है। इतिहासकार का कार्य करते हुए भी नाटककार और इतिहासकार में अन्तर है। इतिहासकार अपने इन्हीं उपकरणों के द्वारा जो सृष्टि करता है वह देश, काल, घटना और संस्कृति के उत्तरोत्तर एवं वैयक्तिक परिवर्तनों की यथार्थ सूची अथवा इतिहास होता है। नाटककार उस सूची के पात्र चित्र को लेकर उस नाटक के सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार सुसज्जित कर देता है कि वह साहित्य का एक पूर्ण अंग बन जाता है।

ऐतिहासिक नाटककार और इतिहास

इतिहासकार और ऐतिहासिक नाटककार के मूल अन्तर को समझने के लिए नाटकों के उद्देश्यों को और भी स्पष्ट करना होगा। प्रश्न यह है कि कोई भी नाटककार अपनी कल्पना के लिए बन्धन स्वीकार कर इतिहास की सीमा में क्यों बाँधा जाना चाहता है? इसमें दो मत नहीं हो सकते कि किसी भी प्रकार के नाटक का चरम उद्देश्य दर्शक या पाठक के हृदयों को स्पर्श कर उनकी मनोवृत्तियों को निर्मल करना अथवा उनमें रस का संचार करना है। नाटककार इसी चरम उद्देश्य के लिये अपने समस्त कौशल का प्रयोग करता है। इस कौशल का एक महत्त्वपूर्ण अंग है नये नये प्रभाव पूर्ण कथानकों की खोज है और इस प्रकार के कथानकों की खोज के लिए नाटककार स्वतः ही प्राचीन इतिहास की ओर प्रेरित होता है। शेक्सपियर ने अन्य नाटकों के साथ ऐतिहासिक नाटक क्यों लिखे इसका कारण बताया है कि उन दिनों जनता राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी बड़े बड़े नाटकों को देखने को उत्सुक रहती थी। यद्यपि जब तक इतिहास के दृश्य रखते जाते हैं तब तक उनमें कोई अद्भुत रोमांचक नहीं मिल

ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य

में परिवर्तन कर लेते हैं, नाटककार का उद्देश्य दर्शकों को इतिहास के तथ्यों का ज्ञान कराना नहीं है। अतः नाटककार नाटक के नियमों के अनुकूल कथा में वांछित परिवर्तन कर सकता है।[१] एक ने इतिहासकार महाकाव्यकार और नाटककार की रचना पद्धतियों के अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है। इतिहासकार के लिए इतिवृत्त मात्र ही पर्याप्त है, उसे उस पर निर्णय देने की आवश्यकता नहीं। महाकाव्यकार का उचित लोक-कथाओं में निहित चिरन्तन सत्य की अतिरंजित अभिव्यक्ति है। ऐतिहासिक नाटककार उसी के इतिवृत्त को उचित सम्भाव्य और मनोरंजक रूप में रखता है।[२] परन्तु यदि कोई ऐसा कथानक मिल जाय जिसमें ऐतिहासिकता के साथ साथ नाटकीयता भी हो तो नाटककार को अवश्य ही ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करनी चाहिए।[३] अन्यथा वह ऐतिहासिक कथावस्तु में यथेष्ठ परिवर्तन कर सकता है किन्तु ख्यात चरित्रों के चित्रण एवं ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में मनमाना परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं। उदाहरण के लिये कोई भी नाटककार सीजर को कायर एवं मैसालिना को साध्वी के रूप में चित्रित नहीं करेगा।[४]

इतना सब कुछ लिखते हुए भी एक उस बात ऐतिहासिक कथा में अधिक परिवर्तन करने की सम्मति नहीं देता जो जन मानस में जीवित हो। इसलिये जिन कथानकों में किए हुए परिवर्तन जन साधारण के विश्वासों में आघात पहुँचाते हैं उन्हें वह अग्राह्य मानता है। यही मान्यता अरस्तू की भी थी। प्राचीन कवियों और नाटककारों ने कथानक के सम्बन्ध में सदा ही स्वतन्त्रता से काम लिया है यूरीपाइडीज, सोफोक्लीज इत्यादि यूनान के प्रसिद्ध नाटककारों ने एक ही कथानक में इच्छानुकूल परिवर्तन किया है। एबे का अनुमान है कि इतिहासकारों ने कालान्तर में उनके नाटकों के आधार पर प्राचीन यूनान के इतिहास का अन्वेषण करना चाहा तो इतिहास में भी विकृति आ गई और उसके भी भिन्न-भिन्न स्वरूप बन गए।

उपर्युक्त विचारों से कुछ मान्यताएँ स्पष्ट हो जाती हैं, उसकी दृष्टि में इतिहासकार महाकाव्यकार एवं नाटककार का अन्तर स्पष्ट है परन्तु महाकाव्यकार

---

१. दे टेक आउट ऑफ दि स्टोरी व्हाट मच ऐज सम्स दैयर टर्न एंड चेंज दि रेस्ट, नॉट इक्सपीडिएन्ट दैट ट्रेजीडी शुड बी सो रीजियुसड एज टु कम टु दि थिएटर टु बी ट्रांस्फार्म्ड इन दि ट्रूथ ऑफ हिस्ट्री।

२ दि होल आर्ट ऑफ स्टेज फ्रैंकाइज हैबेलिन

३. वही

४ वही

यहाँ तक इतिहासकार के उपकरणों का विवेचन हुआ। अब देखना यह है कि ऐतिहासिक नाटककार के पास अपने नाटकों के लिये कौन कौन से उपकरण होते हैं। ऐतिहासिक नाटक के दो मूल तत्व 'इतिहास' और 'नाटक' स्पष्ट हैं। जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है उसके ज्ञान के लिये नाटककार के सम्मुख भी वे ही मूल उपकरण होते हैं जो इतिहासकार के पास होते हैं। नाटककार का संबंध इतिहास की सम्पूर्णता से न होकर इतिहास के काल विशेष घटना विशेष और पात्र विशेष से ही होता है। काल घटना और पात्र का अन्तर होते हुए भी दोनों के ऐतिहासिक उपकरणों में कोई अन्तर नहीं होता। नाटककार इतिहास के मूल तत्वों से सीधा ही अपनी सामग्री ले सकता है और यदि वह चाहे तो समकालीन इतिहासकारों के ग्रन्थों से भी ले सकता है। प्रथम स्थिति में नाटककार इतिहासकार का सम्पूर्ण कार्य स्वयं ही करता है दूसरी स्थिति में ऐतिहासिक उपकरण इतिहासकार की संश्लिष्ट संघात्मकता द्वारा अपना पूर्ण स्वरूप पा चुके होते हैं। अतः उसके लिये केवल नाटककार का ही कार्य अवशिष्ट रह जाता है। इतिहासकार का कार्य करते हुए भी नाटककार और इतिहासकार में अन्तर है। इतिहासकार अपने सभी उपकरणों के द्वारा जो सृष्टि करता है वह देश काल घटना और संस्कृति के उत्तरोत्तर एवं क्रमिक परिवर्तनों की यथार्थ सूची अर्थात् इतिहास होता है। नाटककार उस सूची के अंश विशेष को ग्रहण कर उसे नाटक के सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार सुसज्जित कर देता है कि वह साहित्य का रस-पूर्ण अंग बन जाता है।

ऐतिहासिक नाटककार और इतिहास

इतिहासकार और ऐतिहासिक नाटककार के मूल अन्तर को समझने के लिये दोनों के उद्देश्यों को और भी स्पष्ट करना होगा। प्रश्न यह है कि कोई भी नाटककार अपने कथानकों के लिये वर्तमान को छोड़कर इतिहास की सीमा में क्यों जाना चाहता है? इसमें दो मत नहीं हो सकते कि किसी भी प्रकार के नाटक का चरम उद्देश्य दर्शक या पाठक के हृदयों को स्पर्श कर उनके मनोविकारों को नियन्त्रण करना अथवा उनमें रस का संचार करना है। नाटककार इसी चरम उद्देश्य के लिये अपने समस्त कौशल का प्रयोग करता है। इस कौशल का एक महत्वपूर्ण रूप नये नये प्रभाव पूर्ण कथानकों की खोज है और इस प्रकार के कथानकों की खोज के लिये नाटककार स्वतः ही प्राचीन इतिहास की ओर प्रेरित होता है। शेक्सपीयर ने अन्य नाटकों से भिन्न ऐतिहासिक नाटक क्यों लिखे इसका कारण मेरियट यह बतलाते हैं कि उन दिनों जनता यथासम्भव नये नये नाटकों को देखने को उत्सुक रहती थी। इसलिये तब तक इतिहास के पन्ने पलटते जाते थे जब तक उन्हें कोई उपयुक्त कथानक नहीं मिल

ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य

जाता था[1]। संसार के प्रायः सभी देशों के प्राचीन नाटक इस कथन की पुष्टि करते हैं। भारतवर्ष के नाटककारों का तो आदर्श ही 'ख्यात वृत्त' रहा है। यूनान रोम प्रभृति देशों के प्राचीन नाटककारों ने भी अपने युग से पूर्व घटित इतिहास का का ही आधार ग्रहण किया है। कथानकों की विविधता के अतिरिक्त सम्भवतः इससे एक और भी लाभ होता है। नाटककार को इतिहास में कथानकों की रूप रेखाएं बनी बनाई मिल जाती हैं।

परन्तु केवल नये नये कथानकों की खोज के लिये नाटककार इतिहास का अवलोकन करता हो ऐसी बात नहीं इसके चार महत्वपूर्ण उद्देश्य हो सकते हैं।

१ राष्ट्रीय महत्व के उद्देश्य से राष्ट्र के महापुरुषों और उनके क्रिया कलापों का चित्रण,

२ प्राचीन जीवन संस्कृति एवं समाज का यथातथ्य चित्रण

३ ऐतिहासिक युगों में अपने युग की समस्याएं खोजकर उन परिस्थितियों में उनके समाधान का प्रयत्न एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपने युग की समस्याओं का चित्रण और

४ महान् व्यक्तियों के महत्वपूर्ण क्रियाकलापों एवं आदर्शों द्वारा चारित्रिक विकास।

भरत विश्वनाथ मम्मट प्रभृति सभी आचार्यों ने काव्य के अनेक उद्देश्य गिनाये हैं। उनमें यशप्राप्ति धन प्राप्ति अमंगल से रक्षा धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्मानंद सहोदर 'रस' की प्राप्ति, एवं कांतासम्मित उपदेश इत्यादि मुख्य हैं। वस्तुतः यश धन अमंगल परिहार एवं धर्म अर्थ काम मोक्ष तो ऐसे उद्देश्य हैं जो काव्य के अतिरिक्त और उपायों से भी सिद्ध किये जा सकते हैं। यदि इन्हें उद्देश्य मान भी लिया जाय तो ये कवि के लिये हो सकते हैं। पाठक श्रोता या दर्शक को तो यश, धन आदि की प्राप्ति हो नहीं सकती[2]। रस द्वारा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति एवं साहित्य द्वारा 'कांतासम्मित उपदेश' साहित्य के प्रधान उद्देश्य माने जा सकते हैं। किन्तु ये उद्देश्य साहित्य के सभी प्रकारों के लिये समान हैं। जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है भरत ने उनके उद्देश्यों की विस्तृत चर्चा की है। नाट्य वेद की उत्पत्ति ही ईर्ष्या क्रोधादि की भावना से विकल मनुष्यों की सान्त्वना के लिये हुई है। वेदों के रूक्ष उपदेश के स्थान पर नाट्य वेद में हृदयस्पर्शी उपदेश को स्थान मिला और स्वयं ब्रह्मा ने धर्म अर्थ यश देने वाले इतिहास के साथ साथ उपदेश से युक्त, लोगों को लोक व्यवहार का आदर्श सिखाने वाले और सभी वर्णों के लिये समान

---

१ द कमिक हिस्ट्री इन शेक्सपीयर : जे डबल्यू डेम्पियट पृ० ८

२ आलोचना शास्त्र पृष्ठ २४

रूप से उपयोगी 'नाट्य' नामक पंचम वेद की रचना की[१]। स्पष्ट है कि भारतीय मत से नाटक का उद्देश्य मनोरंजन, उपदेश और लोक व्यवहार के साथ साथ धर्म और यश प्राप्ति भी है।

जैसे पूर्व कहा जा चुका है सभी नाटकों में 'ख्यात वृत्त' का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। 'ख्यात वृत्त' की परिभाषा 'इतिहास पुराणाभ्याम्' है। मूलतः इतिहास और पुराण दोनों ही इतिहास के लिये सामग्री हैं। अतः ऐतिहासिक वृत्तों से संबंध रखने वाले नाटकों का साधारण उद्देश्य मनोरंजन और विशेष उद्देश्य मनुष्य का सार्वभौम विकास है[२]। ऐतिहासिक नाट्य के उपरिलिखित चार उद्देश्यों के अतिरिक्त यह सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य प्रतीत होता है। यद्यपि यह उद्देश्य अन्य प्रकार के नाटकों के सम्बंध में भी ठीक है तथापि ऐतिहासिक नाटकों के सम्बंध में यह वस्तुतः सर्वाधिक ठीक है। पाश्चात्य विचारकों ने भी ऐतिहासिक नाटकों के इस महत्व को ठीक इसी प्रकार के शब्दों में उल्लेख किया है। मेकर्नीसन के अनुसार 'ऐतिहासिक नाटककार का एक मात्र उद्देश्य नायक के जीवन और उसके देश काल की चुनी हुई घटनाओं एवं परिस्थितियों की ठीक ठीक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है जो एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध हैं कि मानवता और उसके भविष्य पर नया प्रकाश पड़ सके'[३]। मानवता का वर्तमान और उसका संघर्ष धर्म, अर्थ और काम में निहित है। मोक्ष में उसकी परम मुक्ति स्पष्ट है। यदि मोक्ष को धार्मिक अर्थ से बाहर हटाकर देखें तो उसे मानवता के चरम विकास की संभावना माना जा सकता है।

अब ऊपर निर्दिष्ट चार उद्देश्यों का विवेचन करना प्रसंग प्राप्त है। ऐतिहासिक नाटककार के प्रथम उद्देश्य को मान्यता देने वालों में कालरिज का स्थान महत्वपूर्ण है। कालरिज के अनुसार सफल ऐतिहासिक नाटक वही है जो सचमुच उस मानव समाज का इतिहास हो जिसके लिये वह लिखा गया है[४]। हमारे प्राचीन सम्राट और उनके राज्य काल की घटनाएं आकाश के नक्षत्रों की तरह हैं। चाहे उनके बीच कितना ही अधिक अन्तर क्यों न हो वे एक दूसरे के अत्यन्त समीप दिखाई देते हैं। वे महान् रूपी घटनाएं काल की सीमाओं से ऊपर उठकर हमें प्रभावित करती हैं और उनका प्रकाश हमारी आँखों में निरन्तर झिलमिलाता रहता है[५]। कालरिज

---

१ नाट्य शास्त्र १ — ८, ११, १२, १४, १५, १६, १७.

२ दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति। नाट्य शास्त्र १११, ११५

३ हेम्पनियर्स: रोमन फेज पृष्ठ ८१, १०

४ लिटरेरी रिमेन्स, वोल्यूम २

५ वही वाल्यूम २

ऐतिहासिक नाटकों का लिखना और खेलना इसीलिये आवश्यक मानते हैं कि उनके प्रभाव से राष्ट्रीय भावना और राष्ट्र तथा व्यक्तिगत भावना और व्यक्ति के मध्य एक सामंजस्य स्थापित हो सके।

ऐतिहासिक नाटकों का दूसरा उद्देश्य प्राचीन जीवन संस्कृति एवं समाज का यथा तथ्य चित्रण इतना अधिक माननीय नहीं जितना चाहिता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उक्त कार्य इतिहास और संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ भी कर लेते हैं। ऊपरी दृष्टि से प्रथम और द्वितीय उद्देश्यों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है, यदि अन्तर है तो केवल दृष्टिकोण का। प्रथम उद्देश्य को लेकर चलने वाले नाटककार को राष्ट्रीय महत्व की झाँकी दिखाना अभीष्ट है, क्योंकि दर्शकों की राष्ट्रीय और देश भक्ति की भावना ऐसे नाटकों की अपेक्षा रखती है। शेक्सपियर के नाटकों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन दिनों इंगलैण्ड को यह ज्ञान हो गया था कि वह एक महान राष्ट्र है। उनकी देशभक्ति जाग रही थी। अंग्रेजों को अपने देश का अभिमान हो गया था। वे अपने राष्ट्र के इतिहास और अपने देश को महान बनाने वाली घटनाओं को जानने के लिए विकल थे। सामाजिकों की इसी तीव्र इच्छा की पूर्ति करने के लिए शेक्सपीयर और उनके समकालीन नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। परन्तु दूसरे उद्देश्य को दृष्टि में रखकर नाटक रचना करने वाले के लिए इतिहास का कलापूर्ण एवं नाटकीय चित्रण ही अभीष्ट है। नाटककार राष्ट्रीय भावनाओं के लिए नहीं वरन् ऐतिहासिक विशेषता और कौतूहल के लिए इस प्रकार की रचना करते हैं। यूनान के सिकन्दर महान् की घटनाओं को नाटक का रूप देते समय पील डेमेजी[1] अथवा ऐलिजाबेथ कालीन इंगलैंड पर लिखते समय "दि एनिमन हूरमन कमीशन"[2] के दृश्य में राष्ट्रीय भावनाओं की उग्रिमता सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों भाग की साहित्यिक प्रतिभाएं हैं। किन्तु इसके ठीक विपरीत नेपोलियन के चरित्र पर नाटक लिखते हुए "पीस रेमस"[3] पर योद्ध्य राष्ट्रीयता का आरोप अवश्य किया जा सकता है। अंग्रेजी साहित्य से भी दो महत्वपूर्ण नाटक उदाहरणार्थ लिये जा सकते हैं जो केवल इतिहास के चित्रण के उद्देश्य से ही लिख गये हैं। उनमें से एक है "रेजिनाल्ड बर्कले" का 'दी लवी विद ए मैम्स' और दूसरा है 'क्लिफर्ड बैक्स' का सोफिनीज़'। अंग्रेजी ऐतिहासिक नाटकारों के संबंध में लिखते हुए "निकल" स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि समग्र रूप में अंग्रेजी नाटकारों ने ऐतिहासिक युग द्वारा वर्तमान को प्रभावित करने का प्रयास

---

१ ः दी ट्रैजेडी आफ एलेक्जेंडर

२ शेक्सपीयर और दी कॉमिडी आफ एक्सचेंज ः

३ दी मन एण्ड दी योनली नेपोलियन

नहीं किया । उन्होंने या तो युग को पुनर्जीवित करने के लिए अथवा वर्तमान के यथार्थ से भाग पाने के लिए ऐतिहासिक नाटकों की रचना की ।[1]

उपर्युक्त वाक्य म ऐतिहासिक नाटकों की रचना की दो बातें स्पष्ट हैं । यदि कोई नाटककार देश में राष्ट्रीय भावना विकास करने के लिए अतीत का चित्रण करना चाहे तो बात दूसरी है परन्तु यदि वह एक ओर तो कलाकार का आत्मगत आनन्द प्राप्त करने के लिए और दूसरी ओर जीवन के संघर्ष से पलायन करने के लिए ऐतिहासिक अतीत को नाटकीय रूप दे तो निश्चय ही उसके सामने राष्ट्रीयता या देश प्रेम का उद्देश्य नहीं रह सकता । वह तो इतिहास और संस्कृति का चित्रण उस चित्रण के आनन्द के लिए ही करेगा । बहुत सम्भव है कि पात्रों की दूरी के साथ जो सम्मान की भावना रहती है वह भी इसमें महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हो ।[2] इस प्रकार के नाटकों में नाटककार का प्रधान उद्देश्य किसी काल विशेष की आत्मा को ही अभिव्यक्त करना होता है और जब वह आधुनिक काल के विपरीत बातचीत रहन-सहन खान-पान आदि के नियम ही वातावरण म अपने को पाता है तब उसे विशेष आनन्द मिलता है ।

ऊपर अंग्रेजी नाटकों के सम्बन्ध में निकल ने जो कुछ कहा है उसमें ऐतिहासिक नाटकों के तीसरे उद्देश्य की चर्चा अनायास ही आ गई है । ऐतिहासिक युगों में अपने युग की समस्याओं का चित्रण ऐतिहासिक नाटककार का अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य है । महत्वपूर्ण इसलिए कि प्रत्येक साहित्यकार अपने युग का ही शिशु होता है ।[3] पौल स्पेंडर का कथन है प्रत्येक महान् कलाकृति अपने युग से इतनी अधिक और इतने स्पष्ट रूप से प्रभावित होती है कि कला व साहित्य की वह कृति उस युग के सबसे महत्वपूर्ण और सच्चे इतिहास की संज्ञा पा सकती है ।"[4] साहित्य को यदि अनुकरण कहा जाय तो कलाकार केवल उसी वस्तु का अनुकरण कर सकता है जिसे वह प्रत्यक्ष देख सकता है दूरस्थ अथवा ऐतिहासिक दृष्टि उसे बाह्य तथ्यों के बीच उचित अनुपात बनाने में सहायता करती है ।[5] उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐतिहासिक नाटककार जो कलाकृति प्रस्तुत करता है, वह वास्तव में वर्तमान की ही अनुकृति होती है उसका दृष्टिकोण भले ही ऐतिहासिक हो । मूलतः उपर्युक्त दृष्टिकोण ऐतिहासिक यथार्थ का है । इसमें इतिहास को इतिहास के लिए नहीं वरन् आधुनिक समस्याओं के लिए

---

१ वर्ल्ड्रामा निकल पृष्ट ८६२ ।
२ "दि थ टर दि विस्टेंड थ टर दि रेवर्लस" ऐबरक्रोम्बी एण्ड स्पासिक लेटिविटी ।
३ दी क्रोएट इन दी दु आइन्स आफ हिज एज पौल स्पेंडर पृ० ११७
४ वही पृ० ११७
५. वही

ग्रहण किया जाता है। "राष्ट्रीयता" को यदि पहला उपयोगितावादी दृष्टिकोण माना जाय तो "युग की समस्याओं का चित्रण" इसी प्रकार का दूसरा दृष्टिकोण होगा।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को सर्वाधिक महत्व देने वालों में हीगल का स्थान प्रमुख है। 'सौन्दर्य शास्त्र' पर दिये गये अपने भाषण में वह कहता है "एक महान् साहित्यकार न केवल अदृष्टपूर्व सौन्दर्य का अनावरण करता है, वरन् वह मानवता का वक्ता भी होता है। वह अपने चारों ओर के लोगों के अस्पष्ट स्वरों को सुनता है, उन्हें एकत्र करता है, ठोस आकार देता है और अन्त में लोगों के मौन भावों को ऊँची और स्पष्ट वाणी देता है।"[1] यहाँ हीगल का स्वर एक ओर तो मानवतावादी है और दूसरी ओर उपयोगितावादी। "युग के गायक" कवि के लिए भी उपर्युक्त सीमाएं निर्धारित कर उसने ऐतिहासिक नाटककार के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक नाटककार के सम्मुख भी अपने युग के जीते-जागते प्रश्न बराबर उठते रहते हैं। यह सम्भव है उन प्रश्नों का समाधान उसे वर्तमान में न मिल सके। यह भी सम्भव है कि वर्तमान उसके इतने समीप है कि आँख के बिल्कुल पास रखी हुई वस्तु की तरह उसके ठीक-ठीक स्वरूप का अनुमान वह न लगा सके और ऐतिहासिक युग को दूर से सही-संतुलित रूप में देख सकने के कारण वह उसकी प्रत्यक्ष क्रिया-प्रतिक्रिया उसके कारण-कार्यों के साथ देख पाने में सक्षम हो और इसी कारण से आज की समस्याओं से मिलती-जुलती भूतकाल की समस्याओं को उनके सही रूपों के साथ लोगों के सम्मुख रखने में ऐतिहासिक नाटक को अपना माध्यम बनाये। वस्तुतः काल और प्रकृति की सनातन गतिशीलता और सचेतनता में मनुष्य के मूल स्वभाव में महत्वपूर्ण अन्तर नहीं होता। फलतः उसकी मूल समस्याएं भी प्रायः एक-सी ही रहती हैं यद्यपि उनके बाह्य स्वरूपों में अन्तर होता ही रहता है। ऐतिहासिक नाटककार उस भूत को प्राचीन में खोजकर उसे आधुनिक से जोड़ देता है, अथवा आधुनिक के प्रमाण के लिए इतिहास की चिरन्तन कड़ियों को काम में लाने का मोह संवरण न कर सकने के कारण वर्तमान को भूत के साँचे में ढाल देता है। ऐतिहासिक नाटक लिखने वाला नाटककार दो प्रकार से इस उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है वह या तो वर्तमान को भूत के बीच में रख कर देखें अथवा भूत को वर्तमान के साँचे में ढाल दे।

इसी तीसरे उद्देश्य को लेकर आधुनिक युग में कई ऐतिहासिक नाटक लिखे गये। इनमें से ड्रिंकवाटर[2] और बर्नार्ड शा[3] के कुछ नाटक इस श्रेणी में हैं

---

१ मेलचम आन ईस्थेटिक्स हीगल पृ० ११६
२ अब्राहम लिंकन ड्रिंकवाटर
३ सन्ट जोन : शा

रखे जा सकते हैं। अमेरिका में अधिकांश ऐतिहासिक नाटक 'निकल'[1] के कथनानुसार इसी उद्देश्य को लेकर चले हैं[1]। शेक्सपीयर के नाटकों के सम्बन्ध में कहा गया है कि "उसने प्राचीन का पुनरुद्धार किया मानव हृदय के शाश्वत तत्वों की ओर निर्देश किया और उनको आधुनिक जीवन की उन विशेषताओं के माध्यम से साभिप्राय बनाया जो प्राचीन आदर्श की ओर अभिमुख थीं। यहाँ तक कि कभी कभी अनजाने ही अत्यन्त नवीन को भी उसने ग्रहण किया।[2]

ऐतिहासिक नाटक लिखने का अन्तिम उद्देश्य नैतिक और शिक्षात्मक है। १६ वीं सदी के इंग्लैंड में जिन 'मोरेलिटी प्लेज' का जन्म हुआ था उनमें १६ वीं सदी तक आते-आते ऐतिहासिकता का समावेश भी हो गया था। ट्यूडर के नाटकों में नैतिक नाटकों और ऐतिहासिक नाटकों का सम्मिलन देखा जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि इन नाटककारों का उद्देश्य शिक्षा देना था ऐतिहासिक नाटक लिखना नहीं। वस्तुतः ये नैतिक नाटक राजनीति और इतिहास के छोर ही स्पर्श कर सके थे। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि कोई भी नाटककार इतिहास को माध्यम बना कर केवल शिक्षा देने के उद्देश्य से किसी कलाकृति का सृजन क्यों करे? "कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे" की बात दूसरी है क्योंकि यह सम्भव है कि अनजाने ही किसी कलाकृति से पाठक या दर्शक कुछ महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण कर ले। इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि इतिहास के प्रभावशाली माध्यम से इस प्रकार का कार्य सरल हो सकता है। जहाँ आदर्शों के निर्माण का प्रश्न है यह काम ऐतिहासिक नाटक कर सकता है परन्तु यदि शिक्षा देने का अर्थ सीधी नैतिक और चारित्रिक शिक्षा से है तब यह कहना पड़ेगा कि सामान्यतया नाटककारों ने इस उद्देश्य से ऐतिहासिक नाटक नहीं लिखे। भारतवर्ष में तो "मनोरंजन के साथ साथ सुधार करने के उद्देश्य से ही नाट्यवेद की उत्पत्ति हुई अन्यथा वेदों और पुराणों के होते हुए इसकी कोई आवश्यकता न थी।[3] इस सम्बन्ध में पाश्चात्य लेखकों में स्कालिजर के विचार द्रष्टव्य हैं। उनका कथन है कि ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य दर्शकों को आश्चर्य से भरकर प्रभावित कर देना मात्र न होकर दर्शकों को प्रभावित करना, प्रसन्न करना और

---

१ "हेयर ऐन्ड देयर अमंग दि इंग्लिश राइटर्स हैड टु एवोइड पॉइंटिंग मैटीरियल फ्रोम पास्ट ऐज कमिंग ओन दि प्रेजेंट अमेरिकन आथर्स हैव टैंडेड टु यूज़ ए पास्ट डाइमेन्शनली मीनोज टु लिंक एन्ड टु बीक फोर बीम्स विच माइट एडवांस इन इलस्ट्रेटिव क्रोनिकल्स ओन दि ड्रेमेटिक सेंचुरी

वर्ल्ड ड्रामा निकल पृ० ८१४

२ शेक्सपीयर्स रोमन प्लेज मैक कैलम पृ० ८२

३ रस विमर्श पृ० १ २

शिक्षा देना भी है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि नाटकों में नैतिक शिक्षा होती है और नैतिक मान्यताओं के लिए नाटककारों ने इतिहास तक में परिवर्तन कर दिया है। मेरियट ने भी शेक्सपीयर के नाटकों में चारित्रिक और नैतिक तत्त्वों की खोज की है।[2] सत् और असत् चरित्रों के संघर्ष में एक नाटककार के काव्य-न्याय से उपर्युक्त दोनों का चित्रण समाधान ही हो जाता है। इस सन्दर्भ में पौर्वात्य नाटकों में सदा ही सत् की विजय दिखाई गई है। पाश्चात्य ऐतिहासिकों में भी नाटककारों ने इस बात का ध्यान रखा है कि जहाँ कहीं भी ऐसे सम्राटों का वर्णन हो जिन्होंने छल बल से राज्य प्राप्त किया उनका शासन अशांति और संकटों के अयाचित दुखों से परिपूर्ण चित्रित किया जाय।[3]

ऊपर हम उन चार उद्देश्यों पर विचार कर चुके हैं जिनको सामने रखकर कोई भी नाटककार अपने कथानक के लिए इतिहास की धुँधली-धुँधली झिलमिलाती हुई यवनिका के पीछे झाँकने का प्रयत्न करता है। परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि ऐतिहासिक नाटकों के शायद ही ऐसे उदाहरण मिल सकें जहाँ नाटककार एक अकेले उद्देश्य को रखकर नाटक रचना करने बैठता हो। शेक्सपीयर के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उसके ऐतिहासिक नाटकों में प्रायः सभी उद्देश्य दिखाई देते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से भी "धर्मार्थकाममोक्ष" में भी सभी उद्देश्यों की ओर संकेत मिल जाता है। नाटककार किसी भी उद्देश्य से नाटक लिखे उसकी ऐतिहासिक नाटकीयता में इतिहास व संस्कृति का चित्रण उतना ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है जितना देश प्रेम राष्ट्र प्रेम अथवा नैतिक आदर्शों का। यह सम्भव है कि किसी विशेष नाटक में एक उद्देश्य प्रधान हो जाय और किसी में दूसरा परन्तु इसमें संदेह नहीं कि एक से दूसरा स्वतः ही व्यंजित हो जाता है अतः हम उद्देश्यों की प्रधानता अप्रधानता पर विचार किया जा सकता है परन्तु इनके बीच किसी प्रकार की लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समस्त साहित्य का कार्य मानवता के विकास में योग देना है, उसी प्रकार उसके एक अंग ऐतिहासिक नाटक का कार्य मानव के अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान की आलोचना करना और भविष्य की रूप रेखा प्रस्तुत करना है।

❖

---

१ फौर दि ग्रेट इज नौट ऐवरेज पोयसी टु स्ट्राइक दि स्पेक्टेटर विद एडमिरेशन और कोम्सटरनेशन ए पोयट बिइंग एकौर्डिंग टु क्रिटिक्स डिसाइन्ड नन पौइन्ट गिल्टी बट सच पोयसी टीच मूव एण्ड प्लीज।

यूनानियन थ्योरीज आफ ड्रामा पृ० ६२

२ हयूमनिज हिस्ट्री इन शेक्सपीयर मेरियट । पृ १४

३ "ओ जनरल की वार सो बैन दि" मेयर"

हेनरी फोर्थ शेक्सपीयर।

कार एवं नाटककार के बीच कोई विशेष अन्तर उसने नहीं किया है । कल्पना का समावेश दोनों में हो सकता है । यदि इन दोनों में अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक में अतिरंजना को महत्व दिया गया है अन्य में नहीं । नाटक के तीन गुण औचित्य संभाव्यता और मनोरंजन महाकाव्यकार के लिए भी उतने ही आवश्यक हैं । ऐतिहासिक इतिवृत्त की दृष्टि से अर्स्तू ने महाकाव्य और नाटक में जो अन्तर किया है वह महत्वपूर्ण और समुचित है ।

सारांश यह है कि अर्स्तू नाट्य कला को महत्व देता है इतिहास को नहीं इतिवृत्त के सम्बन्ध में वह नाटककार को मनचाहे अधिकार दे देता है । किन्तु उसके नाटककार की कल्पना ऐतिहासिक चरित्र और वातावरण में सीमित हो जाती है । नाटकों में सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का सही स्थान अर्स्तू ने ही निर्धारित किया है ।

जर्मन आलोचक लैसिंग ऐतिहासिक तथ्य को नाटककार का उद्देश्य न मान कर उसकी पूर्ति का साधन मानता है । उसके अनुसार नाटककार एक 'कथा' की सृष्टि करता है और उस 'कथा' के द्वारा हमारे हृदयों को स्पर्श करता है । लैसिंग अरस्तू का समर्थन करते हुए 'सम्भाव्यता' को ही महत्व देता है । घटनाओं की आंतरिक 'सम्भाव्यता' ही इतिहास को इतिहास बनाती है । अतः सम्भाव्यता का मूल तत्व चाहे आप कथावस्तु से ग्रहण किया जाय अथवा कल्पना से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।[1] महान जीवन चरित्रों के प्रदर्शन के लिए नाटक नहीं लिखे जाते । नाटक का उद्देश्य यह नहीं कि अमुक अमुक व्यक्ति ने क्या किया वरन् यह है कि कुछ विशेष ज्ञात परिस्थितियों में एक विशेष चरित्र का प्रत्येक व्यक्ति क्या करेगा । लैसिंग संभवतः इसे ही नाटक की आन्तरिक सम्भाव्यता मानता है अतः स्पष्ट ही उसकी दृष्टि में नाटककार के लिए कथानक की ऐतिहासिकता का कोई महत्व नहीं । परन्तु एक की तरह वह भी यह स्वीकार कर लेता है कि यदि इतिहास में उसके विषय का वैयक्तिकता एवं सजावट की संभावनाओं से युक्त कथानक मिल जाय तो नाटककार उसे ग्रहण कर सकता है ।

---

१ 'हिस्टोरिकलएक्यूरेसी इज नौट हिज एम बट ओन्ली दि मीन्स बाइ व्हिच ही होप्स टु ऐटेन हिज एम ही विशेज टु डिल्यूड अस एंड टच अवर हार्ट विद डिल्यूजन' । हैम्बर्गीय ड्रामाटर्जी थीटहाल्ड ऐडवर्ड लैसिंग

परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसका अपराध नहीं और न ऐसा कर लेना कोई विशेष महत्त्व की ही बात है।[1]

इतिहास की अपूर्ण और असंभाव्य घटनाओं को नाटककार किस प्रकार परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करके पूर्ण और संभाव्य बनाता है इसका एक सुन्दर उदाहरण लेसिंग ने दिया है नाटककार को इतिहास में एक घटना मिलती है कि एक स्त्री ने अपने पति और पुत्रों की हत्या कर दी घटना करुणापूर्ण हृदय को दहलाने वाली है, अतः नाटककार इस कथानक पर 'नाटक' लिखने का विचार करता है, परन्तु इतिहास इतनी भयंकर और अप्रत्याशित घटना की रूपरेखा के अतिरिक्त और कुछ भी दे सकने में असमर्थ है। नाटककार के लिए उक्त घटना की असंभाव्यता सबसे बड़ा दोष है अतः वह सबसे पहले ऐसी कार्य कारण स्वरूप परिस्थितियों का सृजन करता है जिसमें ऐसा दुष्कृत्य अपराध भी स्वाभाविक लगने लगे। इतिहास उसे चरित्र के सम्बन्ध में संतोष नहीं दे सकता अतः वह अपने व्यक्तियों के चरित्र गढ़ना प्रारम्भ कर देता है इन चरित्रों को वह एक के बाद एक ऐसी परिस्थितियों और घटनाओं के बीच रखता जाता है कि वे गतिशील हो जाते हैं। इस प्रकार न प्रत्येक चरित्र में भावों के क्रमिक विकास की योजना करता है ये भाव घटनाओं को स्वाभाविक और साधारण विकास की ओर स्वतः ही ले जाते हैं। तब हम समझने लगते हैं कि जिन परिस्थितियों से उत्पन्न भावों के उद्दाम प्रवाह में उक्त चरित्र इतना भयंकर अपराध कर गया ठीक उन्हीं परिस्थितियों में हम में से किसी के लिए भी ऐसा अपराध कर बैठना सम्भव हो सकता है, लेसिंग जिसे 'प्रज्ञम व्यवस्था' कहता है वह वस्तुतः ऐतिहासिक कथानक की नाटकीय सम्भाव्यता है जिसके बल पर नाटककार कल्पित कथानक का भी यथेच्छ विकास कर सकता है।

लेसिंग न तो चरित्र के विकास के लिए इतिहास को ग्रहण करता है न [illegible]करण के लिए ही वह कथानक के लिए भी इतिहास का विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं करता।[2] उसके नाटककार के लिए ऐतिहासिक कथानक की नाम रहित काम

---

१ इज इट मोर ए मैटर ऑफ इण्डिफरेन्स वेदर हिज प्रोबेबिलिटी बी कम्पराइज्ड बाइ नो विकनेस और टू वीकनेस और बाइ सच ऐज हैव नेवर कम विदिन अवर नोटिस, हैम्बर्गीय ड्रैमाटर्जी पोटहोल्ड एफ़ेम लेसिंग

२ इफ दि पोएट फाइन्ड्स इन हिस्ट्री सरकम्स्टान्सेज दैट आर कनवीनिएन्ट फॉर दि ऐडोर्नमेण्ट और इण्डिविजुएलाइजिंग ऑफ हिज सबजेक्ट वाल लेट हिम यूज देम, ओन्ली दिस यूज शी काउन्टेड ऐज लिटिल ए मेरिट ऐज दि कोन्ट्री इज ए क्राइम

रहित चरित्र रहित और वातावरण रहित करदेना ही पर्याप्त है नर्तन ही कल्पना अपना चमत्कार कर सकती है यह नाम चरित्र देश काल और यहाँ तक कि मूल घटना तक बदल सकती है केवल उसमें आन्तरिक सम्भाव्यता का होना आवश्यक है।[1]

लिसर काव्य अनुकरण और ऐतिहासिक अनुकरण में स्पष्ट अन्तर स्वीकार करता है घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से जो अनुकरण किया जाता है उसे वह ऐतिहासिक अनुकरण कहता है और घटनाओं द्वारा लोगों को प्रभावित करने और उनके प्राणों में आनन्द का सिंचन करने के उद्देश्य से जो अनुकरण किया जाता है उसे काव्यात्मक (या नाटक) अनुकरण है।[2] ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए इतिहासकार ऐतिहासिक सत्य से विमुख नहीं हो सकता परन्तु नाटक का उद्देश्य कलात्मक होने के कारण नाटककार को अनुकरण की स्वतंत्रता है। नाटककार को स्वतंत्र कल्पना का अधिकार तो है ही साथ ही वह काव्य के नियमों के अनुसार ऐतिहासिक सत्य में परिवर्तन करने के लिए भी बाध्य है। काव्य का परम लक्ष्य भावावेश है अत वह केवल प्रकृति के नियमों से बाध्य है इतिहास के नियमों से नहीं।[3] कलाकार को यह अधिकार है कि वह इतिहासकार को अपने न्यायालय में बुला सके और उसके इतिहास पर काव्य का अंतिम निर्णय दे सके। नाटककार को इतिहास की कसौटी पर कसना अनुचित है।[4]

लिसर ने नाटककार पर इतिहास का कोई बंधन नहीं रखा। नाटककार कथानक और पात्रों में जैसा भी चाहे वैसा परिवर्तन कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिसर नाटकीय नियमों के साथ-साथ नाटक के प्रभाव को ही अधिक महत्त्व देता है। भारतीय दृष्टिकोण काव्य का लक्ष्य ही 'रस' मानता है और लिसर 'भावावेश'। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाहे जिस प्रकार का भी परिवर्तन वांछनीय हो किया जा सकता है। भरत ने 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' कहकर

---

१ 'नाउ देट ही इज डिस्कवर्ड इट्स हिडन ओरगेनाइजेशन'
हैम्बर्गीस ड्रामाटर्गी कोटेशन ऐप्लेम वेल्विन

२ हारमनी फ्रोम कॉमिस इन दि कैरेक्टर मस्ट बी कोम्प्रेहेन्सिबल

३ इट यूज मोस्ट्ली बी ए हिस्टोरिक इमिटेशन इफ वट प्रोपोज्ड ए हिस्टोरिक एण्ड इफ इट्स प्रिंसिपल ओब्जेक्ट और टु टीच अस वट दिस हैज टेकन प्लेस ऐज सुच एट इट वीच ——वट ट्रेजेडी हैज ए पोयटिक ऐज दैट इज टु से इट रिटें थाइट्स ऐन ऐक्शन टु मूव अस एण्ड टु आर्ज अवर सोल्स बाइ दि मीडियम ओफ दिस इमोशन। —रैपेल कन्सेप्शन ऐज क्रिटीस्टोफिक्स लिसर

४ 'इट इज बेटर फोर हिम इफ बेटी गैरेट आवडिशाम ओन टेकिंग पार्ट और पावर ओन पोइन्ट इन अकार्ड टु ब्रेक दि ट्रेडिंग पोयट बिफोर दि ट्रिब्यूनल ओफ हिस्ट्री ऐण्ड टु रिप्लायर ए ब्रूकेशन ओफ दि ओन टु वाट हिज बेटी प्राइटिंग इन औनली बाउन्ड टु मूव ऐण्ड चार्म यू।' लिसर

नाटक के मूल तत्व की ओर संकेत करके अन्य सब तत्वों को उसके आश्रित बना दिया है। शिलर का दृष्टिकोण इससे मिलता जुलता है। कथानक और पात्रों में ऐतिहासिक सत्य को उसने विशेष महत्व दिया ही नहीं और न वह वातावरण की ऐतिहासिकता को ही महत्व देता है। वह उस नाटक को अत्यन्त साधारण कोटि का गिनता है, जिसमें देशकाल का ऐतिहासिक चित्रण होने पर भी नाटकीय प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती।[१] परन्तु यहीं यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह निर्णय तो प्रत्येक नाटक के लिये समान है ऐतिहासिक नाटक की अपनी विशेषता की दृष्टि से शिलर के इस मत का क्या अभिप्राय है। शिलर के स्वयं के विचारों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जहाँ तक इतिहास रस प्राप्ति (आवेग) में नाटक का सहायक बन सकता है वहाँ तक उसका यथा तथ्य स्वीकार्य अन्यथा उसमें परिवर्तन करना आवश्यक है और वह परिवर्तन काव्य के आधारित सत्य के अनुकूल किया जाना चाहिए। शिलर नाटक के समग्र प्रभाव को ही नाटककार के इतिहास सम्बन्धी *निर्णय* का मूल सूत्र मानता है, ऐतिहासिक चरित्र कथानक वातावरण या देश काल उसके लिए महत्वहीन है।

इस सम्बन्ध में अंग्रेजी आलोचक कालरिज के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। कालरिज नाटक में इतिहास नाटकीय सम्भाव्यता और काव्यात्मकता तीनों का होना आवश्यक मानता है। जिन लोगों के लिए नाटककार नाटक प्रस्तुत रहा हो उन्हीं के इतिहास से उसे कथावस्तु ग्रहण करनी चाहिए[२] क्योंकि नाटककार के यथार्थ को लोग बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेते है। इसलिए सम्भाव्यता भी आवश्यक है।[३] काव्यात्मकता से उसका तात्पर्य मानव स्वभाव के उन शाश्वत तत्वों की अभिव्यक्ति से है जो तत्व सब को सब कालों में एक समान ही प्रभावित कर सके।[४] कालरिज के लिए भी विशिष्ट घटनाओं का अधिक महत्व नहीं[५] उनमें परिवर्तन किया जा सकता है। कथानक और चरित्रों के

---

१ वही शिलर

२ इन ऑर्डर दैट ए ड्रामा बी प्रौपर्ली हिस्टोरिकल इट इज नैसेसरी दैट इट बी दि हिस्ट्री ऑफ दि पीपुल टु हूम इट इज ऐड्रेस्ड'—

३ वही कालरिज

४ इट मस्ट लाइकवाइज बी पोइटिकल———दिस इज दि पार्ट मेनेन्टु इज नेचर, विच इज कोमन टु अवर एण्ड ऑल पीपल इन्स्टैंटली टु ऑल एजेज'

—वही कालरिज।

बाह्य परिवर्तनों से नाटक के बाह्य रूप में तो कुछ अव्यवस्था उपस्थित हो सकती है परन्तु समस्त नाटक में एक आंतरिक और महान् व्यवस्था आ जाती है जो घटनाओं को जोड़कर एक स्पष्ट कार्यकारण का सम्बन्ध बना देती है, साथ ही चरित्रों को भी स्पष्ट करती चली जाती है।[1] परन्तु इसके लिए नाटककार को केवल ऐसे कथानक लेने चाहिए जिसके मूल ऐतिहासिक रूप का ज्ञान अधिक लोगों को नहीं हो। इसी प्रकार के इतिहास के मध्य कलेवर में नाटककार प्राणप्रतिष्ठा कर सकता है।[1]

कालरिज ने ऐतिहासिक नाटक की व्याख्या भी की है। उसका कहना है कि "ऐतिहासिक नाटक इतिहास से ग्रहण की हुई घटनाओं का एक ऐसा संकलन है, जिसमें घटनाओं के कार्य कारण संबंध की अन्विति नाटकीय कल्पना द्वारा काव्यात्मक ढंग से जोड़ी जाती है।"[2]

ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में कालरिज के विचारों को हम त्रिकोण रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं जिसकी भुजाएं क्रमशः इतिहास नाटकीय संभाव्यता और काव्यात्मकता है। इतिहास को हम कलेवर मानें तो नाटकीय संभाव्यता को मन और काव्यात्मकता को नाटक की आत्मा कह सकते हैं। इन तीनों के सम्यक निर्वाह को ही कालरिज नाटककार के लिए वांछनीय समझता है। घटनाओं को अधिक महत्व न देते हुए भी अज्ञात ऐतिहासिक कथानकों को स्वीकार्य मानना ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि वह इतिहास में अधिक परिवर्तनों को उचित नहीं समझता। उसका यह तर्क चरित्र और वातावरण के संबंध में भी उतना ही सही है, जितना कथानक के संबंध में। कालरिज ने नाटककार की कल्पना को स्वच्छन्द नहीं बनने दिया अपितु उसे एक सुन्दर सामंजस्य के निर्माण में सहायक बनाने का प्रयत्न किया है। उसने ऐतिहासिक नाटकों के राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार किया है।

आधुनिक भारतीय विचारकों में ऐतिहासिक पात्रों का निरूपण करते हुए कन्हैया लाल मुंशी सबसे अधिक महत्व कवि नाटककार या उपन्यास के स्वानुभव को देते हैं। वे इतिहास के चार प्रकार मानते हैं (१) लोककथा (२) कथा (३) नवल कथा और (४) इतिहास। इनमें से इतिहास

---

१ इट टेक्स फेयरप्लेस, बैट पार्ट ऑफ रियल हिस्ट्री विच इज दि लीस्ट नोन ऐंड इन्टोवेन विद प्रिंसिपल ऑफ लाइफ ऐंड ऑरगेनाइजेशन इन्टु दि नैकेड फैक्ट्स ऐंड मेक्स देम ऑल दि फ्रेमवर्क ऑफ एन एनीमेटेड होल।
लिटररी रिमेन्स वोल्यूम २ कालरिज

२ ऐन हिस्टोरिक ड्रामा इज देयरफोर, ए कलेक्शन ऑफ ईवेंट्स बोरोड फ्रॉम हिस्ट्री बट कनेक्टेड टुगेदर इन रेस्पेक्ट ऑफ कॉज ऐंड टाइम पोयटिकली ऐंड बाई ड्रामेटिक फिक्शन।
वही कालरिज

को वे विज्ञान न मानकर एक साहित्यिक कलाकृति मानते हैं । इतिहास संबंधी उपर्युक्त चार प्रकार के साहित्य में उन्होंने कलाकृति में इतिहास की सीमा निर्धारित कर दी है । कलाकार इतिहास से उपलब्ध चरित्रों की रूप रेखा को पूर्णतया छोड़ नहीं सकता उनके स्नायुओं में प्राण भर कर उन्हें जीवन्त अवश्य कर सकता है परन्तु इन पात्रों में भी मनुष्य स्वभाव के मौलिक रंगों का पूर्ण समावेश होना चाहिए ।[1] वह कलाकार भूतकालीन पात्रों उनके कृत्यों और प्रसंगों में स्वानुभवसिद्ध एकतानता द्वारा अपूर्वता की सृष्टि करता है । मुंशी उसे नवीन पात्रों कृत्यों और प्रसंगों की स्वतन्त्र उद्भावना करने का पूर्ण अधिकार प्रदान करते हैं । वह ऐतिहासिक कृत्यों के प्रसंगों के काल्पनिक सेतु की संकल्पना कर सकने के लिए भी स्वतन्त्र है और यदि चाहे तो साधनों के निष्कर्ष में भी परिवर्तन कर सकता है ।[2] यदि कलाकार अपनी कलाकृति में स्वानुभव की सरस अभिव्यक्ति में समर्थ हो सके तो मुंशी उसे इतिहास में स्वतन्त्र कल्पना के उपयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता देते हैं ।

ऐतिहासिक नाटकों का रचना तंत्र

इतिहास, ऐतिहासिक नाटक और कल्पना तत्व के संबंध में भिन्न भिन्न काल और भिन्न देशों के विचारकों के तर्कों पर विचार किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि भरत से लेकर मुंशी तक सभी प्राच्य अथवा पाश्चात्य विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु वस्तुतः यह मतभेद केवल बाहरी है और इस मतभेद में भी आन्तरिक समानता है। साधारण दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विचारक इतिहास को महत्व देते हैं और कुछ कल्पना को। परन्तु एक बात सब स्वीकार करते हैं कि मूलतः ऐतिहासिक नाटक इतिहास न होकर साहित्य है। एक बार इस मौलिक एकता को स्वीकार कर लेने पर मतभेद में विशेष शक्ति नहीं रह जाती। इतिहास को स्वीकार ही न किया जाय ऐसा किसी विचारक ने नहीं कहा क्योंकि इतिहास को ग्रहण किये बिना ऐतिहासिक नाटक का महत्व ही क्या रह जायगा। यह भी किसी ने नहीं कहा कि कल्पना का समावेश नहीं होना चाहिए क्योंकि कल्पना के बिना नाटक बन ही नहीं सकता। इतिहास में मनमाना परिवर्तन किया जाय यह किसी की भी मान्यता नहीं रही और आवश्यकता पड़ने पर बिल्कुल ही परिवर्तन न किया जाय यह भी किसी ने नहीं माना है। विश्रुत इतिहास के परिवर्तन को किसी ने भी उचित नहीं समझा। इन महत्वपूर्ण विषयों में सभी एक मत हैं। मतभेद की संभावना केवल इस बात में है कि इतिहास में कितना परिवर्तन किया जा सकता है। अरस्तू को मानने वाले विचारकों ने इसकी भी सीमा बाँध दी है। जहाँ मूल ऐतिहासिक घटना की 'संभाव्यता' का प्रश्न उठता है वहीं यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त परिवर्तनों में इस संभाव्यता का ध्यान रहेगा, अर्थात् संभाव्यता कल्पना की एक सीमा निर्धारित कर सकती है। इसमें सन्देह नहीं किसी भी नाटककार के लिए कल्पना और इतिहास की नपी तुली सीमाएँ नहीं बनाई जा सकतीं। यह तो किसी भी ऐतिहासिक घटना परिस्थिति और पात्रों के प्रति नाटककार की प्रतिक्रिया और अजस्र कलात्मक संवेदना पर निर्भर करता है। यहाँ कला अपने नियम स्वयं बनाती है। यह नियम कलाकृति विशेष के लिए ही बनता है और फिर बदल जाता है। सामान्य विशेषताओं के आधार पर यह विचार किया जा सकता है कि ऐतिहासिक नाटक के रचनातंत्र का क्या रूप है तथा अन्य प्रकार के रचनातंत्र से इसमें क्या विशेष है।

जिस प्रकार घटना और तिथियों को एक स्थान पर एकत्रित कर देने मात्र से इतिहास नहीं बन जाता उसी प्रकार इतिहास से कुछ पात्रों और कुछ घटनाओं

को लेकर एक स्थान पर रख देने से ऐतिहासिक नाटक नहीं बन सकता। इतिहास को वास्तविक इतिहास बनाने के लिए ऐतिहासिकता की आवश्यकता है। काल की धारा अनादि और अनन्त है। इस में जीवन की क्रिया प्रतिक्रिया होती रहती है। इतिहासकार को जिन घटनाओं और तिथियों का इतिहास लिखना होता है उन्हें वह उस काल की पृष्ठ भूमि में रखकर उनमें कार्य कारण की स्थापना करता है। यही ऐतिहासिकता है। इसी ऐतिहासिकता में इतिहासकार का दृष्टिकोण भी प्रति बिम्बित होता है। यही इतिहास के मूल्यों को बनाती है। इतिहास को इतिहास बनाने के लिए जिस प्रकार ऐतिहासिकता अनिवार्य होती है ठीक उसी प्रकार ऐतिहासिक नाटक को बनाने के लिए जिस गुण की आवश्यता होती है उसे हम ऐतिहासिक नाटक की 'ऐतिहासिक नाटकीयता' कह सकते हैं। नाटक के इतिहास और नाटक इन दोनों अंगों के कलात्मक समन्वय की जो अभिव्यक्ति दर्शकों के हृदय में भावोद्रेक करने में समर्थ होती है उसे ही 'ऐतिहासिक नाटकीयता' कह सकते हैं। यह वास्तव में नाटककार के मानस चक्षुओं द्वारा दृष्ट निर्जीव एवं मृत स्पष्ट अतीत की एक मनोरम झांकी है जो नाटक के माध्यम से दर्शकों के सम्मुख मूर्तिमान हो जाती है। इस नाटकीयता की क्रिया के तीन स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख आ जाते हैं। (१) निर्जीव अशरीरी और अमांसल अतीत (२) उस निर्जीव और अमांसल का नाटककार के मानस चक्षुओं में जीवित शरीरी और मांसल दर्शन (३) नाटककार द्वारा नाटक की रेखाओं में आबद्ध इस अतीत का रंगमंच में पुनर्दर्शन। अतीत के प्रत्यक्षीकरण की उक्त क्रिया वस्तुतः नाटककार की भावन करने की शक्ति पर आधारित है, जो कल्पना के द्वारा सुन्दर और अभिनव रूपों में प्रकट होती है। भावन करके बिम्ब ग्रहण करना कल्पना द्वारा उसे नवीन रूपों में गढ़ना और अन्त में उसकी सरस अभिव्यक्ति करना प्रत्येक प्रकार की कला का कार्य है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि कलात्मक होना ही ऐतिहासिक नाटक का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। अन्य तत्व उसके कला स्वरूप के सम्मुख गौण हो जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक सर्व प्रथम साहित्य का एक स्वरूप है और बाद में कुछ और।

ऐतिहासिक नाटक एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृति है वह नाटक तो है परन्तु 'ऐतिहासिक' विशेषण उसके एक विशेष स्वरूप की ओर संकेत करता है अतः यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक नाटक में उसके विशिष्ट स्वरूप की समस्त विशेषताएं प्रतिफलित होनी चाहिए अन्यथा नाटक के साधारण स्वरूप के साथ उसका अन्तर स्पष्ट नहीं हो सकता और सामान्य से उसे विभिन्न करने के लिए उक्त अन्तर का होना अनिवार्य है।

इतिहास ऐतिहासिक नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है और इतिहास से हमारा तात्पर्य प्रामाणिक इतिहास से है, किवदन्तियों अथवा पुराणों से नहीं। इतिहास के मूल तत्वों पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि इतिहास अपनी

सहायता के लिए पुराणों एवं लोक कथाओं से प्रामाणिक इतिहास के संग्रह का प्रयास करता है। हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि इतिहासकारों ने पुराणों तथा लोक कथाओं के प्रमाणगत हुए रूपों तथा प्रतीकों का आवरण चीरकर उनके अन्तर में समाये हुए मूल इतिहास को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है। हेरोडोटस से पूर्व का यूनानी इतिहास प्रामाणिक नहीं है यहाँ तक कि स्वयं हेरोडोटस ने भी पौराणिक उपाख्यानों से प्रमाण हीन और अनैतिहासिक सामग्री को ग्रहण किया है। पाश्चात्य नाटककारों ने यूनान के ज्यूस हरक्यूलीज मकरी अपोलो ईलो इलेक्ट्रा आदि पौराणिक पात्रों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। पीछे के सभी छन्दों ने उनकी ऐतिहासिकता प्रतिपादित करने की चेष्टा की यद्यपि वे ऐतिहासिक नहीं थे। भारतवर्ष का इतिहास साधारणतः वैदिक काल से प्रारम्भ होता है परन्तु वैदिक सभ्यता के कुछ मुखर चित्रों के अतिरिक्त जिनका स्वरूप वेदों में उपलब्ध है उसे अधिक सामग्री नहीं मिलती। स्वयं वेदों के काल निर्णय के संबंध में पर्याप्त मतभेद है। कुछ भी हो वेद ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों से भारत के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा भले ही प्राप्त की जा सके, प्रामाणिक इतिहास का उसमें भी अभाव है—क्योंकि मूलतः वे धार्मिक और दर्शन संबंधी ग्रन्थ हैं। रामायण और महाभारत की घटनाएं ऐतिहासिक हो सकती हैं परन्तु वे महाकाव्य होने का कारण हरिवंश एवं ओडेसी की तरह काव्य कल्पना में आवृत हुए हुए हैं। उनके प्रामाणिक मूल तथा प्रक्षिप्त अंश को अलग-अलग कर सकना भी असंभव है। पुराण किसी एक काल में नहीं लिखे गए, इतिहासकारों का अनुमान है कि गुप्तकाल तक ही नहीं उसके बाद तक भी पौराणिक ग्रन्थों की रचना होती रही साथ ही पुराणों में प्रमाणगत कल्पनाओं के साथ धार्मिक विश्वासों का इतना विचित्र सम्मिश्रण हुआ है कि मूल इतिहास का पता ही नहीं चलता। कहीं-कहीं इतिहास की फुटकर सामग्री अवश्य ग्रहण की गई है परन्तु यह कार्य इतिहासकार का है, नाटककार का नहीं। यदि नाटककार स्वयं ही इतिहासकार हो तो भी नाटकों की वस्तु के रूप में ग्रहण करने के पूर्व उसे पौराणिक उपाख्यानों एवं लोक कथाओं को प्रामाणिक इतिहास-सिद्ध करना पड़ेगा केवल उसी की मान्यता से वह इतिहास नहीं बन सकता। पौराणिक उपाख्यान और किंवदंतियाँ अपने आप में ऐतिहासिक नाटक के लिए उपयुक्त इतिहास नहीं हैं—इतिहास भले ही उनसे सहायता लेकर सामग्री ग्रहण कर ले।

कुछ आधुनिक नाटककारों ने इतिहास को नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया है और पौराणिक पात्रों एवं कथानकों को भाव ऐतिहासिक वातावरण में रखकर नाट्य रचना की है। इनमें और पौराणिक नाटकों में कुछ अंतर है। एक तो इनमें पौराणिक उपाख्यानों की अतिमानवी शक्तियों का चित्रण नहीं हुआ है और दूसरे कथानक पुराणों के होते हुए भी वातावरण प्रामाणिक इतिहास से लिया गया है। साधारणतया इसे काल दोष कहा जा सकता है परन्तु [illegible] पौराणिक

घटनाओं की पृष्ठभूमि को स्वीकार नहीं करता, अत यदि उन घटनाओं और पात्रों को ज्ञात इतिहास के फलक पर रखकर चित्रित किया जाय तो उक्त काल-क्रम दोष मुखरित नहीं होने पाता और उन अप्रामाणिक घटनाओं और पात्रों को एक आधार मिल जाता है। इस अंतर के कारण ही यूनान के पौराणिक उपाख्यानों पर लिखे गए नाटकों को निकल' ने[1] ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दिया है परन्तु पौराणिक पात्रों पौराणिक कथानकों तथा पौराणिक वातावरण को लेकर लिखे गए नाटकों को हमें पौराणिक नाटकों की कोटि में ही रखना पड़ेगा ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि निकल किंवदन्तियों तथा पुराणों में अन्तर नहीं करते परन्तु हम इस अन्तर को पहले स्पष्ट कर चुके हैं। किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों के साथ जुड़ती चली जाती हैं और प्रत्येक पीढ़ी अपने ऐतिहासिक व्यक्तियों को महत्त्व देने के लिए अज्ञात रूप से ऐसा करती जाती है। कहानी कहने की इच्छा भी किंवदन्ती के प्रसार में कार्य करती रहती है। यही क्रिया साधारण को असाधारण और विचित्र बना देती है। किंवदन्तियों के ऐतिहासिक पात्रों को लेकर यदि नाटककार नाटक लिखे तो संभव है पात्रों की विश्रुत ऐतिहासिकता के कारण नाटक में ऐतिहासिकता मान ली जाय। अत इस प्रकार के नाटक पौराणिक से भिन्न किंवदन्तियों के क्षेत्र के हैं। इतिहास चाहे उन किंवदन्तियों को स्वीकार करे अथवा न करे उनके पात्रों को अवश्य स्वीकार करता है। इस प्रकार के नाटकों में भी वातावरण पूर्णतया ऐतिहासिक होता है। सिकन्दर सम्बन्धी किंवदन्तियों को लेकर यूनान में ही नहीं आधुनिक यौरोप में और इंगलैंड में जो नाटक लिखे गए उन्हें ऐतिहासिक स्वीकार किया गया।[2] इसके लिए उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं हो सकता।

इतिहास और कल्पना सम्बन्धी विवेचन में मास्कों से भी उदाहरण दिए गए हैं। मास्कों का ऐतिहासिक घटनाओं एवं पात्रों से सीधा सम्बन्ध है। परन्तु मैं मास्कों और सुखान्त नाटकों में अन्तर यही बतलाया है कि मास्क ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखे जाते हैं और सुखान्त सामान्य घटनाओं के आधार। पर मास्कों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं एवं पात्रों को ही ग्रहण करने की परम्परा शैक्सपीयर तथा उसके अनुवर्ती नाटककारों में भी परिलक्षित होती है। हेरोडोटस के इतिहास से पूर्व के मास्कों के आधार भी विश्रुत कथानक ही थे चाहे उन्हें किंवदन्ती कहा जाय अथवा इतिहास। स्वयं शैक्सपीयर ने जितने भी मास्क लिखे हैं वे अधिकतर रोम के इतिहास पर आधारित कथानक हैं। कथानक ही नहीं पात्रों

---

१ 'दि यीव प्रौफ दि हिस्टोरिकल प्ले'
वर्ल्ड ड्रामा एलार्डाइस निकल पृ० ८१८

२ 'वर्ल्ड ड्रामा निकल पृ० ८१७

के नाम तक ऐतिहासिक हैं। जूलियस सीजर की समस्त कथा सीजर का वध और ब्रूटस तथा अन्य पात्रों के नाम सभी इतिहास में उपलब्ध हैं। परन्तु आलोचकों ने जहाँ शेक्सपीयर के 'हेनरी चतुर्थ', रिचार्ड तृतीय इत्यादि को ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में रखा है वहाँ 'जूलियस सीजर' को त्रासदी की कोटि में । इस अन्तर का कारण इन दोनों प्रकार के नाटकों में रचना तन्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। त्रासदी का उद्देश्य भय दुख और करुणात्मक प्रसंगों की उद्भावना द्वारा दर्शकों के हृदय में इन भावों को जागृत करना है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन घटनाओं को लिया जाता है उनके कर्ता पात्रों के चरित्रों का निर्माण नाटककार स्वयं करते हैं। किसी भी ऐसी घटना के दुःखान्त होने का कारण वस्तुतः किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के चरित्र की दुर्बलता होती है। अतः घटना के पीछे मूल कारण का सृजन करना पड़ता है। यह पात्र या पात्रों की चारित्रिक विशेषता है जिसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे शब्दों में तो त्रासदी में घटना तथा वातावरण दोनों चरित्र के प्रभाव से आक्रान्त रहते हैं। ये चरित्र नाटककार की सर्जक शक्ति के आश्रित रहते हैं, और यह सर्जक शक्ति स्वयं त्रासदी के 'चारित्रिक दुर्बलता' के सिद्धान्त से परिचालित होती है। पात्रों के ऐतिहासिक होने पर भी उनके ये पूर्णतया काल्पनिक चरित्र इतिहास की ओर ध्यान ही नहीं जाने देते और उनकी शक्तिहीन रेखाएं संकुचित और श्रीहीन पड़ी रहती हैं। इसके विपरीत ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की रेखाएं स्पष्ट होती हैं और काल्पनिक तत्व इतना प्रधान नहीं होने पाता कि ऐतिहासिक तत्व उभर ही न सके।

अभी तक हम ऐतिहासिक नाटक के जिन तीन प्रधान तत्वों को अनायास ही स्वीकार करते हैं वे हैं (१) इतिहास (२ ऐतिहासिक वातावरण और (३) इतिहास का नाटकीय स्वरूप घटना एवं पात्र। इतिहास के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका है अब यहाँ प्रसंग प्राप्त दूसरे तत्व ऐतिहासिक वातावरण को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण

किसी विशेष ऐतिहासिक काल की सभ्यता रीति-रिवाज प्रथाएँ खान-पान वेष भूषा दैनिक जीवन रहन-सहन आर्थिक धार्मिक राजनीतिक सामाजिक धार्मिक स्थिति तथा उस काल के जन जीवन का ऐतिहासिक ही स्वरूप ऐतिहासिक वातावरण है। इतिहास के सम्बन्ध में विचार करते हुए इसे ही हमने "जन इतिहास' अथवा 'सांस्कृतिक इतिहास"[1] की संज्ञा दी है। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक में सांस्कृतिक इतिहास के विस्तृत चित्रण की सम्भावनाएँ नहीं हो सकतीं क्योंकि नाटककार उपन्यासकार की तरह वातावरण का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं कर सकता। यह भी सच है कि नाटक में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि केवल नाटककार ही नहीं करता। उपयुक्त वेष-भूषा

---

१ कल्चरल हिस्ट्री

द्वारा पात्रों के मूर्त स्वरूप को रंगमंच में ऐतिहासिक बनाने का कार्य वस्तुतः निर्देशक करता है परन्तु रंगमंच की सज्जा के अतिरिक्त भी समस्त नाटक में ऐतिहासिक वातावरण सूत्र की तरह पिरोया होता है और सर्वत्र उसकी ध्वनि मिलती रहती है। ऐतिहासिक वातावरण की यह ध्वनि ही ऐतिहासिक नाटक के स्वरूप को बनाए रखती है क्योंकि यही वह धरातल है जिस पर ऐतिहासिक पात्र खड़े रहते हैं। यदि फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा के शब्दों में यह कहा जाय कि "इतिहास वह खूंटी है जिस पर वह अपने नाटकों को लटकाता है"[1] तो यह कहना पड़ेगा कि ऐतिहासिक वातावरण वह दीवार है जिस पर खूंटी गाड़ी गई है। ऐतिहासिक वातावरण को इतिहास से भिन्न मानने का कारण है। प्रामाणिक इतिहास से नाटककार केवल घटना की रूप रेखा पात्रों के नाम तथा चरित्र लेता है। वह घटनाओं और पात्रों को उनके ही युग में तब तक जीवित नहीं कर सकता जब तक उस युग के जीवन्त सांस्कृतिक तत्वों से उसका स्वतन्त्र परिचय न हो और इसके लिए नाटककार को ऐतिहासिक रूपरेखा से भिन्न उस युग के सांस्कृतिक इतिहास की पूरी जानकारी होनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो इतिहास के पात्र जीवित होने पर भी अपने सारे कार्यों को अनजान और अनभ्यस्त व्यक्तियों की तरह करेंगे क्योंकि जिस मूल वातावरण में उन्होंने वे कार्य किये थे वह वातावरण उन्हें उपलब्ध न होगा। यह दोष नाटकों की स्वाभाविकता की जड़ में कुठाराघात कर देगा और सम्पूर्ण नाटक निष्प्राण हो जायगा।

ऐतिहासिक वातावरण का महत्व इसलिए भी है कि वह ऐतिहासिक नाटक का स्थायी अंग है। कोई भी नाटककार इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता और यदि असावधानी अथवा अज्ञान से परिवर्तन कर दिया जाय तो तुरन्त काल क्रम दोष का सबसे विकृत स्वरूप नाटक के सौंदर्य को नष्ट कर देगा। इसी वातावरण के प्रभाव से हमें लगता है कि नाटककार ने हमें आज के युग से उठाकर सुदूर ऐतिहासिक काल में रख दिया है जहां का प्रत्येक व्यक्ति, वहां की प्रत्येक वस्तु उन गहरे गहरे प्राचीन रंगों में निमग्न है जो मन्द होने के साथ ही साथ अत्यन्त आकर्षक भी है। जिस प्रकार मरुस्थल को पार कर किसी पार्वत्य प्रदेश के समीप पहुँचते ही शीतल और सुमधुर समीर के झोंकों से यात्री को नवीन प्रदेश का आभास मिल जाता है उसी प्रकार ऐतिहासिक वातावरण द्वारा ही हमें आज से भिन्न देश और काल के नूतन वातावरण का आभास मिलता है। अतः इसे देश काल भी कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक वातावरण का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि पुराने रंगमंचों की तरह दुर्ग प्रासाद तोरण तथा नगर वीथियों से चित्रित पर्दे लगाकर वातावरण का

---

1 "हिस्ट्री" ईज ड्यूमाज फिर फिक्सचरस ऐगस्ट्स्वीच हुंज हि हैंग धोज पिक्चर ऑफ हिज ड्रामाज"
शेक्सपीयर एण्ड क्लासिकल ऐंटिक्विटी — पॉल स्टेप्फर — पृ० ११४

सृजन कर दिया जाय। वस्तुतः ऐतिहासिक नाटक तो "प्रतीकात्मक रंगमंच" पर ही नहीं साधारण रंगमंच पर भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः उनमें उपर्युक्त बाह्य उपकरणों के बिना भी ऐतिहासिक वातावरण को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती। ऐतिहासिक वातावरण का अस्तित्व ऐतिहासिक नाटक से भिन्न नहीं है। इसका सम्बन्ध रंगमंच से न होकर नाटक की कथावस्तु एवं पात्रों से है और यह वातावरण नाटक के प्रत्येक अंक प्रत्येक कार्य प्रत्येक मुद्रा प्रत्येक पात्र प्रत्येक घटना तथा प्रत्येक वार्तालाप में समाया रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वातावरण से ही इतिहास के पात्रों और उनकी घटनाओं की पहिचान होती है। अतः ऐतिहासिक नाटक में उसका अन्यतम महत्व होता है। वह अपरिवर्तनीय और स्थायी है। यही कारण है कि एवं ने ऐतिहासिक नाटककार की असफलता का कारण मूलतः वातावरण एवं देशकाल में ढूंढा है। ऐतिहासिक साहित्यिक कृतियों के सम्बन्ध में प्रायः "इतिहास रस" की चर्चा की जाती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण काम 'इतिहास रस' की सृष्टि करना है।[1] डा० रामरतन भटनागर लिखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास और नाटकों में हम अतीत का चित्र देखना पसन्द करते हैं उनसे हम एक प्रकार का रस लेना चाहते हैं जिसे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ऐतिहासिक रस' का नाम दिया है।.........प्रसाद के नाटकों में चाहे ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जहाँ तहाँ थोड़ा सन्देह भी हो इस ऐतिहासिक रस की उपलब्धि के सम्बन्ध में जरा भी सन्देह नहीं है।[2] परन्तु यह ऐतिहासिक रस वस्तुतः है क्या वस्तु इसके सम्बन्ध में वे मौन हैं। वस्तुतः इतिहास रस का सम्बन्ध न कथानक से है न पात्रों से क्योंकि इनमें कल्पना का पर्याप्त समावेश किया जा सकता है। नाटक से इतिहास की झाँकी दिखलाने वाला अपरिवर्तनीय तत्व यदि कोई हो सकता है तो वह ऐतिहासिक वातावरण की चित्रमय सरसता है। इसे ही हम इतिहास रस कह सकते हैं अन्यथा इतिहास रस जैसी किसी रस की कल्पना नहीं की जा सकती।

नाटक में वातावरण का महत्व जो कुछ भी है, वह ऐतिहासिकता से सम्बन्धित है परन्तु नाटककार की कल्पना कथानक और चरित्रों से ही क्रीड़ा कर पाती [redacted] यद्यपि इसका भी सम्बन्ध इतिहास से है। वातावरण जिस प्रकार ऐतिहासिक नाटक में कथानक और चरित्रों की क्रीड़ा के लिए निश्चित पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है उसी प्रकार घटनाओं का भी चरित्र से एक निश्चित सम्बन्ध होता है। संक्षिप्त के द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण में हम देख चुके हैं कि इतिहास के

---

१ वैशाली की नगरवधू चतुरसेन शास्त्री भूमिका
२ प्रसाद के नाटक रामरतन भटनागर - पृ० १२

एक घटना और उस घटना से सम्बन्ध रखने वाले दो तीन सामान्य पात्रों को लेकर नाटककार उन चरित्रों को अपनी कल्पना के सहारे जीवन्त कर घटना की चरम परिणति को सम्भाव्य बनाने के लिए कार्य कारण परम्परा की संयोजना करता है। एक स्त्री अपने पति और पुत्रों की हत्या कर देती है। लेसिंग इतिहास से केवल इतनी घटना को लेना पर्याप्त मान लेता है। इस कथानक की अन्य सम्भावनाओं पर भी उसने ऐतिहासिक नाटक के दृष्टिकोण से ही विचार किया है। केवल सामान्य नाटकों के रचनातत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भले ही उक्त उदाहरण पर्याप्त मान लिया जाय परन्तु ऐतिहासिक नाटक की विशेषताएं इसमें परिलक्षित नहीं होतीं। संसार की किसी भी भाषा के ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी नाटककार इतिहास से विषय ग्रहण करते समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि इतिहास से "ख्यात वृत्तों" को ही नहीं "ख्यात पात्रों और "ख्यात चरित्रों को भी नाटक में स्थान दिया जाय। सभी पात्र और चरित्र भले ही ख्यात न हों कुछ तो अवश्य ही प्रसिद्ध होवें हैं। इसका एक कारण यह है कि ऐतिहासिक ना क के अधिकांश उद्देश्यों की पूर्ति 'ख्यात वृत्त' और ख्यात चरित्र ही कर सकते हैं और दूसरा कारण यह कि नाटककार को चिर परिचित पात्रों के परिचय देने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता और नाटक के प्रारम्भ से ही दर्शक का आकर्षण उनकी ओर स्वतः ही हो जाता है अतः जितना समय दर्शकों को पात्रों और घटनाओं द्वारा इतिहास के पृष्ठ पलटने अतीत में आंखों को अभ्यस्त करने में लगता है उतने समय में अतीत उनके मानस में प्रतिबिम्बित होकर तन्मयता और तादात्म्य भावोद्रेक उत्पन्न करने में सफल हो जाता है। अतः रसोद्रेक के लिए नाटककार और दर्शक दोनों के बीच एक पूर्व तादात्म्य की सृष्टि हो जाती है। ज्ञात चरित्रों के साथ हमारी सहानुभूति एवं घृणा तीव्र और प्रखर हो जाती है।

यहां रेसाइन के मत पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। उसने त्रासद नाटकों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। किन्तु प्रायः सभी बातों को वे विषय साम्य के कारण त्रासद और ऐतिहासिक नाटकों में कोई अन्तर नहीं रखा है और इसलिए ऐतिहासिक नाटकों का विवेचन करते हुए त्रासदों के ही उदाहरण उपस्थित किए हैं। सूत्र रूप में रेसाइन का मत है "जितनी दूर उतनी श्रद्धा" अर्थात् उनके मत से त्रासदों का कथानक इतिहास के जितने ही सुदूर अतीत अथवा ज्ञात कालों से लिया जाय अथवा भिन्न देशीय इतिहास से लिया जाय उतना ही अच्छा है। इसी नियम के कारण वह नवीनतम इतिहास से कथानक ग्रहण करने की सम्मति नहीं देता विशेषतः यदि वह घटना उसी देश की हो जहाँ दर्शकों के लिए नाटक लिखा जा रहा है। वह ऐसे चरित्रों को भी नाटक में स्थान की राय नहीं देता जिनसे अधिकांश दर्शक परिचित हैं। साधारण दर्शक के

लिए नाटक का कथानक या तो सहस्र वर्ष पूर्व का होना चाहिए अथवा एक सहस्र मील दूर की घटना होनी चाहिए।[१]

रेसाइन के 'जितनी दूर उतनी श्रद्धा' के सिद्धान्त को सामान्यतः स्वीकार करते हुए भी उसके अन्य विचार विवादास्पद हैं। विश्व भर के ऐतिहासिक नाटकों के साहित्य से ऐसे सहस्रों उदाहरण खोजे जा सकते हैं जिनमें नाटककारों ने अपने काल से थोड़े ही पूर्व के काल का इतिहास और उस इतिहास के सुपरिचित चरित्रों को लेकर अनेक सफल ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। जिनमें से आधुनिक युग के नाटक 'अब्राहम लिंकन'[३] 'दि लेडी विद द लैम्प'[४] (१९२९) तथा प्रसिद्ध साहित्यिक ब्रौंटे परिवार पर लिखा गया नाटक 'दी ब्रौंटस'[५] (१९३३) केवल ये तीन उदाहरण स्वरूप गिनाए जा सकते हैं। इसलिए रेसाइन के इस अनुमान का कोई आधार नहीं मालूम पड़ता कि नवीन इतिहास नाटकों के लिए उचित आधार नहीं हो सकता। रेसाइन का दूसरा तर्क है कि काल सहस्र वर्षों तथा सहस्र मीलों में अन्तर नहीं करता। यह तर्क स्वयं ही अस्पष्ट है। हम पहले कह चुके हैं कि किसी भी देश की कुछ सांस्कृतिक परम्पराएँ होती हैं जो इतिहास के वर्तमान को उसके सामने युग से ही नहीं प्राचीनतम युग से भी मिलती हैं। यदि थोड़ी देर के लिए परम्पराओं का विच्छिन्न मान लें तब भी देश का परिचित अतीत भावनाओं में एक स्वाभाविक सरलता ला सकने में समर्थ होगा। इसके विपरीत एक सहस्र मील के अंतर का चित्र में वैचित्र्य के द्वारा मनोरंजन भर कर सकेगा। रेसाइन का तीसरा अन्य तर्क यह है कि ज्ञात चरित्रों से अज्ञात चरित्र अधिक उपयुक्त होते हैं। इसके विरोध में ऐतिहासिक नाटकों का समूचा इतिहास ही रखा जा सकता है। शायद ही ऐसा कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हो जिसका कथानक पूर्णतया अपरिचित ऐतिहासिक घटना हो अथवा जिसके पात्र ऐतिहासिक चरित्रों से रहित महत्वहीन व्यक्ति हों। एक उदाहरण से इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि इतिहास किसी शिलालेख अथवा ताम्रपत्र अथवा किसी अन्य स्रोत से एक ऐसी घटना का उल्लेख करता है जिसमें किसी स्त्री ने अपने पति तथा अपने तीन पुत्रों की हत्या कर दी और इस अपराध में १० ई० पू० उसको मृत्यु दण्ड दिया गया। इतिहास में तो उस स्त्री के नाम का

---

१ रेसाइन इन दी प्रीफेस ऑफ बेजाजेट'

शेक्सपीयर ऐंड क्लासिकल एंटिक्विटी पीस स्टेफर पृ० ११७

३ जोन ड्रिंकवाटर

४ रेजीनाल्ड बर्कले

५. एल्फ्रेड सैन्गस्टर

उल्लेख करता है और न उस स्त्री अथवा उसके पति या पुत्रों का सम्बन्ध किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा घटना से ही जोड़ता है । यदि नाटककार ६०० ई० पू० के वातावरण का सृजन कर उक्त घटना को इसी रूप में अपने नाटक का कथानक स्वीकार कर ले तो वह उच्चकोटि के ऐतिहासिक नाटक की सृष्टि नहीं कर सकता एक अत्यन्त साधारण ऐतिहासिक वातावरण प्रधान नाटक भले ही गढ़ ले । ऐतिहासिक नाटकों का समस्त इतिहास तो इसी सत्य की ओर संकेत करता जाता पड़ता है कि ऐतिहासिक नाटक की रचना करने के लिए इस प्रकार के सामान्य चरित्रों से जुड़ी घटनाओं का सम्बन्ध विपुल ऐतिहासिक चरित्रों से अवश्य ही जोड़ना पड़ेगा । उक्त घटना के ऐतिहासिक होने पर भी नाटककार उसमें कल्पना के कितने ही रंग क्यों न भर ले अथवा कितनी ही सफल मनोवैज्ञानिक कार्यकारण परम्परा जुड़ ले वह उसे ऐतिहासिक मूल्य नहीं दे सकता क्योंकि नाटक का कल्पना तत्व महत्वहीन ऐतिहासिक तथ्य को दबा देता है और इससे या तो नाटक ऐतिहासिक हो नहीं पाता या 'कल्पाश्री ऐतिहासिक' की कोटि में आ जाता है जिसको हम ऐतिहासिक नाटकों की सामान्य कोटि में स्वीकार करते हैं । यह सम्भव है कि समालोचक ऐसे नाटकों को 'इतिहास' की सीमा में रखना ही अस्वीकार कर दे ।

प्रश्न यह है कि ऐतिहासिक नाटक के रचना तत्व की वह कौन सी विशेषता है जिसके कारण प्रामाणिक इतिहास से कथानक वातावरण और चरित्र लेने पर भी प्रख्यात ऐतिहासिक नामों तथा चरित्रों के अभाव में ऐतिहासिक नाटक वस्तुतः ऐतिहासिक नहीं बन पाता ऐसे क्या कारण है जिनसे प्रभावित होकर अधिकांश नाटककारों ने प्रख्यात ऐतिहासिक पात्रों एवं चरित्रों से सम्बन्ध घटनाओं को ही अपने नाटक का विषय बनाया । इतिहास की विस्तृत सीमा में वस्तुतः उन्हीं व्यक्तियों के नाम एवं चरित्र का स्पष्ट उल्लेख होता है जिन्होंने या तो इतिहास की घटनाओं को स्वयं प्रभावित किया अथवा जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की ठोकरों से अनायास ही सफलता की ऊँचाई पाकर इतिहास के महान् व्यक्तियों में गिने जाने लगे वहाँ तक साधारण व्यक्ति एवं उसके जीवन का प्रश्न है वह या तो सांस्कृतिक इतिहास की व्यापकता में खो जाता है अथवा प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बद्ध परिस्थितियों एवं घटनाओं की कार्यकारण परम्परा की सामूहिक क्रिया प्रतिक्रियाओं में अन्तर्हित हो जाता है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण की व्यापकता में सामान्य व्यक्ति एकान्त अपनी स्थिति में स्वतन्त्र सत्ता बनाकर नहीं रह सकता और न रहता ही है । वह काल की अजस्र धारा की एक नन्ही बूँद रह जाता है जो धारा का आवश्यक अंग तो है परन्तु धारा के प्रवाह में जिसकी स्वतन्त्र सत्ता देखी नहीं जा सकती । धारा के प्रवाह और उसके मोड़ गिने जा सकते हैं । पहाड़ों से टकरा कर

देखिए 'ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण पृ०

घूमघुमाती हुई उसकी लहरी को भी स्पष्ट देखा जा सकता है पर उसकी प्रत्येक बूंद को गिन सकना असंभव है। यही कारण है कि साधारण एवं नाम रहित व्यक्तियों की विचित्र से विचित्र ऐतिहासिक घटनाएं भी विभुत एवं विख्यात नामों एवं घटनाओं के सम्पर्क के अभाव में बूंदों से अधिक अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा नहीं कर पाती अतः ऐतिहासिक नाटक में स्वतन्त्र रूप से उनको स्थान भी नहीं मिलता। ऐसा करने के लिए नाटककार को उन्हें उक्त सम्बन्धों से पुष्ट करना ही पड़ेगा। अतः विचारों से हम ऐतिहासिक नाटककार को काल्पनिक निर्माण कार्यों के लिए चाहे जितनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करें, नाटक का रचना तन्त्र उसकी स्वतन्त्रताओं की चहारदीवारी स्वतः हो बन गया है। भारत के 'प्रसाद युग' का महत्व यही स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

इतिहास जैसा मुंशी ने कहा है सही सही विज्ञान नहीं है। मनुष्य के ज्ञान के साथ साथ उसमें विकास ही नहीं होता वरन् उसके मूल्य और मूल्यांकन की पद्धतियों में भी परिवर्तन होता चला जाता है। नई नई घटनाएं ऐतिहासिक तथ्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने में समर्थ होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इतिहासकार की मान्यताओं में भी अन्तर होता है। एक ही व्यक्ति अथवा एक ही घटना के अथवा एक ही काल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत होते हैं। कालिदास की प्रामाणिक तिथि के अभाव में इतिहासकारों में आज तक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका। इतना ही नहीं प्रत्येक इतिहासकार एक विशेष दृष्टिकोण से इतिहास की रचना करता है और उक्त दृष्टिकोण अपनी समग्रता में इतिहास के अमूल्य तत्वों को महत्वहीन अथवा महत्वहीन तत्वों को बहुमूल्य बना सकने में समर्थ होता है। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं कि इन सब बहुमुखी अर्थों का कारण इतिहासकार की "सम्मिश्र सम्भाव्यताएं" होती हैं अथवा मुंशी के शब्दों में कहा जा सकता है कि दृष्टिकोणों की यह विभिन्नता इतिहासकार के 'स्वानुभूत सत्य' का परिणाम है। प्रश्न यह उठता है कि एक दूसरे से भिन्न दृष्टिकोणों में नाटककार सत्य का कौन सा स्वरूप ग्रहण करे किस सीमा तक करे और किन स्थलों पर अपनी मौलिक प्रतिभा का समाहार करे। नाटककारों की स्वतन्त्रता इस क्षेत्र में सबसे अधिक है। नाटककार को पूर्ण अधिकार है कि वह अपने युग के इतिहासकारों के किसी भी उचित संभाव्य (नाटकीय दृष्टि से) मान्यता को अपने नाटक के लिए स्वीकार कर ले। वह चाहे तो सर्वाधिक मान्य दृष्टिकोण को ले सकता है और यदि वह दृष्टिकोण नाटकीय रचना तथा अन्य संभावनाओं की दृष्टि में अनुपयुक्त हो अथवा उसके अपने उद्देश्य से मेल न खाता हो तो वह सबसे कम मान्य दृष्टिकोण को भी ले सकता है और प्रतिपादन के लिए शक्तिशाली कार्यकारण परिस्थितियों का नियोजन कर सकता है। नाटककार को यह भी अधिकार है कि वह किसी भी इतिहासकार की मान्यताओं को स्वीकार न कर ऐतिहासिक समस्याओं पर अपनी व्यक्तिगत सम्भावनाओं का निर्माण कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ पर भी

स्वयं इतिहासकार के क्षेत्र में अपना पाँव बढ़ाता है। हम पहले कह चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह इतिहास की आत्मा में प्रवेश कर उसके सत्य का साक्षात् दर्शन करे। अतः इतिहास के क्षेत्र में पैर रखना उसका अधिकार ही नहीं उसके लिए आवश्यक भी है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यक्तिगत संभावनाओं का महत्व वहीं होता है जहाँ इतिहास अस्पष्ट हो। 'इतिहास के अ अ युग इस दृष्टि से नाटककार के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। यदि इतिहास कोई ऐसा कथानक दे जो नाटक में भावोद्रेक उत्पन्न कर सके जिसमें नाटकीय संभावनाएँ हों और जिसमें ख्यात पात्रों की परिस्थितियों से ऐसी क्रिया प्रतिक्रिया हो कि घटना में आवश्यक कुतूहल प्रभावोत्पादकता और हृदय स्पर्श करने की शक्ति उत्पन्न हो सके तो नाटककार की सृजनात्मक कल्पना का कार्य कम हो जाता है। वह इसके रंग को और गहरा करने के लिए नए पात्र गौण कथानक और शक्तिशाली कार्य कारण परम्पराओं की सृष्टि तक ही अपनी कल्पना को सीमित कर लेता है। अन्यथा नाटककार किसी भी संभाव्य ऐतिहासिक कथानक को लेकर उसमें कुछ ख्यात पात्रों के नाम और उनके चरित्रों की बाह्य रूप रेखाओं का समावेश करता है इतिहास के रिक्त स्थलों में कल्पनाओं का आवरण चढ़ाता है कारण और परिणाम के बीच कुतूहलों के साथ साथ नाटकीय त्वरा की संयोजना करता है, काल्पनिक चरित्रों को ख्यात चरित्रों के समानान्तर खड़ा करता है उनको काल्पनिक ऐतिहासिक प्रदान करता है ख्यात पात्रों में नवीन चारित्रिक विशेषताओं का इस प्रकार सृजन करता है कि विशेषताओं के साथ उनका विरोध न हो समस्त नाटक को ऐतिहासिक संभाव्यता प्रदान करता है और सबसे ऊपर नाटक के सम्पूर्ण प्रभाव में भावोद्रेक या रसोद्रेक की शक्ति भर कर उसे काव्य का अंग बना देता है।

एक अंतिम प्रश्न और रह जाता है नाटककार मूल एवं ख्यात ऐतिहासिक कथानक में कब और कितना परिवर्तन कर सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि मूल कथानक में केवल थोड़े से ऐसे मोड़ देने हों जो सरलता से लक्षित न हो सकें अथवा नाटक के उद्देश्य से काल क्रम में थोड़े से ऐसे परिवर्तन करने हों जिनसे इतिहास की मूल शृंखला छिन्न भिन्न न हो तथा अन्यान्य सत्य को चोट न पहुँचे तो नाटककार जब चाहे उक्त परिवर्तन करने का अधिकारी है। परन्तु यदि मूल कथानक में कल्पना के प्रभाव से आमूल परिवर्तन उपस्थित करना हो तो ऐसा केवल तभी किया जा सकता है जब प्रधान ऐतिहासिक चरित्रों में नाटककार इतनी शक्ति का सृजन कर सके कि उसके प्रभाव से कथानक अभिभूत हो जाय और उक्त परिवर्तन न केवल स्वाभाविक लगने लगें वरन् पूर्ण सम्भाव्यता लिए हुये हों। यदि ख्यात चरित्रों में इस प्रकार का परिवर्तन करना हो तो ऐतिहासिक कथानक में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि कथानक की शक्ति पात्रों को अभिभूत कर अपने प्रवाह में समेट ले जाय। ऐसे परिवर्तन उपस्थित करने में जो कुछ भी ऐतिहासिक तत्व हों उसकी प्रधानता

होना आवश्यक है तभी वह नाटक के इतिहास पक्ष (ऐतिहासिकता) को नष्ट किए बिना अन्य तत्वों को अपना आधीन कर सकता है। ऐतिहासिक नाटक के उपर्युक्त स्वरूप एवं रचना तंत्र की विशेषता को ध्यान में रखते हुए यदि उसकी परिभाषा करनी हो तो यह कहा जा सकता है कि "ऐतिहासिक नाटक नाटक के शरीर में इतिहास के प्राणों का सम्पहार है।

ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण

नाटक में ऐतिहासिक घटना, पात्र अथवा वातावरण की प्रधानता की दृष्टि से ऐतिहासिक नाटकों का एक वर्गीकरण किया जा सकता है। कहीं नाटककार कथानक को महत्व देता है, कहीं चरित्र को और कहीं केवल ऐतिहासिक वातावरण को। इस दृष्टि से साधारण नाटकों की तरह घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और वातावरण प्रधान ये तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं। परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण सामान्य है और ऐतिहासिक नाटक के ऐतिहासिक और नाटकीय इन दो भिन्न तत्वों से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। ऐतिहासिक युगों के आधार पर भी नाटकों का वर्गीकरण किया जा सकता है परन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसे सर्वदेशीय नहीं बनाया जा सकता। कई देशों के नहीं एक ही देश की कई जातियों और धर्मों के इतिहास भिन्न-भिन्न युगों और कालों में बँटे होते हैं। अतः उक्त वर्गीकरण सार्वभौम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का वर्गीकरण इतिहास की दृष्टि से ही हो सकता है, नाटकीय दृष्टि से नहीं। अतः यह वर्गीकरण एकांगी होकर रह जायगा। नाटकों के उद्देश्यों को लेकर भी ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण किया जा सकता है और उसके राष्ट्रीय ऐतिहासिक, सांस्कृतिक ऐतिहासिक तथा विशुद्ध ऐतिहासिक जैसे भेद किए जा सकते हैं। परन्तु हम नाटक के सम्बन्ध में विचार करते हुए कह चुके हैं कि किसी भी नाटक में उक्त सभी उद्देश्यों को एक साथ पूरा किया जा सकता है। ये सभी उद्देश्य नाटक में इतिहास के प्रभाव पर निर्भर करते हैं और किसी भी नाटक में ये सभी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उपस्थित रहते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों का सबसे अच्छा वर्गीकरण वह हो सकता है जिसमें इतिहास के साथ समस्त नाटक का सम्बन्ध प्रतिफलित हो। इस प्रकार का वर्गीकरण रचना तन्त्र पर ही आधारित होगा और इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होगी कि यह न केवल इतिहास के आधार पर होगा वरन् साहित्यिक गुणों, रचना-तन्त्र के सामान्य स्वरूपों, कथानक, पात्र और वातावरण के आपसी सम्बन्धों तथा काल्पनिक तत्त्वों के आयोजनों को भी अपनी सीमा में समेट सकेगा। अतः रचना तन्त्र के आधार पर हम ऐतिहासिक नाटकों के स्थूल रूप से चार भेद कर सकते हैं :—

१ शुद्ध ऐतिहासिक
२ अर्द्ध ऐतिहासिक
३ काल्पनिक ऐतिहासिक
४ स्वच्छन्द ऐतिहासिक

शुद्ध ऐतिहासिक

यदि नाटककार मूल कथानक प्रामाणिक इतिहास से ले, प्रायः सभी प्रधान पात्र भी इतिहास विश्रुत हों और उन सभी पात्रों के नामों को ही नहीं चरित्रों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार करे तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी में रखा जा सकता है। वातावरण की अनैतिहासिकता का तो प्रश्न उठता ही नहीं। इसमें प्रासंगिक रूप में अप्रधान पात्र और गौण काल्पनिक कथानकों की नियोजना अवश्य की जा सकती है, परन्तु उनका काम प्रधान पात्रों तथा मूल कथानक की विशेषताओं को प्रकाश में लाना ही होता है। नाटककार का कार्य इस प्रकार के नाटक में अतीत का पुनर्दर्शन और पुनर्निर्माण है। वह अतीत में रंग भरता है, उसके विरोध को स्पष्ट करता है और सामंजस्य को समीप लाकर पात्रों को जीवित करता है। यहाँ नाटककार मृत अतीत में कला के प्राण भरता है। शुद्ध ऐतिहासिक नाटक के सभी प्रधान तत्व ऐतिहासिक होते हैं अतः चरित्र और कथानक एक दूसरे से संतुलित और आनुपातिक रहते हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कभी-कभी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक में नाटककार प्रधान ऐतिहासिक पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उसके समानान्तर एक और प्रधान पात्र की सृष्टि करता है जो ऐतिहासिक तो नहीं होता, परन्तु पात्र और परिस्थिति जन्य पूर्ण ऐतिहासिक संभाव्यता लिये होता है। वह पात्र न केवल ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को ही निखारता है वरन् घटना क्रम में भी पूर्ण योग देता है। यदि इस प्रकार का प्रधान काल्पनिक चरित्र नाटक के ऐतिहासिक तत्वों को नष्ट न करे, तो उसकी प्रबल संभाव्यता उसे ऐतिहासिक बना देती है। बंगला में द्विजेन्द्रलाल राय के और हिन्दी में प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक इसी कोटि में आते हैं। कन्हैयालाल मुन्शी का गुजराती नाटक "ध्रुवस्वामिनी देवी" भी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक है। उदयशंकर भट्ट का "चक्र विजय" और लक्ष्मीनारायण मिश्र का "वितस्ता की लहरें" शुद्ध ऐतिहासिक हैं यद्यपि इनमें दोनों नाटककारों ने इतिहासकार बनने के प्रयास में मूल इतिहास की मान्यताओं में फेरफार करने का प्रयास भी किया है।

अर्द्ध ऐतिहासिक

यदि नाटककार मूल कथानक इतिहास से ले और कल्पना से प्रधान पात्रों का सृजन कर उनका इतिहास पर आरोप करे तो, ऐसे नाटक को अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में रख सकते हैं। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि मूल कथानक का सम्बन्ध जिन ख्यात व्यक्तियों से कहीं पर भी जुड़ा हो वहाँ उन ख्यात व्यक्तियों का गौण पात्रों के रूप में ही सही, नाटक में आना आवश्यक है। यदि उक्त कथानक का सम्बन्ध किसी ख्यात चरित्र से न हो तो नाटककार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ख्यात पात्रों का कथानक में आरोप करे। अन्यथा जैसा हम कह चुके हैं ऐतिहासिक वृत्तों को भी ऐतिहासिक स्वीकार करने में संकोच करेंगे। अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक में गौण रूप से ऐतिहासिक पात्रों का रहना अनिवार्य है। इस प्रकार के नाटक में

पूर्ण ऐतिहासिक तत्व कथानक है। अत यह आवश्यक है कि कथानक से पात्रों का उद्भव हो अन्यथा पात्र ऐतिहासिक सम्भाव्यता को न पा सकेंगे। इस प्रकार नाटक में कथानक की प्रमाणता रहती है ऐतिहासिक रचनातन्त्र की दृष्टि से वातावरण तो सर्वत्र ऐतिहासिक होता है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने "हंस मयूर" नाटक के मध्य ऐतिहासिक कथानक को लेकर इन्द्रसेन नामक कल्पित पात्र को उसका नायक बना दिया है।

इस प्रकार के नाटकों में नाटककार कथानक तो काल्पनिक या 'उत्पाद्य' ग्रहण करता है किन्तु उसके पात्रों में ऐतिहासिक चरित्रों का आरोप करता है। प्रामाणिक इतिहास से भिन्न सभी कथानक काल्पनिक कहे जा सकते हैं। यह सम्भव है कि नाटककार एकदम मौलिक कथानक का निर्माण न कर दन्त कथाओं अथवा पुराणों से ही अपनी समस्त सामग्री ले ले। ऐसी स्थिति में कथानक पात्रों से अपनी संभाव्यता ग्रहण करेगा और ऐतिहासिक तत्त्व पात्रों में होने के कारण चरित्र कथानक को प्रभावित करते रहेंगे। वातावरण की ऐतिहासिकता तो अनिवार्य है ही।

काल्पनिक ऐतिहासिक

हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक एकांकियों की रचना पर्याप्त मात्रा में हुई है। मिलिन्द के नाटक 'गौतम नन्द'[1] को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। गौतम नन्द का कथानक कल्पित है किन्तु उसके पात्रो में गौतम बुद्ध और शुद्धोदन जैसे ऐतिहासिक पात्रों के उल्लेख से ऐतिहासिक सम्भाव्यता लाई गई है। उसके प्रभाव से नाटक स्वच्छन्द ऐतिहासिक की कोटि में आ जाता।

ऐतिहासिक नाटकों का अन्तिम प्रकार 'स्वच्छन्द ऐतिहासिक' है। इसमें नाटककार का कथानक ही नहीं पात्र और चरित्र भी काल्पनिक होते हैं। सारे पात्र अपने कार्य विशुद्ध ऐतिहासिक काल एवं वातावरण में ही करते हैं परन्तु वे ऐतिहासिकता लिये नहीं होते। पात्रों का नाम नाटककार की कल्पना द्वारा होता है और उनके चरित्रों का निर्माण भी उसी वातावरण में होता है। अतः इस प्रकार के नाटक में ऐतिहासिक वातावरण प्रधान रहता है और वह वातावरण पात्र एवं घटनाओं को प्रभावित करता है स्वयं उनसे प्रभावित नहीं होता। यहां भी पात्रों का सम्बन्ध किसी न किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से जुड़ना आवश्यक है चरित्र भले ही ऐतिहासिक न हो। यह सम्भव है कि ऐसे विशुद्ध चरित्र न पात्रों के सम्बन्ध का कहीं न कहीं उल्लेख करकर दिया जाय। जिसे लेकिन कि इतिहास का भ्रम रहा है। उस भ्रम के लिए इस प्रकार के सम्बन्धों की सृष्टि आवश्यक है अन्यथा वह ऐतिहासिक नाटकों में रखा ही न जा सकेगा। ऐतिहासिक वातावरण

४ स्वच्छन्द ऐतिहासिक

---

१ गौतमनन्द सं० २००६ वि जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द

२ हिन्दी के एकांकी नाटक पृ० २२६

प्रधान ऐतिहासिक तत्व नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार के नाटक अधिक नहीं लिखे गए किन्तु हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक भारतेन्दु रचित 'नीलदेवी' इसी कोटि का है इसमें ऐतिहासिक नहीं है। सियारामशरण का 'पुण्य पर्व' नाटक भी इसी श्रेणी का है।

नाटक में कल्पना और इतिहास इन दोनों के सम्मिश्रण की मात्रा और उसके स्वरूप के आधार पर ऐतिहासिक नाटकों के उतने ही भेद हो सकते हैं जितने नाटक हैं। परन्तु सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण स्पष्ट एवं अपने में परिपूर्ण है। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि निरन्तर विकासशील कला को वर्गों की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र रूप से कथानक एवं पात्रों के कभी कभी कई स्वरूप हो सकते हैं जो ऐतिहासिक होते हुए भी इतिहास की पूर्ण अनुकृति नहीं कहे जा सकते। ऐसे स्वरूपों के सूक्ष्म अन्तर को भूलकर हम उन्हें भी भी उपर्युक्त वर्गों में रख सकते हैं। उदाहरण स्वरूप कभी कभी नाटककार इतिहास के दो तीन या उससे अधिक छोटे छोटे कथानकों को आवश्यक कार्य कारण परिस्थितियों से जोड़कर एक सूत्र में पिरो देते हैं और उसे पूर्ण ऐतिहासिक सम्भाव्यता से अनुप्राणित भी कर देते हैं। इसी प्रकार कभी कभी दो पात्रों को मिलाकर एक चरित्र भी बना दिया जाता है। इस प्रकार कई ऐतिहासिक चरित्रों को जोड़कर एक नया चरित्र भी बना दिया जाता है। कभी कभी एक ही कथानक में अथवा एक ही पात्र में इतिहास के साथ कल्पना का भी पूर्ण सम्मिश्रण कर दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कठोर ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे समस्त कथानक एवं पात्रों को अनैतिहासिक या विकृत ऐतिहासिक स्वीकार करना पड़ेगा और यह नाटककार का दोष माना जायगा परन्तु यदि इस प्रकार के पात्र या कथानक नाटक की ऐतिहासिक संभाव्यता को बनाए रखते हों और प्राणवान एवं सजीव हों अथवा अल्प परिचित एवं अपरिचित हों तो उक्त दोष को नाटककार की सृजनात्मक प्रतिभा के अन्तर्गत मानकर काल्पनिक तत्व कहा जा सकता है। जय शंकर प्रसाद के नाटकों में से इस प्रकार के पर्याप्त उदाहरण दिये जा सकते हैं इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

ऐतिहासिक नाटक और उसमें सत्य का स्वरूप

सत्य शब्द सापेक्ष है। मूलतः सत्य की सापेक्षता का कारण व्यक्ति है। उसके स्वयं के अनुभवों की समग्रता और उसका यथार्थ जीवन के प्रति जिस दृष्टिकोण को जन्म देता है वह दृष्टिकोण ही उसके लिए सत्य की परिभाषा का निर्माण करता है। यह भी संभव है कि यही व्यक्तिगत दृष्टिकोण समष्टिगत हो जाय और सत्य का एक व्यापक स्वरूप बन जाय। परन्तु यहाँ पर भी व्यापक कला का सत्य सत्य व्यक्ति सापेक्ष या व्यक्ति समूह सापेक्ष है। दार्शनिकों ने निरपेक्ष सत्य की कल्पना की है। निरपेक्ष सत्य व्यक्ति, समूह, समाज, जाति, देश और काल विशेष से ऊपर है। परन्तु यहाँ हम कला के जिस सत्य का विश्लेषण कर रहे हैं वह कला का लोक जीवन के प्रति ठीक वैसा ही एक दृष्टिकोण है जैसा एक व्यक्ति का अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति होता है। अतः यह भी सापेक्ष इस अर्थ में है कि कवि या कलाकार के मानस पर जीवन और जग की प्रतिक्रिया एक विशेष प्रकार की होती है, इतिहासकार पर एक विशेष प्रकार की, वैज्ञानिक पर अन्य प्रकार की और दार्शनिक पर उससे भी भिन्न।

कवि (या नाटककार) का जीवन के प्रति संश्लिष्ट दृष्टिकोण होता है। यह संश्लिष्ट दृष्टिकोण सौन्दर्य जन्य है क्योंकि कवि का उद्देश्य स्वानुभूत सौंदर्य की अभिव्यक्ति द्वारा पाठकों या दर्शकों को प्रभावित कर उनमें सौन्दर्यानुभूति का आनन्द उत्पन्न करना है। जिमर के विचारों का विश्लेषण करते हुए हम देख चुके हैं कि वह काव्य के ऐतिहासिक उद्देश्य से भिन्न काव्यात्मक उद्देश्य की कल्पना करता है और कवि को काव्य सत्य के नियमों से बँधा हुआ मानता है। अतः जिमर के दृष्टिकोण से काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से भिन्न काव्य के उद्देश्य अर्थात् रसानुभूति का सत्य है। काव्य की व्यापक परिभाषा में ऐतिहासिक नाटक का भी स्थान है। ऐतिहासिक नाटक में नाटककार के स्वानुभूत सत्य का चाहे कितना ही महत्त्व क्यों न हो ऐतिहासिक सत्य का भी उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः ऐतिहासिक नाटक की सीमाएँ जिमर के काव्य सत्य या प्राकृतिक सत्य से ही नहीं अन्य तत्त्वों से भी बँधी हुई हैं।

विचारकों ने कला में सत्य के संबंध में दो प्रश्न उठाए हैं। (१) क्या सत्य से कला के संबंध का प्रश्न आवश्यक है? (२) क्या सत्य का कला से वही संबंध है जो सत्य का जीवन से है?

प्रथम प्रश्न में सत्य और कला के संबंध को दो कारणों से अनावश्यक माना गया है। एक कारण यह है कि कला का उद्देश्य भावों की जागृति है अतः उसका

सत्य में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं। सत्य या असत्य से भावों की जागृति में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। भावों की जागृति के लिए कथा अथवा ऐतिहासिक (सत्य) भी हो सकता है और काल्पनिक (असत्य) भी। यहाँ वस्तुतः कला के मूल्य का प्रश्न उठ सकता है कला के सत्य का नहीं। सौंदर्य का दृष्टिकोण सत्य और असत्य के प्रश्न को लेकर नहीं चलता। वस्तुतः किसी भी कलाकृति की प्रत्येक अवस्था हममें जो समग्र प्रभाव डालती है उससे हमारा ध्यान कला के सत्य अथवा असत्य में न जाकर कलाकृति की सम्पूर्णता में केन्द्रित हो जाता है और उससे हम आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि किसी कृति के आनन्द (समग्र प्रभाव) को छोड़कर उसका विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करना हो तो भी यह निर्णय नहीं दिया जा सकता है कि वह कलाकृति सत्य है या असत्य है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अमुक कृति अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अमुक निरर्थक। इन दोनों प्रकार की कलाओं का अन्तर सौंदर्य शास्त्र की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व का है क्योंकि इस अन्तर को सामने रखकर ही प्रत्येक व्यक्ति छोटे रूप से साधारण वस्तुओं से लेकर महान् कलाकृतियों तक के लिए अपने अपने मानदण्ड बना सकता है। संक्षेप में प्रथम प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति के माध्यम से ही कला में सत्य को महत्व दिया जा सकता है पर कला संबंधी निर्णय के लिए सत्य का प्रश्न अनावश्यक है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी भी कलाकृति का मूल्य जीवन के उन आधारभूत तत्वों पर निर्भर करता है जिनको वह कलाकृति अभिव्यक्त करती है। अतः सत्य का कला और जीवन से समवाय संबंध है।

किसी भी कलाकृति में सत्य कई रूपों में अभिव्यक्त होता है

(अ) कलाकार के अपने विश्वासों के अनुकूल सत्य। डा० ब्रानसन के अनुसार यह भावनाओं का सत्य है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक हृदय में सुनाई पड़ती है।

(आ) जीवन के अनुरूप सत्य। इसी दृष्टिकोण से कला को जीवन का अनुकरण या प्रतिबिम्ब मानने में सहायता दी। इसे हम कला का बाह्य सत्य भी कह सकते हैं।

(इ) आन्तरिक सामंजस्य का सत्य। सत्य के इस स्वरूप को उन विद्वानों ने माना है जो किसी कलाकृति को परिपत्र (डोक्यूमेंट) और केवल तथ्यों के विवरण को काव्य नहीं मानते।

कला में सत्य के इन तीनों स्वरूपों का समन्वय होता है। कला का सत्य वह है जो किसी कलाकृति के अन्दर एकदम भिन्न भिन्न मूल्यों का समन्वय और बिखरे बिखरे अंगों को व्यवस्था प्रदान करता है। सत्य के उक्त तीनों स्वरूपों को (१) कलाकार का सत्य (२) प्रकृति और जीवन का सत्य (३) कला में दोनों की संतुलित अभिव्यक्ति का सत्य कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक नाटक में भी अन्य कलाकृतियों की तरह प्रभाव की समग्रता का ही महत्व है, उसके अंगों का नहीं। कलाकृति होने के कारण उसके सत्य और असत्य का नहीं वरन् उसके मूल्यों का प्रश्न उठता है। जब हम किसी ऐतिहासिक नाटक के

ऐतिहासिक नाटक का सत्य

प्रभाव की विवेचना करते हैं तब अवश्य ही उसके जीवन मूल्यों के आधार पर उसके महत्व अथवा उसकी निरर्थकता का निर्धारण अनायास कर लेते हैं परन्तु यदि हमको परीक्षा करनी हो कि इतिहास कल्पना अथवा काव्य के सत्य के प्रति ऐतिहासिक नाटककार का दृष्टिकोण क्या है तो नाटक की सम्पूर्णता और उसके समग्र प्रभाव को थोड़ी देर के लिए भूल कर उसके एक एक अंग पर पृथक पृथक विचार करना पड़ेगा। ऐसी दशा में हमारे विवेचन का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक हो जायगा और इस प्रकार के विवेचन में सत्य को भी खंड खंड करके देखना पड़ेगा।

सामान्य कला में सत्य का स्वरूप ऐतिहासिक नाटक में सत्य के स्वरूप से कुछ भिन्न होता है किन्तु इनमें मौलिक अन्तर नहीं है। ऐतिहासिक नाटक में सत्य के स्वरूप का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है —

१ इतिहास का सत्य
२ नाटककार के अपने विचारों का एवं उसके स्वानुभव का सत्य
३ काव्य परम्पराओं का सत्य
४ लोक मानस का सत्य

ऐतिहासिक नाटककार के सम्मुख सर्वप्रथम इतिहासकार का सत्य है। जीवन एवं जगत के प्रति इतिहासकार का एक विशेष दृष्टिकोण होता है। वह दृष्टिकोण होता है तथ्य संग्राहक का तथ्य विवेचक का और तथ्य संरक्षक का।

इतिहासकार का सत्य

उसका सत्य मूलतः कभी किसी अतीत में होने वाली घटनाओं और उस काल के व्यक्तियों का सत्य है। यदि वह दार्शनिक इतिहासकार है तो उसके सत्य का स्वरूप फिर प्रवाहित काल की घटनापूर्ण धारा में कार्य कारण परम्परा ढूंढने में प्रतिफलित होता है। इतिहासकार को ऐतिहासिक सत्य के लिए ज्ञात और सिद्ध मान्यताओं के अतिरिक्त अर्द्ध सिद्ध अथवा असिद्ध किन्तु सम्भाव्य कथाओं पुराणों इत्यादि से भी तथ्य ग्रहण करने पड़ते हैं। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास के सुपरिचित सत्य का विरोध नहीं करता। इतिहास की सुप्रसिद्ध मान्यताओं का विरोध करने में उसे स्वयं इतिहासकार का स्थान ग्रहण करना पड़ेगा और संभव है कि इस क्रिया में वह नाटककार ही न रहे। इतिहास के अर्द्ध सिद्ध या संभाव्य सत्य को वह परिवर्तित कर सकता है। वस्तुतः इतिहास की अर्द्ध सिद्ध मान्यताएं इतिहासकार और नाटककार दोनों के समान क्षेत्र हैं। इतिहास की शृंखला को जोड़ने में जब इतिहासकार अर्द्ध सिद्ध या संभाव्य मान्यताओं का आश्रय लेता है तो वह नाटककार

के समान ही सत्य के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है। हमने इन इतिहासकार की संश्लिष्ट सम्भाव्यता का क्षेत्र कह चुके हैं। नाटककार इतिहास की सुप्रसिद्ध मान्यताओं में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता और न इतिहासकार की संश्लिष्ट सम्भाव्यता से युक्त इतिहास में ही कोई परिवर्तन कर सकता है वह इतिहास की अप्रसिद्ध या संभाव्य मान्यताओं में इच्छानुकूल परिवर्तन कर सकता है पर इसके लिए उसे इतिहास के स्वरूप का भेद करने पड़ेंगे—

१ सुप्रसिद्ध इतिहास और
२ अप्रसिद्ध या सम्भाव्य इतिहास

यहाँ पर वह इतिहासकार की संश्लिष्ट सम्भाव्यता के स्थान पर अपनी कल्पना का उपयोग करेगा।

नाटककार के स्वानुभाव का सत्य

नाटककार के स्वयं के अनुभव और उसकी मान्यताएँ ही उसका स्वानुभूत सत्य है। जीवन का प्रवाह धारा का अनन्त लहरों से टकराने के उपरान्त भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर उन थपेड़ों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। कोई उन लहरों से भावुकतापूर्ण व्यथित होता है कोई उनमें प्रणय का स्पन्दन और कोई दोनों। कवि के समान नाटककार भी समाज की पीड़ा का सबसे अधिक पिसा हुआ वर्ग होता है। अतः जीवन प्रवाह के हल्के से आघात में भी वह स्पन्दन उठता है और आघात के स्वरूप के अनुरूप ही उसमें से स्वर निकलते हैं। ये स्वर दोनों प्राणों को स्पर्श करते हैं। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति सभी हृदयों की प्रतिध्वनि बन जाती है। मुंशी ने जिसे 'मानव विषयों का स्वानुभव' कहा है और जिसे उन्होंने ऐतिहासिक नाटक की जीवन्त शक्ति कहा है वही नाटककार का सत्य है।

नाटककार समाज का ही एक व्यक्ति है और उसका भी एक व्यक्तित्व होता है। उस व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी मान्यताएँ होती हैं। ये मान्यताएँ उसका जीवन दर्शन बनाती हैं और इन मान्यताओं पर आश्रित मानव समस्याओं के प्रति उसका दृष्टिकोण निर्भर करता है ये मान्यताएँ संस्कार जन्य शिक्षा जन्य अथवा अनुभव जन्य हो सकती हैं। वस्तुतः ये उसके विश्वास हैं प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अपनी आँखों से देखना चाहता है अतः ये नाटककार के नेत्र हैं जिनसे वह संसार को देखने का प्रयत्न करता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि इतिहास के विषय सत्य में न सही अर्द्ध सत्यों में परिवर्तन करने का अधिकार नाटककार को है। इसके अतिरिक्त नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि भी वह कर सकता है जो कलाकृति में कलात्मकता का सृजन करने के लिए आवश्यक है। ये परिवर्तन अथवा नवीन उद्भावनाएँ नाटककार के व्यक्तिगत सत्य हैं जो या तो अनुभवों से अथवा उसके स्वयं की मान्यताओं से बनाये गये होते हैं। अतः यह सम्भव नहीं कि ऐतिहासिक नाटककार की रचनाएँ उसके स्वयं के सत्य से प्रभावित न हों।

ऐतिहासिक नाटककार के लिए इन दोनों के अतिरिक्त सत्य का एक और स्वरूप भी है। उसको हम नाटकीय परम्पराओं का सत्य कह सकते हैं। भारतीय

नाटकीय परम्पराओं का सत्य

नाट्यशास्त्र में नाटक के किसी भी स्वरूप में दुखान्त या आसव के लिए स्थान नहीं है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो पर इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत का समस्त नाट्य साहित्य उक्त नाटकीय परम्परा से प्रभावित है। इसी प्रकार यूनान में ऐतिहासिक कथावस्तु का उपयोग साधारणतः आसव के लिए ही किया जाता था और सुखान्त नाटकों में कथावस्तु तत्कालीन जीवन से ग्रहण की जाती थी। उक्त परम्परा का निर्वाह समस्त यूनानी नाटकों में ही नहीं कालान्तर में लिखे गए इंगलैंड और फ्रांस के नाटकों में भी देखा जा सकता है। प्रश्न यह उठ सकता है कि इन नाटकीय परम्पराओं का 'सत्य' क्यों कहा जाय। इसका कारण यह है कि इन परम्पराओं के सत्य के निर्वाह के लिए नाटककारों ने ऐतिहासिक सत्य में परिवर्तन ही नहीं किया वरन् उसके विपरीत सर्वथा नवीन मान्यताएं खड़ी कर दी। भवभूति ने उत्तर रामचरित म नाटकों को सुखान्त ही बनाने की भारतीय नाट्य परम्परा के निर्वाह के लिए विश्रुत रामकथा में तथ परिवर्तन करके अन्त में सीता और राम का संयोग दिखा दिया। साधारणतः नाटककारों ने इस बात का ध्यान रखा है कि ऐसे ही कथानक लिए जाय जिनमें उक्त परम्पराओं का निर्वाह सहज हो सके कथानकों में स्वतन्त्र रूप से काट छांट भी करनी पड़ी। अपने नायकों को नाट्यशास्त्र के अनुकूल 'धीरोदात्त' बनाने के लिए कालिदास ने पौराणिक दुष्यन्त के चरित्र में ही परिवर्तन कर दिया और शकुन्तला त्याग के औचित्य को सिद्ध करने के लिए दुर्वासा के शाप और शची तीर्थ में अंगूठी खो जाने की कल्पना की। एस्काइलस ने आसद प्रभाव की वृद्धि के लिये प्रोमीथियस सम्बन्धी इतिहास में कई परिवर्तन किए[1]। यूरिपाइडीज ने हेलन सम्बन्धी प्रसिद्ध इतिहास म कई काल्पनिक घटनाए जोड़कर हेरा कोस्टा क्लिनेफा तथा पैरिस जैसी कल्पित सभी पात्रों की सृष्टि की[२]। अतः स्पष्ट है कि परम्पराओं का सत्य भी ऐतिहासिक नाटककार की नाट्य रचना को प्रभावित करता है[३]।

ऐतिहासिक नाटककार पर एक और 'सत्य अपनी छाया डालता है जिसे हम लोक जीवन' का सत्य कह सकते हैं। उक्त सत्य के दर्शन एक ओर तो हम काव्य न्याय (पोएटिक जस्टिस) में होते हैं और दूसरी ओर अन्य लोक विश्वासों में। काव्य न्याय नाटकीय न्याय भी कहा गया है। 'नाटक महाकाव्य अथवा उपन्यास सभी में शिव और अशिव सत और असत् के संघर्ष में सदा ही शिव की

---

१ पोयटिक्स — स्कालियर पृ १२
२ वही
३ ट्रेजेडीज आफ दि साउट एज — आमथ राइटर

ओर सद् की ही विजय होनी चाहिए, जिससे सम्पूर्ण व्यक्ति शिव और सद् की ओर प्रेरित हों पूरे व्यक्ति नतमस्तक हों। भारत का सांस्कृतिक दृष्टिकोण सदा ही मानवोचित गुणों के विकास के लिए प्रयत्नशील रहा है। समस्त कलाएं, समस्त विज्ञान और समस्त दर्शन मानव के सर्वांगीण विकास को ही अपना चरम लक्ष्य मानते आये हैं। इस सत्य का नाट्यशास्त्रकार ने 'सर्वोपदेशजननम्' में अभिव्यक्त कर दिया है। भारतीय नाटकों में नायक का उत्कर्ष और अन्य पात्रों पर प्रभाव इसी 'काव्य न्याय' की ओर संकेत करती है। परन्तु के समकालीन विचारकों की मान्यता थी कि वही सामर सर्वश्रेष्ठ है जिसमें काव्य न्याय का निर्वाह किया गया हो। परन्तु अरस्तू ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया।[1] कालान्तर में यद्यपि सिद्धान्तरूप में 'काव्य न्याय' का महत्त्व जाता रहा तथापि यह काव्य न्याय ऐतिहासिक नाटकों के साथ साथ नाटकों में भी प्रच्छन्न रूप से किसी न किसी रूप में चलता रहा।[2] ओथेलो नाटक में डेसडिमोना की हत्या करने पर न तो ओथेलो ही जीवित रह सका और न इयागो ही। नीच को उचित दंड मिलना काव्य न्याय का उदाहरण है। 'काव्य न्याय' के उद्देश्य में भी ऐतिहासिक कथानकों में समय समय पर परिवर्तन कर दिये गए। इसी प्रसंग के सम्बन्ध में मैरियट की एक उक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि 'नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि धर्मविचार पक्षपातपूर्ण करके सब शासक का सम्पूर्ण आचरण अवश्य चित्रित किया जाय चाहे राज्य का यह अपहरण इतिहास की दृष्टि से कितना ही न्याय-संगत क्यों न हो और कितना ही शान्तिपूर्ण क्यों न रहा हो। इस प्रकार का चित्रण इतिहास के प्रति कोई अन्याय नहीं कहा जा सकता।'[3] काव्यन्याय का सम्बन्ध नाटककार ने न जोड़कर लोक जीवन या दर्शकों से जोड़ना चाहिए। साधारण दर्शक साधारण परिस्थितियों में काव्य न्याय को किसी न किसी रूप में अवश्य खोजता है। चाहे वह दैनिक जीवन में सम्भव हो अथवा नहीं। यदि नाटक में यह काव्य न्याय नहीं मिला चाहे प्रच्छन्न रूप में क्यों न हो तो नाटक के समाप्त होने पर भी उसमें 'कुछ छिन्न भाव' बना ही रहेगा। वस्तुतः नाटककार को भगवान की भांति जीवन का यह सत्य स्वीकार करना ही पड़ता है।

कुछ भाव विचार राष्ट्र विशेष या संस्कृति विशेष के अपने होते हैं। कोई भी ऐतिहासिक नाटककार उनका विरोध कर सफल नाटक रचना नहीं कर सकता। सतीत्व की भावना तथा 'शौर्यपूर्ण प्रेम' समस्त पाश्चात्य साहित्य में अनेक रूपों में स्थान पा चुकी है परन्तु यदि इसी कथावस्तु का भारतीय बनाकर प्रदर्शित

---

१ ईस्थेटिक पोएट्रि आर्ट एण्ड (बोसर राइटर)
२ रैसिग्टर पृ० सं० ३०
३ वही (इंग्लिश हिस्ट्री इन शेक्सपीयर-पृ०)

किया जाय, तो यह निश्चित है कि उक्त नाटक को अश्लील एवं घृणित कहकर बहिष्कृत कर दिया जायगा। भारतीय पुराणों में चन्द्रमा और गुरु पत्नी तारा की प्रेम कथा प्रोडिपस रस्स जैसी ही है परन्तु किसी भी पौराणिक नाटककार ने उक्त कथा को ग्रहण करने का साहस नहीं किया क्योंकि उसमें लोकादर्श की छाप नहीं लगी है और ऐसी कथा भारतीय लोकमानस के सत्य के विरोध में पड़ती है। राजा भोज और राजा विक्रम के चरित्र इतिहास में कैसे ही क्यों न रहे हों जनता नाटककार के मुख से उनके संबंध में पाप युक्त नीच अथवा नृशंस बात सुनने के लिए तैयार नहीं भले ही वह इतिहास का परम सत्य क्यों न हो। 'ऐबे' लिखता है कि एक नाटक में भाई ने बहिन की हत्या करवी इसलिए उसके ऐतिहासिक सत्य होने पर भी दर्शकों को वह नाटक रुचिकर नहीं हुआ। एबे के अनुसार ऐतिहासिक घटना की उचित नाटकीय परिणति इस प्रकार होनी चाहिए थी —अपने भाई को तलवार खींचे हुए आते देखकर बहिन स्वयं ही दौड़कर उसकी ओर जाती और अचानक तलवार पर गिर पड़ती। भाई के द्वारा ही उसकी मृत्यु होने पर भी उसका अपराध कम हो जाता और वह सचमुच दया का पात्र समझा जाता[1] एबे उपर्युक्त उदाहरण में 'संभाव्यता के नियम' का उल्लेख नहीं करता और न घटना को असंभाव्य ही मानता है वह तो 'नाटकीय संस्कार (स्टेज डीसेंसी)' के नाम पर उक्त घटना को उचित नहीं मानता। वस्तुतः नाटकीय संस्कार लोक विश्वास पर ही आधारित है। भरत ने रंगमंच पर जिन दृश्यों के आयोजन को अनुचित बताया है उन्हें अनैतिकता अथवा असंभाव्यता के कारण नहीं बल्कि अरुचिकर अमंगलकर, पीड़ाकर होने के कारण ही। रुचि अमंगल पीड़ा आदि का संबंध जन परम्पराओं और लोक विश्वासों से ही अधिक होता है क्योंकि लोक रुचि के निर्माण में उनका सबसे बड़ा हाथ होता है। अतः लोक मानस के इस सत्य की धारा को मोड़ देना ऐतिहासिक नाटककार के लिए दुःसाहस का कार्य होगा।

ऊपर जिन चार सत्यों का उल्लेख किया गया है उनमें स्पष्ट हो 'सत्य' शब्द का प्रयोग सापेक्ष सत्य दृष्टिकोण अथवा यथार्थ के विशेष स्वरूप के प्रति नाटककार की दृष्टिभंगिमा के अर्थ में ही किया गया है। कोई भी ऐतिहासिक नाटककार नाटक लिखते समय इनमें से सत्य के किसी भी स्वरूप की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि अपनी समग्रता में ये चारों सत्य 'नाटकीय सत्य' की सृष्टि करते हैं जो कला का सत्य है अतः कला के लिए अपेक्षणीय ही नहीं उसका प्राण है।

---

1 दि होम पार्ट ओफ दि स्टेज फ्रांकोइस हेडेलिन एबे द ओबिगनक

ऐतिहासिक नाटक और काल क्रम दोष

ऐतिहासिक नाटककार यदि ऐतिहासिक घटना के काल निरूपण में अथवा उसके क्रम में किसी प्रकार की भूल करता है तो उसे काल क्रम दोष (एने क्रोनिज्म) कहा जाता है। 'भूमैन' ने काल क्रम दोष की एक व्यापक परिभाषा दी है निर्विक्रम सम्बन्धी भ्रांति से उत्पन्न दोष जब एक काल की वेशभूषा रीतिरिवाज और भाषा का किसी अन्य काल की वेशभूषा भाषा और रीतिरिवाज में आरोप किया जाता है तो नाटककार कालक्रम दोष का अपराधी होता है। कविता एवं चित्रकला में वर्ण्य विषय की आकृति विशेष अथवा उसके विशेष गुणों में कोई न्यूनता आ जाने से भी उक्त दोष माना जाता है। निर्विक्रम और वातावरण की सही सही संयोजना में काल और स्थान के चित्रण का महत्व और अपरिहार्य सम्बन्ध है।[1]

उपर्युक्त परिभाषा से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि काल क्रम दोष केवल काल अथवा घटनाओं के व्यतिक्रम में ही नहीं होता वरन् वस्त्राभूषण भाषा रहन-सहन एवं वातावरण के व्यतिक्रम में भी हो सकता है। उक्त दोष का कारण या तो नाटककार का अज्ञान होता है अथवा उसकी भूल। परन्तु कभी कभी यह भी देखा जाता है कि सुदूर ऐतिहासिक काल के वातावरण के चित्रण में कुछ कुछ नाटककार के युग के वातावरण की छाया आ जाती है और कभी-कभी नाटककार ने अपने नाटकों में जिन ऐतिहासिक चरित्रों को पुनर्जीवित किया है उनमें नाटककार के युग के जीवित व्यक्तियों का प्रतिबिंब आ जाता है। उदाहरण के लिए ईसा या महात्मा बुद्ध के जीवन पर नाटक लिखने वाले ऐतिहासिक नाटककार के मन में यदि महात्मा गांधी की स्पष्ट छाया दृष्टिगोचर होने लगे तो निश्चय ही इसे भी काल क्रम दोष मानना ही पड़ेगा। यदि किसी गुप्त कालीन नाटक में सांस्कृतिक वातावरण में पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित आधुनिक संस्कृति के स्वरूप का आभास मिलने लगे तो भी यह दोष ही मानना पड़ेगा। सामान्यतः काल और घटना के व्यतिक्रम के दोष भूल अथवा अज्ञान के परिणाम हो सकते हैं। नाटककार थोड़ा ध्यान दे और थोड़ा परिश्रम करे तो इन दोनों से अपने नाटक को सहज ही मुक्त कर सकता है। परन्तु प्राचीन वातावरण और पात्रों में आधुनिकता के आरोप के दोष से नाटककार कठिनता से मुक्त हो सकता है क्योंकि

---

1 शेक्सपियर एँड क्लासिकल एंटिक्विटी थॉमसन पृ० १०२

यह दोष नाटककार के अज्ञान मन से उद्भूत नहीं होता। इस प्रकार के दोष का कारण मूलतः मनोवैज्ञानिक है। शेक्सपियर के नाटकों में इस प्रकार के काल क्रम दोष की ओर सर्वप्रथम गेटे ने संकेत किया। उसने बताया कि शेक्सपीयर ने अपने नाटकों के रोमन पात्रों को अंग्रेज बना दिया।

यहाँ यह प्रश्न यह उठता है कि ऐतिहासिक नाटकों में कालक्रम दोष का मूल कारण क्या है। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसका कारण केवल नाटककार का परिमित ऐतिहासिक ज्ञान होता है। अथवा, यदि नाटककार की रचना कामी हो तो यों कह सकते हैं कि नाटककार के युग में ही ऐतिहासिक ज्ञान का प्रसार अधिक नहीं था। परन्तु ये दोनों कारण कालक्रम दोष की नींव तक न पहुँच कर समस्या की ऊपरी सतह ही छू पाते हैं। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक ज्ञान तथा कालक्रम दोष में एक निश्चित अनुपात है अर्थात् ऐतिहासिक ज्ञान के विकास के साथ साथ कालक्रम दोष कम होने लगता है और उसके अभाव में अधिक। संसार के नाटक इतिहास पर एक विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि व्यापक ऐतिहासिक अध्ययन अध्यापन के युग में ही कलाकारों की प्रतिभा ने अतीत के स्वर्णिम पृष्ठों को वर्तमान में ला खड़ा किया और अपनी सृजनात्मक कल्पना द्वारा मृत युगों को अमृत दान देकर सदा के लिए जीवित कर दिया।

कालक्रम दोष के कारण परिमित इतिहास ज्ञान

ऐसे युगों में नाटककार ने सदा इस बात का ध्यान रखा कि अपने नाटकीय चरित्रों को इतिहास के पूर्णतया अनुकूल वस्त्राभूषण पहिनाये और तथा उनके वास्तविक रहन-सहन एवं व्यवहार में कोई भूल न रहे। इसके ठीक विपरीत जिस काल में ऐतिहासिक ज्ञान सीमित रहा उसमें नाटक न तो चरित्र चित्रण की दृष्टि से और न नाम संयोजना की दृष्टि से ही इतिहास के अनुकूल बन सके। परन्तु ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव ही कालक्रम दोष का कारण नहीं कहा जा सकता। नाटककार की असम्भावित भूलें अथवा असतर्कता भी कालक्रम के साधारण दोषों के मूल में होती हैं।

परन्तु प्रश्न उस मनोवैज्ञानिक कालक्रम दोष का है जिसका कारण ऐतिहासिक ज्ञान की कमी अथवा नाटककार की असतर्कता नहीं है। ऐतिहासिक नाटककार के सत्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमने चार सत्यों का उल्लेख किया है। नाटक रचना करते समय नाटककार उनको विस्मृत नहीं कर सकता। उक्त चारों सत्यों का

---

१ शेक्सपियर हैज मेड द सिटिजन्स ऑफ हिज रोमन्स
शेक्सपियर एण्ड क्लासिकल ऐंटिक्विटी
ऐनैक्रोनिज्म इन अर्ली एँड कन्टेम्पोरेरी राइटर्स

स्नीथम मेमर २१

नाटकीय सत्यों में परस्पर विरोध

यदि एक साथ रखा जाय तो वे एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं, यहां तक कि कभी कभी एक का दूसरे से प्रत्यक्ष विरोध भी प्रतीत होता है। नाटककार यदि ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करना चाहे तो बहुत सम्भव है, उसका स्वयं का सत्य, नाटकीय परम्पराओं का सत्य अथवा लोक मानस का सत्य उसे ऐसा करने से रोक दे और उसे इच्छा न रहते हुए भी ऐतिहासिक सत्य में परिवर्तन करना पड़े। ऐसी स्थिति में यह संभव है कि इन परस्पर विरोधी सत्यों का प्रभाव नाटककार के मन को इस प्रकार आक्रांत कर दे कि वह स्वतः ही विरोधों का शिकार बनकर कालक्रम दोष को जन्म दे दे।

उपर्युक्त कारण मनोवैज्ञानिक होते हुए भी नहीं कहा जा सकता कि सर्वदा इसी कारण से ऐतिहासिक नाटककार कालक्रम दोष का भागी होता है क्योंकि नाटककार ऐसा मार्ग ढूंढ सकता है जिसके द्वारा कला में सभी सत्यों का सामंजस्य कर साहित्य के न्यायालय में घसीटे जाने से बच जाय। ऐतिहासिक नाटककार के

अतीत में वर्तमान समस्याओं का समाधान

उद्देश्यों पर विचार करते हुए हमने देखा कि ऐतिहासिक नाटककार कई कारणों से अतीत में प्रवेश करता है। उनमें से एक कारण अतीत के माध्यम से वर्तमान की आलोचना करना भी है। यही बात देश प्रेम अथवा राष्ट्र प्रेम के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कुछ विचारकों का मत है कि ऐतिहासिक नाटकों का विकास किसी जाति अथवा राष्ट्र के अभ्युदय काल में होता है इसके विपरीत कुछ यह मानते हैं कि जाति अथवा राष्ट्र की निर्बलता एवं उस की संघर्ष से पलायन की प्रवृत्ति ऐतिहासिक नाटकों को जन्म देती है। चाहे कारण कोई भी क्यों न हो इसमें सन्देह नहीं कि जब कभी ऐतिहासिक नाटककार के मन में वर्तमान समस्याएँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं तब वह इतिहास में अपना समाधान ढूंढने लगता है और तभी वर्तमान और ऐतिहासिक अतीत एक दूसरे में घुलने मिलने लगते हैं। अतीत और वर्तमान के मिलन का यह उपक्रम सहस्रों वर्षों के अन्तर को पाटने का प्रयास करता है और दो भिन्न भिन्न ऐतिहासिक युगों के आचार विचार, चरित्र तथा वातावरण एक दूसरे में घुल मिलकर अनायास ही कालक्रम दोष की सृष्टि कर देते हैं। यह कारण भी मनोवैज्ञानिक है।

प्रश्न यह रह जाता है कि यदि कोई नाटककार अतीत में वर्तमान की समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से नहीं बल्कि विशुद्ध ऐतिहासिक या सांस्कृतिक चित्रण के उद्देश्य से नाटक रचना करता है तो क्या वह उक्त मनोवैज्ञानिक कालक्रम दोष से बचा रह सकता है। नाटककार सृजन के अन्तराल में किसी भी कारण से क्यों न बंधता हो वह अपने आपको नहीं भुला सकता उसके व्यक्तित्व की छाप परिभाषी

रेखाएं भले ही अतीत के रंगों में दिखाई न दें, उसका व्यक्तित्व तो उसमें रहता ही है। शेक्सपीयर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसकी सबसे बड़ी विशेषता नाटकों में उसकी निर्वैयक्तिकता है। परन्तु यह निर्वैयक्तिकता किसी एक चरित्र के सम्बन्ध में ही स्वीकार की जा सकती है सम्पूर्ण नाटकों के सम्बन्ध में नहीं। शेक्सपीयर का व्यक्तित्व उसके नाटकों में फैल गया है प्रसार पा गया है परन्तु यह है अवश्य शेक्सपीयर के सभी नाटकों में उसकी छाप है। अतीत के सम्राट साम्राज्ञियां विविध वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवक अज्ञात माधुर्य में इठलाती हुई किशोरियां ऊंचे-ऊंचे गगनचुम्बी राजप्रासाद और वैभव से परिपूर्ण नगर वीथियां नाटककार की पलकों को विस्मृति से कितना ही बोझिल क्यों न कर दें यह सम्भव नहीं कि इस विस्मृति में वह अपने युग के किशोरों और किशोरियों महापुरुषों और आचारों को भूल जाए। उसकी कल्पना जब-जब अतीत के वैभव या संघर्ष पर नए-नए स्तंभों का निर्माण करेगी तब-तब वर्तमान का ईंट पत्थर चूना उसके हाथों में स्वतः ही आ जाएगा। हम पहले कह चुके हैं 'प्रत्येक कलाकार अपने युग की देन होता है और प्रत्येक महान् कलाकृति में अपने युग की इतनी गहरी छाप होती है कि उस कृति को उस युग का सबसे अधिक मूल्यवान और प्रामाणिक ऐतिहासिक परिचय कहा जा सकता है। यदि यह सत्य है तो यह कहना पड़ेगा कि अतः काल क्रम दोष ऐतिहासिक नाटक के स्वभाव में ही अन्तर्निहित है यह बाहर से नहीं लाया गया है। उसका विषय प्राचीन हो सकता है पर आत्मा नाटककार के युग की होती है। अतः स्पष्ट है कि इस मूल काल क्रम दोष से नाटककार का बचना कठिन है।

उपर्युक्त विवेचन से काल क्रम दोष के दो प्रधान स्वरूप हो जाते हैं। एक स्वरूप तो विधि कर्म वस्त्राभूषण भाषा रहन-सहन इत्यादि के व्यतिक्रम से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के साधारण दोष अज्ञान भ्रांति अथवा प्रमाद के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने के कारण नाटककार की दुर्बलताओं के सूचक हैं। दूसरा स्वरूप है प्राचीन वातावरण और प्राचीन चरित्रों पर नाटककार के युग के वातावरण और नवीन चारित्रिक विशेषताओं का आरोप। कालक्रम दोष का यह स्वरूप स्वाभाविक है और ऐतिहासिक नाटक के लिए अपरिहार्य भी। उक्त दोष कभी

कालक्रम दोष के दो स्वरूप

---

१ वातावरण के अन्तर्गत वस्त्राभूषण भाषा रहन-सहन सब आ जाते हैं परन्तु पहले स्वरूप में हम उसका एक स्थूल अथवा एकांगी दोष को ले रहे हैं और दूसरे स्वरूप में उस काल की आत्मा को अर्थात् उस काल की प्रवृत्तियों की समष्टि को लेते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में छू दे जा सकते हैं। यदि नाटक केवल इतिहास न होकर ऐसी कलाकृति हो जिसमें नाटककार की सृजनात्मक प्रतिभा ने प्राण डालकर भावोद्रेक अथवा रसोद्रेक करने की शक्ति भरी हो तो सम्भव है इस दोष की ओर ध्यान न जाने पावे। अन्यथा ब 'बेन जोनसन' के नाटकों की तरह कालक्रम दोष से रहित इतिहास मात्र रह जायेंगे उनको कलाकृति कहने में भी संकोच होगा क्योंकि वे नाटक सामाजिक के हृदय में रस संचार करने में समर्थ नहीं हो पायेंगे।

दूसरे प्रकार का कालक्रम दोष उन नाटकों में उतना मुखरित नहीं हो पाता जिनमें कोई नाटककार अपने ही देश के प्राचीन इतिहास से सामग्री ग्रहण करता है, क्योंकि दूरस्थ कालों के समीप आ जाने से उत्पन्न दोष के उपरांत भी उसमें देश की विभिन्नता नहीं रहती। यह भी संभव है कि राष्ट्र की सांस्कृतिक अविच्छिन्नता के फलस्वरूप ऐसा दोष भी लक्षित न हो पाये। परन्तु यदि नाटककार की देशकाल की इस कृत्रिम सीमा को तोड़ दें तो उक्त दोष का यथाशक्ति परिहार करने के लिए नाटककार को किसी भी देश के गृहीत इतिहास के पात्र एवं घटनाओं में उन सार्वभौम तत्वों को चित्रित करना चाहिए जो देश जाति और काल से परे मानव मात्र के प्राणों में एक समान प्रभाव उत्पन्न कर सकें। इन्हीं सार्वभौम तत्वों को कन्हैयालाल मुन्शी ने 'मानव जीवन के जीवन्त तत्व' कहा है।

यह मानते हुए भी कि कालक्रम दोष स्वाभाविक है और इसके मूल में मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां हैं किसी भी ऐतिहासिक नाटककार को उक्त दोष के अपराध से मुक्त नहीं किया जा सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐतिहासिक नाम और क्रम के साथ-साथ ऐतिहासिक चरित्रों एवं वातावरण की पूर्ण रक्षा करे। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ सिद्ध होता है तो नाटक के ऐतिहासिक स्वरूप की सफलता में व्याघात पहुँचाता है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कालक्रम दोष से बचने के लिए नाटककार को किन बातों से सावधान रहना चाहिए।

(अ) एक ही ऐतिहासिक चरित्र में प्राचीन और आधुनिक दो कालों का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए।

(आ) यदि ऐतिहासिक चरित्र आधुनिक विचारों को अभिव्यक्त करे, तो उन विचारों को प्राचीनता के सांचे में इस प्रकार ढाल लेना चाहिए कि आधुनिक लक्षित न हो।

(इ) एक काल के सांस्कृतिक वातावरण में उससे प्राचीन काल का बाना बरता जाता जा सकता है किन्तु इन दोनों कालों के वातावरण में

विदेश अन्तर न हो और संस्कृति भी एक ही धारा थोड़े से ही परिवर्तनों के साथ दोनों कालों को जोड़ती हो। जिस काल का वातावरण चित्रित करना नाटककार को अभीष्ट हो उससे पीछे का वातावरण ग्रहण नहीं करना चाहिए। वातावरण जितने ही पीछे के काल का होगा उतनी ही अधिक निश्चितता के साथ कालक्रम दोष उभर आएगा।[1]

(ई) सभ्य रीतिरिवाजों के साथ साथ साथ असभ्य प्रथाओं का चित्रण नहीं करना चाहिए, विशेषकर यदि उसका सम्बन्ध समाज के एक वर्ग से हो ही।

(उ) दो भिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं को भी एक में नहीं जोड़ा जा सकता।

(ऊ) कल के मूल्यों को आज के मापदंड से नापकर नहीं देखा जा सकता अतः नाटककार यदि उन पर निर्णय देने लगे तो कालक्रम दोष का बड़े से बड़ा स्वरूप प्रकट हो सकता है।

(ए) ऐतिहासिक संभाव्यता का तो कहीं भी अभाव नहीं होना चाहिए।



---

१ उपर्युक्त दोनों प्रकार के कालक्रम दोष का अत्यन्त विकृत रूप ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के नाटकों में दीख पड़ता है। बालकृष्ण भट्ट के 'वेणु संहार' (सं० १९६६ वि०) नाटक में 'राजा वेणु के समय की राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का वर्णन करते हुए कवि कमीशनरी अमलदारी का दृश्य इस ढंग से वर्णन करने लगता है कि पाठक अथवा प्रेक्षक को यह दोष स्पष्ट होकर रस बाधक हो जाता है।
(हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा पृ० २०१)

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक

हम इतिहास, इतिहासकार, नाटक एवं नाटककार तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं। हिन्दी नाटक साहित्य में प्रसाद से पूर्व ऐसा एक भी नाटककार नहीं दिखाई देता जो हमारे विवेचन की कसौटी पर कसा जा सके। सच बात तो यह है कि प्रसाद की प्रतिभा के उदय से पूर्व अधिक ऐतिहासिक नाटक लिखे ही नहीं गये। ऐतिहासिक अनुसन्धान की दृष्टि से विचार करने पर प्रकाशित नाटकों में से बाबू हरिश्चन्द्र का 'नीलदेवी' नाटक ही सर्व प्रथम ऐतिहासिक नाटक प्रतीत होता है। यह नाटक भी शुद्ध ऐतिहासिक नहीं है। अपने वर्गीकरण के अनुसार हम इसे स्वच्छन्द ऐतिहासिक की कोटि में रख सकते हैं क्योंकि इसमें मूल कथा और प्रधान-पात्र दोनों ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक हैं स्वयं नीलदेवी एक कल्पित पात्र है। इसके बाद नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र का 'हठी हमीर' लाला श्रीनिवासदास का 'संयोगिता स्वयंवर' राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' काशीनाथ खत्री के तीन ऐतिहासिक रूपकों में से प्रथम दो रूपक राधाकृष्णदास के 'महारानी पद्मावती और महाराणा प्रताप' पं० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'मीराबाई' इतने ही मुख्य ऐतिहासिक नाटक हमें प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त सभी नाटकों पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल के नाटककारों ने अपने नाटक के लिए पूर्णतया परिचित ऐतिहासिक कथानकों का सहारा लिया है वस्तुतः हम्मीर संयोगिता अमरसिंह पद्मावती प्रताप और मीराबाई ऐतिहासिकता से ऊपर उठकर दन्तकथाओं के नायक बन चुके हैं। उपर्युक्त सभी व्यक्तियों में से कदाचित ही कोई ऐसा पात्र हो जिनके कार्यों से जोड़े गए लौकिक-अलौकिक तत्त्व भारतीय जीवन के अंग न बन चुके हों अथवा ही उनके जीवन से सम्बद्ध बात इतिहास से जन जीवन सर्वथा अपरिचित रहा हो। संभवतः इसी तथ्य से प्रेरित होकर हिन्दी के पुराने नाटककारों ने इन महापुरुषों को अपने नाटकों का पात्र बनाया है। जहाँ यह परिस्थिति नाटकों की सर्वजनीनता और लोकप्रियता में वृद्धि करती है वहीं इसके दोष भी स्पष्ट परिलक्षित हो जाते हैं। वस्तुतः हिन्दी के उपर्युक्त नाटककारों में से एक भी नाटककार ऐसा नहीं था जो इतिहासकार भी हो अथवा जिसका गहन ऐतिहासिक अध्ययन हो। परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त प्रचलित ऐतिहासिक कथानकों के लिए प्रकाशित-अप्रकाशित इतिहास के अध्ययन की ओर इनका ध्यान ही न जा सका। दन्त-कथाओं से मिश्रित अब इतिहास की जिस प्रकार की भी रूपरेखा उस समय मिली उसी को इतिहास

मानकर इन नाटककारों ने नाट्ययोजना करली। उपर्युक्त स्थिति का फल यह हुआ कि नाटक नाटक तो बन गये किन्तु उनमें न तो ऐतिहासिक घटना क्रम को स्थान मिला न ऐतिहासिक पात्रों की समुचित योजना ही हुई और न उनमें ऐतिहासिक वातावरण के रंग ही घोले जा सके। यह बात उपर्युक्त सभी ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में सत्य है।

इतिहासकार प्रसाद

प्रसाद नाटककार ही नहीं इतिहासकार भी हैं। नाटकों की भूमिकाओं तथा प्रसाद के अन्य ऐतिहासिक लेखों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रसाद के सामने इतिहास का एक निश्चित स्वरूप था। 'रोम और सूर्य' का इतिहास प्रसाद-कालीन युग के लिए एक पुरानी चीज हो गई थी। कांट की कारण-कार्य-परम्परा का इतिहास भी हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धांत के सम्मुख एक नवीन रूप में प्रकट हो चुका था। व्यक्ति-काल-सापेक्ष और व्यक्ति-काल निरपेक्ष इतिहास एक दूसरे के पूरक बनकर क्रिया-प्रतिक्रिया सिद्धांतों को जन्म दे चुके थे। प्रसाद के सामने भारतीय इतिहास के कई आलोक-स्तम्भ थे जिनकी ओर देखकर उन्हें वर्तमान से भागने की प्रेरणा नहीं मिलती थी वरन् कारण-कार्य और क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्तों को स्पष्ट समझने में जिनसे उन्हें बराबर सहायता मिलती थी। प्रसाद के लिए इतिहास का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से ही नहीं था—केवल सम्राटों के ऐतिहासिक क्रिया-कलाप उनको प्रेरणा नहीं देते थे वरन् उन सबके पीछे मानव-जीवन के असंख्य घात प्रतिघातों में चिरंतन नियमों को ही ढूंढने का प्रयास किया हुआ था। ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से मानव सभ्यता के चिरंतन और शाश्वत सत्यों को ढूंढ निकालना प्रसाद को अभिप्रेत था यही कारण है कि प्रसाद भारतीय इतिहास के उन युगों की ओर बढ़े हैं जिनमें मानव-सभ्यतायें एक दूसरे से टकराई हैं। उस संघर्ष के परिणामस्वरूप चाहे ही समस्यायें नष्ट भी हो गई किन्तु उनके शाश्वत सत्य अपनी व्यवस्थाओं को चिरंतन काल के लिए ठहरा गये हैं। अजातशत्रु का काल प्राचीन और नूतन रूढ़िवाद और विकासवाद ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के संघर्ष का काल था। समाज की आधारभूत शक्तियों में परस्पर संघर्ष हो रहा था और उसी में नूतन और विकास की विजय निहित थी। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के युग में भारत और यूनान की सभ्यताओं का संघर्ष हुआ और दोनों के सम्मिलन से जो निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई वह आज भी भारतीय संस्कृति साहित्य एवं कला में अपनी अमिट छाप छोड़ गई है। गुप्त-काल पुनरुत्थान का काल तो था ही कला साहित्य और संगीत के क्षेत्र में एक नवीन अभ्युदय का सूचक भी था। नये सामाजिक नियम बन रहे थे और समाज का संस्कार हो रहा था। बर्बर हूणों से भारत की रक्षा कर स्कंदगुप्त ने भारत के इतिहास और भूगोल को बदलने से बचा लिया। यह विग्रह और

प्रतिक्रियावादी तत्वों के विरुद्ध एकता की विजय थी। इसी प्रकार सम्राट् हर्ष का काल भी विकासशील शक्तियों का काल था। प्रसाद ने इन सब ऐतिहासिक व्याख्याओं से एक प्रेरणा ली है और वह है विकासशील तत्वों का प्रतिक्रियावादी तत्वों से निरन्तर संघर्ष और उस में विकासशील तत्वों की विजय। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटकों की परिणति इस विजय की सूचक है भले ही फिर वह पूर्णतया इतिहास सम्मत हो अथवा नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रसाद ने अपने इस उद्देश्य के लिये इतिहास को किसी प्रकार अव्यवस्थित किया हो अथवा उसे तोड़ा मरोड़ा हो। अपने इतिहास के लिये प्रसाद के पास जो भी स्रोत थे, उन सबका उपयोग उन्होंने किया है। वास्तव इतिहास के दोनों रूप—ध्रुव और चल दोनों प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उनके नाटकों की घटनाओं के मूल में रही है, और एक सफल इतिहासकार की तरह उन्होंने इन दोनों प्रकार के बीच सामंजस्य स्थापित किया है। ध्रुव इतिहास के लिये जहाँ उन्होंने ग्रीक इतिहास बौद्ध इतिहास शिलालेख, ताम्रपत्र मुद्रायें लौह-स्तम्भ इत्यादि का सहारा लिया है वहीं बुद्ध कालिदास विक्रम इत्यादि के सम्बन्ध में किंवदन्तियों, जनश्रुतियों तथा पौराणिक उपाख्यानों की भी पर्याप्त सहायता ली है। अजातशत्रु चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी स्कन्दगुप्त की भूमिकाओं में उन्होंने स्पष्ट ही इनका स्थान स्थान पर उपयोग किया है। वस्तुतः इनका उपयोग इतिहासकार के लिए अज्ञात ऐतिहासिक कड़ियों की पूर्ति के लिये सर्वदा आवश्यक रहा है। चल इतिहास का सर्वाधिक उपयोग अजातशत्रु और स्कंदगुप्त में किया गया है। किन्तु बौद्ध-कालीन इतिहास के लिये उपकरण ही बौद्ध कथाएं हैं और व इतिहास को मान्य हैं। स्कन्दगुप्त में अवश्य इनके उपयोग से नवीन ऐतिहासिक समस्याएं खड़ी हुई हैं किन्तु उनको प्रसाद ने इतिहास के साथ इस प्रकार सम्बद्ध किया है कि कारण-कार्य-परम्परा ही बराबर नहीं बन जाती वरन् नई ऐतिहासिक समस्याओं पर नवीन प्रकाश भी पड़ता है। उदाहरण के रूप में 'राजतरंगिणी' के हर्ष-विक्रम और स्कन्द-विक्रम का एकीकरण लिया जा सकता है। नई पुष्ट प्रमाणों के आधार पर प्रसाद ने यहाँ ध्रुव और चल इतिहास की एक कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया है। कालान्तर में भले ही उसकी मान्यता स्वीकार न की गई हो किन्तु उस समय उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हम इसे एक नवीन गवेषणा से कम नहीं मान सकते। इसमें प्रसाद की इतिहास सम्बन्धी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लोक कथाओं के लिखित अलिखित रूपों तथा पुराणों का पूरा उपयोग प्रसाद ने किया। चन्द्रगुप्त नाटक में केवल 'कथा-सरित्सागर' की घटनाओं से ही सामग्री नहीं ली गई है, वंश-वृक्ष तथा नाम क्रम की कड़ी और सामान्य योजना के लिये पुराणों पर भी प्रचुर अवलंब हुआ है। वस्तुतः 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका एक सम्पन्न

चतुर इतिहासकार की कृति है जिसने इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री का प्रयोग कर ठोस मान्यताओं के रूप में अपने निष्कर्ष निकाले हैं चाहे फिर वह सामग्री शुद्ध इतिहास की हो कथा-कथाओं अथवा पुराणों की हो अथवा धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों की। यहीं हमें इतिहासकार प्रसाद की संश्लिष्ट संभाव्यता के दर्शन होते हैं।

नाटकों का वर्गीकरण

उपर्युक्त तथ्य को और स्पष्ट करने के लिये प्रसाद के नाटकों के कथानक, पात्र एवं वातावरण की विशेषताओं पर थोड़ा सा प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐतिहासिक नाटकों के वर्गीकरण की दृष्टि से प्रसाद के ये सभी नाटक 'शुद्ध ऐतिहासिक' हैं। शुद्ध ऐतिहासिक की परिभाषा देते समय हम लिख चुके हैं कि 'यदि नाटककार शुद्ध कथानक प्रमाणिक इतिहास से ले प्रायः सभी प्रधान पात्र भी इतिहास-विश्रुत हों और उन सभी पात्रों के नामों को ही नहीं चरित्रों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार करें तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस दृष्टि से अजातशत्रु चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी स्कंदगुप्त और राज्यश्री सभी शुद्ध ऐतिहासिक हैं। इन सबके कथानक प्रामाणिक इतिहास से लिये गये हैं। बौद्ध इतिहास में अजातशत्रु की सत्ता और उसके क्रियाकलापों को कौन अस्वीकार कर सकता है, मौर्य-काल का सम्पूर्ण इतिहास चन्द्रगुप्त से प्रारम्भ होता है। ध्रुवस्वामिनी संबंधी घटनाओं को इतिहास स्वीकार कर चुका है और राज्यश्री की घटनाओं के लिये पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इन पाँचों नाटकों के नायक इतिहास विश्रुत व्यक्ति हैं अजातशत्रु के तो प्रायः सभी पात्र ऐतिहासिक हैं चन्द्रगुप्त में भी प्रधान पात्रों में से अलका और सिंहरण को छोड़कर सभी पात्र ऐतिहासिक माने जा सकते हैं। राक्षस के सम्बन्ध में थोड़ा-सा मतभेद संभव है किन्तु विशाखदत्त की साक्षी उसे उसे भी ऐतिहासिक की कोटि में बिठला सकने में समर्थ है। ध्रुवस्वामिनी में कोमा और मिहिरदेव के अतिरिक्त अन्य सभी प्रधान पात्र इतिहास से लिये गये हैं। स्कंदगुप्त के प्रधान पात्रों में से अधिकांश ऐतिहासिक हैं। यहाँ अवश्य एक प्रश्न उठ सकता है कि 'स्कंदगुप्त' की नायिका 'देवसेना' और दो अन्य प्रधान पात्र विजया और देवकी ऐतिहासिक नहीं हैं। शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करते समय हम लिख चुके हैं कि कभी कभी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक में नाटककार प्रधान ऐतिहासिक पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उसके समानान्तर और पात्र की सृष्टि करता है जो ऐतिहासिक तो नहीं होता परन्तु पात्र और परिस्थितिजन्य पूर्ण ऐतिहासिक संभाव्यता लिये होता है। वस्तुतः देवसेना और विजया के चरित्र इसी कोटि के हैं। देवसेना का चरित्र जहाँ स्कंदगुप्त का वीरत्व उसका अवसर उसके त्याग और उसकी भावुकता को निखारता है वहाँ विजया का चरित्र

उसकी स्वाभाविक भाव विह्वलता, सहनशीलता और संयम एवं विराग को प्रकट करता है। ये दोनों चरित्र नाटक के घटना क्रम में बराबर योग देते हैं और ऐतिहासिकता को नष्ट न कर अपनी स्वाभाविकता बराबर बनाये रखते हैं। देवकी के चरित्र की सम्भावना तो स्कन्दगुप्त के भितरी के शिलालेख में ही मिलती है, अतः इसे ऐतिहासिक मान लेना कठिन नहीं। [illegible] के दो पात्रों विकटघोष और मुद्गल को छोड़कर अन्य सभी पात्र ऐतिहासिक हैं और ये दो पात्र नाटक की घटनाओं में महत्वपूर्ण होते हुए भी नाटक के सम्पूर्ण कथानक एवं समग्र प्रभाव की दृष्टि से महत्व नहीं रखते, अतः इस दृष्टि से प्रधान नहीं, प्रधान पात्रों के सहायक मात्र हैं। इतना होते हुए भी नाटक में इनके कारण स्वाभाविकता की कमी नहीं आती और ये ऐतिहासिक घटनाओं के बीच खप जाते हैं।

कथानकों की विशेषताएँ

प्रसाद के कथानकों पर विचार करते ही एक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान जाता है। नाटककार प्रसाद ने इतिहास से जो कुछ भी सामग्री ली है वह सामान्यतः प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों से ली है। इसके अतिरिक्त जनश्रुतियों अथवा पुराणों की सामग्री का उपयोग जहाँ किया गया है वहाँ वे या तो इतिहास के अनुकूल हैं अथवा वहाँ प्रामाणिक इतिहास की सामग्री पर्याप्त नहीं है। उदाहरण के लिये चन्द्रगुप्त नाटक में शकटार के पुत्रों की हत्या और उसके द्वारा नन्द के वध का प्रसंग लिया जा सकता है। स्वतंत्र रूप से कथानकों पर विचार करते हुए हम देखेंगे कि यह कथानक कथासरित्सागर पर आधारित है। हम कह सकते हैं कि नाटक में शकटार की आवश्यकता हो न भी किन्तु नन्द के चरित्र को गिराने और चाणक्य की कूटनीतिक प्रतिभा के विस्तार के लिए शकटार आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि कथासरित्सागर इतिहास भले ही न हो किन्तु इतिहास के अज्ञात स्थलों की योजना के लिए एक साधन तो है ही। इतिहास शकटार के सम्बन्ध में मौन है, पर प्रसाद ने उसके चरित्र का उपयोग प्रामाणिक इतिहास के विरोध में नहीं किया है। इसी प्रकार प्रसाद ने जन-कथाओं के विक्रम और कालिदास को दो विक्रम और दो कालिदासों में बाँट दिया है। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का राजकवि कालिदास था या नहीं यह प्रश्न सुलझाया नहीं गया है किन्तु इस सम्भावना को कई इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि कालिदास गुप्त काल में हुआ और उसने अपनी कृतियों में गुप्त काल की सब महत्ता और उसका अवसान दोनों देखे हैं। जन-कथाओं के अनुसार विक्रम ने कालिदास को आधा राज्य दे दिया था और राजतरंगिणी के अनुसार उज्जयिनी के हर्ष विक्रमादित्य ने मातृगुप्ताचार्य को काश्मीर का राज्य दे दिया था—इन दोनों घटनाओं को प्रसाद ने सचमुच बड़े कौशल से मिला दिया है। यह दूसरी बात है कि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में हम इसे

अस्वीकार कर प्रामाणिक न मानें किन्तु इससे उसकी सम्भावना पर कोई गहरा असर नहीं पड़ता। कालिदास के सम्बन्ध में यह अत्यन्त प्रचलित जन श्रुति है कि वे एक मालिन से प्रेम करते थे। वह मालिन फूलों की माला बनाया करती थी और कालिदास उसके रूप पर मुग्ध होकर काव्य-कुसुमों का सृजन किया करते थे। इस जन-श्रुति का प्रसाद ने मालिनी नामक वेश्या के रूप में रंग कर मातृगुप्त के कवि हृदय की कोमलता को निखारा है। नाटक की एक अद्भुत घटना होने के कारण इससे ऐतिहासिक घटना में कोई बाधा नहीं पहुंचती। इसी प्रकार सिहल के राजकुमार से कालिदास की मैत्री की घटना इतिहास सिद्ध नहीं हुई पर उसका उपयोग कर नाटक की घटनाओं में महत्वपूर्ण मोड़ तो प्रसाद ले ही सके हैं—कम से कम सम्पूर्ण बौद्ध-धर्मानुयायियों को देश द्रोह के पाप से तो वे बचा ही गये हैं।

प्रसाद ने इतिहास में कल्पना के भी प्रचुर प्रयोग किए हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटक इतिहास नहीं है। उसकी रूप रेखा तो ऐतिहासिक होती है किन्तु उसमें प्राण प्रतिष्ठा करने वाली शक्ति नाटककार की 'सर्जक कल्पना' है। ऐतिहासिक नाटक साहित्य है साहित्य की एक विधा है। ऐसी दशा में केवल ऐतिहासिक घटनाओं का एकत्रीकरण ऐतिहासिक नाटककार नहीं करता। वह कल्पना के प्रयोग से रसोद्रेक करने की क्षमता लाता है, उसे कला बनाता है अन्यथा वह इतिहास मात्र घटनाओं की सूची रह जाए। प्रसाद के नाटककार की यह विशेषता उस समय तुरन्त परिलक्षित हो जाती है जब हम उनके नाटकों की भूमिकाओं से नाटक में प्रयुक्त सामग्री की तुलना करते हैं। चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त और अजातशत्रु की भूमिकाएं अत्यन्त विस्तृत हैं। वास्तव में वे इतिहासकार की गवेषणाएं हैं जिनमें वंश वृक्ष और तिथि क्रम से लेकर घटनाओं की कारण-काम परम्पराओं एवं ऐतिहासिक प्रमाणों की चर्चा की गई है। अब यदि प्रसाद इन भूमिकाओं पर ही नाटक की रूपरेखा खड़ी कर देते तो शायद नाटक नाटक न बन पाते। किन्तु अपने सभी नाटकों में प्रसाद ने भूमिका में से कम से कम सामग्री का उपयोग किया है। चन्द्रगुप्त की भूमिका में मौर्यों के इतिहास उनकी शासन पद्धति, आर्थिक और व्यापारिक स्थिति, मेगास्थनीज के विस्तृत विवरण सेनाओं की संख्या पाटलिपुत्र नगर की विशेषताओं से लेकर उस नगर की भौगोलिक स्थिति पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया गया है किन्तु नाटक में इन सभी का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है और यदि कहीं थोड़ा बहुत हुआ भी है तो वह महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होता। स्कंदगुप्त की भूमिका में मालव नरेश के वंशवृक्ष पर विस्तार से विचार किया गया है जिसकी नाटक में आवश्यकता न पड़ती यदि प्रसाद जानबूझ कर एक स्थल पर उसका उपयोग न करते। इन सबके स्थान पर तो नाटकों में अजातशत्रु और

वाजिरा का पूर्वराग, चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया का आकर्षण, सिंहरण-अलका का प्रणय, मालविका का प्रीति-जन्य त्याग, चाणक्य-राक्षस-सुवासिनी के प्रणय का त्रिकोण, कोमा-शकराज का लोकान्त प्रणय, स्कंदगुप्त-विजया, भटार्क-विजया, अनन्तदेवी-भटार्क और सब से महत्वपूर्ण देवसेना-स्कन्द का अतीव आकर्षण और उसकी करुणापूर्ण परिणति-ये सब घटनाएं महत्वपूर्ण हैं किन्तु ये इतिहास नहीं है। नाटक की ये सबसे महत्वपूर्ण घटनाएं काल्पनिक हैं और ये ही नाटकों को कला की कोटि में ले जाती हैं।

प्रसाद ने स्वच्छन्द कल्पनाओं का आश्रय नहीं लिया है। उनकी कल्पना ने सदा या तो कारण-कार्य परम्परा से रहित इतिहास की किसी घटना में उसकी परम्परा को भरने का प्रयत्न किया है अथवा इतिहास के कठपुतलों में प्राण फूंकने का। इतिहास व्यक्ति को राजनीतिक घटनाओं या अधिक से अधिक सामाजिक धार्मिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में रखता है। उसने क्या काम किये जिनके फलस्वरूप वह इतिहास बन गया यही इतिहास का प्रधान दृष्टिकोण होता है। नाटक में यही महत्वपूर्ण व्यक्ति मानवता के वैयक्तिक गुणों—ईर्ष्या द्वेष प्रणय कलह इत्यादि—को लेकर आता है। नाटककार को इतिहास और नाटक का अन्तर भी रखना पड़ता है। नायक के हृदय को भी खोलना पड़ता है। प्रसाद ने यह कार्य बड़ी खूबी से किया है। इतिहास इस कार्य में सहायता नहीं कर सकता यह कवि का कार्य है। प्रसाद के पात्रों में और उनके नाटकों की घटनाओं में जो जीवन धड़कता हुआ प्रतीत होता है उसका यही कारण है। कोई इतिहास यह नहीं बताता कि अजातशत्रु ने वाजिरा से, चन्द्रगुप्त ने कार्नेलिया से, अलका ने सिंहरण से, मालविका ने चन्द्रगुप्त से, चाणक्य और राक्षस ने सुवासिनी से, स्कंद ने विजया से और देवसेना ने स्कंद से प्रेम किया था, किन्तु ये मानव जीवन की वे शाश्वत घटनाएं हैं जिनको कोई ऐतिहासिक नाटककार छोड़ नहीं सकता और कोई इतिहासकार संभाव्यता की बृहत् सीमा रेखा से बहिष्कृत नहीं कर सकता। इन उपर्युक्त घटनाओं में से कुछ के कार्य ऐतिहासिक हैं पर कारण कल्पित और कुछ में कारण और कार्य दोनों ही कल्पित हैं किन्तु उनसे कहीं भी इतिहास पर आंच नहीं आई है। चन्द्रगुप्त का इतिहास नहीं बदला, अजातशत्रु वही बना रहा, चाणक्य पतितमानव नहीं हुआ और स्कन्द पुराण नहीं बन गया, इतिहास के पात्र उसकी घटनायें सब पूर्ववत् रहीं पर इन कल्पनाओं ने 'ड्रैमेटिक एफेक्ट' की तरह इतिहास में एक नूतन रस उत्पन्न कर दिया और इतिहास नाटक बन गये। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद ने इतिहास के तथ्यों को कल्पना से अनूठी अनुप्राणित किया है, वे उनकी विकृति के कारण कदापि नहीं बने हैं। उन्होंने प्रधान कथानकों को ऐतिहासिक रखा और कल्पना का प्रयोग अधिकतर गौण कथानकों में ही किया है किन्तु 'स्कन्दगुप्त' की तरह जहाँ कथानक में कल्पना प्रधान बन गई, वहाँ उस इतिहास

से हटाकर व्यक्तिगत सीमाओं में रख दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सभी नाटकों में काल्पनिक तत्व इतिहास पर हावी होकर नहीं आने पाया है। यथावसर चन्द्रगुप्त और राज्यश्री में जो काल्पनिक तत्व अधिक है ही ध्रुवस्वामिनी और स्कन्दगुप्त में भी ऐतिहासिक घटनाएं कहीं अस्पष्ट और कहीं स्पष्ट होकर सारे नाटक को थामे हुए हैं। ध्रुवस्वामिनी के कथानक में ऐतिहासिक तथ्य कम होते हुए भी ऐतिहासिक संभाव्यता के इतने प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि वहाँ भी प्रसाद की कल्पना स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं करने पाई है। स्कन्दगुप्त में प्रसाद ने प्रचुर कल्पना का प्रयोग किया है किन्तु वहाँ भी नाटक के प्रधान कार्य ऐतिहासिक हैं और उसके कारण कल्पित। नाटक में हूणों पर विजय और आंतरिक द्वन्द्वों का पराभव ये दोनों घटनाएं ऐतिहासिक हैं अतः सर्वत्र इन घटनाओं को ध्यान में रखते हुए अन्य ऐतिहासिक-काल्पनिक घटनाओं के संयोग से उनके द्वन्द्वों की पुष्टि की गई है। यहाँ ह्यूगो की वह परिभाषा याद आ जाती है जिसमें कहा था इतिहास वह खूंटी है जिसमें मैं अपने नाटकों को लटकाता हूँ। ध्यान रखने की बात है कि कल्पना की इतनी प्रचुरता के बीच भी प्रसाद इतिहास के विरोध में नहीं गये हैं और न भटकते हुए ही हैं। फिर भी उन्होंने स्कंदगुप्त को शुद्ध ऐतिहासिक ही बनाये रखा है।)

नाटकों में काल और स्थान की अन्विति के प्रश्न पर भी थोड़ा-सा विचार कर लेना अपेक्षित है। इसमें संदेह नहीं कि काल-योजना को अधिकांश नाटककारों ने स्वीकार नहीं किया है और न आलोचक ही इसके महत्व को स्वीकार करते हैं तथापि प्रभावान्विति को सभी ने एकमत से आवश्यक माना है। यदि नाटक की प्रभावान्विति पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ उक्त प्रकार की अन्विति के लिये पात्रों की अनुकूलता और कथानक का कसाव आवश्यक है वहाँ किसी न किसी प्रकार के काल और स्थान की अन्वितियाँ भी अनिवार्य नहीं तो अपेक्षित अवश्य हैं। संस्कृत नाटकों में भी यह नियम ही पाया जाता है कि एक अङ्क में एक दिन से अधिक की घटना नहीं होती (नानेकदिननिर्वर्त्य)। हम यदि इस नियम को न भी मानें तब भी यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यदि नाटक के एक दृश्य में वर्षों की घटनाएं हों और हजारों मील की दूरी हो पुनः दो दृश्यों के बीच कई वर्षों का अन्तर हो और इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में ४० या ५० वर्ष की घटनाएं आ जाएं तो नाटक का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा। एक प्रभाव तो यह होगा कि नाटक में विशृंखलता प्रतीत होगी और दूसरे इतने वर्षों के व्यवधान में नाटक के पात्रों की अपरिवर्तित आकृतियां विश्वसनीय नहीं होंगी साथ ही बार-बार बदलते हुए दृश्य के हाथ रंगमंच की सीमाओं में आ जा सकना ही न था। सबसे

देश काल योजना

या फिर उन पर दर्शक विश्वास न कर सकेगा। वस्तुतः प्रत्येक नाटक में देश-काल की दूरी को मिटाने के लिये दृश्यों के विशेष व्यवधान की योजना आवश्यक प्रतीत होती है।

प्रसाद की काल योजना इस दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण है। ध्रुवस्वामिनी को छोड़कर अन्य सभी नाटक सुदीर्घ कालों की अवधि अपने अङ्कों में समेटे हुए हैं। अजातशत्रु में सात वर्षों की, चन्द्रगुप्त में चौबीस वर्षों की स्कन्दगुप्त में दस वर्षों की और राज्यश्री में अट्ठाईस वर्षों की घटनाएं हैं। एक एक दृश्य के बीच में काल का बहुत अन्तर है। कहीं कहीं तो यह अन्तर सत्रह माह तक का है। चन्द्रगुप्त के पाँचवें और छठे दृश्य के बीच ११ मास का अन्तर है जो सामान्यतः विचित्र प्रतीत होता है। ऐसी दशा में अङ्कों का काल-विभाजन भी ठीक नहीं रह सकता। चन्द्रगुप्त नाटक के २४ वर्ष और राज्यश्री नाटक के अट्ठाईस वर्ष किस प्रकार उचित क्रम से अङ्कों में विभाजित किये जा सकते हैं? चन्द्रगुप्त के प्रथम अङ्क की घटनाएं एक वर्ष की हैं और चौथे अङ्क में तो सोलह वर्ष के सुदीर्घ काल की घटनाएं ठूंस ठूंस कर भर दी गई हैं। इसी प्रकार राज्यश्री के प्रथम और द्वितीय अङ्क एक ही वर्ष के अन्दर समाप्त हो जाते हैं पर तीसरे अङ्क में एक ऐतिहासिक मान्यता से ११ वर्ष की और दूसरे से १६ वर्ष की घटनाएं आती हैं। तीसरे और चौथे अङ्क के बीच २१ वर्ष तक का अन्तर माना जा सकता है अन्यथा ७ वर्ष का तो है ही। इस प्रकार के अनियमित अन्तर और अङ्कों की अनियमित काल योजना नाटक में प्रभावान्विति ला सकने में असमर्थ हो जाती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के संदर्भ में यह तो माना जा सकता है कि प्रसाद भारत के उस अप्रतिम स्वर्ण-युग का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण न कर सके अतः उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' के रूप में भारतीय इतिहास का एक महाकाव्य भेंट किया है। उक्त तर्क मान्य होते हुए भी नाटक की नाटकीयता में वृद्धि नहीं कर पाता। 'राज्यश्री' के सम्बन्ध में तो इस प्रकार का तर्क भी नहीं दिया जा सकता। वह तो निश्चय ही अप्रौढ़ नाटककार की अपरिपक्व सामान्य कृति ही मानी जायगी। स्कंदगुप्त और अजातशत्रु इस दृष्टि से इतने दोषपूर्ण नहीं किन्तु स्कंदगुप्त में स्थान-योजना बड़ी विचित्र है। प्रत्येक दृश्य के बाद का दृश्य सहस्रों मील के अन्तर पर घटित हुआ है। अवन्ती, मगध, सौराष्ट्र, काश्मीर, गान्धार इन सब स्थानों के बीच दूरी का इतना अधिक व्यवधान है कि एक ही दृश्य के बाद एक पात्र का दूसरे दृश्य में उपस्थित दिखाया जाना अत्यन्त असंगत प्रतीत होता है। प्रसाद ने नाटक लिखते समय इस बात पर ध्यान दिया ही नहीं कि कोई घटना कितनी बड़ी है उसकी कालावधि कम है या अधिक, इससे सयुक्त अन्य घटना के घटित होने के स्थान तथा अन्य स्थानों में कितना अन्तर है और यह अन्तर पात्रों द्वारा कितने समय में तय किया जा सकता है। सम्भव है यदि प्रसाद इस

और थोड़ा भी ध्यान देते तो नाटकों में घटनाएं कुछ कम हो जातीं और एक कथा घट आ जाती जो एक नाटक की एकतानता के लिये परमावश्यक है। कथा के सम्भ्रम सूत्रों को जोड़ने के लिये काल और स्थान ही सहायक होते हैं और उनकी विशृंखलता कथा को विशृंखल बना ही देती है।

पात्र योजना और चरित्र

पात्रों की योजना में प्रसाद को पर्याप्त सफलता मिली है। यदि प्रसाद के पात्रों का वर्गीकरण किया जाय तो उनके पात्र ऐतिहासिक और काल्पनिक इन दो प्रधान वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। ऐतिहासिक पात्रों को भी दो अन्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) वे पात्र जिनके नाम और चरित्र इतिहास में उपलब्ध हैं और

(२) वे पात्र जिनके उल्लेख मात्र इतिहास में मिलते हैं, चरित्र नहीं। इसी प्रकार काल्पनिक पात्रों के भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(१) पूर्णतया काल्पनिक और (२) सांकेतिक।

ऐतिहासिक पात्रों की प्रथम कोटि में बिम्बसार, वासवी, वासवदत्ता, बुद्ध, अजातशत्रु, प्रसेनजित, विरुद्धक, बन्धुल, दीर्घकारायण, अम्बपाली, मल्लिका, मागंधी, उदयन, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, सिकन्दर, सेल्यूकस, पर्वतेश्वर, आम्भीक, दांड्यायन, राक्षस, वररुचि, शकटार, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, रामगुप्त, शिखरस्वामी, स्कंदगुप्त, कुमारगुप्त, मातृगुप्त, पर्णदत्त, चक्रपालित, बंधुवर्मा, राज्यश्री, हर्ष, सुएनच्वांग, राज्यवर्द्धन, ग्रहवर्मा, मालवेश, नरेन्द्रगुप्त और दिवाकरमित्र लिये जा सकते हैं। दूसरी कोटि के ऐतिहासिक पात्रों में वाजिरा, शक्तिमती (इस नाम वासभखत्तिया) पद्मावती, फिलिप्स, एनीसाक्रीटीज़, साइबर्टियस, गान्धार-नरेश, कल्याणी, कार्नेलिया, मौर्य, भीमवर्मा, शर्वनाग और पृथ्वीसेन हैं। प्रथम प्रकार के काल्पनिक पात्र सिंहरण, अलका, सुवासिनी, मालविका, शान्तिदेव, सुरमा, कमला हैं और दूसरी कोटि के देवसेना, विजया और देवकी। चरित्रों का यह विभाजन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त वर्गीकरण में प्रसाद के नाटकों के सभी नायक ऐतिहासिक पात्रों की उस कोटि में आते हैं जिनके नाम व चरित्र दोनों ही इतिहास में उपलब्ध हैं और जिनमें अधिक परिवर्तन की सम्भावना नहीं होती। इसके अतिरिक्त ये चरित्र ऐसे व्यक्तियों के हैं जिन्होंने या तो इतिहास को अपनी कर्मठता, संकल्प शक्ति अथवा कोमल-प्रतिभा से प्रभावित किया है अथवा जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की ठोकर से अनायास ही नायकों की ऊँचाई पर आ गये हैं। अजातशत्रु, बुद्ध, चन्द्रगुप्त चाणक्य, ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त और राज्यश्री-हर्ष ऐसे ही पात्र हैं। ये सब ऐसे व्यक्ति हैं जो इतिहास की व्यापकता में एकान्त स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और काल की प्रखर धारा में जिन्होंने अपने स्वर्ण-ध्वज फहरा दिये हैं।

यही कारण है कि प्रसाद के नाटक वस्तुतः सही अर्थों में ऐतिहासिक बन सके हैं। कथानकों के सम्बन्ध में तो नाटककार को इस बात की पर्याप्त स्वतन्त्रता है कि वह अपने युग में प्रचलित कई इतिहासकारों की मान्यताओं में से किसी भी एक सम्भाव्य मान्यता को स्वीकार कर ले किन्तु चरित्रों के सम्बन्ध में वह इतना स्वतन्त्र भी नहीं है। मात्र ऐतिहासिक चरित्रों में नवीन चारित्रिक विशेषताओं की योजना तो वह कर सकता है किन्तु उसी सीमा तक जिसमें उन विशेषताओं का स्थान विशेष कार्यों से विरोध न हो। देखना यह है कि क्या प्रसाद के समस्त ऐतिहासिक चरित्र इस कसौटी पर कसे जा सकते हैं अथवा नहीं।

जहाँ तक नाटकों के नायकों का प्रश्न है वे सभी ऐतिहासिक ही प्रतीत होते हैं। उनके कार्यों में पर्याप्त संभाव्यता है और उनके चरित्र की विशेषताओं में कोई विशेष विकृति नहीं प्रतीत होती। अजातशत्रु और बुद्ध के सम्बन्ध में तो बौद्ध इतिहासकारों ने इतना लिखा है कि कुल मिलाकर अजातशत्रु के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण रेखाएं बन जाती हैं। प्रसाद ने इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया है। बौद्ध इतिहास का अजातशत्रु कुछ अधिक क्रूरता लिए हुए है पर जैन इतिहास उसके प्रति पर्याप्त सहृदय है। प्रसाद ने इन दोनों को मिलाकर अजातशत्रु में कुछ मानवोचित गुणों की योजना कर दी है और अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण लेखनी से उसके चरित्र की रेखाएं उभार दी हैं। चंद्रगुप्त और चाणक्य के कथानक के जो स्रोत हैं, उनमें इन दोनों चरित्रों की भी प्रचुर रेखाएं मिल जाती हैं। ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त से प्रसाद के चंद्रगुप्त में केवल दो गुण अधिक हैं और वे हैं—चाणक्य से अलग उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं उसकी सौन्दर्य-प्रियता किन्तु चन्द्रगुप्त का यह चरित्र-रूप भी इतिहास विरोधी नहीं है। मुद्राराक्षस से अलग ऐतिहासिक चंद्रगुप्त के सब गुणों को मिलाकर देखने से इस बात पर विश्वास करना कठिन हो जाता है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य के अपने एक मन्त्री के हाथ की कठपुतली मात्र था। जहाँ तक उसकी सौन्दर्य प्रियता का प्रश्न है यह उस चरित्र की व्यक्तिगत बात है। हम पहिले कह चुके हैं कि इतिहास अपने से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को कार्य-विधान की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के बीच रखकर देखता है उसकी व्यक्तिगत भावनाओं और आवेगों के उसी अंश का वह स्पर्श करता है जिसका प्रभाव तत्कालीन परिस्थितियों पर पड़ता है। परिणामस्वरूप ऐतिहासिक व्यक्ति का सामाजिक स्वरूप तो अधिकतर उपलब्ध हो जाता है पर उसके व्यक्तिगत सुख-दुख प्रेम-विरह अश्रु-हास को इतिहास में कोई स्थान नहीं मिल पाता। नाटक के लिए ऐतिहासिक व्यक्तियों के ये गुण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं इसीलिये नाटककार सामाजिक स्वरूप के सामंजस्य में इन वैयक्तिक गुणों का अपनी सृजनात्मक कल्पना शक्ति से निर्माण कर ऐतिहासिक

ऐतिहासिक चरित्र

चरित्रों पर उनका आरोप करता है, तभी वे व्यक्ति जीवित और सजीव बन पाते हैं। अतः चंद्रगुप्त की सौन्दर्य-प्रियता का काल्पनिक गुण उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को पुष्ट ही करता है। राजकुमारी कल्याणी, कार्नेलिया और मालविका तीनों का प्रणय चन्द्रगुप्त के चरित्र को जीवन्त बनाता है। इसी प्रकार चाणक्य के चरित्र को भी प्रसाद ने अधिक भव्य, अधिक उदार, क्षमाशील और मनोवैज्ञानिक बनाया है। चाणक्य सम्बन्धी जो कुछ भी विवरण इतिहास से ज्ञात होता है उसमें वह महान् कूटनीतिज्ञ, तेजस्वी पर हठी और क्रोधी ब्राह्मण है। प्रसाद ने उसके इस चरित्र में क्रूरता के स्थान पर कोमलता का समावेश भी कर दिया है। साथ ही सुवासिनी से उसके प्रणय की योजना में उसमें विभूत अमानवी शक्तियों के स्थान पर मानवोचित दुर्बलताओं को भी स्थान दे दिया है। इससे इतिहास पर कोई आंच नहीं लगती इतिहास का सत्य बदलता नहीं है पर चाणक्य हमारे हृदय के अधिक पास आ जाता है और दर्शक के लिये अधिक ग्राह्य एवं अधिक बोधगम्य बन जाता है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र की स्पष्ट रूपरेखाएं इतिहास में नहीं मिलती पर उसके जीवन की घटनाओं के आधार पर उसके जिस प्रकार के चरित्र की संभावना है वैसा ही प्रसाद ने उसका चरित्र बनाया है। उसके पूर्वराग की अवहेलना कर एक कायर सम्राट ने उससे परिणय किया और उसी को भेंट दासी की तरह शत्रु के पास भेज दिया। अंत में सब सामाजिक परम्पराओं के विरोध में वह अपना पूर्ण प्रणय पा सकी। भारत की ऐसी साम्राज्ञी के दूसरे प्रकार के चरित्र की कल्पना हम नहीं कर पाते। यह ठीक है कि प्रसाद की कल्पना ने उसमें मनमाने रंग भरे हैं पर उन रंगों की योजना का प्रतिवाद कौन कर सकता है। वे सुन्दर होने के साथ साथ चित्र के अनुकूल हैं अतः विश्वसनीय हैं, संभाव्य हैं। चन्द्रगुप्त के चरित्र पर थोड़ा-सा अभियोग लग सकता है। इतिहास का चन्द्रगुप्त साम्राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण सम्राट रहा है। वह शकारि विक्रम जनश्रुतियों के विक्रम के समकक्ष रखा जाता है। वीरता, कौशल, साहित्य और राजनीति सब में सिद्ध विक्रमादित्य का मत था उसके चरित्र को प्रसाद ने थोड़ी सी ही आड़ी तिरछी रेखाओं से बांधने का प्रयास किया है। प्रसाद का विक्रमादित्य धर्म भीरु और आत्म विश्वास से हीन है। यह मानते हुए भी कि नाटक का नायक वह नहीं है, इतिहास एवं जन-मानस के मन में बसे हुए विक्रमादित्य के चरित्र की रक्षा प्रसाद नहीं कर पाये हैं। स्कन्द के चरित्र की थोड़ी सी सामग्री भी उसके शिलालेखों इत्यादि से मिलती है, इतने बड़े नाटक के लिये पर्याप्त नहीं। प्रसाद ने स्कंद को इतनी अधिक घटनाओं और परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में रखा है कि उसके चरित्र के प्रायः सभी प्रधान गुणों की योजना उन्हें स्वयं करनी पड़ी है। इतिहास से जो कुछ मिला है उसका विरोध उन्होंने नहीं किया, पर उस पर बोझा बहुत है। ध्रुव और चन्द्र इतिहास—(शिलालेख तथा राजतरंगिणी)

मों दो विभिन्न घटनाओं को जोड़ने से दो विभिन्न पात्रों (स्कन्द व हर्ष) को भी प्रसाद ने एक मान कर जोड़ दिया है। इससे कथानक सम्बन्धी दोष तो मालूम पड़ता है पर चरित्र में कोई दोष नहीं प्रतीत होता। स्कंद विक्रमादित्य नहीं भी हो सकता पर इसमें रत्ती भर भी असम्भाव्यता नहीं कि स्कंद उदार शासक था और वनिरुन्धी इच्छता के लिए वह एक राज्य तक दान कर सकता था। हर्ष और राज्यश्री के चरित्रों में इतिहास से अधिक कुछ भी नहीं है उनमें कुछ कम भले ही हो।

उपर्युक्त ऐतिहासिक चरित्रों के अतिरिक्त कुछ चरित्र ऐसे भी हैं जो ऐतिहासिक तो हैं पर जिनके चरित्रों में प्रसाद ने अपनी नवीन कल्पनाओं द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन कर लिया है। इस प्रकार के परिवर्तनों से वे ऐतिहासिक चरित्र न केवल इतिहास विरोधी बन गए वरन् कला की दृष्टि से भी उनका कोई विशेष महत्व न रहा। उदाहरण के लिए पर्वतेश्वर और अम्बपाली के चरित्र लिये जा सकते हैं। इतिहास से पर्वतेश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ भी जाना जा सकता है वह उसकी वीरता और साहस से ही सम्बद्ध है। ग्रीक इतिहास पर्वतेश्वर (पोरस) की वीरता का पर्याप्त उल्लेख करता है। प्रसाद ने ग्रीकों के पर्वतेश्वर के चरित्र को मुद्राराक्षस के उस चरित्र से जोड़ दिया है जिसका वध चाणक्य ने विषकन्या के द्वारा करवाया था। पर्वतक का विषकन्या के रूप पर मोहित होना उसकी विलासी प्रवृत्ति का सूचक था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता पर प्रसाद ने इसका यही अर्थ मानकर सिकन्दर से पंजाब में वीरतापूर्वक टक्कर लेने वाले महान पर्वतेश्वर के चरित्र को इतना विलासी बना दिया कि वह विषकन्या पर तो नहीं पर कल्याणी पर अत्याचार करने को तैयार हो गया। प्रसाद ने यहां सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि इससे एक प्रख्यात चरित्र पर वे ऐसा लांछन लगा रहे हैं जिसे दर्शक अस्वीकार कर सकते हैं। पर्वतेश्वर के चरित्र का यह नवीन रूप किसी प्रकार भी गले से नीचे नहीं उतर पाता विशेष कर जब पर्वतेश्वर और पर्वतक को इतिहास तक ने एक मानने का साहस नहीं किया। अम्बपाली के चरित्र की रूप रेखाएं मिलती हैं। वैशाली के लिच्छवि गणतन्त्र की यह नगरशोभिनी न केवल अनिन्द्य सुन्दरी थी वरन् अत्यन्त वैभवशालिनी और गुणवती भी थी। वह सचमुच राजनर्तकी थी। स्वयं भगवान बुद्ध ने उसका आतिथ्य स्वीकार किया था और उसने एक आम्रकानन भी बुद्ध व संघ को भेंट किया था। उस आम्रपाली ने कभी भी पाप नहीं देखे कभी भी लड़कों के हाथ से पत्थर नहीं खाये वह न तो कभी उदयन की रानी थी और न बुद्ध पर आसक्त। हम यह मानते हैं कि प्रसाद ने ऐतिहासिक सामग्री श्यामा तथा आम्रपाली के चरित्रों को जानबूझकर मिलाया है पर क्या इस सम्मिश्रण से कहीं भी कौतूहल की वृद्धि

होती है ? उन्हें इस प्रकार के पूर्ण ऐतिहासिक नाटक में आम्रपाली जैसे विश्रुत ऐतिहासिक चरित्र के साथ मनमानी करने से नाटक दोषपूर्ण हो गया है। प्रसाद द्वारा जानबूझकर किये गये इस चरित्र सम्बन्धी मिथ्या से उत्पन्न दोष को किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

प्रसाद के नाटकों में ऐसे ऐतिहासिक चरित्र अनेक हैं जिनके नाम भर उन्होंने इतिहास से लिए हैं किन्तु हमारे वर्गीकरण के अनुसार इस प्रकार के पात्रों में तीन पात्र शक्तिमती कार्नेलिया और कल्याणी ही ऐसे हैं जिनके नाम ऐतिहासिक नहीं, प्रसाद के अपने हैं। शक्तिमती का ऐतिहासिक नाम 'वासवखत्तिया' है। सिल्यूकस कन्या और नन्द-दुहिता के नाम इतिहास में नहीं मिलते परन्तु उनका उल्लेख अवश्य मिलता है। इनको इस वर्ग में रखने का कारण यह है कि इन तीनों चरित्रों की किसी प्रकार की विशिष्टताओं का इतिहास को पता नहीं है। वासवखत्तिया की जीवन सम्बन्धी घटना—उसका महानाम की दासी पुत्री होना और प्रसेनजित से विवाह, कार्नेलिया सम्बन्धी एक घटना—उसका चन्द्रगुप्त से विवाह, और कल्याणी सम्बन्धी एक घटना—उसका चन्द्रगुप्त से प्रेम—ये तीन ऐतिहासिक प्रसंग हैं पर इतिहास में इनका उल्लेख या तो भिन्न नामों से हुआ है अथवा ये नाम रहित हैं। इनके चरित्र किस प्रकार के थे इसका इतिहास को उतना ही ज्ञात है जितना भीमवर्मा, सर्वनाग एवं पृथ्वीसेन के चरित्रों का। इतिहास में उल्लेख भर पा सके ऐसे नामों से प्रसाद ने अत्यन्त संभाव्य और सर्वांग सुन्दर ऐतिहासिक पात्रों की सृष्टि की है। कार्नेलिया तो चन्द्रगुप्त नाटक पर खूब छाई हुई है। मल्लिका और शक्तिमती का चरित्र इतिहास से कम नहीं प्रतीत होता और सर्वनाग तो जैसे अपने नाम की शक्ति पर ही स्कन्दगुप्त की घटनाओं को मोड़ देने का बल रखते गया है। अन्य चरित्रों में भी किसी प्रकार का असम्भाव्यता सम्बन्धी दोष नहीं प्रतीत होता। सभी घटनाओं के प्रवाह में घुलते मिलते चले गये हैं और अपने नामों की सार्थकता बनाये हुए हैं।

काल्पनिक चरित्र

प्रसाद के अधिकांश काल्पनिक चरित्र अत्यन्त गौरवशाली और महान हैं। सभी चरित्रों को प्रसाद ने इतना पूर्ण और ऐतिहासिक पात्रों के अनुरूप बनाया है कि कहीं भी वे ऐतिहासिक घटनाओं के टेढ़े मेढ़े रास्तों में पथ भ्रष्ट नहीं हुए हैं। कहीं भी उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों की गति को नहीं रोका। जहाँ तक संभव था इन चरित्रों ने उनकी सहायता ही की है। अपने त्याग स्नेह बलिदान अथवा नीचता और दुष्टता से इन चरित्रों ने दर्शकों व पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट अवश्य किया उनको स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित भी किया वे सम्पूर्ण नाटक के आरम्भ से अन्त तक चलते

थे किन्तु उनमें से दो पात्रों (मालविका और सुरमा) को छोड़कर किसी ने ऐतिहासिक घटनाओं को बदलने अथवा उनमें अनावश्यक रूप से भाग लेने का प्रयास नहीं किया। वे केवल इसलिये नाटककार द्वारा निर्मित किए गए कि ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के बीच के शून्य एवं रिक्त स्थान को उनके बिना भरा ही नहीं जा सकता था और न उस स्थान को रिक्त ही छोड़ा जा सकता था।

प्रथम प्रकार के काल्पनिक पात्रों में से अलका और सिंहरण तो चन्द्रगुप्त नाटक के एक गौण कथानक के नायक और नायिका ही हैं। भारतीय संस्कृति और भारतीय आदर्श के पुजारी प्रसाद इस बात को सहन न कर सकते थे कि भारत के उत्थानकाल में भारत की सीमा में आम्भीक जैसा देश-द्रोही सिकन्दर की सेना का स्वागत करे और उस युग में कोई भी ऐसा व्यक्ति न हो जो उस देश-द्रोही का उन्मुक्त विरोध कर सके। प्रसाद यह नहीं मान सकते थे कि भारत में कोई भी राज कुल पतन की इस सीमा तक जा सकता है। यही कारण है कि सौन्दर्य स्वतन्त्रता एवं देशप्रेम से परिपूर्ण सिंहवाहिनी अलका को प्रसाद ने उस युग में जन्म दिया। ऐसी सिंहवाहिनी के योग्य प्रणयी की आवश्यकता की पूर्ति सिंहरण ने की जिन्होंने मिलकर आर्यावर्त की एकता के नाम पर तक्षशिला का राज्य तक चन्द्रगुप्त के अधीन बनाने में संकोच न किया। सिंहरण के अभाव में चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिक घटनाओं के अनुसार यह संभव न होता कि वह मालव-क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का नेतृत्व कर सकता। क्योंकि मालवक्षुद्रकों की सम्मिलित वाहिनी का उल्लेख करते हुए भी इतिहास यह नहीं बताता कि उस सेना का सेनापति कौन था। मालव गण मुख्य के पुत्र और मगधों के संधि विग्रहक सिंहरण ने घटना चक्र में आकर इतिहास के इस मोड़ पर चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा कर दी क्योंकि वीर सिंहरण भी अलका की ही भाँति आर्यावर्त की एकता का पक्षपाती था।

सुवासिनी चाणक्य और राक्षस के बीच एक नवीन पर काल्पनिक कड़ी है। अत्याचारी नन्द के लिए यदि राक्षस जैसा व्यक्ति स्वामिभक्ति रखता है और उसके प्रत्येक कार्य का समर्थन करता है तो वह भी अत्याचार का भागीदार बन जाता है। केवल स्वामिभक्ति की भावना उसको इस दोष से नहीं बचा सकती। क्या स्वामिभक्ति इतनी बड़ी वस्तु है कि वह विवेक की आँखें भी फोड़ डाले? क्या मात्र इसके लिए राक्षस जैसे कूटनीतिज्ञ एवं कलाकुशल विद्वान को अविवेकी या प्रमादी बनाना उचित है? यही कारण है कि प्रसाद ने स्वामिभक्ति के साथ साथ व्यक्तिगत संघर्ष की भी सृष्टि की है। विवेकी राक्षस नन्द से रुष्ट है पर शकटार की कन्या सुवासिनी और चाणक्य के बीच किशोर प्रेम-संबंध को वह समझता है और कन्यादान में उसे नन्द की मृत्यु के बाद भी चाणक्य-चन्द्रगुप्त विरोधी

ही बना रहना पड़ता है। यहाँ उसके हृदय का प्रश्न है। उसके अनुराग पर पड़ी हुई चोटें हैं। वहाँ विवेक और कूटनीति का उससे कोई भी संबंध नहीं। प्रणय इन सबकी अवहेलना कर सकता है और कोई भी इसको असमाप्य नहीं ठहरा सकता। दर्शकों की कड़ी से कड़ी दृष्टि भी प्रणय के नाम पर उसके बड़े से बड़े दोष को क्षमा कर सकती है। चाणक्य के चरित्र को मानवोचित बनाने के लिए भी सुवासिनी की आवश्यकता पड़ी है। चाणक्य दैवी प्रतिभा से सम्पन्न असाधारण व्यक्ति हो सकता है पर इतना सब कुछ होते हुए भी वह मनुष्य था। सुवासिनी ने चाणक्य के चरित्र को मानवता दे दी है उसको जीवन्त बना दिया है। अब वह अधिक सम्भाव्य और ऐतिहासिकता के अधिक निकट हो गया है। प्रति-हिंसा के इस प्रकार के शिखर पर खड़े हुए मेधावी दैत्य के समान वह नहीं है वरन् महान् आदर्शों से प्रेरित अनुपम प्रतिभा से युक्त, साहस की गरिमा से परिपूर्ण एक कर्मठ महापुरुष है। इसी भाव भूमि पर हम उससे मिल सकते हैं, उससे तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं अन्यत्र नहीं। यहीं सुवासिनी के चरित्र की अनिवार्यता प्रतीत होती है।

मालविका और जयमाला क्रमशः चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त के लिए अधिक आवश्यक नहीं कही जा सकतीं। मालविका प्रसाद के कवि की एक तरल पर करुण कल्पना है जो नाटक में आंसू की एक बूंद और आती है। उसके बिना भी नाटक की घटनाओं में अन्तर न होता चन्द्रगुप्त का चरित्र भी प्रायः वैसा का वैसा ही रहता पर नाटक आंसू की वह बूंद न रह पाती जो पात्रों और दर्शकों के मन में एक हल्की सी टीस पैदा करती है। जयमाला का चरित्र देवसेना और बंधुवर्मा के चरित्रों को अपनी भूमिका पर भावुकता पूर्ण दृढ़ता से उत्कर्ष देता है। मोनिका और सुरमा के चरित्र प्रसाद की कल्पना के विचित्र और अनोखे नमूने हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक की ऐतिहासिक घटनाओं के विकास में ये एक विचित्र प्रकार का योग देते हैं। काल्पनिक चरित्रों का कार्य ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओं का और अधिक सम्भाव्य बनाने में सहायता देना है पर शांतिभिक्षु और सुरमा ध्रुवस्वामिनी संबंधी सारे ऐतिहासिक घटनाओं को काल्पनिक बनाने में योग देते हैं। सम्पूर्ण नाटक भी एक मात्र साझेदारों के करनी मालूम पड़ती है जिसमें ऐतिहासिक पात्र तो निष्क्रिय (पैसिव) साझीदार और ये दोनों पात्र सक्रिय (एक्टिव) साझीदार प्रतीत होते हैं। सभी प्रमुख घटनाओं के पीछे ये एकमात्र कारण हैं। गुप्तकालीन इतिहास में इनका आरोप विश्वसनीयता और सम्भाव्यता दोनों से परे है। यही कारण है कि इन दोनों   कारण नाटक के अन्य चरित्र भी प्रभावहीन हो

ऐसे   ऐसे चरित्रों में है जिनके
क नेत्रों पर

आधारित होती है। चरित्र और नाम भी काल्पनिक होते हैं पर उनके पीछे कोई स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत भी मिलता है। उदाहरण के लिए 'स्कंदगुप्त' नाटक में देवसेना, विजया और देवकी के चरित्र हैं। देवसेना के संबंध में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि अज और इन्दुमती के संबंध में कही गई रघुवंश की एक उक्ति से प्रसाद ने स्कंद के साथ देवसेना नाम की योजना की है।[1] वे इस संबंध में आगे लिखते हैं— शिव के 'कुमार' स्वामी कार्तिकेय 'स्कंद' सेनानी, और महासेन भी कहलाते हैं। वे किस सेना के सेनानी थे और उनकी महासेना क्या थी यह जिज्ञासा भी तुरन्त शांत हो जाती है कि वे 'देवों' के सेनापति थे और इनकी महासेना 'देवसेना' थी। पर, क्या वे देवसेना के वैसे ही पति थे जैसे कोई 'सेनापति' किसी 'सेना' का 'पति' होता है? नहीं। देवसेना उनकी प्रेयसी का नाम था, व्यक्तिवाचक नाम।[2] इस प्रकार मल्लिनाथ, वायुपुराण, देवी भागवत इत्यादि के आधार पर मिश्रजी ने देवसेना और स्कंद के पति-पत्नी संबंध के लिए एक उचित पृष्ठभूमि खोज निकाली है। प्रसाद के नाटक में देवसेना और स्कंदगुप्त के बीच प्रेम होते हुए भी अन्त में उन दोनों का विवाह नहीं किया गया है। स्कंद चिर कुमार रहने की प्रतिज्ञा करता है और देवसेना मालव लौट जाती है। इस संबंध में मिश्र ने स्कंद के एक अन्य नाम कुमार को लेकर उनके ब्रह्मचारी होने के प्रमाण संग्रहित किए हैं। इस प्रकार स्कंद के पौराणिक चरित्र की पीठिका पर देवसेना की योजना की गई है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

विजया का चरित्र भी सांकेतिक है। इस सम्बन्ध में मिश्रजी ने स्वयं कुछ संकेत किया है। नाटक में विजया के चरित्र की कुछ विशेषताएँ हैं। उनमें सर्व प्रथम विशेषता यह है कि वह धनिकपुत्री है और स्वयं चंचल स्वभाव की है। जब स्कंद उसकी ओर आकर्षित होता है तो वह उसकी राज्य के प्रति उदासीनता देखते ही धनपालित की प्रशंसा करने लगती है। बाद में देवसेना की ईर्ष्या से भटार्क से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। कालान्तर में जब स्कंद उससे मुँह मोड़ लेता है तो वह स्वयं भटार्क और यहाँ तक कि पुरगुप्त तक से नाता तोड़ कर स्कंद से प्रणय भिक्षा मांगने के लिए स्वयं प्रार्थिनी बनकर आती है। स्कंद से ठुकराये

---

(१) अथोपयंत्रा सदृशेनयुक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्
स्वासारमादाय विदर्भनाथ पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव।
हिन्दी का सामयिक साहित्य—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(२) वही—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ० ७५-७६

आने पर यह कोप तो दे देती है पर स्कंद की विजय के लिये उसका कोप स्वतः ही धुल जाते हैं। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख[1] की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं।

'क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य
ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुण-दोष-हेतून् ।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र-पुत्रां
लक्ष्मी स्वयं यं वरयांचकार ॥'[2]

यहां स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सब राजपुत्रों को छोड़कर लक्ष्मी ने (स्कंद) जिसका स्वयं वरण किया। इस शिलालेख का प्रारम्भ ही विष्णु की स्तुति से किया गया है[3] और 'नरपति भुजगानां' तथा 'प्रतिकृति गरुडा (ज्ञा) निर्विषी चाव कर्त्ता' जैसे प्रयोगों द्वारा विष्णु और स्कंद का रूपक-सा बांधा गया है। अब यदि इस पृष्ठभूमि पर विजया और लक्ष्मी को एक मान लें तो कई बातों में समानता प्रतीत होगी। लक्ष्मी की चंचलता प्रसिद्ध है, वह कभी भी एक व्यक्ति की होकर नहीं रह सकती। ठीक यही दशा विजया की है। महत्वाकांक्षा का लक्ष्मी से गहरा सम्बन्ध है विजया भी उसी की ओर आकर्षित होती है जो महत्वाकांक्षी है। अन्य सभी राजपुत्रों को छोड़कर लक्ष्मी ने स्कंद का स्वयं वरण किया था। विजया ने भटार्क को छोड़ा, पुरगुप्त को छोड़ा और अन्त में स्कंदगुप्त के समक्ष प्रणयिनी हुई। लक्ष्मी के सम्बन्ध में यह अत्यन्त प्रचलित प्रवाद है कि लक्ष्मी उसके पीछे पीछे भागती है जो उसे ठुकराता रहता है और उससे वह दूर भागती है जो स्वयं उसके पीछे भागता है। यहां स्कंद जब विजया के प्रति आकर्षित हुआ तो उसका परिणाम यही हुआ कि विजया ने भटार्क का वरण किया पर जब स्कंद उससे उदासीन हो देवसेना की ओर झुका तो वह येन केन प्रकारेण स्कंद को पा लेने के लिए उसके पीछे दौड़ती रही। यह भी अत्यन्त मार्मिक है कि अन्त में विजया के ही रत्न-गृह की सहायता से स्कंद ने हूण-सेना पर विजय प्राप्त की।

देवकी के चरित्र को सांकेतिक मानने का कारण यह है कि भिटारी के शिलालेख में एक स्थान पर देवकी का उल्लेख हुआ है—

---

(१) इसी को भी मिश्र भिटारी का लेख लिखते हैं जो भ्रम है।
—देखिए हिन्दी का सामयिक साहित्य-विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ० ७४

(२) सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स—सरकार पृ० २९९ नं० २५

(३) 'कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः'
स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः —वही

'चिरमिति परितोषाम्मातर माम-नत्वा
हुतरिपुरिव कृष्णो देवकीमम्युपेत ।'[1]

उक्त पंक्ति में कृष्ण के देवकी के सम्मुख विजयी होकर जाने से विजयी स्कंद के अपनी माता के सम्मुख जाने की तुलना की गई। इसी आधार पर प्रसाद ने स्कंद की माता का नाम देवकी मानकर स्कंद द्वारा उसको बंदीगृह से छुड़ाने जाने का उल्लेख किया है। केवल इस आधार पर देवकी को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता, अधिक से अधिक उसे संकेतिक काल्पनिक की कोटि में रखा जा सकता है।

इन सांकेतिक काल्पनिक पात्रों ने प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि की है। ये सांकेतिक पात्र एक ओर जो अत्यन्त सामान्य हैं और दूसरी ओर पूर्ण जीवन्त। इतिहास स्कंद का उल्लेख करता है, देवसेना का नहीं, किन्तु यदि इतिहास कभी भी चाहे तो प्रसाद की देवसेना को प्राप्त कर अपने इतिहास में रख सकता है, और यह निश्चय है कि उसके इतिहास में आकर भी देवसेना काल्पनिक नहीं मालूम पड़ेगी वह इतिहास की एक करुण कोमल कड़ी बन जायगी और कोई उसके अस्तित्व को चुनौती नहीं देगा।

हमने इतिहास को ऐतिहासिक वातावरण से भिन्न माना है। क्योंकि यह ऐतिहासिक नाटक का स्थायी अंग है। कोई भी नाटककार इतिहास में भले ही

वातावरण

परिवर्तन कर ले पर ऐतिहासिक वातावरण में परिवर्तन नहीं कर सकता। प्रसाद के नाटकों की यह विशेषता अनेक रूपों में परिलक्षित होती है। इसी की सृष्टि के लिए प्रसाद ने संस्कृत प्रधान भाषा का प्रयोग किया है। देश-काल से सम्बन्धित व्यक्तिगत और समाजगत विशिष्टताओं के चित्रण में प्रसाद की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है। प्राचीन काल में लोगों के वस्त्राभूषण लोकव्यवहार उत्सव सामाजिक जीवन धार्मिक-विश्वास इत्यादि से लेकर शासन प्रबन्ध न्याय सेना तथा युद्ध सम्बन्धी सांस्कृतिक इतिहास के सूक्ष्म चित्रण की ओर भी प्रसाद की प्रवृत्ति रही है। प्राचीन संस्कृति के कोष में ही उन्होंने अपने कथानकों को बिठाया है इसलिए वे कथानक पूर्णतया उसमें घुल मिल मालूम पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त स्कंदगुप्त ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री की सफलता इस पर नहीं है कि इनके चन्द्रगुप्त स्कंदगुप्त ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री के कथानक भर ऐतिहासिक हैं वरन् इस पर है कि इन कथानकों के माध्यम से इतिहास के वे सब युग चल चित्रों की तरह अपनी विशिष्टता के साथ हमारे सामने मूर्त होते चले जाते हैं। मूर्त होने की इस क्रिया के मूल में असंख्य छोटी छोटी बातें हैं, जो 'चन्द्रगुप्त' के 'सरस्वती मन्दिर के समाज' के उत्सव से लेकर ध्रुवस्वामिनी की कुबड़ी छत्रधारिणी बौने-कुबड़े-हिजड़े तक सभी में सन्निहित हैं। ये देश-काल गत विशिष्टताएँ भौगोलिक भिन्नताओं से पूर्णतया सम्बद्ध हैं। प्रसाद ने सर्वत्र भौगोलिक विवरणों की सचाई का ध्यान रखा है।

---

(१) भिटारी का लेख—धर्मेन्द्र द लिप्यालय —सरकार पृ १३२ नं १९

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य

उद्देश्य

इतिहास का चित्रण

'विशाख' की भूमिका में प्रसाद लिखते हैं 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और जिन पर कि वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।' इससे ऐसा प्रतीत होता है प्रसाद अपने ऐतिहासिक नाटकों में एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। कम से कम 'विशाख' की रचना करते समय तो उनका उद्देश्य 'भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण परन्तु अप्रकाशित अंशों का चित्रण' रहा होगा परन्तु भारतीय इतिहास का चित्रण केवल इतिहास के उद्देश्य से करना उन्हें अभीष्ट न था। प्रसाद के लिए इतिहास 'ढोल और तुर्य का इतिहास' (ड्रम एण्ड ट्रम्पेट हिस्ट्री) मात्र न होकर कॉम्ट वादी इतिहासकारों के अनुसार कार्य कारण परम्परा से युक्त काल की अविच्छिन्न धारा का स्वरूप भी था।

अतीत का वर्तमान पर प्रभाव

हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने वाली अतीत की घटनाओं से प्रसाद का अभिप्राय है कि भारत का वर्तमान युग स्वतः प्रसूत नहीं है एवं उसकी नवीनताएं एकाएक उत्पन्न नहीं हुईं वरन् इतिहास और संस्कृति की एक अविच्छिन्न कार्य कारण परम्परा उसकी पृष्ठभूमि के रूप में अविरत रही है। सारांश यह है कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का एक उद्देश्य अतीत के महत्वपूर्ण प्रसंगों के साथ साथ उनके महान व्यक्तियों एवं भव्य वातावरण के मनोरम चित्र प्रस्तुत करना है और दूसरा इस बात को स्पष्ट करना है कि उन दूरस्थ प्रतीत होने वाले युगों का वर्तमान के निर्माण में क्या हाथ था।

इतिहास के प्रति प्रसाद का अपना दृष्टिकोण था। वे हमारे सामने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहासकार के रूप में आते हैं। प्रसाद के नाटकों की दो ऐतिहासिक सीमाएं अजातशत्रु और हर्षवर्द्धन हैं। अजातशत्रु को प्रसाद ने स्वयं इतिहासकाल का प्रथम सम्राट[1] स्वीकार किया है और हर्षवर्द्धन मुसलमानों से पूर्व समस्त उत्तरी भारत का अंतिम एकच्छत्र सम्राट था। यदि इन १२०० वर्षों के इतिहास में अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य अशोक पुष्यमित्र समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य

---

१ अजातशत्रु —भूमिका

स्कन्दगुप्त और हर्ष केवल ये ही स्मरणीय महान सम्राट हुए हैं तो प्रसाद ने इनमें से अशोक पुष्यमित्र और समुद्रगुप्त को छोड़कर अन्य सभी सम्राटों पर नाटक लिखे हैं। पुष्यमित्र और उसके पुत्र अग्निमित्र को लेकर 'इरावती' उपन्यास की रचना तो प्रसाद ने प्रारम्भ कर दी थी परन्तु यह कहना कठिन है कि अशोक और समुद्रगुप्त को प्रसाद ने अपने नाटक या उपन्यासों का विषय क्यों नहीं बनाया। हो सकता है प्रसाद की कल्पना में ये नाटक भी रहे हों और वे अपनी कल्पना को मूर्त स्वरूप न दे पाये हों। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इन दोनों सम्राटों के सम्बन्ध में तब तक इतना अधिक लिखा जा चुका था कि प्रसाद को उनके सम्बन्ध में ऐसे अप्रकाशित इतिहास के अंश ही न मिल पाये हों जिन पर वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है। दूसरे कारण का विशेष समर्थन नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रसाद ने अपने संकल्प के विपरीत इतिहास के ख्यात व्यक्तियों ख्यात घटनाओं एवं ख्यात युगों को ही अपने नाटकों के लिए चुना है। कुछ भी हो १२०० वर्षों के इतिहास के सबसे सुन्दर और भव्य ऐतिहासिक कालों की भारतीय संस्कृति और उसके ऊँचे से ऊँचे आदर्शों को नाटकों में उतारने का प्रयास राष्ट्रीय महत्व रखता है। अतः राष्ट्रीय गौरव का सरस चित्रण इन नाटकों का प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय महत्व

ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीय पतन के युग के सूचक हों अथवा राष्ट्रीय जागरण की ओर संकेत करें, प्रसाद के नाटकों में हमें दोनों ही परिस्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रसाद का युग भारतीय राजनीति का संधिस्थल था। १९१२[1] 'कल्याणी परिणय' से लेकर १९३२[1] ध्रुवस्वामिनी तक बीस वर्षों के इस दीर्घ काल ने प्रथम महायुद्ध के सहारकारी स्वरूप के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अहिंसात्मक हलचल को भी देखा। प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय ने विदेशी शासन की नींव को जितना ही दृढ़ कर दिया कांग्रेस ने उस शासन के प्रति उतनी ही असंतोष भावना उत्पन्न कर अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हीनता के प्रति भी लोगों का ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः साहित्य में सुधारवादी आन्दोलन की नींव बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही पड़ गई थी। उसमें कोरी सुधारवादी उपदेशात्मकता न होकर सरस व्यंजना की प्रधानता थी। उस काल के साहित्य में मुस्कराहटों में छिपे हुए स्फुलिंगों के बीच विदेशी शासन के विरुद्ध जागते हुए विचारों का धुआं भी दीख पड़ता है। प्रसाद के नाटकों में यही धुआं चिनगारियों के रूप में प्रकट हो गया है। प्रसाद ने वर्तमान के संघर्षों से भागकर भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर पलायन नहीं किया वरन् अपने नाटकों द्वारा अतीत के पर्दे पर एक स्वतन्त्र और संगठित राष्ट्र की योजना को रखने का प्रयास

किया। चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण कथानक 'एक आर्यावर्त' 'एक देश' 'एक राष्ट्र' का सन्देश सुनाता हुआ प्रतीत होता है। अखण्ड भारत का हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक प्रसारित इस महादेश का नया सपना हिन्दी साहित्य में पहली बार प्रसाद ने ही देखा और अपनी सारी कृतियों को उन्होंने इसी दीप्ति से भर दिया।[1] स्कंदगुप्त में आर्यावर्त के गौरव के लिए भी ब्राह्मण और देवता की रक्षा का जो स्वर प्रसाद ने उठाया वह राष्ट्रीय भावनाओं से लबालब भरा हुआ है। उठो स्कन्द, आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हंसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समस्त विश्व होगा। राष्ट्र के उद्धार के लिए स्कंदगुप्त बंधुवर्मा और चन्द्रगुप्त जैसे महापुरुषों ने जो त्याग किये, इतिहास तो उसका साक्षीमात्र है प्रसाद के नाटकों ने उस महान् त्याग को जीवन दे दिया, वाणी दे दी। राज्यश्री में जिस देव दुर्लभ दृश्य को देखकर चीनी यात्री को यह विश्वास हो गया था कि अमिताभ की जन्मभूमि यही हो सकती है, वह भी राष्ट्रीय गौरव की ओर प्रबल संकेत करता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर भी प्रसाद ने राष्ट्र के महापुरुषों के क्रियाकलापों का चित्रण किया है भले ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस उद्देश्य का उल्लेख नहीं किया हो।

(किसी भी उद्देश्य को लेकर लिखे गए ऐतिहासिक नाटक में प्राचीन जीवन प्राचीन संस्कृति और तत्कालीन प्राचीन समाज का चित्रण स्वतः ही आ जाता है। प्रसाद ने जितनी सावधानी से ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का चित्रण किया है उसे देखते हुए यही स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका एक उद्देश्य प्राचीन समाज संस्कृति इत्यादि का वास्तविक चित्रण भी रहा होगा। यह उद्देश्य उनके स्वयं के सामने भले ही स्पष्ट न रहा हो परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे सदा

४ प्राचीन भारत की झांकी

ही इसके प्रति जागरूक रहे हैं। प्रसाद के नाटकों में विभिन्न धर्म एवं संस्कृतियों का संघर्ष और उनका संमिश्रण इतिहास की देन है।) गौतम बुद्ध ने जिस धर्म की नींव अजातशत्रु के काल में डाली थी उसका शुद्ध रूप अजातशत्रु नाटक में मिलता है। यहां करुणा, दया और क्षमा का जयजयकार है। वही बौद्ध धर्म का उत्तर गुप्तकाल के प्रारम्भ में ह्रास होने लगा था। महायान का दार्शनिक पक्ष वज्रयान मन्त्रवाद और तंत्र से प्रभावित होकर तंत्रयान के विकृत स्वरूप में परिवर्तित हो गया। ('स्कंदगुप्त' नाटक में बौद्ध धर्म का यही विकृत स्वरूप साकार हो गया है।)

---

१ प्रसाद के नाटक —रामरतन भटनागर पृ १४०

आगे चलकर हर्ष के युग में हम बौद्ध धर्म के उन्नत और अवनत दोनों स्वरूप 'राज्यश्री' में स्पष्ट हो गये हैं। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त उसके घोड़ों की टापों के विस्मृत होते ही भारत एकबार थोड़ा-सा सिर उठाकर पुनः चाहे अपने दार्शनिक चिंतन में डूब गया हो तथापि भारत और यूनान के इस संपर्क से भारतीय और यूनानी संस्कृतियां एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गईं।[1] चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के बीच जिस वैवाहिक और सौहार्द्य संबंध की स्थापना हुई वह दो संस्कृतियों की चिर मैत्री का प्रतीक भी था। प्रसाद ने ठीक इसी बात को नाटकीय वस्तु में कहने का प्रयास किया है। कार्नेलिया ग्रीक की होकर भी भारतीयता के रंग में रंगी हुई है। बौद्ध कालीन मौर्य कालीन और गुप्त कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के स्वरूपों में कई अन्तर थे और उन अन्तरों को इतिहासकार की दृष्टि ही पकड़ सकती है। (अपने नाटकों में प्रसाद ने इतिहास के जिन जिन कालों को लिया है उनके वातावरण के सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में रखते हुए उनका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में वे सफल हुए हैं।)

प्रसाद अपने युग की समस्याओं के प्रति भी सजग थे और कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वस्तुतः अपने नाटकों की रचना अप्रत्यक्ष रूप से सम-
कालीन समस्याओं के हलों को प्राचीन इतिहास में खोजने
प्राचीन इतिहास में के उद्देश्य से ही की हो। इस उद्देश्य के स्पष्टीकरण
अपने युग की समस्याओं के पूर्व प्रसाद के युग की एक झलक दिखा देना अप्रासं-
का समाधान गिक न होगा।

'बंगभंग' आन्दोलन के उपरान्त भारतीय राजनीति गांधी जी के हाथों में आ गई और गांधी ने एक नवीन अहिंसात्मक क्रांति के द्वार खोल दिये। समस्त राष्ट्र को संगठित करने की आवश्यकता सामने आई परन्तु मुस्लिम लीग की स्थापना तथा हिन्दू मुस्लिम झगड़ों ने नई समस्याएं खड़ी कर दीं। समाज सुधार की भावना इससे पहले ही जाग चुकी थी। सभी समझदार व्यक्ति नारी

1 मौर्य सम्राटों का केवल भारत वर्ष के दूसरे भागों के राजाओं के साथ ही नहीं, बल्कि विदेशी राष्ट्रों के साथ भी घनिष्ठ राजनीतिक संबंध था। स्वयं चन्द्रगुप्त के दरबार में सीरिया के राजा सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज रहता था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के दरबार में सीरिया के राजा एन्टि-ओकस सोटर और मिस्र के राजा टालेमी फिलाडेल्फस के राजदूत रहते थे। अशोक का लंका के साथ तथा सीरिया मिस्र साइरीनी मकदूनिया और एपिरस नामक पांच यूनानी राज्यों के साथ संबंध था

—बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० १८६,

स्वातंत्र्य विधवा विवाह और सामाजिक संगठन की कामनाएं करने लग थे। आर्य समाज ने प्राचीन भारतीय आदर्शों को वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण बनाना प्रारम्भ कर दिया था और प्रसाद के काल तक उसका प्रभाव कम नहीं हुआ था। चारों ओर धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्न होने लग थे। कांग्रेस ने इस ओर महत्वपूर्ण प्रयत्न किये थे और गांधी की प्रार्थना सभाओं में सभी धर्मों की प्रार्थनाएं हुआ करती थीं। भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृतियों का केन्द्र प्रतिपादित कर 'थियोसोफिकल समाज' बहुत पहले ही विश्वबंधुत्व का प्रचार करने में प्रयत्नशील था। इन समस्त प्रयत्नों के पीछे दो विचार धाराएं एक साथ काम करती प्रतीत होती हैं।

राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार के भेदभाव भुलाकर अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने के लिए संगठन और

भारत की प्राचीन संस्कृति के आधार पर नवीन सांस्कृतिक निर्माण।

(प्रसाद के नाटकों में भारतीय जीवन की यह आकुलता स्पष्ट परिलक्षित ही नहीं होती उसमें नवयुग की नवीन समस्याओं का समाधान भी मिलता है) अजातशत्रु में पारिवारिक कलहों की शांति के प्रयास के साथ साथ अहिंसा और आत्मत्याग को प्रभुता भी प्रदान की गई है। चन्द्रगुप्त में विदेशी आक्रमणकारियों और विजेताओं को पराजित करने के लिए छोटे छोटे राज्यों और दलों को स्वतः ही एक दूसरे में अपना अस्तित्व मिलाकर एक हो जाने का आदेश है। इसमें छोटे छोटे स्वार्थों के ऊपर उठकर एक अविच्छिन्न राजनीतिक संगठन की आवश्यकता की ओर भी प्रसाद ने संकेत किया है। यह कार्य चाणक्य ने किया चन्द्रगुप्त ने किया और गांधी ने किया। कांग्रेस के सभी पिछले प्रयत्न 'अखिल भारतीय कांग्रेस' के अधिक से अधिक सदस्य बनाकर एक सार्वभौम राजनीतिक संस्था की स्थापना की ओर ही हुए थे। गांधी ने विदेशी बहिष्कार के समय कहा था कि हमें ब्रिटिश सरकार तलवार से घृणा हो सकती है ब्रिटेन वा अंग्रेजों से नहीं। अंग्रेजें हम प्रेम से जीतेंगे और इस संघर्ष में हमारा अस्त्र होगा अहिंसा। वह शक्ति स्वतः ही हमारा ध्यान चाणक्य की उस महान राजनीतिक विजय की ओर आकृष्ट करती है जिसमें सिकन्दर भारत छोड़कर गया अवश्य परन्तु भारत से मैत्री का हाथ बढ़ाकर, सिल्यूकस हार कर यूनान लौटा सही परन्तु भारत को कार्नेलिया के स्नेह बंधन में बांध कर। मोदी का सपना गांधी ने अपनी आंखों से देख लिया। अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाने के लिए विवश होना पड़ा पर भारत ने राष्ट्र मंडल में बंधना मैं बांध लिया जो उत्पीड़क स्वीकार कर उन अंग्रेजों को एक नवीन स्नेह बंधन के रूप में १०० वर्षों तक उन पर शासन करते रहे। [भारतीय युद्ध कला

स्कंदगुप्त और हर्षवर्धन ये ही स्मरणीय महान् सम्राट हुए हैं जो प्रसाद ने इनमें से अशोक पुष्यमित्र और समुद्रगुप्त को छोड़कर अन्य सभी सम्राटों पर नाटक लिखे हैं। पुष्यमित्र और उसके पुत्र अग्निमित्र को लेकर 'इरावती' उपन्यास की रचना तो प्रसाद ने प्रारम्भ कर दी थी परन्तु यह कहना कठिन है कि अशोक और समुद्रगुप्त को प्रसाद ने अपने नाटक या उपन्यासों का विषय क्यों नहीं बनाया। हो सकता है प्रसाद की कल्पना में ये नाटक भी रहे हों और वे अपनी कल्पना को मूर्त स्वरूप न दे पाये हों। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इन दोनों सम्राटों के सम्बन्ध में तब तक इतना अधिक लिखा जा चुका था कि प्रसाद को उनके सम्बन्ध में ऐसे 'अप्रकाशित इतिहास के अंश' ही न मिल पाये हों जिन पर वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है। दूसरे कारण का विशेष समर्थन नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रसाद ने अपने संकल्प के विपरीत इतिहास के ख्यात व्यक्तियों ख्यात घटनाओं एवं ख्यात युगों को ही अपने नाटकों के लिए चुना है। कुछ भी हो १२०० वर्षों के इतिहास के सबसे सुन्दर और भव्य ऐतिहासिक कालों की भारतीय संस्कृति और उसके ऊँचे से ऊँचे आदर्शों को नाटकों में उतारने का प्रयास राष्ट्रीय महत्व रखता है। अतः 'राष्ट्रीय गौरव' का सरस चित्रण इन नाटकों का प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय महत्व

ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीय पतन के युग के सूचक हों अथवा राष्ट्रीय जागरण की ओर इंगित करें, प्रसाद के नाटकों में हमें दोनों ही परिस्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रसाद का युग भारतीय 'राजनीति का संधिस्थल' था। १९१२[1] 'कल्याणी परिणय' से लेकर १९३२[1] ध्रुवस्वामिनी तक बीस वर्षों के इस दीर्घ काल ने प्रथम महायुद्ध के संहारकारी स्वरूप के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की अहिंसात्मक हलचल को भी देखा। प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय ने विदेशी शासन की नींव को जितना ही दृढ़ कर दिया कांग्रेस ने उस शासन के प्रति उतनी ही असंतोष भावना उत्पन्न कर अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और राजनीतिक हीनता के प्रति भी लोगों का ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः साहित्य में सुधारवादी आन्दोलन की नींव बाबू हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही पड़ गई थी। उसमें कोरी सुधारवादी उपदेशात्मकता न होकर सरस व्यंजना की प्रधानता थी। उस काल के साहित्य में मुस्कराहटों में छिपे हुए स्फुलिंगों के बीच विदेशी शासन के विरुद्ध जागते हुए विचारों का धुआं भी दीख पड़ता है। प्रसाद के नाटकों में यही धुआँ चिनगारियों के रूप में प्रकट हो गया है। प्रसाद ने वर्तमान के संघर्षों से भागकर भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर पलायन नहीं किया वरन् अपने नाटकों-द्वारा अतीत के पर्दे पर एक स्वतन्त्र और संगठित राष्ट्र की योजना को रखने का प्रयास

किया। चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण कथानक 'एक आर्यावर्त' 'एक देश' 'एक राष्ट्र' का सन्देश गुंजाता हुआ प्रतीत होता है। अखंड भारत का — हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक प्रसारित इस महादेश' का नया सपना हिन्दी साहित्य में पहली बार प्रसाद ने ही देखा और अपनी सारी कृतियों को उन्होंने इसी दीप्ति से भर दिया।[1] स्कंदगुप्त में आर्यावर्त के गौरव के लिए भी ब्राह्मण और देवता की रक्षा का जो स्वर प्रसाद ने उठाया-वह राष्ट्रीय भावनाओं से सराबोर भरा हुआ है। 'उठो स्कंद, आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोते हुओं को हंसाओ। आर्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य पताका के नीचे समस्त विश्व होगा।' राष्ट्र के उद्धार के लिए स्कंदगुप्त, बंधुवर्मा और गोविन्दगुप्त जैसे महापुरुषों ने जो त्याग किये, इतिहास तो उसका साक्षीमात्र है, प्रसाद के नाटकों ने उस महान् त्याग को जीवन दे दिया, वाणी दे दी। राज्यश्री में जिस 'एक दुर्लभ हृदय' को देखकर चीनी यात्री को यह विश्वास हो गया था कि अमिताभ की जन्मभूमि यही हो सकती है, यह भी राष्ट्रीय गौरव की ओर प्रबल संकेत करता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर भी प्रसाद ने राष्ट्र के महापुरुषों के क्रियाकलापों का चित्रण किया है, भले ही उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस उद्देश्य का उल्लेख नहीं किया हो।

किसी भी उद्देश्य को लेकर लिखे गए ऐतिहासिक नाटक में प्राचीन जीवन प्राचीन संस्कृति और तत्कालीन प्राचीन समाज का चित्रण स्वतः ही आ जाता है। प्रसाद ने जितनी सावधानी से ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का चित्रण किया है उसे देखते हुए यही स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका एक उद्देश्य प्राचीन समाज संस्कृति इत्यादि का वास्तविक चित्रण भी रहा होगा। यह उद्देश्य उनके सामने भले ही स्पष्ट न रहा हो परन्तु प्रच्छन्न रूप से वे सदा ही इसके प्रति जागरूक रहे हैं। प्रसाद के नाटकों में विभिन्न

४ प्राचीन भारत की झांकी

धर्म एवं संस्कृतियों का संघर्ष और उनका सम्मिश्रण इतिहास की देन है। गौतम बुद्ध ने जिस धर्म की नींव प्रजात प्रभु के काल में डाली थी उसका शुद्ध रूप अजातशत्रु नाटक में मिलता है। यहाँ करुणा, दया और क्षमा का जयजयकार है। यही बौद्ध धर्म का उत्तर गुप्तकाल के प्रारम्भ में ह्रास होने लगा था। महायान का दार्शनिक पक्ष वज्रयान, मन्त्रयान और तंत्र से प्रभावित होकर तंत्रयान के विकृत स्वरूप में परिवर्तित हो गया। 'स्कंदगुप्त' नाटक में बौद्ध धर्म का यही विकृत स्वरूप साकार हो गया है।

---

१ प्रसाद के नाटक —रामरतन भटनागर पृ १४

आगे चलकर हर्ष के युग में हम बौद्ध धर्म के उन्नत और अवनत दोनों रूपका 'राज्यश्री' में स्पष्ट हो गए हैं। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त उसके बाड़ो की टापो के विस्मृत होते ही भारत एकबार थोड़ा-सा सिर उठाकर पुनः चाहे अपने दार्शनिक चिंतन में डूब गया हो तथापि भारत और यूनान के इस सम्पर्क से भारतीय और यूनानी संस्कृतियां एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गई।[१] चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के बीच जिस वैवाहिक और मैत्री संबंध की स्थापना हुई वह दो संस्कृतियों की चिर मैत्री का प्रतीक भी था। प्रसाद ने ठीक इसी बात को नाटकीय वस्तु में ग्रहण का प्रयास किया है। कार्नेलिया ग्रीक की होकर भी भारतीयता के रंग में रंगी हुई है। बौद्ध कालीन मौर्य कालीन और गुप्त कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के स्वरूपों में कई अन्तर थे और उन अन्तरों को इतिहासकार की दृष्टि ही पकड़ सकती है। अपने नाटकों में प्रसाद ने इतिहास के जिन जिन कालों को लिया है उनके वातावरण के सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में रखते हुए उनका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में वे सफल हुए हैं।

प्रसाद अपने युग की समस्याओं के प्रति भी सजग थे और कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वस्तुतः अपने नाटकों की रचना अप्रत्यक्ष रूप में सम-

कालीन समस्याओं के हलों को प्राचीन इतिहास में खोजने

प्राचीन इतिहास में के उद्देश्य से ही की हो। इस उद्देश्य के स्पष्टीकरण अपने युग की समस्याओं के पूर्व प्रसाद के युग की एक झलक दिखा देना अप्रासं-

का समाधान गिक न होगा।

'असहयोग' आन्दोलन के उपरान्त भारतीय राजनीति गांधी जी के हाथों में आ गई और गांधी ने एक नवीन अहिंसात्मक क्रांति के द्वार खोल दिये। समस्त राष्ट्र को संगठित करने की आवश्यकता सामने आई परन्तु मुस्लिम लीग की स्थापना तथा हिन्दू मुस्लिम संघर्षों ने कई समस्याएं खड़ी कर दीं। समाज सुधार की भावना इससे पहले ही जाग चुकी थी। सभी समझदार व्यक्ति नारी

---

१ मौर्य सम्राटों का न केवल भारत वर्ष के दूसरे भागों के राजाओं के साथ ही नहीं बल्कि विदेशी राष्ट्रों के साथ भी घनिष्ठ राजनीतिक संबंध था। स्वयं चन्द्रगुप्त के दरबार में सीरिया के राजा सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज रहता था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के दरबार में सीरिया के राजा एन्टि ओकस सोटर और मिस्र के राजा टालेमी फिलाडेल्फस के राजदूत रहते थे। अशोक का लंका के साथ तथा सीरिया मिस्र साइरीनी मसीडोनिया और एपिरस नामक पांच यूनानी राज्यों के साथ संबंध था"

—बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ १८६

स्वातंत्र्य विधवा विवाह और सामाजिक संगठन की कामनाएं करने लगे थे। आर्य समाज ने प्राचीन भारतीय आदर्शों को वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण बनाना प्रारम्भ कर दिया था और प्रसाद के काल तक उसका प्रभाव कम नहीं हुआ था। चारों ओर धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्न होने लगे थे। कांग्रेस ने इस ओर महत्वपूर्ण प्रयत्न किये थे और गांधी की प्रार्थना सभाओं में सभी धर्मों की प्रार्थनाएं हुआ करती थीं। भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृतियों का केन्द्र प्रतिपादित कर थियोसोफिकल समाज बहुत पहले ही विश्वबंधुत्व का प्रचार करने में प्रयत्नशील था। इन समस्त प्रयत्नों के पीछे दो विचार धाराएं एक साथ काम करती प्रतीत होती हैं।

राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार के भेदभाव भुलाकर अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने के लिए संगठन और

भारत की प्राचीन संस्कृति के आधार पर नवीन सांस्कृतिक निर्माण।

प्रसाद के नाटकों में भारतीय जीवन की यह आकुलता स्पष्ट परिलक्षित ही नहीं होती उसमें नवयुग की नवीन समस्याओं का समाधान भी मिलता है। प्रजातशत्रु में पारिवारिक कलहों की शांति के प्रयास के साथ साथ अहिंसा और आत्म-त्याग को प्रधानता भी प्रदान की गई है। चन्द्रगुप्त में विदेशी आक्रमणकारियों और विजेताओं को पराजित करने के लिए छोटे छोटे राज्यों और दलों को स्वतः ही एक दूसरे में अपना अस्तित्व मिलाकर एक ही भाव का आदेश है। इसमें छोटे छोटे स्वार्थों के ऊपर उठकर एक अविच्छिन्न राजनीतिक संगठन की आवश्यकता की ओर भी प्रसाद ने संकेत किया है। यह कार्य चाणक्य ने किया चन्द्रगुप्त ने किया और गांधी ने किया। कांग्रेस के सभी पिछले प्रयत्न *अखिल भारतीय कांग्रेस* के अधिक से अधिक सदस्य बनाकर एक सर्वभौम राजनीतिक संस्था की स्थापना की ओर ही हुए थे। गांधी ने विदेशी बहिष्कार के समय कहा था कि हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से घृणा हो सकती है *ब्रिटेन या अंग्रेजों से नहीं। उन्हें हम प्रेम से जीतेंगे और* इस संघर्ष में हमारा अस्त्र होगा अहिंसा। यह उक्ति स्वतः ही हमारा ध्यान चाणक्य की उस महान् राजनीतिक विजय की ओर आकृष्ट करती है जिसमें सिकन्दर भारत छोड़कर गया अवश्य परन्तु भारत से मैत्री का हाथ बढ़ाकर, *सिल्यूकस* हार कर गुलाम नहीं परन्तु भारत को कार्नेलिया के स्नेह बंधन में बांध कर। गांधी का सपना गांधी ने अपनी आंखों से देख लिया। अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाने के लिए *विवश होना पड़ा पर* भारत ने काम नवेल्थ में बंधना स्वीकार कर लिया जो उत्पीड़क स्वीकार कर उन अंग्रेजों को एक नवीन स्नेह बंधन के रूप में २०० वर्षों तक उन पर शासन करते रहे। भारतीय युद्ध करना

जानते हैं। ऐसा नहीं' इन शब्दों में प्रसाद ने भारत के राजनीतिक भविष्य को देख लिया था।

प्रसाद ने 'विशाख' को सबसे पहला ऐतिहासिक नाटक माना है। किन्तु विशुद्ध एवं प्रामाण्य ऐतिहासिक वस्तु न होने के कारण हमने उसका विवेचन नहीं किया। 'राज्यश्री' का प्रकाशन १९१४ में हुआ।

राज्यश्री में

प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण उस समय कांग्रेस ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया था। अंग्रेजों और उनके साथी राष्ट्रों ने यह घोषित किया था कि यह युद्ध जनतन्त्र स्वातंत्र्य और नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। गांधी ने इस आशा में देश को तन मन धन से अंग्रेजों की सहायता करने की सलाह दी कि जो युद्ध स्वतन्त्रता और जनतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है उसके अन्त में भारत को भी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त होगी। 'राज्यश्री' में इसी आशाकांक्षिता का स्वर व्याप्त है। ठीक उन्हीं दिनों युद्धवश्त नाकर टर्की ने भी अपनी स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेस ने इसका समर्थन किया और फलस्वरूप मुस्लिम लीग और कांग्रेस में पारस्परिक सहयोग की संभावना बढ़ी और इस आंतरिक एकता से भी राजनीतिक वातावरण आशामय हो उठा। 'राज्यश्री' में समस्त उत्तरापथ में एकता की स्थापना और दक्षिणापथ से उसकी मैत्री में यही आशावाद मुखरित है। राजनीतिक आशावादिता का स्वाभाविक परिणाम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेष्टा थी। 'राज्यश्री' में हर्ष के गौरव की प्रतिष्ठा और भारत की जय जयकार में यही भावना साकार हुई है और उसका भरतवाक्य 'करुणा कादंबिनी बरसे' भविष्य के लिए नवीन आशावाद से अनुप्राणित ही तो है।

दूसरा ऐतिहासिक नाटक 'अजातशत्रु' १९२२ में प्रकाशित हुआ था। कांग्रेस ने १९२० में जिस असहयोग आन्दोलन को आरम्भ किया वह १९२१ में अपने

अजातशत्रु

चरम शिखर तक पहुँच चुका था। १ मार्च १९२२ को गांधी को ६ वर्ष का कारावास दण्ड मिला और इसके साथ ही उक्त आन्दोलन वापस ले लिया गया। इतने बड़े राजनीतिक संघर्ष के युग की घटनाओं का कोई भी प्रभाव 'अजातशत्रु' में नहीं पड़ा। 'अजातशत्रु' का कथानक बौद्ध इतिहास से ज्यों का त्यों ले लिया गया है और उसमें प्रसाद ने नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने की चेष्टा भी नहीं की। अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि आधुनिक इतिहासकारों ने उस युग में गांधी के नेतृत्व का जो चित्र खींचा है वह 'अजातशत्रु' के गौतम के चित्र से मिलता जुलता है। उन्होंने सबल अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सत्य और अहिंसा का मार्ग अपनाने

को सलाह दी। अन्याय और विरोधी सत्ता का विरोध करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का मार्ग अपनाने के लिए कहा। इस पद्धति द्वारा महात्मा गांधी स्वाधीनता संग्राम में भारतवासियों के नैतिक स्तर को उठा देना चाहते थे। सत्य और अहिंसा के सैनिकों को, पाशविक शक्ति द्वारा निर्लज्ज रूप से, बहुत समय तक दबाए रखना असंभव था।————————गांधीजी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उनके कार्यक्रम में कायरता स्वार्थ और लोभ के स्थान पर साहस त्याग और बलिदान था। उनके प्रभाव में आकर विलास की गोद में पले हुए बहुत से व्यक्तियों ने भी स्वाधीनता संग्राम के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया (सितम्बर १९२०के असहयोग आन्दोलन में) तकली और चरखा, भारतीय राष्ट्रीयता के मूल मन्त्र और सत्य अहिंसा उसके प्रमुख अस्त्र बने। यहां से भारतवर्ष में गांधी युग का आविर्भाव हुआ।[1]

यह गांधी के व्यक्तित्व के प्रसार का युग था और उसका प्रभाव युग धर्म बन कर क्रमशः बढ़ता चला जा रहा था। 'अजातशत्रु' का नायक चाहे कोई हो इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उसकी समस्त घटनाओं को मोड़ने की कुंजी बुद्ध के स्वयं के व्यक्तित्व में अथवा उसकी प्रतिछाया स्वरूपा मल्लिका के व्यक्तित्व में पाई जाती है। यहां पग पग पर बुद्ध के सिद्धान्त कसौटी पर उतारे गये हैं और प्रत्येक द्वन्द्व के उपरान्त वे खरे उतरे हैं। अन्त में विरुद्धक के मौर्य साम्राज्याधिकार की पुनः प्रतिष्ठा समस्त धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के विरुद्ध शुद्ध सत्वगुण प्रधान प्राचीन भारतीय विचारों की विजय ही नहीं बुद्ध के प्रकाशमान व्यक्तित्व की विजय भी है। गांधी की दंडी यात्रा और उनका आतताइयों की पद्धति के विपरीत अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन उनकी राजनीतिक विजय का ही नहीं आध्यात्मिक विजय का भी सूचक है।

रचनाकाल की दृष्टि से चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त से पहले का नाटक है, भले ही इसका प्रकाशन स्कन्दगुप्त के प्रकाशन के तीन वर्ष बाद १९३१ में हुआ हो।

चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में

प्रसाद के नाटकों के सर्वप्रथम प्रकाशक विनोदशंकर व्यास के अनुसार स्कन्दगुप्त का प्रथम प्रकाशन १९२८ में हुआ था[2] 'चन्द्रगुप्त' का चतुर्थ अंक 'कल्याणी परिणय' के रूप में 'राज्यश्री' के भी पहले छप चुका था और चंद्रगुप्त सम्बन्धी शोध पूर्ण निबंध, चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका तो १९०९ में ही नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छप चुका था। इनसे यह तो स्पष्ट है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक की योजना १९०९

---

१ भारत का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद पृ० २७१ ०४ वॉल्यूम २

२ प्रसाद और उनका साहित्य—विनोद शंकर व्यास पृ० ११६

के आसपास बन चुकी होगी। १९१७ में द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हो गया। प्राचीन भारत को लेकर लिखा गया यह सर्वप्रथम सफल एवं लोकप्रिय नाटक सिद्ध हुआ। फलतः प्रसाद को पर्याप्त समय तक 'चन्द्रगुप्त' लिखने का विचार स्थगित कर देना पड़ा। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द्रगुप्त विचार रूप में और सम्भवतः लिखित रूप में भी 'स्कन्दगुप्त' के पूर्व की रचना है।

हम पहले लिख चुके हैं कि १९१८ के आसपास भारतीय राजनीति में आशावादिता का स्वर था। उस समय भावी स्वतन्त्रता की आशा में कांग्रेस ने विजित और विजेता के अन्तर को भुलाकर अंग्रेजों का समर्थन प्रारम्भ कर दिया था। गोरों ने एक ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि कर दी कि संकुचित राष्ट्रीयता को पीछे कर जनतन्त्र की रक्षा के नाम पर सारा भारत मित्र राष्ट्रों के साथ येन केन प्रकारेण शत्रु राष्ट्र के पराभाव के लिए कटिबद्ध हो गया। १९२० से पूर्व कांग्रेस में जो आशावादिता थी वह कठिन संघर्षों के कारण निराशावाद की ओर झुक चली थी। १९१९ में एक ओर तो 'मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड' सुधार हो रहे थे और दूसरी ओर रोलट एक्ट के विरोध में ६ अप्रैल को सत्याग्रह आन्दोलन की नींव पड़ गई। इसके परिणाम स्वरूप 'जलियांवाला बाग' का नृशंस हत्या कांड हुआ। २० सितम्बर को कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने 'असहयोग आंदोलन' की नीति स्वीकार कर ली। फरवरी १९२२ में चौरीचौरा के हत्याकांड ने उस आन्दोलन को बन्द करा दिया। इसी बीच मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से पूर्णतया विच्छिन्न होकर साम्प्रदायिक वर्गों को जन्म दिया। लाहौर कांग्रेस ने २६ जनवरी १९२० को पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। द्वितीय गोलमेज परिषद का परिणाम भयंकर साम्प्रदायिक निर्णय हुआ जिसके फलस्वरूप पुनः साम्प्रदायिक वर्गों ने जोर पकड़ा और हिन्दू, मुसलमान सिक्ख और परिगणित जातियों के बीच ही नहीं स्वयं हिन्दुओं में आपस में भी बड़ी बड़ी दीवारें खड़ी हो गईं। १९ २ में कांग्रेस ने पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यह स्थिति १९३४ तक चलती रही।[1] इस प्रकार १९१९ से १९३४ तक का काल भारतीय राजनीति के क्षेत्र में आशा निराशा के द्वंद्व का काल माना जा सकता है। यद्यपि ही सन् १९३५ में जो विधान लागू भी किया गया उसकी १९३४ तक कोई चर्चा ही नहीं थी।

'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' दोनों में राष्ट्रीय भावनाओं का पर्याप्त चित्रण हुआ है। चन्द्रगुप्त में आपसी भेदभाव को भुलाकर आंतरिक संगठन की योजना द्वारा एक विदेशी आक्रान्ता को बाहर निकाल दिया गया और इसके उपरांत

१ भारत का इतिहास 'गांधी युग' डा० ईश्वरी प्रसाद पृ० २७२–२८२

आन्तरिक तत्वों पर विजय प्राप्त कर एक राष्ट्र एक संस्कृति एवं आर्यावर्त की घोषणा की गई। अन्त में दो विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिलन द्वारा एक नवीन आशावादिता के स्वर के साथ इस नाटक की समाप्ति होती है। आंतरिक संगठन शत्रु पर विजय और पूर्ण आशावादिता का वातावरण १९१९ से १९१४ तक कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता फलतः इस काल में चन्द्रगुप्त की रचना सम्भव नहीं प्रतीत होती चन्द्रगुप्त का रचनाकाल १९३१ के आस पास तो हो ही नहीं सकता और जिस ऐतिहासिक वातावरण की हम ऊपर चर्चा कर चुके है उसके अनुसार तो १९१९ के पूर्व इसकी रचना हो ही जानी चाहिए। चन्द्रगुप्त एक प्रौढ़ लेखक की सृष्टि है जब कि राज्यश्री (१९१४) और अजातशत्रु (१९२२) का रचनातंत्र इसकी अपेक्षा पर्याप्त शिथिल है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि १९ ९ में जिस चन्द्रगुप्त की नींव डाली गई थी उसमें १९३१ तक पर्याप्त परिवर्तन किए गए। स्कंदगुप्त का रचना काल १९२८ है और १९२० से लेकर १९२८ तक की राजनीतिक परिस्थियां इस नाटक में भली भाँति प्रतिबिंबित हो गई हैं। आन्तरिक राजनीति के क्षेत्र में बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष, हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगो की ओर संकेत करता है। धार्मिक द्वेष ही इन दोनों संघर्षों का मूल कारण है इतिहास से ज्ञात होता है कि बौद्धों ने देशद्रोह कर हूणों का स्वागत केवल इसलिए किया कि वे भी आधार रूप से बौद्ध धर्म को मानते थे। देशद्रोह करने के लिए ठीक यही बहाना मुस्लिम लीग ने भी ढूंढ निकाला। मुसलमान और अंग्रेज दोनों एक ही 'खुदा' और एक 'रसूल' को मानते हैं हजरत मूसा भी दोनों को मान्य है। मुस्लिम लीग का कहना था कि मुसलमान और अंग्रेजों में धार्मिक समानता है और हिन्दू काफिर और बुतपरस्त हैं अतः मुसलमानों को हिन्दुओं के विरोध में अंग्रेजों की सहायता करनी चाहिए। इस प्रकार के देशद्रोही मुस्लिम लीग में ही नहीं कांग्रेस में भी भरे पड़े थे। देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। सामन्तवर्ग जमींदार और विदेशी उपाधिधारी सभी इस श्रेणी में थे। अनन्तदेवी और भटार्क ने राज्य लोभ और पद लालसा के लिए स्कंदगुप्त के प्रति नहीं राष्ट्र के प्रति विद्रोह किया और इस राष्ट्रद्रोह के लिए हूणों की ओर से पुरगुप्त को 'महाराज' की उपाधि मिली और अनन्तदेवी को राजमाता। १९२२ में चौरीचौरा के साथ देश के सभी प्रमुख नेता जेलों में ठूंस दिए गए और देश में भयंकर निराशा फैल गई। इसके दो कारण थे। एक तो मुस्लिम लीग के विरोध ने आन्तरिक संगठन को दुर्बल कर दिया था दूसरे, बंगाल में जो क्रांतिकारी आन्दोलन चला वह देश भर में फैल गया और उसने कांग्रेस की अहिंसात्मक नीति का प्रबल विरोध किया। हूणों के प्रथम आक्रमण को रोकने में स्कंदगुप्त को जो सफलता मिली उसमें हमें उपर्युक्त दोनों कारणों का स्पष्ट प्रतिबिंब मिलता है। भटार्क के देशद्रोह से तत्कालीन सभी

प्रतिगामी शक्तियों का देशद्रोह कहा जा सकता है। कुभा के तट पर चक्रपालित भटार्क को धर्मी बनाने का प्रयत्न करता है पर स्कंदगुप्त गांधी की भांति हृदय परिवर्तन और क्षमा भावना पर विश्वास रखता है। फलतः दोनों स्थलों पर असफलता ही हाथ आती है। चक्रपालित के उग्र राजनीतिक विचार क्रान्तिकारियों के विद्रोह के रूप में भिन्न दृष्टव्य कहे जा सकते हैं।

सुदूर ऐतिहासिक काल में आधुनिक सामाजिक समस्याओं के समाधान ढूंढने के प्रयत्नों के फलस्वरूप ध्रुवस्वामिनी की सृष्टि हुई है। "आज जितने सुधार या समाज शास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं उन्हें अचिन्तित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र अस्वीकार कर देते हैं किन्तु ध्रुवस्वामिनी में मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने समाज की दीर्घ काल व्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधानों का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन हुए हैं।" प्रसाद के इस कथन से दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम यह कि प्रसाद का ध्यान विवाह मोक्ष सम्बन्धी समकालीन सुधार की ओर था और दूसरे वे उक्त सुधार को वांछनीय मानते हुए, शास्त्रीय सिद्ध करना चाहते थे। स्मृति ग्रन्थों में दिए गए निर्णय साधारण जनता के लिए यदि अज्ञात नहीं तो क्लिष्ट होने के कारण अपरिचित अवश्य हो जाते हैं। सामाजिक परम्पराएं जो सुधार चाहती हैं वह केवल धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर सम्भव नहीं। उनके लिए प्राचीन काल में ऐसे सुधारों की प्रस्तावना उनके प्रति झुकाव एवं अन्त में उनकी विजय का नाटकीय चित्रण आवश्यक है। यही कार्य प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी इतिहास को लेकर किया। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रसाद के व्यक्तिगत वैवाहिक जीवन ने उन्हें विवाह मोक्ष जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर सोचने के लिए बाध्य किया। इसके अतिरिक्त प्रसाद का समकालीन युग भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी युग था। राजनीतिक क्षेत्र में १९०९ १९१९ और १९३५ में वैधानिक सुधार [illegible]। सामाजिक सुधारों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास कांग्रेस भी कर रही थी। अछूतोद्धार, अनिवार्य शिक्षा, नारी जागरण और ग्राम सुधार कांग्रेस के मुख्य उद्देश्य थे। चाँद जैसी पत्रिकाएं नारी स्वातन्त्र्य और नारी आन्दोलन की ओर प्रगतिशील कदम उठा रही थीं और सरस्वती के प्रकाशन के साथ साथ महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य और भाषा के परिष्कार में लग चुके थे। इसी समय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने रामगुप्त और ध्रुवदेवी संबंधी ऐतिहासिक खोज पर एक लेख लिखा और रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में अल्टेकर ने इसी विषय पर एक विद्वत्ता पूर्ण लेख प्रकाशित किया। इतिहास के इस अप्रकाशित अंश पर सिल्वां लेवी और डा० राघवन ने भी विभिन्न दृष्टियों से विचार किया। राखाल

दास बनर्जी ने उक्त कथानक पर ध्रुवा उपन्यास प्रस्तुत किया। ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न इस उपन्यास की मूल समस्या थी और इतिहास भी केवल पुनर्लग्न का उल्लेख करता है। आर्य समाज के कारण विधवा विवाह पर्याप्त रूप से प्रचलित हो चुका था विवाह मोक्ष की समस्या अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई थी और उसकी भारतीयता को स्वीकार करने के लिए संभवतः कोई भी प्रस्तुत न था। आज भी हिन्दू कोड के विवाह मोक्ष के प्रस्ताव को भारतीय जनता शंका की दृष्टि से देखती है। अतः प्रसाद ने मूल समस्या पुनर्लग्न के महत्व को कम कर अपने नाटक में विवाह मोक्ष के प्रश्न को उठाने का प्रयास किया। ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी कथानक इसके सर्वथा उपयुक्त था। यही कारण है कि ध्रुवस्वामिनी इतिहास की पृष्ठभूमि में एक समस्या नाटक बन गया।

नैतिक और चारित्रिक शिक्षा

गांधी ने चारित्रिक सुधार के उद्देश्य से प्रत्येक सुधारक को हृदय परिवर्तन करने का आदेश दिया था। कोई भी व्यक्ति मूलतः बुरा नहीं होता। उसमें चारित्रिक दुर्बलताएं होती हैं अतः सुधारक के लिए सबसे महान मार्ग हृदय परिवर्तन करना है। हृदय परिवर्तन करने से पूर्व सुधारक के लिये अपने आप में आमूल परिवर्तन कर लेना आवश्यक है और इसके लिए आत्म-बलिदान तक की अपेक्षा की जा सकती है। वस्तुतः इस सिद्धान्त का गहरा संबन्ध 'अहिंसा' से है, अतः अपने मूल रूप में इसकी जड़ें भी बुद्ध धर्म में दूर तक चली गई हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में कई ऐसे अवान्तर कथानकों की योजना की है जो इस नैतिक शिक्षा के लिए ही गढ़े हुए प्रतीत होते हैं। मल्लिका द्वारा प्रसेनजित विरुद्धक दीर्घकारायण और शक्तिमती का हृदय परिवर्तन इसी उद्देश्य को सामने रखकर हुआ है अन्यथा मल्लिका संबन्धी कथानक को इतना अधिक महत्व देने का कोई अर्थ नहीं। वासवी मगाव और छलना का हृदय परिवर्तन कर देती है। 'स्कन्दगुप्त' में 'सर्वनाग और भटार्क' के हृदय परिवर्तन के उदाहरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दण्ड के स्थान पर क्षमा। अन्य उदाहरण एक भावात्मक एवं अवांतर कथा में पाया है। बलि देते हुए ब्राह्मणों और बौद्धों के संघर्ष में प्रख्यात कीर्ति जब अपनी बलि देने को प्रस्तुत हो जाता है तो ब्राह्मणों का हृदय परिवर्तन हो जाता है। 'राज्यश्री' में इसी हृदय परिवर्तन के महत्व को चित्रित करने के लिए आरम्भ में ही शांतिभिक्षु और सुरमा की योजना हुई और उनको विभिन्न विभिन्न रूपों में नाना कार्यों के लिए प्रयुक्त किया गया। काषाय ग्रहण की घटना इसका समर्थन करती है। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' साधारणतः इसके अपवाद हैं परन्तु चाणक्य अन्त तक आते आते मौर्य सेनापति को क्षमा कर उसका हृदय परिवर्तन कर देता है और बौद्ध भिक्षुओं की तरह उसे काषाय ग्रहण करने की आज्ञा दे देता है।

प्रसाद के नाटकों को रोमांटिक कहा गया है परन्तु इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि प्रसाद ने अपने नाटकों में सवत्र भारतीय आदर्श और नैतिकता की रक्षा की है। उनके राक्षस चरित्र (शंकरत्त, विजया, प्रपंचबुद्धि, रामगुप्त, देवगुप्त) सभी अपने आचरण से पतित होने के कारण निकृष्ट अन्त को प्राप्त होते हैं और उनके मनुष्य चरित्र संघर्ष करते हुए भी नैतिकता और आदर्श की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील हैं।

अजातशत्रु का कथानक

अजातशत्रु पूर्णत ऐतिहासिक नाटक है, अतः ऐतिहासिक नाटकों के विभिन्न स्वरूपों में इसका स्थान सबसे महत्वपूर्ण है । अजातशत्रु की सम्पूर्ण कथा एक न होकर मगध कोशल और कौशाम्बी में घटित क्रमशः बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित विरुद्धक और उदयन संबंधी तीन कथाओं का समन्वय है । उक्त तीन कथाओं का संघर्ष स्थल काशी है और उनको एक सूत्र में आबद्ध करने वाले महापुरुष गौतम बुद्ध हैं । अजातशत्रु की कथा प्रधान होने पर भी कथानक की गति में एकांत तीव्रता का अभाव है । इसका कारण यह है कि उपर्युक्त तीनों कथाओं में तीन विभिन्न नाटकों के स्वतन्त्र कथानक होने की क्षमता है । इन तीन कथाओं को जोड़ने के लिए 'काशी-युद्ध' पर्याप्त नहीं है । यद्यपि इतिहास के अनुसार भी ये तीनों कथानक 'काशीयुद्ध' के द्वारा ही एक दूसरे से जुड़े हैं तथापि काशी-युद्ध नाटक के कार्य-व्यापार में इतना प्रबल नहीं हो पाया कि तीन स्वतन्त्र कथानकों का केन्द्र बिन्दु बनकर नाटक का सन्तुलन बनाए रख सके । ये तीनों कथानक तीन दिशाओं से अलग अलग पटरियों पर चलते हुए कुछ ही काल के लिए काशी-युद्ध में एकत्र होते प्रतीत होते हैं किन्तु उसके ठीक बाद ही नाटक के अन्त तक पुनः तीन विभिन्न दिशाओं में मुड़कर खो जाते हैं । पाठक या दर्शक को पहिले बीच-बीच में उन कथाओं की स्वतन्त्र झाँकियां मिलती हैं किन्तु दूसरे अङ्क के नवें दृश्य तक आते-आते महाराज उदयन सम्बन्धी कथानक दृश्य रूप में समाप्त प्राय हो जाता है और केवल कुछ ही घटनाएँ सूच्य रूप में बाद में सामने आते हैं । तीसरे अङ्क के छठे दृश्य में प्रसेनजित और विरुद्धक संबंध से छूट जाते हैं । केवल अजातशत्रु और बिम्बसार ही अन्त तक गतिशील और जीवित प्रतीत होते हैं । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनों कथानकों को स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किया जाय और उन सभी घटनाओं पर प्रकाश डाला जाय जिनका प्रभाव से इन सब का इतिवृत्त बनाया है ।

अजातशत्रु सम्बन्धी कथानक के आधार महावंश जातक-ग्रन्थ जैनसूत्र थेरीगाथा धम्मपद अट्ठकथा सुमंगल विलासिनी विनय पिटक मज्झिम निकाय अंगुत्तर निकाय अवदान कल्पलता जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । प्रसाद के नाटक के अनुसार कथानक इस प्रकार है—अजातशत्रु की माँ राजमाता छलना की बलवती इच्छा को देखते हुए बिम्बसार ने अजात

अजातशत्रु की कथा

को युवराज बना लिया और समस्त शासन भार उस पर छोड़ कर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण किया । किन्तु बाद

प्रश्न आगमन में भी प्रद्योत ने उनको स्वतन्त्र नहीं रखा।[1] भिक्षुओं को द्वार से खाली लौट जाते देखकर देवी वासवी ने पिता से दहेज में पाये हुए काशी राज्य की आय बिम्बसार के हाथ में देने का निश्चय कर[2] कोशल और कौशाम्बी में यह समाचार भेज दिया।[3] फलस्वरूप कोशलराज प्रसेनजित ने काशी की प्रजा को सूचित कर दिया कि कर अजातशत्रु को न दिया जाय।[4] उधर अजातशत्रु बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त की देखरेख में मगध पर शासन कर रहा था।[5] यह समाचार पाकर देवदत्त की इच्छा और परिषद् की आज्ञा से उसने बिम्बसार और वासवी को बन्दी बना लिया और कोशल से युद्ध करने का निर्णय कर लिया।[6] इसी उद्देश्य से उसने समुद्रगुप्त को काशी में मगध का गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजा।[7] पर वह काशी में मारा गया।[8] इस युद्ध में अजात विजयी हुआ और काशी पर उसका अधिकार हो गया।[9] बाद में प्रसेनजित का पीछा किया किन्तु मल्लिका के आग्रह से कोशल की सीमा से ही लौट गया।[10] कोशल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेना ने मगध पर आक्रमण किया।[11] अजातशत्रु ने कोशल के साहसिक राजकुमार विरुद्धक की मैत्री स्वीकार कर युद्ध किया।[12] उस युद्ध में अजात के बन्दी होने के कारण[13] छलना ने क्रोध से देवदत्त को मगध से निकलवा दिया।[14] उधर कोशल के कारागार में बन्दी पड़े अजात से वाजिरा प्रेम करने लगी।[15] वासवी के प्रयत्न से अजात मुक्त कर दिया गया[16] और वहीं वाजिरा से उसका विवाह हो गया।[17] पुत्र होने तक वह श्रावस्ती में ही रहा।[18] किन्तु पुत्र होते ही वह बिम्बसार के पास क्षमा याचना के लिए गया।[19] समस्त परिवार के एकत्र हो जाने के जिस सुखद वातावरण की अनायास ही सृष्टि हुई उसे बिम्बसार सह न सका[20] सम्भवतः उसकी वहीं मृत्यु हो गई।

अजातशत्रु सम्बन्धी कथानक का आरम्भ छलना और वासवी के द्वन्द्व से होता है और इस द्वन्द्व के कारण क्रमशः अजातशत्रु और पद्मावती हैं।[21] उक्त घटना का इतिहास से कोई ठीक सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि बिम्बसार की

(१) अजात	१।१६	(८) अजात०	२।७७
(२) वही	१।११—१७	(९) वही	२।८८
(३) वही	१।१६, १६	(१०) वही	२।६६—६६
(४) वही	१।१६, २।१७	(११) वही	२।१०६
(५) वही	१।५३	(१२) वही	२।१०८
(६) वही	२।६६—६७	(१३) वही	३।१०८
(७) वही		(१४) वही	३।१११
(१५) अजात०	३।१११—११५	(१९) वही	३।१४३
(१६) वही	३।११७	(२०) वही	३।१४५
(१७) वही	३।१२८	(२१) वही	अंक १ दृश्य १
(१८) वही	३।१२४		

करना होगा उसे भिक्षुओं का पाठ नहीं पढ़ाया जाता । राजा का परमधर्म न्याय है वह दण्ड के आधार पर है । क्या तुम्हें नहीं मालूम की वह भी हिंसामूलक है' ।[1] भूमिका में बिम्बसार के गृह कलह के मूल ऐतिहासिक आधार को स्वीकार करते हुए भी नाटक में सौतिया डाह को इस गृह कलह का मूल कारण माना है । वस्तुतः इस गृह कलह का कारण चेल्लना का जैन धर्म के प्रति झुकाव ही था । जिससे कि राज्य की कद रही नहीं ।[2] जैन होने के कारण चेल्लना में अहिंसा के प्रति और अधिक गहरी आस्था होनी चाहिए थी पर उपर्युक्त उदाहरण में प्रसाद ने उससे बुद्ध की अहिंसा का विरोध कराया है । प्रसाद या तो भूमिका में दी हुई अपनी निज की मान्यता को कथा के प्रवाह में विस्मृत कर गये हैं अथवा अकारण ही उन्होंने यह इतिहास विरोधी परिवर्तन कर दिया है । ऐसा क्यों किया यह नहीं कहा जा सकता । वैसे छलना सम्बन्धी समस्त घटना काल्पनिक है और इसकी सृष्टि उस गृहकलह की पूर्व पीठिका के स्वरूप में निर्मित हुई है । जहाँ तक गृह कलह का प्रश्न है वह भी प्रामाणिक इतिहास न होकर ऐतिहासिक अनुमान अथवा सम्भावना ही है ।

नाटक की दूसरी घटना है युवराज बनाकर बिम्बसार का वानप्रस्थ ग्रहण करना । प्रसाद ने नाटक की भूमिका में इसका कारण गृह-कलह माना है और नाटक में भी उक्त घटना गृह-कलह का ही परिणाम है । जहाँ तक अजात को राज्य सौंपने का प्रश्न है इस सम्बन्ध में बौद्ध और जैन ग्रन्थों में विरोध नहीं है । विनय पिटक के अनुसार—"देवदत्त के सिखाने से अजातशत्रु खड्ग लेकर अपने पिता का वध करने जा रहा था कि मन्त्रियों ने उसे पकड़ लिया । उसने मन्त्रियों के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया । मन्त्रियों ने राजा को सलाह दी कि समस्त षड्यन्त्रकारियों का वध करा दिया जाय, किन्तु बिम्बसार ने अपने पुत्र को क्षमा कर दिया और उसे राज्य भी दे दिया जिसके लिए वह इतना उतावला हो रहा था ।[3] जैन ग्रन्थों के अनुसार—"कूणिक को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था किन्तु राज्य करने की उतावली में उसने अपने पिता को बन्दी कर लिया ।"[4]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह तो स्पष्ट है कि नाटक में बिम्बसार द्वारा अजातशत्रु को युवराज बनाकर राज-काज सौंपने की घटना इतिहासानुकूल है । किन्तु

---

(१) अजात० १।७५

(२) वही २।८८

(३) विनय २।१९०

इस परिस्थिति के उत्पन्न होने के मूल कारणों की खोज में प्रसाद बौद्ध इतिहास छोड़कर जैन इतिहास के समीप चले गये हैं। बौद्ध इतिहास में इस घटना से पूर्व देवदत्त की दुरभिसन्धि एवं अजात द्वारा पितृवध के कारण का जो उल्लेख हुआ है उसकी नाटक में कहीं चर्चा नहीं है। नाटक में बिम्बसार द्वारा अजात का यौवराज्याभिषेक जैन इतिहास के अनुकूल है। अन्तर केवल इतना है कि जैन इतिहास में न तो गृह-कलह की चर्चा हुई है और न बिम्बसार के वान प्रस्थाश्रम की। उसके अनुसार तो बिम्बसार सीधा बन्दी ही बना लिया गया था। किन्तु बिम्बसार का बन्दी बनाया जाना बौद्ध और जैन दोनों इतिहासों से सम्मत है प्रसाद ने अपने नाटक में बिम्बसार के बन्दी बनाए जाने का दो स्थलों पर उल्लेख किया है—प्रथम बार यह वासवी के कथन से ज्ञात होता है[1] और दूसरी बार परिषद् के निर्णय से।[2] दोनों स्थलों पर कुचक्र का सूत्रधार देवदत्त ही है।[3] प्रथम स्थल पर जीवक का एक कथन इस कुचक्र को स्पष्ट करता है और दूसरे स्थल पर तो सम्पूर्ण दृश्य की योजना ही इसीलिए हुई है।[4] वस्तुतः एक ही ऐतिहासिक घटना को खींचकर दो स्थलों में बाँट देने से नाटकीय त्वरा में व्याघात उत्पन्न होता है। धम्मपद से ज्ञात होता है कि बिम्बसार द्वारा राजसिंहासन का परित्याग कर देने पर भी देवदत्त ने अजातशत्रु को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वह अपने पिता का वध कर दे। अजातशत्रु ने बिम्बसार के वध के लिए कई प्रयत्न किये। किन्तु बिम्बसार के 'स्रोतापन्न' होने से उस पर शस्त्रों का कोई प्रभाव नहीं हुआ। इस पर यह निर्णय किया गया कि बिम्बसार को "तापन-गेह" में बन्दी बनाकर उसे निराहार रखा जाय और वहाँ अजातशत्रु की माता के अतिरिक्त किसी को जाने की आज्ञा न हो।[5] बौद्ध इतिहास की इस घटना की चर्चा ही नाटक में नहीं हुई है वरन् बन्दी बनाने का उल्लेख मात्र हुआ है। जैनों के "आवश्यक सूत्रों" के अनुसार कूणिक ने अधीर और उद्विग्न होकर पिता को कारागृह में डाल दिया। वहाँ उसकी माता चेलना अपने पति बिम्बसार की भक्तिपूर्वक देखभाल करती थी।[6] इस प्रकार जैन कथाओं में अजातशत्रु पितृहन्ता के रूप में नहीं है। यहाँ भी प्रसाद ने जैन कथाओं का ही आश्रय लिया है। अन्तर केवल इतना है कि जैन-कथाओं में चेलना बिम्बसार की सेवा करती है और "अजातशत्रु" में वासवी। यह भी बौद्ध-कथाओं के पूर्णतया

(१) अजात १।३६
(२) वही २।१८७
(३) वही २। पहला दृश्य
(४) धम्मपद अट्ठकथा १।१३१
(५) धम्मपद अट्ठकथा १।२११
(६) आवश्यक-सूत्र ६८३-८१

अनुकूल नहीं है। बौद्ध-कथाओं में वासवी अजातशत्रु की माँ है पर यहाँ उसकी विमाता।

दो स्थलों पर बन्दी बनाये जाने की चर्चा के बीच काशी राज्य की घटना आती है। "हरित मान"[1] और "वड्ढकी जातक"[2] से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु और प्रसेनजित के बीच काशी प्रान्त के लिए बिम्बसार और वासवी के जीवन-काल में कोई संघर्ष नहीं हुआ था। अजातशत्रु ने अपने पिता की हत्या कर दी है और इसी शोक में कोशला देवी का भी प्राणान्त हो गया यह जानकर प्रसेनजित ने काशी राज्य मगध को देना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार काशी राज्य की घटना बिम्बसार की मृत्यु (हत्या) के बाद होनी चाहिए थी। प्रसाद ने बिम्बसार की जीवितावस्था में ही इस घटना का उल्लेख कर इतिहास का विरोध किया है। उन्होंने काशी राज्य के लिए लड़े जाने वाले युद्ध के स्वतन्त्र कारणों की उद्भावना की है। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्रसाद ने अजातशत्रु को पितृ हत्या के अपराध से मुक्त कर दिया है। अतः काशी संघर्ष के लिए नवीन कारणों की खोज आवश्यक थी। बिम्बसार और वासवी का बहुत काल तक बन्दी स्थिति में रहना इसका एक अत्यन्त स्वाभाविक कारण है। नाटक में प्रसेनजित ने इसलिए काशी जनपद मगध से लिया है।

अजातशत्रु नाटक के अनुसार वासवी ने काशी के सम्बन्ध में कोशल और कौशाम्बी को सन्देश भेजे। जहाँ तक कोशल को सन्देश भेजने का प्रश्न है उसकी ऐतिहासिक संभाव्यता पर अधिक तर्क की सम्भावना नहीं किन्तु कौशाम्बी के सम्बन्ध में थोड़ा विचार करना आवश्यक है। नाटक से ज्ञात होता है कि मगध और कौशाम्बी के बीच वैवाहिक सम्बन्ध था। अजातशत्रु की भूमिका में प्रसाद इस बात को स्वीकार करते हैं कि भास के नाटक "स्वप्नवासवदत्ता" की पद्मावती मगध राज दर्शक की बहन थी और दर्शक वस्तुतः अजातशत्रु का ही दूसरा नाम था।[3] प्रसाद की यह मान्यता इतिहास की महत्वपूर्ण सम्भाव्यता है। अतः कौशाम्बी को सन्देश भेजने की घटना ऐतिहासिक न होते हुए भी उपर्युक्त तर्क के आधार पर सम्भव अवश्य हो जाती है।

नाटक में अजातशत्रु ने देवदत्त के आदेशों पर चलकर मगध का शासन-सूत्र लिया है। बौद्ध इतिहास के पास इस घटना का कोई प्रमाण नहीं किन्तु विनय

---

(१) जातक २।२१९
(२) वही ४।१८३
(३) अजातशत्रु (भूमिका) पृ० १२

पिटक, दीघनिकाय और सुमंगल विलासिनी के अनुसार देवदत्त ने अजातशत्रु से कहा—"तुम अपने पिता की हत्या कर राजा बनो और मैं बुद्ध की हत्या कर शास्ता बनता हूं ।"[1] अजातशत्रु ने ऐसा ही किया, इससे अजातशत्रु पर देवदत्त का प्रभाव और इस घटना की ऐतिहासिक सम्भाव्यता का समर्थन किया जा सकता है ।

समुद्रदत्त को काशी में गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजने की घटना पूर्णतया काल्पनिक है । किन्तु काशी में श्यामा वेश्या के प्रेमी के स्थान पर समुद्रदत्त के छल से मारे जाने की घटना का आधार कणवेर जातक है । उक्त जातक में श्यामा ने अपने प्रेमी एक श्रेष्ठि-पुत्र को एक सहस्र मुद्रा सहित नगर-कोतवाल के पास भेजकर वहां चोर के स्थान पर उसे सूली पर चढ़वा दिया ।[2] इस घटना को ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता और अजातशत्रु सम्बन्धी इतिहास से तो इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है । प्रसाद ने समुद्रदत्त की सृष्टि कर उसके गुप्त प्रणिधि बनाये जाने की घटना का सृजन किया और जातक की इस घटना को भी इतिहास के साथ जोड़ दिया । इस प्रकार घटना को आधार भी मिला और ऐतिहासिक संभाव्यता भी ।

जातक[3] संयुक्त निकाय[4] और धम्मपद अट्ठकथा[5] से ही ज्ञात होता है कि कोशल और मगध के युद्ध में पहिले अजातशत्रु की विजय हुई और उसने प्रसेनजित को श्रावस्ती तक खदेड़ दिया । उपर्युक्त विवरण 'अजातशत्रु' नाटक के पूर्णतया अनुकूल है । प्रसेनजित वृद्ध था और अजातशत्रु उद्दण्ड युवक ।[6] अतः उक्त युद्ध में प्रसेनजित का घायल होना सम्भव है । अजातशत्रु ने कोशल की सीमा तक प्रसेनजित का पीछा किया यह भी उक्ति बौद्ध इतिहास के अनुकूल है । किन्तु अजातशत्रु वहीं से लौट क्यों गया, इसका कोई कारण इतिहास नहीं बतलाता । साधारणतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रावस्ती को विजय करना सम्भवतः उतना आसान न हो अथवा अपने मामा के राज्य को अपने राज्य में मिला लेना अजात का मंतव्य ही न रहा हो । प्रसाद ने "अजातशत्रु" में इसके कारण की स्वतन्त्र कल्पना की है और अजातशत्रु के कोशल की सीमा से ही लौट जाने का सारा श्रेय वासवी [illegible]

(१) विनय २।१६ दीघ० १।८६
सुमंगल० १ १३१३१३५ पेतवत्थु अट्ठकथा १०५ ।
(२) कणवेर जातक ४।३।११८
(३) जातक ४/३४२
(४) संयुत्त १/८४-८६
(५) धम्मपद ३/२६१
(६) वड्ढकी जातक ४/२८३

की पत्नी मल्लिका को प्रणय किया है। इतिहास इसका साक्षी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के मौन पर स्वतन्त्र उद्भावना करने का प्रसाद का पूरा अधिकार था।

दूसरी बार पुनः युद्ध हुआ। इस युद्ध के सम्बन्ध में प्रसाद ने दो नवीन योजनाएं की हैं जिसका अनुमोदन इतिहास ने नहीं होता। नाटक में कोशल और कौशाम्बी की सम्मिलित सेनाओं ने मगध पर आक्रमण किया है। जैसा हम वासवी के सन्देश के सम्बन्ध में कह चुके हैं, यह प्रसाद की ऐतिहासिक मान्यता को देखते हुए सम्भाव्य घटना कही जा सकती है ऐतिहासिक नहीं। इस स्थल पर अजात और विरुद्धक की संधि की चर्चा भी हुई है जिसके सम्बन्ध में इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। प्रसाद की यह योजना सम्भाव्य होने के साथ ही साथ अत्यन्त नाटकीय भी है। एक ही काल में दो सम्बन्धित राज्यों के दो पितृ-विरोधी राजकुमार यदि किसी समान शत्रु के लिए अपने ही माता-पिता के विरोध में एक दूसरे से संधि और मैत्री कर लें तो कोई आश्चर्य नहीं। विरुद्धक ने प्रसेनजित का विरोध किया था यह प्रमाणित है और अजातशत्रु तो पितृहन्ता के रूप में प्रख्यात है ही। अतः यदि राज्य लालसा से विरुद्धक ने अपने पिता के विरोध में अजात से मैत्री कर ली हो तो यह पूर्ण ऐतिहासिक घटना न सही अत्यन्त सम्भाव्य नाटकीय घटना अवश्य मानी जायगी।

इस द्वितीय युद्ध में अजात बन्दी हुआ और वहीं वाजिरा से उसका विवाह भी हुआ। इस विवाह के परिणामस्वरूप प्रसेनजित ने पुनः काशी का प्रान्त उसे दहेज के रूप में दे दिया।[1] वाजिरा का प्रेम और बन्दीगृह की घटना पूर्णतया कल्पित हैं। किन्तु यह घटना ऐतिहासिक घटना (विवाह) के अन्तिम परिणाम का सम्भाव्य कारण है। उसके विरोध में नहीं।

देवदत्त का मगध से निष्कासन भी काल्पनिक है। इतिहास के अनुसार बुद्ध को मारने के प्रयत्नों में बार बार असफल होने पर एक बार देवदत्त स्वयं ही बुद्ध से मिलने जा रहा था। मार्ग में एक सरोवर में जल पीते ही उसका प्राणान्त हो गया।[2] प्रसाद ने अजात के बन्दी होने के पर्याप्त समय बाद इस घटना की सूचना दी है। प्रश्न यह उठता है कि अजात के बन्दी होने और देवदत्त की मृत्यु के बीच देवदत्त ने क्या किया? इसका उत्तर यही है कि अजातशत्रु के बन्दी बना लिये जाने के उपरान्त देवदत्त मगध का मगध के शासन पर रहा सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया होगा। अतः अपने पुत्र के बन्दी होने का कारण उसी को मान कर उसको

१ सामञ्ञफल सुत्त १/८४—८६, जातक ४।३४२ धम्मपद टीका ३।२९९
२ बौद्ध कालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० ५४

मगध से निष्कासित कर दिया होगा। प्रसाद ने यहाँ ऐतिहासिक संभाव्यता का सहारा लिया है अन्यथा समस्त घटना पूर्णतया काल्पनिक ही मानी जायगी।

पुत्र उत्पन्न होने पर अजातशत्रु को पितृ-स्नेह का मूल्य ज्ञात पड़ा और पिता को बन्धन मुक्त करने के लिए वह कारागृह में गया। प्रसाद ने अपनी भूमिका में बुद्धघोष को इस घटना का आधार माना है। इस घटना का यही रूप दीघनिकाय[१] में भी उपलब्ध है। उससे ज्ञात होता है कि अजात के पुत्र स्नेह ने ही उसे पितृ-स्नेह का स्मरण कराया। किन्तु जब वह पिता के पास पहुँचा तब तक उसका अन्तिम समय आ गया था। इसके ठीक विपरीत धम्मपद[२] से ज्ञात होता है कि पिता को पूर्ण कष्ट देने के उपरान्त भी मृत्यु को प्राप्त होता न देख अजात ने नापित के द्वारा उसकी नसें कटवा दीं और इस प्रकार रक्त स्राव से उसकी मृत्यु हुई। जैन इतिहास में पुत्रोत्पत्ति की घटना का इतना महत्व नहीं है। अजात को अपनी माँ चेल्लना द्वारा ज्ञात हुआ कि उसके पिता ने उसकी पीड़ा कम करने के लिए उसकी मवाद भरी अंगुली को चूस लिया था। अपने प्रति पिता का इतना उत्कट प्रेम जानकर उसका मन बिल्कुल परिवर्तित हो गया "मैंने अपने पिता के साथ बड़ा दुष्ट व्यवहार किया है" यह सोचकर वह तुरन्त कारागृह में गया और लोहे की गदा से उसके बन्धनों को तोड़ डाला। किन्तु श्रेणिक ने पुत्र के इस प्रकार आकस्मिक आगमन से भयभीत होकर विष खाकर प्राणांत कर डाला।[३]

प्रसाद की कथा यहाँ धम्मपद और आवश्यक सूत्रों के अनुकूल न होकर दीघनिकाय पर आधारित है। किन्तु अपने पुत्र के होने तक अजातशत्रु श्रावस्ती में ही रहा होगा इस घटना का कोई आधार नहीं है। नाटकीय दृष्टि से भी इस योजना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। मगध का शासन कार्य छोड़कर एक वर्ष तक अजात का श्रावस्ती में ही रहना संभाव्यता के विरुद्ध है। नाटक में बिम्बसार की मृत्यु की ओर भी स्पष्ट संकेत नहीं किया गया है। नाटक के अनुसार बिम्बसार के जीवन के अन्तिम क्षण जिस हर्ष और उल्लास के वातावरण में बीते हैं वे सचमुच ही उसी प्रकार बीते होंगे अथवा नहीं दीघनिकाय से भी इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अधिकांश ऐतिहासिक उल्लेखों से यही निष्कर्ष निकलता है कि बिम्बसार दुःख क्लेश भूख और भय के वातावरण में मरा था। अतः प्रसाद के नाटक की अन्तिम घटना ज्ञात इतिहास से थोड़ा-सा हट गई है। इससे इतिहास को क्षति तो अवश्य पहुँचती है किन्तु इससे सम्पूर्ण नाटक दुःखांत होते होते भी सुखांत की ओर

---

१ दीर्घनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त की टीका पृ० १६

२ धम्मपद अट्ठकथा १। २११

३ आवश्यक सूत्र ६८२-८३ आदि

झुक जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रसाद ने नाटकीय परम्पराओं के सत्य की रक्षा के उद्देश्य से मूल इतिहास में काल्पनिक मोड़ दे दिया है।

प्रसेनजित विरुद्धक की कथा का आधार धम्मपद अट्ठकथा, संयुत्त निकाय महावंश दीघनिकाय विनयपिटक, जातक ग्रन्थ तथा दिव्यावदान है। उक्त कथा प्रथम अङ्क के सातवें दृश्य से प्रारम्भ होती है।

प्रसेनजित की कथा

कोशल के सम्राट् प्रसेनजित को यह समाचार मिला कि अजातशत्रु ने बिम्बसार को बन्दी बना लिया है। अतः उसने महादेवी वासवी की इच्छा के अनुसार काशी की प्रजा के नाम आज्ञापत्र लिख दिया कि अजात को काशी का कर न दिया जाय। इसी प्रसंग में अपने पुत्र विरुद्धक की धृष्टता से रुष्ट होकर प्रसेनजित ने उसे राज्याधिकार से वंचित कर दिया और उसकी माता को राजमहिषी के पद से। विरुद्धक की माता शक्तिमती वास्तव में शाक्यों की दासी पुत्री थी और प्रसेनजित से उसका विवाह छल से किया गया था। अपनी माता के द्वारा उत्तेजित किए जाने पर विरुद्धक ने प्रतिज्ञा की कि वह शाक्यों का संहार कर इस अपमान का प्रतिशोध लेगा। पिता से निराहत विरुद्धक शैलेन्द्र नाम से डाकू बन बैठा। संयोगवश काशी की गणिका श्यामा उससे प्रेम करने लगी। उधर जब कोशल का सेनापति बन्धुल सीमाप्रान्त के विद्रोहियों को पराजित कर लौटा तो उसके गौरव से प्रसेनजित को ईर्ष्या हुई और उसने बन्धुल को काशी का सामन्त बनाकर भेज दिया और शैलेन्द्र डाकू को लिख दिया कि यदि वह बंधुल की हत्या कर देगा तो उसके समस्त अपराध क्षमा कर दिये जायेंगे। शैलेन्द्र ने छल से बंधुल की हत्या कर दी। वह पकड़ा गया और काशी के दण्डनायक ने उसे मृत्यु दण्ड दे दिया। अपने प्रेमी शैलेन्द्र को बचाने के लिए श्यामा ने अपने नवागत प्रेमी समुद्रदत्त को एक सहस्र मुद्रा देकर दण्डनायक के पास भेज दिया। श्यामा की इच्छा के अनुसार दण्डनायक ने शैलेन्द्र को मुक्त कर दिया और रातों रात समुद्रदत्त को सूली पर चढ़ा दिया। मल्लिका को बंधुल की हत्या की सूचना ठीक उस समय मिली जब वह आनन्द और सारिपुत्र को भोजन का निमन्त्रण दे चुकी थी। किन्तु उसने अत्यन्त धैर्य के साथ मुँह पर किसी प्रकार की भी विकृति न आने देकर उनको भोजन कराया। उसके पति का हत्यारा प्रसेनजित काशी के युद्ध में हार गया पर उसने बिना किसी भेदभाव के घायल प्रसेनजित की भी रक्षा की। उसके भानजे दीर्घकारायण ने उसकी इस उदारता का विरोध भी किया। स्वस्थ प्रसेनजित आत्मग्लानि से भर गया और उसने दीर्घकारायण को बंधुल के स्थान पर अपना सेनापति बना दिया। उपेक्षिता रानी शक्तिमती के उकसाने पर दीर्घकारायण ने विरुद्धक से मैत्री स्थापित कर ली। उधर शैलेन्द्र (विरुद्धक) ने श्यामा का गला घोंट कर उसका सर्वस्व छीन

लिया और युद्ध सेना का संगठन करने लगा । उसने अजात से भी मैत्री कर ली लेकिन काशी के दूसरे युद्ध में वह घायल हो गया और मल्लिका ने ही सेवा सुश्रूषा से उसे अच्छा किया । विरुद्धक ने मल्लिका की इस सेवा का गलत अर्थ लिया और अपने पूर्व प्रेम का स्मरण कराकर पुनः प्रेमयाचना की । मल्लिका ने उसे फटकार दिया । श्यामा की हत्या का अभियोग गौतम पर लगा किन्तु श्यामा के जीवित हो जाने से गौतम निर्दोष सिद्ध हो गये । काशी के द्वितीय युद्ध में प्रसेनजित विजयी हुआ और उसने अजात को बन्दी कर लिया । वासवी के कहने पर प्रसेनजित ने अजात को मुक्त कर उससे अपनी कन्या वाजिरा का विवाह कर दिया और काशी का राज्य भी उसे दे दिया । मल्लिका की आज्ञा से दीर्घकारायण ने प्रसेनजित का विरोध छोड़ दिया और अन्त में उसी की इच्छा और गौतम की प्रेरणा से विरुद्धक और शक्तिमती को भी प्रसेनजित ने क्षमा कर दिया ।

प्रसेनजित व विरुद्धक सम्बन्धी इस कथा का आधार ऐतिहासिक है । धम्मपद से ज्ञात होता है कि पसेनदी बुद्ध का समकालीन था[1] बुद्ध पर उसकी अडिग आस्था थी ।[2] जातकों से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने बिम्बसार का वध कर दिया । उसके शोक में कोशलदेवी की मृत्यु हो जाने पर पसेनदी ने काशी ग्राम का स्वत्व वापस ले लिया ।[3] किन्तु अजातशत्रु के कथानक के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम कह चुके हैं कि नाटक में बिम्बसार-वध सम्बन्धी कथानक जैन कथाओं पर आधारित है । इसके परिणामस्वरूप बिम्बसार अजातशत्रु से संबद्ध होने के कारण प्रसेनजित सम्बन्धी कथानक में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है । काशी राज्य की घटना ही इन दोनों कथानकों को परस्पर जोड़ती है । अतः परिवर्तन भी उसी घटना में होना अनिवार्य है । इसीलिए बौद्ध इतिहास के विरुद्ध काशी की घटना बिम्बसार और कोशलादेवी (वासवी) की जीवितावस्था में हुई है और वासवी के सुदत्त द्वारा जो समाचार प्रसेनजित को भेजा था वही काशी-संघर्ष का मूल कारण हो गया है ।

विरुद्धक सम्बन्धी कथानक का आधार बौद्ध इतिहास है । धम्मपद[4] और जातकों[5] से ज्ञात होता है कि पसेनदी ने सात दिनों तक बुद्ध और उनके एक सहस्र शिष्यों को भिक्षा दी । सातवें दिन उसने बुद्ध से प्रार्थना की कि नित्य अपने पाँच

---

(१) धम्मपद अट्ठकथा १।३।८
(२) उदान टीका ५।२ महावंश २।१२०
(३) जातक २।२१ ४०१ ४।१४२
(४) धम्मपद अट्ठकथा १।१३६
(५) जातक १।१११ ४।१४४

सौ शिष्यों सहित प्रासाद में भोजन करें। बुद्ध स्वयं नहीं आये किन्तु उन्होंने अपने स्थान पर आनन्द को भेज दिया। आनन्द नित्य पाँच सौ भिक्षुओं सहित आता था किन्तु प्रसेनजित की उपेक्षा के कारण भिक्षुओं ने भिक्षा के लिए आना छोड़ दिया। अन्त तक अकेला आनन्द ही भिक्षा के समय प्रासाद में उपस्थित होता रहा। जब यह बात प्रसेनजित को ज्ञात हुई तो भिक्षुओं का विश्वास पुनः प्राप्त करने के लिए उसने गौतम के सम्बन्धी शाक्यों से विवाह सम्बन्ध की इच्छा प्रकट की। शाक्य प्रसेनजित के अधीन थे पर अपने को उससे उच्च-कुल का मानते थे। अतः उन्होंने प्रसेनजित के प्रस्ताव को अपने कुल का अपमान समझा किन्तु प्रसेनजित के भय से अपने प्रधान सामन्त महानाम की दासी नागमुण्डा से उत्पन्न वासभखत्तिया से प्रसेनजित का विवाह कर दिया। विरुद्धक (विडूडभ) उसी का पुत्र था। एक बार विडूडभ कपिलवस्तु गया। दासी पुत्र को प्रणाम करने के भय से विडूडभ (विरुद्धक) से छोटी वय के सभी कुमार-पुत्र उन दिनों कपिलवस्तु से बाहर चले गये। विडूडभ जब वहाँ से लौटने लगा तो उसका सेवक प्रासाद में कुछ भूल जाने के कारण वापस भीतर गया। वहाँ उसने देखा कि एक शाक्य दासी विडूडभ को दासीपुत्र कहकर गालियाँ दे रही थी और उस आसन को धो रही है जिस पर विडूडभ बैठा था। विडूडभ इस प्रकार अपमानित होकर लौटा और उसने शाक्यों से बदला लेने का प्रण किया। जब इस घटना का ज्ञान प्रसेनजित को हुआ तो उसने वासभखत्तिया एवं विडूडभ दोनों को राज्य सम्मान से वंचित कर साधारण दासों की श्रेणी में रख दिया।

प्रसाद ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए भी उक्त घटना में जान बूझकर परिवर्तन कर दिया है। "अजातशत्रु" के प्रथम अंक के सातवें दृश्य से ज्ञात होता है कि प्रसेनजित ने शक्तिमती के दासी-पुत्र होने एवं इस कारण विरुद्धक के अपमानित होने के फलस्वरूप नहीं किन्तु अजातशत्रु और बिम्बसार सम्बन्धी प्रसंग पर विरुद्धक के तर्क से रुष्ट होकर[1] उन दोनों को अपदस्थ किया। उक्त परिवर्तन से कथानक में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। सम्भव है इससे प्रसाद प्रसेनजित की कुछ उदारचेता प्रकट करना चाहते हों। शाक्यों का संहार करने की प्रतिज्ञा बौद्ध इतिहास के अनुसार कपिलवस्तु में ही करली गई थी।[2] अतः माता द्वारा उत्तेजित होकर उक्त प्रतिज्ञा करना ऐतिहासिक नहीं है—हम घटना क्रम के अनुकूल इसे संभाव्य भले ही मान लें।

मल्लिका के प्रति विरुद्धक-प्रेम की कल्पना प्रसाद की अपनी है। उक्त घटना का साक्षी इतिहास नहीं है। यहाँ यह बात समझ में नहीं आती कि घटना के

१ अजात १।५२-५१
२ धम्मपद १।१।१६

इस काल्पनिक स्वरूप की आवश्यकता क्यों पड़ी ? वस्तुतः देखा जाय तो नाटक में मल्लिका से विरूढक का प्रेम-व्यापार नहीं के बराबर है। इस प्रेम-प्रसंग का यदि उल्लेख नहीं होता तो भी नाटक की कथावस्तु में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इससे एक तो मल्लिका के पातिव्रत्य पर प्रकाश पड़ता है और दूसरे विरूढक की नीच प्रवृत्तियां अधिक खुलकर खेल जाती हैं अन्यथा इस प्रसंग की अवतारणा अनावश्यक कही जायगी।

बन्धुल सम्बन्धी घटना बौद्ध इतिहास के अनुकूल है। बंधुल कुशीनारा का एक मल्ल सामन्त था। वह तक्षशिला में प्रसेनजी का सहपाठी रह चुका था। तक्षशिला से लौटने पर जब वह युद्ध कला का प्रदर्शन कर रहा था तो अन्य सामन्त कुमारों ने उसके साथ परीक्षा में छल किया। इससे क्रुद्ध होकर वह श्रावस्ती चला आया जहाँ प्रसेनजी ने उसे अपना सेनापति नियुक्त किया। बन्धुल की पत्नी का नाम मल्लिका था। मल्लिका को 'दोहद' हुआ कि वह वैशाली के कमल-सर का जलपान करे। उक्त कमल-सर का जल केवल वैशाली के राजपुरुषों के अभिषेक के लिए ही काम में लाया जाता था। बन्धुल ने मल्लिका को रथ पर बैठाया और रक्षकों को भगाकर उसे कमल-सर का जलपान कराया। लिच्छवि कुल-पुत्रों ने बन्धुल के रथ का पीछा किया। जब उनके ५०० रथ एक रेखा में हुए तो बन्धुल ने एक ही तीर से सब कुल पुत्रों को बींध दिया। उनको इसका आभास तक न हुआ किन्तु बन्धुल के आग्रह से जब एक ने अपना कमरबन्द खोला तो उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई। बन्धुल के न्याय सम्बन्धी एक निर्णय पर प्रसन्न होकर प्रसेनजी ने उसे न्यायाधीश बना दिया।[1] अन्य न्यायाधीशों ने ईर्ष्या से राजा के कान भरने प्रारम्भ किये। इससे प्रभावित होकर प्रसेनजी ने बन्धुल एवं उसके पुत्रों को सीमा प्रान्त के विद्रोह का दमन करने भेज दिया। लौटते समय मार्ग में ही प्रसेनजी की आज्ञा से उनकी हत्या कर दी गई। इस दुःखद घटना का समाचार मल्लिका को उस समय मिला जब वह सारिपुत्र और आनन्द के साथ ५०० भिक्षुओं को भोजन करा रही थी। मल्लिका ने उक्त सूचना को अपने वस्त्रों में छिपा लिया और पूर्ववत् कार्य में संलग्न रही। सारिपुत्र ने इस धैर्य की प्रशंसा की। मल्लिका ने अपनी पुत्र-वधुओं को यह समाचार भेजकर कहा कि वे राजा के प्रति कोई दुर्भावना न रखें।[2] गुप्तचरों से यह सूचना पाकर प्रसेनजी ने उससे क्षमा मांगी और उसको कुछ देना चाहा। मल्लिका ने कुशीनारा लौटने की इच्छा प्रकट की। प्रसेनजी ने बन्धुल के भागिनेय दीर्घकारायण को सेनापति बनाया।

(१) संयुत्तनिकाय १।७४ (अट्टकरण सुत्त)
——किण्ड्रेड सेइंग्स (पाली टैक्स्ट सोसाइटी) १९१७ नं० ३

(२) पपञ्च सूदनी मज्झिम टीका—२।१२१

बौद्ध इतिहास की उपर्युक्त घटना में प्रसाद ने पर्याप्त परिवर्तन किये हैं। मल्लिका के वैधव्य के प्रसंग में प्रसाद ने 'वैशाली के कमल-सर" के स्थान पर 'पावा अमृत-सर" का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट ही ऐतिहासिक भ्रान्ति है। नाटक में उसे काशी का सामन्त बनाया गया है न्यायाधीश नहीं। मूल कथा के अनुसार न्यायाधीश बनाये जाने के उपरांत ही बन्धुल के प्रति पसेनदी के मन में सन्देह उत्पन्न कराया गया था किन्तु नाटक में बन्धुल पर सन्देह इसलिए हुआ है कि वह सीमा प्रान्त के विद्रोह को दबाकर कोशल की जनता का प्रिय हो गया था। यहां घटना क्रम में भी पर्याप्त उलट फेर है। वस्तुतः सीमाप्रान्त के विद्रोह को दबाने की घटना के ठीक बाद ही बन्धुल की हत्या कर दी गई थी। बन्धुल विजयी होकर कोशल लौटा ही नहीं। प्रसाद ने बन्धुल की हत्या विरुद्धक के साथ काशी में लड़े गये युद्ध में एवं द्वन्द्व युद्ध में करवाई है यह कल्पना प्रसूत है। सारिपुत्र और आनन्द सम्बन्धी प्रसंग इतिहास के अनुकूल हैं। यहां प्रसाद ने पांच सौ शिष्यों का उल्लेख कर, नाटक की सीमा का ध्यान रखा है। साथ ही दासी द्वारा स्वर्णपात्र के टूट जाने की घटना का सृजन कर नाटकीय सौन्दर्य की रक्षा ही नहीं वृद्धि भी की है। नाटक में मल्लिका की पुत्रवधुओं की चर्चा नहीं हुई है। सारिपुत्र की शिक्षा और बौद्धधर्म के प्रभाव से मल्लिका स्वयं ही दुर्भावना और उदासीनता न रखने की प्रतिज्ञा करती है। यह परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय है। नाटक में पसेनदी की क्षमा याचना उस समय हुई है जब मल्लिका काशी युद्ध के उपरान्त उसकी रक्षा करती है। कारायण को भी यहीं पर सेनापति का पद प्रदान किया गया है। प्रसेनजित की परियों की योजना काल्पनिक है, किन्तु उक्त कल्पना से एक तो काशी को केन्द्र मानकर नाटक की समस्त महत्वपूर्ण घटनाओं को वहीं एकत्र करने की प्रसाद की योजना पूर्ण होती है और दूसरे मल्लिका के चरित्र का वैभव और भी निखर जाता है। संभवतः बन्धुल को काशी का सामन्त बनाकर भेजने में भी प्रसाद की यही भावना कार्य कर रही हो। बौद्ध इतिहास का विरुद्धक कभी भी साहसिक नहीं बना। वस्तुतः यहां प्रसाद ने घटना वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए "कणवेर जातक"[1] की घटना को स्थान दे दिया है। उक्त जातक की गणिका श्यामा चोर के रूप में उत्पन्न बोधिसत्व के रूप पर आसक्त हुई थी। यहां प्रसाद ने चरित्र-वैचित्र्य के लिए विरुद्धक को बोधिसत्व के स्थान पर रखकर साहसिक बना दिया है। नाटक में श्यामा और विरुद्धक का प्रेम इतना आकस्मिक है कि वह अस्वाभाविक सा हो गया है। हम पहिले कह चुके हैं कि बन्धुल की हत्या छलपूर्वक और राजाज्ञा से सीमाप्रांत के पथ पर हुई थी अजातशत्रु (विरुद्धक) के हाथ से काशी में नहीं। राजाज्ञा की चर्चा नाटक में भी हुई है।

(१) जातक ४।२।११८

धम्मपद और जातकों से ज्ञात होता है कि दीर्घकारायण ने बंधुल की हत्या का प्रतिशोध लेने की ठानी और जब पसेनदी उलुम्पा ग्राम में बुद्ध के दर्शन के लिए गया तब दीर्घकारायण ने उसके छत्र चंवर लेकर विडूडभ को कोशल के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। दर्शन करके लौटने पर पसेनदी को केवल दो ही वस्तुएं बाहर मिलीं—उसका अश्व और उसकी दासी। पसेनदी अजातशत्रु से सहायता पाने के उद्देश्य से राजगृह की ओर गया किन्तु नगर द्वार पर ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

प्रसाद ने इस घटना की चर्चा ही नहीं की है किन्तु दीर्घकारायण और विरुद्धक की मैत्री एवं छत्र चंवर लेकर विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देने की दीर्घकारायण की इच्छा का आधार यही प्रतीत है। मल्लिका के प्रभाव के कारण दीर्घकारायण की यह इच्छा कार्य रूप में परिणित नहीं हो सकी है। वस्तुतः मल्लिका के इस प्रभाव का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। ये कल्पना प्रसूत घटनाएं संभवतः एक ओर तो घटना को दुःखांत परिणति की ओर ले जाने में अरोचक हैं और दूसरी ओर मल्लिका की ओर उसके माध्यम से बुद्ध की करुणा की चमत्कार कराती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि चरित्र वैचित्र्य की इतनी सृष्टि के उपरांत देव चरित्रों की यह मनोभाव विजय कथानक को शिथिल बना देती है किन्तु इससे प्रसाद के उद्देश्य की पूर्ति अवश्य हो जाती है।

प्रसेनजित सम्बन्धी अंतिम घटना के दो भाग हैं (१) वासिरा से अजात का विवाह और (२) प्रसेनजित द्वारा रानी शक्तिमती एवं विरुद्धक को क्षमा प्रदान। दोनों ही घटनाएं बौद्ध ग्रन्थों से प्रमाणित हैं। दीर्घनिकाय मज्झिम निकाय और जातकों से वासिरा एवं अजात के विवाह की घटना की पुष्टि होती है। दूसरी घटना 'भद्दसाल' जातक पर आधारित है। वासभखत्तिया एवं विडूडभ को पसेनदी ने एक बार बुद्ध के कहने से क्षमा कर दिया था और उन्हें पूर्ववत् सम्मान का भागी भी बना दिया था। यहाँ भी मल्लिका के प्रभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु 'अजातशत्रु' नाटक में मल्लिका के आग्रह से ही प्रसेनजित रानी शक्तिमती एवं विरुद्धक को क्षमा प्रदान करता है। बुद्ध का प्रभाव तो केवल विरुद्धक को राज्याधिकार दिलाने में ही सहायक होता है। मल्लिका का यह कार्य इतिहासानुमोदित नहीं है।

उदयन सम्बन्धी कथा के मूल-स्रोत कथासरित्सागर, धम्मपद, अट्ठकथा जातक, बुद्धघोष तथा दिव्यावदान हैं। नाटक की भूमिका में प्रसाद ने इसके प्रति

रित स्वप्नवासवदत्ता प्रतिज्ञा यौगंधरायण, रत्नावली हर्षचरित मेघदूत विष्णु पुराण तथा अन्य बौद्ध-ग्रंथों का भी उल्लेख किया है। भूमिका

उदयन की कथा में प्रसाद ने उदयन के वंशवृक्ष आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध की है किन्तु नाटक में उदयन की कथा का इतना थोड़ा अंश लिया गया है कि इस शोध का उसमें विशेष उपयोग नहीं होने पाया है। नाटक में उदयन की कथा का जितना अंश आया है वह उपर्युक्त शोध पर आश्रित न होकर बौद्ध साहित्य पर आधारित है।

अजातशत्रु मे उदयन की कथा प्रथम अङ्क के पाँचवें दृश्य से प्रारम्भ होती है। कौशाम्बी के राजा उदयन की तीन रानियां थीं—वासवदत्ता पद्मावती और मागंधी। पद्मावती मगध के सम्राट अजातशत्रु की बहिन थी और मागंधी एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या। गौतम ने रूप गर्विता मागंधी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था तभी से वह गौतम की विरोधिनी बन गई थी। पद्मावती के प्रासाद में बुद्ध धर्म चर्चा किया करते थे। इस पर मागंधी ने उदयन के कान भरने प्रारम्भ कर दिये और पद्मावती के चरित्र पर लांछन लगा दिया। दासी पद्मावती के मंदिर से उदयन की वीणा ला रही थी। मागंधी ने उसके भीतर सांप का बच्चा रखवा दिया। इस प्रकार उदयन को पद्मावती की दुश्चरित्रता का प्रमाण मिल गया और उसने पद्मावती के मंदिर मे जाना छोड़ दिया। एक दिन पद्मावती अपने झरोखे से धम्मसहित करुणानिधान बुद्ध का दर्शन कर रही थी कि उदयन ने उसे देख लिया। फलतः ईर्ष्या और क्रोध से उसका वध करने के लिए उदयन ने तलवार उठाई, पर उसका हाथ ही नहीं उठा। वासवदत्ता ने मागंधी की दासी द्वारा मागंधी के कुचक्र को जान लिया। भंडाफोड़ हो जाने के भय से मागंधी ने अपने महल में आग लगा दी। अजातशत्रु को शिक्षा देने के लिए प्रसेनजित और उदयन में मन्त्रणा हुई और उन्होंने मगध पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

वस्तुतः नाटक में प्रसाद की कथा इतनी ही है किन्तु उदयन की रानी मागंधी की कथा का जो विकास किया गया है उससे ज्ञात होता है कि कौशाम्बी के प्रासाद में मागंधी जली नहीं थी। अपने महल में आग लगाकर वह वहां से निकल भागी और "काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी श्यामा" बन गई। श्यामा के रूप में वह डाकू शैलेन्द्र (विरुद्धक) से प्यार करने लगी। शैलेन्द्र कोशल के सेनापति बन्धुल की हत्या के अपराध में बन्दी बना लिया गया और उसे सूली पर चढ़ाये जाने का दंड मिला। श्यामा ने अपने नवागत प्रेमी मगध के गुप्त प्रणिधि समुद्रदत्त को धोखे में डालकर हजार मोहरों के साथ दंडनायक के पास भेज दिया। समुद्रदत्त धन लेकर गया और दंडनायक ने श्यामा के संकेत से शैलेन्द्र को मुक्त कर रातों रात समुद्रदत्त को सूली पर चढ़ा दिया। चाहे धन के लोभ से अथवा अपने प्रति भी छल की आशंका से शैलेन्द्र ने श्रावस्ती के एक

उपवन में श्यामा का गला घोंट दिया और स्वयं भाग गया । मुमूर्षु श्यामा को बुद्ध ने प्राणदान दिया । भिक्षुक ने भी उससे क्षमा मांग ली । श्यामा ने विरक्त होकर राजसुख से मुंह मोड़ लिया । वह ग्राम की बारी लेकर बेचने लगी और आम्रपाली कहलाने लगी । अपना वह आम्रकानन उसने बुद्ध को भेंट कर दिया और अन्त में वह स्वयं बुद्ध की संघ की शरण में चली गई । अधिकांश ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रसाद की इस मान्यता को स्वीकार किया जा सकता है कि उदयन परंतप का पुत्र और कौशाम्बी (वत्स) का शासक था । प्रसाद ने अपने नाटक की भूमिका में उदयन के पूर्व-इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । नाटक की घटनाओं से इसका सम्बन्ध न होने के कारण यहां इस पर विचार करना आव श्यक नहीं है । उदयन की दो रानियों के संबंध में प्रसाद लिखते हैं "कथासरित्सागर में उदयन की दो रानियों के नाम ही मिले हैं, किन्तु बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में उसकी तीसरी रानी मागंधी का नाम भी पाया है । इनमें से वासवदत्ता उसकी बड़ी रानी थी जो अवंति के चण्ड महासेन की कन्या थी ।..................मेरा अनुमान है कि पद्मावती अजातशत्रु की बहिन थी ।"[1] प्रसाद के इस अनुमान के आधार और उसकी सम्भाव्यता पर चरित्रों के प्रसंग में विचार किया जा सकता है यहां प्रसाद की मान्यता का ही मानकर चलना प्रसंगानुकूल है । इतना कह देना अनुचित न होगा कि बौद्धों की श्यामावती और प्रसाद की पद्मावती कथा-प्रसंग में एक ही है ।

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि मागन्धीया के पिता मागन्धीय ने अपनी पुत्री का विवाह बुद्ध से करना चाहा । मागन्धीय कुरुप्रदेश का ब्राह्मण था और उसकी परम रूपवती कन्या से पाणिग्रहण करने के लिए कई वैभवशाली व्यक्ति उत्सुक थे । एक दिन बुद्ध को ज्ञात हुआ कि मागन्धीय और उसकी पत्नी बौद्ध धर्म को अंगीकार करना चाहते हैं । बुद्ध जब मागन्धीय के गांव में पहुंचे तो मागन्धीय ने उन्हें सभी शुभ लक्षणों से युक्त देखकर उनसे अपनी कन्या के रूप गुण की चर्चा की । तथागत मौन रहे । मागन्धीय ने अपनी कन्या को अलंकृत कर उसे बुद्ध को समर्पित किया । तथागत ने मागन्धीय को अपने पूर्व जीवन का वृत्त सुनाते हुए कहा कि मैंने 'मार' की उन अनिन्द्य सुन्दरी कन्याओं के प्रलोभनों पर विजय पाई थी जिनकी तुलना में मागन्धीया ३२ दोषों से युक्त एक शव मात्र है एक ऐसा अपवित्र बर्तन है जिसे बाहर से रंग दिया गया है । मैं उससे विवाह तो क्या उसे अपने चरण से भी स्पर्श नहीं कर सकते ।[2] इस पर मागन्धीय ने मागन्धीया को उसके चाचा पास भेज कर पत्नी सहित बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया । पीछे मागन्धीया का विव

१ अजातशत्रु (भूमिका) पृ. १४ १५

२ धम्मपद अट्ठकथा ३।१९३ सुत्तनिपात टीका २।५४२ (पा. टैक्स्ट सो
[illegible] (बार्थेल एण्ड मील) पृ० ५१५

उदयन से हो गया और उदयन ने उसे अपनी पटरानी बना लिया । बुद्ध द्वारा अपने रूप का अपमान मागन्दीया न भूल सकी अतः कौशाम्बी आते ही उसने बुद्ध से बदला लेने का प्रयत्न किया । उसे जब ज्ञात हुआ कि उदयन की अन्य रानी सामावती (प्रसाद के नाटक की पद्मावती) और उस की सहेलियां अपने प्रकोष्ठों के झरोखों से बुद्ध के मार्ग का अवलोकन किया करती हैं तो उसने उदयन से कहा कि सामावती उदयन की हत्या का षड्यंत्र रच रही है । कुछ काल तक उदयन ने इस पर विश्वास नहीं किया किन्तु जब उसे दीवारों पर बने हुए छिद्र और वातायन दिखाये गए तो उसने उन्हें बन्द करवा कर झरोखों को ऊंचे पर बना दिया ।

यह षड्यंत्र निष्फल हो जाने पर मागन्दीया ने राजमार्ग में बुद्ध का अपमान करने के लिए एक दास को नियुक्त किया । दुखी होकर आनन्द ने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे कौशाम्बी छोड़ दें । बुद्ध ने उत्तर दिया—"युद्ध में गये हुए हाथी के समान मुझे उन सभी बाणों को झेलना पड़ेगा जो मुझे लक्ष्य कर फेंके जावेंगे ।" सात दिन बाद यह अपमान स्वतः ही बन्द हो गया । इसी प्रकार के अन्य कई प्रयत्नों के उपरान्त मागन्दीया ने अपने चाचा से एक विष-रहित सांप मंगवाया और उसे उदयन की वीणा के अन्दर रखकर छेद को फूलों से बन्द कर दिया । उदयन अपनी तीनों रानियों में से प्रत्येक के साथ एक एक सप्ताह व्यतीत किया करता था । जब उसकी सामावती के पास जाने की बारी आई तो मागन्दीया ने कहा कि मैंने एक बहुत बुरा स्वप्न देखा है और मुझे आपके प्राणों की आशंका है । यदि आप सामावती के प्रासाद में न जायें तो अच्छा है । उदयन उसकी बात न मान कर सामावती के प्रासाद में गया । मागन्दीया उसके पीछे पीछे गई और जब वह सो गया तब उसने सिरहाने रखी हुई वीणा में से फूलों का गुच्छा निकाल लिया । सांप फुफकार मार कर उदयन के तकिये पर बैठ गया । मागन्दीया ने चीखकर इस सारे षड्यन्त्र का आरोप सामावती पर लगाया । इस बार उदयन अविश्वास न कर सका । उसने सामावती और उसकी सहेलियों को एक पंक्ति में खड़ा कर अपना वह धनुष उठाया जिसकी प्रत्यंचा एक सहस्र व्यक्ति मिलकर भी नहीं चढ़ा सकते थे । तीर धनुष से छूटा तो किन्तु सामावती बच गई । सामावती को निरपराध मान कर उदयन ने उससे क्षमा मांगी और बुद्ध को नित्य राजप्रासाद में प्रवचन का आमंत्रण देने का निश्चय कर लिया । तथागत स्वयं तो नहीं आये परन्तु अपने स्थान पर आनन्द को भेज दिया ।

मागन्दीया ने एक बार और षड्यंत्र किया । उसने अपने चाचा की सहायता से सामावती के प्रासाद के सभी स्तम्भों को तेल के भीगे कपड़ों में आवृत कर उनमें आग लगा दी । सामावती और उसकी सहेलियों ने उस अग्नि में ध्यान लगाकर अर्हत्व प्राप्त किया । जब उदयन को

उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि एक माली ने उसे आम्र वृक्ष के नीचे पड़ा पाया था। वह इतनी सुन्दर थी कि उसके लिए वैशाली के समस्त राजकुमारों में आपस में संघर्ष होने लगे।[1] इसके परिणामस्वरूप उसे जनपदकल्याणी (गणिका) बना दिया गया। तथागत जब अन्तिम बार वैशाली गये तब अम्बपाली ने उनका आगमन जानकर वैशाली के निकट कोटिग्राम में ही उनके दर्शन किये। अम्बपाली गणिका को भगवान ने धार्मिक कथा से संदर्शित समुत्तेजित किया। तब अम्बपाली ने भगवान को भिक्षुसंघ सहित भोजन का निमन्त्रण दिया और भगवान ने मौन द्वारा स्वीकार किया। लिच्छवियों ने उसे इस भोज का मूल्य सौ हजार कार्षापण देना स्वीकार किया किन्तु अम्बपाली ने उन्हें भगवान का भात देना अस्वीकार कर दिया। 'अम्बपाली गणिका ने उस रात के बीतने पर अपने आराम में उत्तम खाद्य भोज्य तैयार कर भगवान को समय सूचित किया।'

"भगवान पूर्वाह्न समय पहिनकर चीवर पात्र ले भिक्षुसंघ के साथ जहाँ अम्बपाली का परोसने का स्थान था वहाँ गये। जाकर बिछे आसन पर बैठे। तब अम्बपाली गणिका भगवान के भोजन कर पात्र से हाथ खींच लेने पर नीचा आसन ले एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी अम्बपाली गणिका भगवान से बोली —

"भन्ते! मैं इस आराम को (जिसमें तथागत ठहरे थे) बुद्ध प्रमुख भिक्षुसंघ को देती हूँ।"

भगवान ने आराम को स्वीकार किया। तब भगवान अम्बपाली को धार्मिक कथा से समुत्तेजित कर आसन से उठकर चले गये।[2]

प्रसाद ने अम्बपाली के गणिका होने एवं उसके द्वारा बुद्ध को आराम समर्पित किये जाने को अपनी घटना का आधार बनाया है। किन्तु प्रसाद की आम्रपाली का सम्बन्ध एक ओर तो मालती से है और दूसरी ओर श्यामा वेश्या से। यह कल्पना है किन्तु आम्रपाली का जो चित्रण नाटक में हुआ है वह सर्वथा बौद्ध ग्रन्थों की आम्रपाली के विपरीत है। प्रसाद की आम्रपाली 'आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों से ढेले खाया करती है।" बौद्ध ग्रन्थों की आम्रपाली रूप गुण धन वैभव सभी से सम्पन्न है और कभी भी किसी भी

---

१ उसकी सुन्दरता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि अम्बपाली के आगमन की चर्चा सुनकर भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि वे अपने मान और अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखें अन्यथा अम्बपाली का प्रबल आकर्षण उन्हें विचलित कर देगा। (सुमंगल-विलासिनी) थेरीगाथा के दो गीतों में आनन्द ने उन भिक्षुओं को संकेत किया है जो अम्बपाली को देखते ही अपनी सुध खो बैठे।

२ दीर्घनिकाय २/१

काल में वह दरिद्रता की इस सीमा तक नहीं पहुँची है। नाटक में युद्ध से उसका मिलन और आत्मप्रकाशन का समर्पण ऐसी ही स्थिति में हुआ जो बौद्ध इतिहास से पूर्णतया भिन्न है। इसमें किसी भी नाटकीय सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हुई है। प्रसाद भूमिका में लिखते हैं— बौद्धों की श्यामावती वेश्या आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की श्यामा वेश्या का एक संगठन कुछ विचित्र तो होगा किन्तु चरित्र का विकास और कौतुक कल्पना ही इसका उद्देश्य है।" यहां इन बातों में से एक भी बात नहीं आने पाई है। प्रसाद ने इनका एकत्र संगठन न कर काल्पनिक चित्रण किया है और इस चित्रण के परिणामस्वरूप न केवल ज्ञात इतिहास पर ही आघात पहुँचा है वरन् कौतूहल की सृष्टि भी नहीं हो पाई है।

"चन्द्रगुप्त मौर्य" का कथानक

"अजातशत्रु" नाटक की तरह "चन्द्रगुप्त मौर्य" में कई स्वतन्त्र कथानकों का एक साथ सम्मिश्रण नहीं किया गया है। मूल कथानक नाटक के प्रधान पात्र चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य से सम्बन्ध रखता है। अन्य सभी गौण कथानक प्रधान कथानक के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। ये प्रधान कथानक के अंग होकर आते हैं और उसके प्रवाह को गतिशील बनाकर अन्ततः उसी में समाकर एकाकार हो जाते हैं। नाटकीय रचनातन्त्र की दृष्टि से नाटक 'चंद्रगुप्त' में भी कथानक सम्बन्धी दोष पर्याप्त मात्रा में है। नाटक के चतुर्थ अंक की कथा नाटक की मूल कथा से सम्बद्ध होते हुए भी नाटक से विलग की जा सकती है। यह कथा नाटक में स्वतन्त्र रूप से पीछे जोड़ी गई है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक लिखने से पूर्व 'कल्याणी परिणय' (१९१२) नामक एकांकी की रचना की थी। बाद में कल्याणी परिणय के कथानक को ही कुछ थोड़े से परिवर्तनों के साथ "चन्द्रगुप्त" का चतुर्थ अंक बना दिया गया। इससे कथानक का घटनात्मक विस्तार हो गया और नाटक में शिथिलता आ गई।

चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त के कथानक के लिए प्रसाद ने समस्त बिखरी हुई सामग्री का उपयोग किया है। बौद्ध-ग्रन्थों में अर्थकथा (अट्ठकथा) और महावंश जैन-ग्रन्थों में स्थविरावली और हेमचंद्र अभिधान पुराणों में वायुपुराण और विष्णुपुराण तथा ग्रीक इतिहासकारों में डायोडोरस सिक्यूलस जस्टिनस स्ट्राबो एवं प्लूटार्क का नामोल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त कथासरित्सागर अर्थशास्त्र कामन्दकीय नीतिसार, मुद्राराक्षस ढुंढि, मैक्समूलर, टाड और विंसेंटस्मिथ से भी पर्याप्त सामग्री ग्रहण की गई है।

चन्द्रगुप्त का कथानक

आचार्य चाणक्य गुरुदक्षिणा चुकाने के निमित्त तक्षशिला गुरुकुल में अर्थशास्त्र पढ़ाया करते थे। मगध-सेनापति मौर्य का पुत्र चन्द्रगुप्त और मालव-गणमुख्य का राजकुमार उनके शिष्यों में थे। एक दिन चाणक्य सिंहरण से गान्धार में यवनदूतों के आगमन पर विचार कर ही रहे थे कि भावी गान्धारराज आम्भीक वहां आ पहुंचा और उन पर कुचक्र का आरोप लगाया। वह सिंहरण को बन्दी बनाना ही चाहता था कि सहसा चंद्रगुप्त वहां आ पहुंचा। आम्भीक द्वन्द्वयुद्ध में चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ और अलका उसे वहां से हटा ले गई। चाणक्य ने चंद्रगुप्त और सिंहरण के सामने समस्त आर्यावर्त्त की एकता की घोषणा की। सिंहरण

के अनुरोध पर अलका ने उसे आश्वासन दिया कि वह भरसक अपने भाई के कुचक्र को सफल न होने देगी और यवन सेना सिन्धु को पार न कर सकेगी।

तक्षशिला से लौटकर चाणक्य मगध आ पहुँचा। वहाँ उसे ज्ञात हुआ कि नन्द ने शकटार को उसके सातों पुत्रों सहित बन्दीगृह में डाल दिया। चाणक्य के पिता चणक ने इस पर नन्द से बहुत बुरा भला कहा। नन्द ने चिढ़कर उसका गृहस्व छीन लिया और उसे निर्वासित कर दिया। शकटार के सभी पुत्र बन्दीगृह में ही तड़प तड़प कर मर गए और उसके शैशव की सहचरी शकटार पुत्री बौद्ध विहार में चली गई पर वहाँ भी वह न रह सकी और अभिनय करने लगी। वसंतोत्सव के अवसर पर नन्द ने वक्रनास के भ्रातृपुत्र राक्षस को अपने अमात्यपद में नियुक्त कर दिया और उसकी प्रेयसी सुवासिनी को अभिनयशाला की रानी बना दिया। अपनी पैतृक सम्पत्ति पुनः प्राप्त करने का निश्चय करके चाणक्य नंद की सभा में गया।

चन्द्रगुप्त आदि तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक नंद की सभा में राजदर्शन के लिए आये हुए थे। नंद ने अमात्य वररुचि से उनकी परीक्षा लेने को कहा। अपने गुरुजनों का अपमान समझकर वररुचि ने अपने ही गुरुकुल के स्नातकों की परीक्षा लेना अस्वीकार कर दिया। इसी अवसर पर प्रसंगवश चाणक्य ने उत्तरापथ की राजनीतिक स्थिति की चर्चा की और यवनों के आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति का बोध कराकर प्रार्थना की कि मगध गान्धार-युद्ध में अवश्य पर्वतेश्वर की सहायता करे। किन्तु पर्वतेश्वर ने मगध की कल्याणी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। अतः इस प्रस्ताव से नंद क्रुद्ध हो उठा। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह विद्रोही ब्राह्मण चणक का पुत्र है तो उसे शिखा पकड़कर बाहर निकाल दिया। चाणक्य ने नन्दकुल के नाश करने तक अपनी शिखा न बाँधने का प्रण किया। इस पर चाणक्य बन्दी कर लिया गया। चाणक्य के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का चन्द्रगुप्त ने विरोध किया तो उसे भी मगध से निर्वासित कर दिया गया।

चन्द्रगुप्त ने एक बार अहेरी चीते से राजकुमारी कल्याणी की रक्षा की थी फलस्वरूप कल्याणी उसे चाहने लगी थी। उसने नन्द से चन्द्रगुप्त को क्षमा करने की प्रार्थना की। पर क्रोधांध नन्द ने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। बन्दीगृह में राक्षस ने चाणक्य के सामने प्रस्ताव रखा कि यदि वह मगध का गुप्त प्रणिधि बनकर तक्षशिला जाना स्वीकार करे तो उसे बन्दीगृह से मुक्त किया जा सकता है। चाणक्य ने पर्वतेश्वर के विनाश के लिए तक्षशिला जाना अस्वीकार कर दिया। ठीक इसी अवसर पर चन्द्रगुप्त चाणक्य को छुड़ा ले गया।

चाणक्य पर्वतेश्वर की सभा में गया और उसे मगध पर आक्रमण कर चन्द्रगुप्त को वहाँ का सम्राट बनाने के लिए प्रेरित किया पर चन्द्रगुप्त

कुसुमोत्सव युक्त मानकर उसने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। चाणक्य अपने चाणक्यशास्त्र (सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव) के द्वारा उसका संस्कार करना चाहता था पर पर्वतेश्वर ने ऐसा करना केवल समर्थ ऋषियों का अधिकार बताकर चाणक्य का तिरस्कार कर अपनी सीमा से बाहर निकाल दिया। एक बार फिर चाणक्य में प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।

उधर गान्धार में मालविका सद्भाव के सेतु का चित्र अलका को दिखा ही रही थी कि यवन सेनापति सेल्यूकस वहाँ पहुँच गया और मानचित्र मांगने लगा। सिंहरण भी वहाँ आ पहुँचा और मानचित्र लेकर मालविका के साथ मालव की ओर चला गया। अलका को बन्दी बनाकर सिल्यूकस गान्धारराज के पास ले आया। गान्धारराज ने आंभीक को समझाया कि ऐसा ही उचित है। यवन मैत्री से मुँह मोड़ पर वह देशद्रोह में इतना आगे बढ़ चुका था कि अब लौटना उसके लिए संभव न था। पर्वतेश्वर ने भी अपनी कन्या का विवाह कायर आंभीक से करना अस्वीकार कर दिया था। उससे बदला लेने के लिए उसे यवनों की सहायता अपेक्षित थी, इसलिए उसने अपने पिता की आज्ञा नहीं मानी। अलका ने भाई से विद्रोह कर दिया और आर्यावर्त की रक्षा के लिए गान्धार छोड़कर चल दी।

सिन्धु तट पर मनीषी दाण्ड्यायन का आश्रम था। सिकन्दर का मार्गदर्शन लेकर एनिसीक्रीटीज उनके पास पहुँचा। जब दाण्ड्यायन ने लोभ, सम्मान या वध के भय से भी सिकन्दर के पास जाना अस्वीकार कर दिया तब उनका आशी-र्वाद लेने सिकन्दर स्वयं वहाँ पहुँच गया। इसी बीच एक ओर से अलका और दूसरी ओर से चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त उस आश्रम में आ पहुँचे। सिकन्दर दाण्ड्यायन से "भारत विजय" का आशीर्वाद चाहता था। दाण्ड्यायन ने 'चन्द्रगुप्त भारत का भावी सम्राट है" यह भविष्यवाणी करके उसे इस प्रकार का आशीर्वाद देना अस्वीकार कर दिया। सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस ने गान्धार की ओर आते हुए कर्नेलिया सहित चन्द्रगुप्त की व्याघ्र के मुख से रक्षा की। उसी ने तेजस्वी राजकुमार चन्द्रगुप्त का परिचय सिकन्दर से कराया। सिकन्दर ने उसे अपने शिविर में आमंत्रित किया। वहीं चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया में प्रेम का सूत्रपात हुआ।

यवन-शिविर में भारतीयता के रंग में रंगी कार्नेलिया के प्रति फिलिप्स ने अपना प्रेम प्रदर्शित किया। कार्नेलिया के विरोध करने पर फिलिप्स बल प्रयोग करना ही चाहता था कि चन्द्रगुप्त ने प्रवेश कर उसकी गर्दन पकड़ ली। इस पर फिलिप्स ने सिकन्दर के सामने चंद्रगुप्त और सिल्यूकस पर सिकन्दर के प्रति षड्यंत्र का अभियोग लगाया। सिकन्दर ने पहले तो चंद्रगुप्त को सैन्य-सहायता देकर मगध का सम्राट बनाने का लोभ दिया पर जब चंद्रगुप्त ने लुटेरे यवनों की सहायता

ने मगध का उद्धार करना अस्वीकार कर दिया तो सिकंदर ने उस पर गुप्तचर होने का आरोप लगाकर उसे बन्दी करना चाहा। चंद्रगुप्त वीरता से निकल भागा।

सिन्धु के तट पर चंद्रगुप्त सिंहरण और अलका वेश बदले हुए पर्वतेश्वर के शिविर में खेल दिखाने गये और खेल के बीच में ही चंद्रगुप्त ने पर्वतेश्वर को यवनों के विरुद्ध पार करने की सूचना दे दी। वहाँ पुरुष वेश में कल्याणी मगध के गुल्म का नेतृत्व कर पर्वतेश्वर की सहायता के लिये आई हुई थी। युद्ध में पर्वतेश्वर की सहायता कर उसे नीचा दिखाना उसको अभीष्ट था। युद्ध हुआ और उसमें पर्वतेश्वर की पराजय हुई। बन्दी पर्वतेश्वर के रणकौशल पर मुग्ध होकर सिकन्दर ने उसके प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाया और पर्वतेश्वर ने चन्द्रगुप्त और सिंहरण के विरोध करने पर भी संधि करली। आंभीक ने घायल सिंहरण और अलका को बन्दी कर लिया। कल्याणी ने अपना शिरस्त्राण फेंक दिया और पर्वतेश्वर को लगा कि उसे निकृष्ट पराजय मिला।

बन्दिनी अलका पर पर्वतेश्वर मुग्ध हो गया। अलका ने उससे इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार कर लिया कि सिंहरण को मुक्त कर दिया जाय। पर्वतेश्वर ने सिंहरण को मुक्त कर दिया। मालवों के स्कंधावार में क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित युद्ध-परिषद् ने चन्द्रगुप्त को ही अपनी सम्मिलित सेना का भी सेनापति मान लिया। पर्वतेश्वर मालवयुद्ध में सिकन्दर की सहायता के लिए मालव आ पहुँचा। उसके साथ अलका भी वहाँ आयी थी, अवसर पाकर वह बन्दिनी के रूप में मालव नौका द्वारा सिंहरण के पास आ गई। सिकन्दर ने सन्देश भेजा कि मालव नेता युद्ध से भेंट करें और मेरी यवन-यात्रा का शुभागम करें। सिंहरण ने रणभूमि में भेंट करने का आश्वासन दिया और युद्ध की घोषणा कर दी गई। इस पर सिकन्दर ने स्वयं मार्ग से मालवों पर आक्रमण कर दिया। दुर्ग में अलका के तीर से दो यवन मारे गये और स्वयं सिकन्दर सिंहरण की तलवार से घायल होकर गिर पड़ा। पर्वतेश्वर को दी गई क्षमा के बदले सिकन्दर को भी जीवित छोड़कर शिविर में भेज दिया गया। यवनों और मालवों में संधि हो गई। स्वयं सिकन्दर ने अलका सिंहरण के विवाह का सम्पादन किया। यवन सेना लौट गई और उसके साथ ही चन्द्रगुप्त की स्मृति और भारत के प्रति अटल अनुराग लेकर कार्नेलिया भी चली गई। सब ओर से निराश पर्वतेश्वर ने आत्महत्या का प्रयास किया पर चाणक्य ने उसे रोक कर पुनः कर्म क्षेत्र में प्रेरित किया। मगध जाने के पूर्व फिलिप्स ने चन्द्रगुप्त को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा और उस द्वन्द्व युद्ध में फिलिप्स मारा गया।

चाणक्य पर्वतेश्वर और उसकी सेना लेकर मगध की ओर चल दिया। वणिकों के रूप में सारी सेना कुसुमपुर में एकत्र हो गई। चाणक्य ने मालविका के हाथ राक्षस की नामांकित मुद्रा के साथ एक कपट पत्र नन्द के पास भेज दिया।

सर्वार्थसिद्धि मन्त्र ने सेनापति मौर्य को बंदी कर लिया और उसकी स्त्री के केश पकड़वाये । मालविका और वररुचि को भी उसने बंदी कर लिया । सुवासिनी के पत्र को पढ़कर विवाह की वेदी से राक्षस और सुवासिनी को भी पकड़ मगवाया गया । जनता में विद्रोह फैल गया । इसी बीच कई वर्षों से बंदी शकटार सुरंग खोदकर बाहर निकला । उसी द्वार से अन्य सभी बंदी बाहर निकल आए । जनता के साथ मिलकर उन्होंने रंगशाला को घेर लिया । राजपक्ष के लोग मारे गये । नंद ने क्षमा माँगी किन्तु शकटार की प्रतिहिंसा जाग पड़ी थी । उसने नंद का वध कर डाला । परिषद् की आयोजना हुई और चंद्रगुप्त सम्राट घोषित हुआ ।

महत्वाकांक्षी पर्वतेश्वर ने कल्याणी के साथ बलात्कार करना चाहा पर कल्याणी अपने पिता के विरोधी चंद्रगुप्त से प्रेम करती थी । उसने पर्वतेश्वर का वध कर आत्महत्या कर ली । इसके उपरांत चंद्रगुप्त दक्षिण विजय के लिए चल दिया ।

शकटार को जीवित पाकर सुवासिनी बिना उसकी अनुमति के राक्षस से विवाह नहीं करना चाहती थी । यह समझकर कि शैशव के साथी चाणक्य के प्रति वह झुक गई है राक्षस पुनः चाणक्य से टक्कर लेने लगा । चंद्रगुप्त दक्षिण विजय कर लौटा पर चाणक्य ने उसकी इच्छा के विपरीत विजयोत्सव न मनाने की आज्ञा दे दी । राक्षस ने इस घटना द्वारा जनता में चाणक्य के प्रति विद्रोह की भावना भर दी । चंद्रगुप्त चाणक्य से रुष्ट हो गया । अपमानित चाणक्य वहाँ से चल दिया । सी रात चंद्रगुप्त का परिच्छद पहिन कर सोई हुई मालविका की हत्या हो गई । षड्यंत्रकारी पकड़े गये पर उनका नेता राक्षस भाग गया और ग्रीक शिविर में कार्नेलिया को पढ़ाने लगा ।

चाणक्य को सिन्धु तट पर सिल्यूकस के अभियान के समाचार मिले । वह समाचार लेकर उसने कात्यायन को मगध भेज दिया । सिंहरण की पत्नी अलका सिल्यूकस के अभियान के विरुद्ध पुनः तक्षशिला के नागरिकों को संगठित करने लगी । आम्भीक अपना कलंक धोने के लिए चाणक्य के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की कि अब तक्षशिला राज्य के शासक सिंहरण और अलका होंगे । वह स्वयं एक सैनिक बनकर युद्ध करेगा ।

सुवासिनी के प्रति प्रेम होते हुए भी चाणक्य ने उसे राक्षस को उचित मार्ग पर लाने के लिए ग्रीक शिविर में भेज दिया । सुवासिनी बन्दिनी होकर ग्रीक शिविर गई और वहाँ कार्नेलिया की सखी बनकर चन्द्रगुप्त के प्रति उसके प्रेम में वृद्धि करने लगी ।

युद्ध आरम्भ हो गया । सम्राट चन्द्रगुप्त ने अकेले ही प्रचण्ड विक्रम से आक्रमण कर दिया । यवन सेना थर्रा उठी । सिंहरण अपनी सेना सहित सहायता के लिए

आ पहुँचा। चाणक्य चुपचाप युद्ध का संचालन करता रहा। आंबीक सिल्यूकस से युद्ध करते हुए मारा गया। ग्रीकों की पराजय हुई। पराजय का समाचार सुनकर कार्नेलिया आत्महत्या करने को जाती थी कि सिल्यूकस सहित चन्द्रगुप्त वहाँ पहुँच गया। उसने सिल्यूकस को मुक्त कर दिया। चाणक्य ने चारों ओर से ग्रीक शिविर के मार्ग बन्द कर दिये। उधर सिल्यूकस को यह सूचना मिली कि यवन-साम्राज्य के पश्चिमी भाग में ऐंटिगोनस ने आक्रमण कर दिया है। चाणक्य ने अवसर जानकर सन्धि की शर्तें रख दीं जिसमें पर्वत माला तक का ग्रीक प्रदेश आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा बन जाय और चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया का परिणय हो जाय। हार कर सिल्यूकस को शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। उसे यह ज्ञात हो गया कि कार्नेलिया चन्द्रगुप्त को प्यार करती है।

सुवासिनी युद्ध की भाग दौड़ में राक्षस को शिविर से निकाल कर दाण्ड्यायन के आश्रम में ले गई। वहाँ चाणक्य निष्काम भाव से भगवान सविता की आराधना कर रहा था। सहसा चाणक्य से कुपित मौर्य सेनापति ने ध्यानावस्थित चाणक्य का वध करने का प्रयास किया। सुवासिनी ने दौड़ कर उसका हाथ पकड़ लिया। इसी समय अलका सिंहरण और अपनी माँ के साथ चन्द्रगुप्त भी वहाँ आ गया। चन्द्रगुप्त ने पिता को दण्ड देने की व्यवस्था की। पर चाणक्य ने उसे क्षमा कर दिया। उसने शकटार के भावी जामाता राक्षस के लिए मगध साम्राज्य का मन्त्रित्व भी छोड़ दिया। अपने पुत्र को आर्यावर्त का सम्राट देखकर उसने मौर्य सेनापति को वानप्रस्थ ग्रहण करने की आज्ञा दी।

राज सभा में सन्धि हुई। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का हाथ मिलाया गया। यह तय हुआ कि ऐंटिगोनस से युद्ध में भारत की गजसेना सिल्यूकस की सहायता करेगी। चाणक्य ने सबको आशीर्वाद दिया और मौर्य सेनापति का हाथ पकड़ कर वैराग्य के अन्तिम लक्ष्य की ओर चल दिया।

नाटक की पहली घटना का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में चाणक्य को तक्षशिला का ब्राह्मण कहा गया है। कोई उसको कौण्डिन्य का ब्राह्मण मानता है और कोई पाटलिपुत्र का। डा० वासुदेव शरण लिखते हैं

इतिहास के अनुसार

कि चाणक्य तक्षशिला का स्नातक था।[1] सिंहली महावंश के अनुसार वह अपनी विद्वता के लिए तक्षशिला भर में प्रसिद्ध था और अपने यश को फैलाने के उद्देश्य से पाटलिपुत्र आया।[2] अतः चाणक्य का तक्षशिला में अध्यापक होना सम्भाव्य है। इस की

---

१ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० २०

२ अट्ठकथासि टीका— (आथ पपक्कन्तो पुप्फपुरम् गन्त्वा)

घटना में चन्द्रगुप्त, चाणक्य और आम्भीक ऐतिहासिक पात्र हैं और सिंहरण एवं अलका काल्पनिक। अतः सम्पूर्ण घटना ऐतिहासिक नहीं हो सकती। इतिहास से न तो यही ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से तक्षशिला में शिक्षा पाई थी और न यही कि आम्भी से कभी उसका संघर्ष हुआ था। इसमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना केवल इतनी ही है कि सिकन्दर ने जब कारमेनिया को पार किया तब आंभारराज उसके स्वागत के लिए वहां उपस्थित थे और उन्होंने महाराज पुरु के द्वेष से सिकन्दर से सन्धि कर ली थी।[1] इसी घटना को लेकर प्रथम दृश्य में एक काल्पनिक संघर्ष की सृष्टि की गई है। चाणक्य और आम्भीक का वाद-विवाद भी काल्पनिक है। सिंहरण जैसे मालव-गणमुख्य के कुमारों का तक्षशिला का विद्यार्थी होना सम्भव है, क्योंकि तक्षशिला में समस्त भारत के दूर दूर स्थित प्रदेशों के राज-पुत्रों से लेकर साधारण विद्यार्थी तक शिक्षा-प्राप्ति के लिए आते थे।[2] देशद्रोही आम्भीक के प्रति सिंहरण का रोष भी ऐतिहासिक सम्भाव्यता के अनुरोध की रक्षा ही करता है। ग्रीक इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि मालवों (मल्लोई) ने सिकन्दर से मैत्री न कर उससे भयानक युद्ध किया। ऐसे ही युद्ध कठ जाति से लेकर पाताल नगर तक के प्रजातन्त्र राज्यों ने किये। इन गणों के एक एक व्यक्ति ने अपने प्राणों की आहुति दे दी किन्तु यवनों की पराधीनता स्वीकार नहीं की।[3] अतः मालव सिंहरण का कायर आम्भीक के प्रति आक्रोश अत्यन्त ही स्वाभाविक सिद्ध होता है। अलका का आम्भीक को गांधार रक्षा का वचन देना तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति के प्रतिकूल नहीं। प्राय इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि कठ जाति की बालाओं ने ग्रीकों के विरुद्ध डटकर युद्ध किया।[4] अतः यदि गांधार में भी अलका जैसी वीरांगनाएं हों तो कोई आश्चर्य नहीं। सम्पूर्ण घटना सम्भाव्य होते हुए भी काल्पनिक है।

दूसरा दृश्य मगध के वसन्तोत्सव का है। इसमें नन्द ऐतिहासिक पात्र है, पर्याप्त से अधिक राक्षस को भी हम ऐतिहासिक मान सकते हैं। सुवासिनी तथा अन्य सभी पात्र काल्पनिक हैं। सम्पूर्ण दृश्य की योजना प्रसाद के मानस में हुई है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि "वसन्तोत्सव" पर्व को अत्यन्त समारोह और उल्लास से मनाना प्राचीन जन-जीवन का ऐतिहासिक सत्य है।[5] इसी दृश्य की

१ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ५४
२ "देखिये शिक्षा और कला"
३ कर्टियस बुक ९। अ० ४ मैक्रिण्डल २११
—एनाबेसिस आर्व एलेक्जेण्डर पृ० २५४
४ "पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियण्ट इण्डिया" (रे० चौधरी) पृ० १२०
५. देखिये "उत्सव"

घटना में अमात्य वक्रनास के अनुरूप राक्षस को नन्द अपने अमात्यवर्ग में नियुक्त करता है। विष्णुपुराण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि वक्रनास सर्वार्थसिद्धि का ब्राह्मण मन्त्री था।[1] किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद ने मुद्राराक्षस के "राक्षस" का विष्णुपुराण के वक्रनास से सम्बन्ध कैसे जोड़ लिया। राक्षस का इसी वसन्तोत्सव के अवसर पर नन्द के अमात्यवर्ग में ग्रहण किया जाना काल्पनिक है। मुद्राराक्षस की घटनाएं भी इसके बहुत बाद प्रारम्भ होती हैं। राक्षस स्वयं भी कला कुशल था एवं उसने भी नन्द के उद्यान में अभिनय किया इसका कोई प्रमाण नहीं।

चाणक्य और प्रतिवेशी के संवाद में दो महत्वपूर्ण संकेत दिये गये हैं। मगध का तत्कालीन शासक नन्द महापद्म का जारज पुत्र था और उसने किसी अपराध पर अपने मन्त्री शकटार को बन्दी कर लिया था। इसी का स्पष्ट और मुक्त कंठ से विरोध करने के कारण चाणक्य के पिता का ब्राह्मण चणक विहार में रहकर नन्द ने उसे मगध से निर्वासित कर दिया। प्रसाद ने अन्य सभी इतिहासकारों के मत के अनुसार ही नवें और अन्तिम नन्द का नाम धननन्द लिखा है।[2] यहीं विष्णु पुराण से लिया गया एक उद्धरण भी विचारणीय है—

'ततो महानन्दी। इत्येते शैशुनागा भूपालास्त्रिवर्षशतानि द्विषष्ट्यधिकानि भविष्यन्ति। महानन्दिनस्ततः शूद्रागर्भोद्भवोऽति-लुब्धोऽतिबलो महापद्मनामानन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रियान्तकारी भविष्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूपालाः भविष्यन्ति।[3]

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो है कि महानन्द का शूद्रा के गर्भ से एक पुत्र महापद्म उत्पन्न हुआ किन्तु अन्तिम सम्राट धननन्द महापद्म का पुत्र होते हुए भी उसका जारज पुत्र नहीं था। भूमिका में इतना विस्तृत विवेचन करने पर भी समझ में नहीं आता कि प्रसाद ने किस आधार पर अन्तिम नन्द को महापद्म का जारज पुत्र लिखा है। पुराणों के अनुसार तो महानन्द शूद्रोत्पन्न नहीं था। सम्भवतः इसका आधार ग्रीक इतिहास है जिसके अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध का शासक हीन कुलोत्पन्न था।[4] हीन कुलोत्पन्न से यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि नन्द शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुये थे। कथासरित्सागर के अनुसार मगध का अन्तिम शासक योगनन्द का पुत्र हिरण्यगुप्त था। शकटार ने इसी का वध किया

---

1 मुद्राराक्षस (अनुवाद) (हरिश्चन्द्र) भूमिका पृ० ७०
2 चन्द्र० (भूमिका) पृष्ठ २१
3 विष्णुपुराण—१८।२१ (चंद्र भूमिका) पृष्ठ २१
4 लाइब्स "आफ आफ ऐलैक्जेण्डर—प्लूटार्क

था।[1] नन्दों के नाम के सम्बन्ध में भी पर्याप्त भ्रम है किन्तु स्वयं प्रसाद की मान्यताओं के आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो नन्द 'चन्द्रगुप्त' नाटक का पात्र है वह महानन्द अथवा महापद्मनन्द तो हो नहीं सकता। कर्टियस और डायोडोरस ने लिखा है कि तत्कालीन शासक नन्द की माता का एक नापित से सम्बन्ध हो गया। उसने सम्राट को मरवा कर सारा शासन अपने हाथ में लिया। तदुपरांत उसके द्वारा रानी से उत्पन्न पुत्र ने राज्य सभाला। यही पुत्र अन्तिम नन्द था।[2] नाटक में प्रसाद की मान्यता स्पष्ट है। चाणक्य को निर्वासित करने की घटना कल्पित है इस घटना का सृजन प्रसाद ने दो कारणों से किया है एक तो चाणक्य को मगध का निवासी सिद्ध करने के उद्देश्य से और दूसरे नन्द के प्रति चाणक्य के क्रोध को एक ठोस आधार देने के लिए। नन्द ने शकटार को बन्दी किया था। कथासरित्सागर के अनुसार शकटार ने योगनन्द को पहिचान लिया था अतः व्याडि के परामर्श से योगनन्द ने शकटार को बंदी बनाकर अन्धकूप में डाल दिया साथ ही उसके सौ पुत्रों को भी बंदी कर लिया गया।[3] नन्द को बौद्ध बनाने में प्रसाद ने अपनी कल्पना का आश्रय लिया है। बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों की घटना का अंग है। यह भी माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में बौद्ध धर्म अपनी पूर्ण शक्ति से जीवित रहा होगा। नन्द बौद्ध था इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं। इतिहासकार बील लिखता है कि एक प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के समीप बने हुए पाँचों स्तूप अशोक ने नहीं वरन् नंद राजा ने बनाये थे।[4] सम्भव है प्रसाद ने इसी आधार पर नंद को बौद्ध मतावलम्बी बनाया है। ग्रियर्सन के मतानुसार भी नन्द सम्भवतः बौद्ध या जैन थे। सुवासिनी और राक्षस के प्रणय की कल्पना प्रसाद की अपनी है। सुवासिनी नाम की शकटार की किसी कन्या का नाम नहीं मिलता। शकटार के सभी पुत्रों को अंधकूप में डाल दिया गया था अतः चाणक्य-शकटार और चाणक्य-सुवासिनी की मित्रता भी काल्पनिक है। प्रथम अंक चौथे दृश्य की पहली घटना काल्पनिक है। उक्त घटना की योजना चाणक्य और राक्षस के बीच भावी संघर्ष की सृष्टि के लिए एवं चाणक्य के चरित्र की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए की गई है। इसी दृश्य में नन्द-पुत्री कल्याणी का उद्यान में आना ब्रह्मचारियों द्वारा नन्द के शासन की निन्दा एवं राजा

१ कथासरित्सागर १। पंचम तरंग
२ "ऐग्रामे" कर्टियस (बुक ९। चैप्टर २) "चीहार्ये—डायोडोरस (बुक १७।नं० ९३)
३ कथासरित्सागर १। पंचम तरंग
४ रेकर्ड्स आफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड—(बील) २।९४

के पहरी बीते से चन्द्रगुप्त द्वारा कल्याणी की रक्षा, ये सभी घटनायें काल्पनिक हैं। नन्द का शासन अत्यन्त क्रूर था। ग्रीक इतिहासकारों ने लिखा है कि एक भारतीय सेनापति "अग्रमेस" ने ग्रीकों को बताया कि नन्द नीच-जन्मा होने के साथ-साथ क्रूर भी था और महाराज पुरु ने उसकी इस बात का समर्थन भी किया था।[1] नन्द की पुत्री चन्द्रगुप्त के प्रति आसक्त थी और संभवतः चंद्रगुप्त ने नंद की उक्त कन्या से विवाह भी किया था। यह घटना उस समय की है जब विजयी चन्द्रगुप्त का रथ पाटलिपुत्र में प्रवेश कर रहा था और स्वर्ण और मुद्राओं से भरे हुए पुष्पित नन्द का रथ नगर से बाहर जा रहा था।[2] प्रसाद ने इस प्रेम का क्रमशः विकास कर घटना में नाटकीय संभाव्यता ला दी है। इसी दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याणी बचपन से ही चंद्रगुप्त को प्यार करती थी।

नन्द की राजसभा में चाणक्य का अपमान किया गया। नन्द के रोष में एक आहुति इस कारण भी पड़ी कि पर्वतेश्वर ने उसकी कन्या से परिणय करना अस्वीकार कर दिया। यह सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है। पर्वतेश्वर और मगध सम्राट् के बीच किसी प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध की चर्चा इतिहास में नहीं हुई है। चाणक्य का अपमान ऐतिहासिक घटना तो है किन्तु इस रूप में नहीं। "चाणक्य कथा" से ज्ञात होता है कि पिंजरे में बन्द सिंह को गला देने के उपरान्त चन्द्रगुप्त नन्द की घृणा और ईर्ष्या का पात्र हो गया। अतः उसने नन्दों का विनाश करने का निश्चय किया। एक दिन अपने पितरों के श्राद्ध के अवसर पर नन्द ने चन्द्रगुप्त को ब्राह्मणों को निमन्त्रित करने की आज्ञा दी। मौर्य सेनापति के पुत्र चन्द्रगुप्त को मार्ग में मूँज की जड़ों को उखाड़ कर उन्हें भस्म करने में लगा हुआ एक ब्राह्मण मिल गया। वह मूँज को इसलिए उखाड़ रहा था कि उस घास से उसके पाँव छिल गये थे। बातचीत में उसके दृढ़ निश्चय और राजनीतिक चातुरी का परिचय पाकर चन्द्रगुप्त ने उसे श्राद्ध के लिए निमन्त्रित कर दिया। नन्द की राजसभा में जाकर चाणक्य सबसे विद्वान् और योग्य ब्राह्मण के लिए सुरक्षित स्थान में जाकर बैठ गया। नन्द ने उसका परिचय प्राप्त किए बिना ही उसे सेवकों द्वारा शिखा पकड़ कर निकलवा दिया। क्रुद्ध चाणक्य ने प्रतिज्ञा की कि वह नन्दों का विनाश कर एक हीन कुल के व्यक्ति को सिंहासन पर बिठायेगा। अन्त में उसने चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाने का निश्चय किया।[3] कथासरित्सागर के अनुसार भी कथा लगभग इसी प्रकार की है। अन्तर

१ कर्टियस—बुक ९। चैप्टर २
डायडोरस—बुक १७। चैप्टर ९३
२ हिस्ट्री आफ इण्डिया (शाह) पृ० ८८
रेकर्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड (बील) वोल्यूम २ पृ० ११
३ चाणक्य कथा—ऐज टोल्ड इन "[illegible]" (नारायणचन्द्र बन्द्योपाध्याय) पृ० ९

केवल इतना है कि यहाँ शकटार चाणक्य को कुशा उखाड़ते हुए देखता है और स्वयं अपने और अपने पुत्रों पर किए गये अत्याचारों का बदला लेने के लिए चाणक्य को श्राद्ध के लिए निमन्त्रित करता है। चाणक्य राजसभा में आकर सर्वोच्च आसन पर बैठ जाता है किन्तु नन्द सुबंधु के पक्ष में निर्णय दे देता है चाणक्य सभा से जाते जाते यह घोषणा करता है कि वह सात दिनों में नन्द का वध करेगा और तब तक अपनी शिखा नहीं बाँधेगा। शकटार के संरक्षण में वह तन्त्र एवं कृत्या द्वारा नन्द का वध कर देता है।[1]

प्रसाद ने मूल घटना कथासरित्सागर से न लेकर सम्भवतः "चाणक्य कथा" से ली है क्योंकि शिखा पकड़कर सभा से निकाले जाने की चर्चा उसी में हुई है। किन्तु इस घटना के कारण में अन्तर कर दिया गया है। चाणक्य श्राद्ध के लिए राजसभा में नहीं जाता वह अपना ब्रह्मस्व प्राप्त करने के लिए नन्द के पास जाता है। उसके अपमान का कारण यह है कि वह राजनीतिक स्थिति को खरे-खरे शब्दों में प्रकट कर बौद्ध धर्म का अपमान करता है। यह परिवर्तन इतिहास के अनुकूल न होते हुए भी एक ओर तो चाणक्य की राजनीतिक प्रतिभा का द्योतक है और दूसरी ओर घटना-क्रम में अधिक गम्भीरता एवं सकारण संघर्ष का सृजन करता है अतः वांछनीय है। छठे दृश्य में मालविका अलका और सिंहरण से संबद्ध सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है। ग्रीक इतिहास से केवल इतना ज्ञात होता है कि पंचनद के सम्राट् पौरव की ईर्ष्या के कारण आम्भी ने सिकन्दर से मैत्री कर ली थी, उसी के परिणाम स्वरूप ग्रीक सेना ने ओहिंद (उद्भाण्ड) पर नौकाओं से बने पुल को पार किया था।[2] ओहिंद में ही आम्भी ने पुल के रास्तों के विरोध में सिकन्दर का स्वागत किया। प्रसाद के अनुसार उद्भाण्ड पर सिकन्दर और आंभीक ने पुल बनवाया। इतिहास से ऐसा प्रतीत होता है कि ओहिंद व्यापारिक केन्द्र भी था और उत्तरापथ यहीं से जाता था। सिन्धु में जल बढ़ जाने पर यहीं उसे नावों के पुल द्वारा पार किया जाता था।[3] अतः इतना तो स्पष्ट है कि ओहिंद पर पुल पूर्व से ही था। संभव है उस पुल को सिकन्दर ने अधिक सुदृढ़ बनाया हो किंतु अलका द्वारा उसका मानचित्र बनवाना और उसके निमित्त सिंहरण और सिल्यूकस का संघर्ष तथा अलका का बंदी बनाया जाना ये सब घटनाएं काल्पनिक हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में राजनीतिक सांस्कृतिक संघर्ष और उसके प्रभाव से उत्पन्न सामंजस्य की प्रधानता है अतः ये सभी काल्पनिक योजनाएं इस राजनीतिक संघर्ष के सृजन में सहायक होकर आती हैं।

---

(१) कथासरित्सागर—१। पंचम तरंग
(२) कार्टियस ८।१२
(३) कार्टियस ८।१२

चाणक्य का बंदी बनाया जाना और चंद्रगुप्त द्वारा उसकी मुक्ति दोनों घटनाएं काल्पनिक हैं किंतु इन घटनाओं का एक स्पष्ट उद्देश्य चाणक्य के क्रोध में आहुति देकर उसके स्वातंत्र्य-प्रिय विचारों को स्पष्ट करना है। चाणक्य तक्षशिला इसलिए नहीं जाना चाहता कि वह पर्वतेश्वर का अनिष्ट करे। इससे चाणक्य के प्रभाव से स्वतंत्र चंद्रगुप्त की वीरता और चातुरी पर भी प्रकाश पड़ता है।

पांचवें दृश्य में अलका, गांधारराज और आम्भीक का संवाद काल्पनिक है किंतु इससे उन भारतीय नारियों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है जिन्होंने सिकंदर की सेना के विरुद्ध पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर लोहा लिया था। आम्भीक और पर्वतेश्वर के बीच हुए एक ऐतिहासिक वैवाहिक सम्बन्ध की भूमिका भी यहीं रची गई है। यह कहना तो कठिन है कि पर्वतेश्वर ने आम्भीक से अपनी पुत्री का विवाह करना अस्वीकार किया था या नहीं। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सिकंदर ने पुरु-विजय के उपरांत गान्धार और पुरु राज्य को वैवाहिक सम्बंध में अवश्य बांध लिया था।[1] इस ऐतिहासिक घटना की एक सुन्दर काल्पनिक कार्य कारण परम्परा का यहां विकास हुआ है। यह भी कहना कठिन है कि इतिहास में आम्भीक ने कभी यह विचार भी किया हो कि सिकंदर का स्वागत न किया जाय किंतु स्वतंत्रता प्रिय भारतीय चरित्र की यह संभाव्यता तो माननी ही पड़ेगी।

चंद्रगुप्त चाणक्य का मनोनीत था। शूद्र न मानते हुए भी चाणक्य उसे आर्य क्रियाओं से च्युत क्षत्रिय (वृषल) मानता है। 'वृषल' शब्द का प्रयोग "मुद्राराक्षस" में हुआ है और उसका यह अर्थ मानव-धर्मशास्त्र के आधार पर किया गया है। कुछ भी हो बौद्ध-जैन दोनों प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त मौर्यवंशी क्षत्रिय था।[2] चाणक्य ने उसको मूर्धाभिषिक्त करने के लिए पर्वतेश्वर की सहायता ली थी या नहीं इसमें संदेह है किंतु "मुद्राराक्षस' से यह अवश्य ज्ञात होता है कि चाणक्य ने कूटनीति से पर्वतक की सहायता प्राप्त कर मगध पर विजय प्राप्त की और अंत में विषकन्या के प्रयोग से उसका वध कर चंद्रगुप्त के लिए राज्य निष्कंटक कर दिया। यह कहना कठिन है कि ग्रीकों का पोरस और

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (स्मिथ) पृ० ९१

(२) परिशिष्ट पर्व—वोल्यूम १ (पृ० १६६) फुटनोट १९
जैनिज्म इन इंडिया—(सी० पी० शाह) पृ० ११२
दिव्यावदान—(कावेल एण्ड नील) पृ० ३७०
रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड (बील)—वोल्यूम २ । पृ० १३

मुद्राराक्षस का पर्वतक एक ही व्यक्ति हैं। किंतु प्रसाद ने पर्वतेश्वर सम्बंधी घटनाओं के लिए दोनों व्यक्तियों को मिला दिया है। नाटक की योजना का आधार होते हुए भी घटना का यह रूप निश्चय ही काल्पनिक है। इससे चाणक्य की महत्ता के साथ-साथ पर्वतेश्वर का सर्वनाशी अहंकार घटना क्रम को बढ़ाने में सहायक हुआ है। पर्वतेश्वर की हार के पीछे वीर-क्षत्रियों की उस अहंकार भावना का दिग्दर्शन हुआ है जो युगों-युगों से भारतवर्ष में विदेशी आक्रमणों की विजयों के मूल में रही है।

सिल्यूकस ने व्याघ्र से कभी चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी या नहीं अथवा दाण्ड्यायन ने चन्द्रगुप्त के लिये भविष्यवाणी की थी या नहीं ये दोनों बातें विचारणीय हैं। वस्तुतः इस रूप में ये घटनाएँ प्रसाद ने स्वतः ही गढ़ी हैं। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने यह प्रचार अवश्य किया गया था कि एक सिंह ने उसके पसीने को चाटा था और भारत के भविष्य-वक्ताओं ने उसके सम्राट होने की घोषणा की थी।[1] यदि प्लूटार्क[2] और जस्टिन पर विश्वास किया जाय तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिलीय राजनीति में "सत्यमृषा" का जो स्वरूप है उसी का प्रयोग यहाँ पर किया गया होगा। यह भी सच है कि चन्द्रगुप्त तक्षशिला में सिकन्दर से मिला था और उसने सिकन्दर से कहा कि यदि सिकन्दर और आगे बढ़ता तो सम्भवतः वह मगध पर भी विजय प्राप्त कर लेता।[3] प्रसाद ने सिल्यूकस द्वारा उसकी रक्षा कर भविष्य में होने वाले चन्द्रगुप्त सिल्यूकस युद्ध की सुखांत एवं गौरवपूर्ण परिणति के लिये सुन्दर काल्पनिक परिस्थितियों का निर्माण कर दिया है।

दाण्ड्यायन और सिकन्दर के बीच जो कुछ भी बातचीत हुई यह अधिकांश रूप में ग्रीक इतिहास से ली गई है। सिकंदर ने जब तक्षशिला में भारतीय दार्शनिकों (जिमनोसोफिस्ट) को देखा तो उसकी यह इच्छा हुई कि एक दार्शनिक उसके पास लाया जाय। इन दार्शनिकों में प्रधान दाण्डमिस था। अतः सिकन्दर ने ओनेसिक्रिटीज को दाण्डमिस को लाने के लिये भेजा। उसने दाण्डमिस से कहा— "हे ब्राह्मणों के गुरु (टीचर आफ दी ब्राह्मीस) तुम्हारा अभिनंदन है। जुपिटर का पुत्र सब मानवों का सम्राट सिकन्दर तुमसे मिलना चाहता है। यदि तुम उसकी आज्ञा मानोगे तो वह तुम्हारी अभ्यर्थना धन वैभव से करेगा अन्यथा तुम्हें मृत्यु दण्ड दिया जायगा। दाण्डमिस मुस्कराया और बिना सिर उठाये उसने उत्तर दिया– 'सम्राटों का सम्राट वह प्रकाश, शांति जीवन जल शरीर और आत्मा का स्रष्टा है और मृत्यु के उपरांत

---

(१) मुद्राराक्षस

(२) लाइव्स—(प्लूटार्क) लाइफ आफ एलेक्जेंडर—वो० ७। के० ११ पृ० ४ १

(३) एलेक्जेंडर (प्लूटार्क) चैप्टर ६२

वे सब उसी ब्रह्म में समा जाते हैं। मैं उसी के सामने प्रणत होता हूँ। सिकन्दर स्वयं मर्त्य है अतः ब्रह्म नहीं है। सिकन्दर ने अभी विजय ही कितनी की है जो वह अपने आपको विश्वविजेता कहता है --- --- --- स्मरण रखो कि सिकन्दर के वैभव मेरे लिये महत्वहीन हैं। मेरे लिए उनसे कहीं अधिक मूल्यवान ये पत्ते हैं जिनसे मेरी कुटी बनी है। ये पल्लवित वृक्ष हैं जिनसे मुझे भोजन मिलता है ये नदियाँ हैं जिनसे मेरी प्यास बुझती है --- --- --- मैं पत्तियों पर सोता हूँ जिनकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं। --- --- --- धरती की गोद से मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। मैं इच्छानुकूल उसमें निर्द्वन्द्व विचरण करता हूँ। सिकन्दर मेरे शरीर को नष्ट कर सकता है किन्तु मेरी आत्मा अमर है और वह शरीर छोड़कर उसी प्रकार ब्रह्म में लीन हो जायगी जिस प्रकार हम पुराने वस्त्र त्याग देते हैं। सिकन्दर ये धमकियाँ उन्हें दे जो वैभव की लालसा रखते हैं और जो मृत्यु से भयत हैं। सिकन्दर से कह दो कि दाण्डमिस को तुम्हारी किसी चीज की आवश्यकता नहीं। अतः वह तुम्हारे पास नहीं आयगा। यदि तुम्हें उससे कुछ प्राप्त करना है तो तुम उसके पास जाओ।" ओनिसिक्रीटस से यह सुनकर सिकन्दर स्वयं दाण्डमिस से भेंट करने आया।[1]

चन्द्रगुप्त के प्रथम अङ्क का ग्यारहवाँ दृश्य इस सम्पूर्ण घटना का सही चित्र प्रस्तुत करता है। दाण्डमिस (दाण्ड्यायन) के शब्दों तक का प्रसाद ने अनुवाद कर दिया। अलका से सम्बन्धित घटना का भाग काल्पनिक है। यहाँ कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रथम रागात्मक दर्शन भी प्रसाद की काल्पनिक योजना का अङ्ग है जो चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया के विवाह में पूर्व-राग की नाटकीय सृष्टि करता है। यह सच है कि इस योजना के परिणामस्वरूप नाटक में सुदीर्घ कालावधि के कारण ऐतिहासिक नाटकीय दोष आ गये हैं। किन्तु घटना की योजना के अनुसार यह प्रयोग अवश्य सफल माना जा सकता है। यह घटना पूर्णतः काल्पनिक है। सिकन्दर चन्द्रगुप्त की भेंट के लिये इस स्थान का चुनाव भी ऐतिहासिक न होकर नाटकीय है।

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य की सारी घटना पूर्णतः काल्पनिक है। सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया (हेलेन अथवा ऐथेना जो भी हो) सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीक सेना में साथ थी इसका कोई प्रमाण नहीं। उसका भारत-प्रेम भी एक विचित्र-सी घटना है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के चरित्र की योजना द्वारा राष्ट्रीय भावना का प्रचार हुआ है किन्तु इसमें सर्वत्र काल्पनिकता झलकती रहती है। फिलिप्स की कार्नेलिया के प्रति आसक्ति, चन्द्रगुप्त द्वारा कार्नेलिया के

---

(१) एंशिएंट इण्डिया—(मैक्रिंडल) मेगास्थनीज एण्ड एरियन—फ्रैगमेंट ५५ पृ० १२१-२४

सम्मान की रक्षा और परिणामस्वरूप सिकन्दर-चन्द्रगुप्त में संघर्ष काल्पनिक घटनाएं हैं। इसमें इतना इतिहास अवश्य है कि सिकन्दर किसी कारणवश चन्द्रगुप्त से रुष्ट हो गया और चन्द्रगुप्त को अपनी प्राण रक्षा के लिए सिकन्दर के सेनानिवेश से भागना पड़ा[१] किन्तु ये घटनाएं अत्यन्त नाटकीय हैं। इससे चन्द्रगुप्त के चरित्र का उत्कर्ष होता है और कालान्तर में चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में पंजाब के विद्रोह एवं फिलिप्स की हत्या के लिए एक सम्भाव्य नाटकीय कार्य-कारण-परम्परा की सृष्टि हो जाती है। चन्द्रगुप्त के प्रति सिल्यूकस की सहानुभूति भी भावी घटनाओं की ओर संकेत करती है।

द्वितीय दृश्य भी काल्पनिक है। पर्वतेश्वर–सिकन्दर के युद्ध में न तो चन्द्रगुप्त ने भाग लिया था न राजकुमारी कल्याणी ने और न सिंहरण–अलका ने किन्तु दृश्य अपनी काल्पनिकता में आसन्न गान्धार-युद्ध की पूर्वपीठिका का ही सृजन नहीं करता वरन् कौटिलीय युद्धनीति एवं चरपद्धति पर भी प्रकाश डालता है। सम्पूर्ण दृश्य में ऐतिहासिक घटना सूक्ष्म मात्र है। सिकन्दर के सैनिकों ने वितस्ता को रातों रात पार कर लिया था इसका साक्षी ग्रीक इतिहास है।[२] युद्ध का दृश्य अधिकतर इतिहास पर आश्रित है। जिस दिन युद्ध लड़ा गया उससे पहिली रात में घनघोर वर्षा हुई थी। उसी वर्षा और अन्धकार में सिकन्दर के घुड़सवारों ने वितस्ता पार की वर्षा से कीचड़युक्त धरती पर भारतीयों के सुदीर्घ धनुष अनुपयोगी सिद्ध हुए और घुड़सवारों के आक्रमण से हाथी भड़क उठे। अन्त में स्वयं पर्वतेश्वर ने भयंकर युद्ध किया। युद्ध में आहत पर्वतेश्वर के पास सन्धि की वार्ता के लिये आम्भी को भेजा गया। देशद्रोही आम्भी पर पोरस ने भाला छोड़ा। आम्भी तो बच गया किन्तु उसका घोड़ा मर गया। अन्त में पोरस के मूर्छित हो जाने पर उसे सिकन्दर के पास लाया गया। सिकन्दर ने उससे पूछा— "राजन्! अब तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?" इसके उत्तर में पुरु ने जो कहा वह विश्व ऐतिहासिक उत्तर था "जैसा एक राजा अन्य राजा से करता है।" सिकन्दर ने इस उत्तर से प्रसन्न होकर पुरु से मैत्री कर ली।[३] और कालान्तर में सिकन्दर-विजय में उसकी सहायता भी की। समग्र राजकुमारी कल्याणी का पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने का प्रयत्न पूर्णतः काल्पनिक होने के साथ ही साथ संभाव्यता के विरुद्ध है। यदि यह ऐतिहासिक घटना होती तो भी जिस रूप में यह नाटक में आई है उस रूप में सम्भाव्य नहीं।

---

(१) जस्टिन १२।४

(२) ऐनाबेसिस आफ एलैक्जैण्डर—(ऐरियन) ५।११

(३) डायोडोरस १७।८८ कर्टियस ८।१४ इंडिका (ऐरियन) नं० १९ ऐनाबेसिस (ऐरियन) ५।१७

राजकुमारी कल्याणी का चरित्र नहीं भी इस प्रकार के सैनिक कार्यों के लिये सहा नहीं प्रतीत होता। मलका का चरित्र अवश्य इस प्रकार का है। चन्द्रगुप्त और सिंहरण द्वारा पर्वतेश्वर को यवन-मैत्री से रोकने के प्रयत्न भी काल्पनिक हैं। उनका उपयोग कालान्तर में पर्वतेश्वर के पतन और इन दोनों के चारित्रिक विकास में किया गया है।

चतुर्थ अङ्क की सम्पूर्ण घटना काल्पनिक है। चन्द्रगुप्त और मालविका की घटनाएं इतिहास में नहीं मिल सकतीं क्योंकि मालविका प्रसाद की स्वतन्त्र कल्पना है। इस दृश्य में सूक्ष्म रूप से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत अवश्य किया गया है। विपाशा के तट पर पहुंच कर यवन सेना में विद्रोह हो गया। सिकन्दर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उन्हें प्रोत्साहित करना चाहा किन्तु जब उन्होंने यह सुना कि आगे "प्राची और 'गंगरडीज' के शासक बहुत बड़ी सेनाएं लेकर उनके मार्ग पर खड़े हैं तो उनके छक्के छूट गये। अन्त में हारकर सिकन्दर ने देव तायों की पूजा की और शकुन विचार कर लौटने का निर्णय किया। सिकन्दर की सेना दो मार्गों में बटकर जल और स्थल मार्गों से दक्षिण को लौटी।[1] जल मार्ग से वापस लौटने का विचार जानकर मालव-क्षुद्रकों ने युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ कीं। सौभूति और शिवि राज्यों को ध्वस्त कर सिकन्दर का मालवों से ही युद्ध हुआ।[2] यहां यह कहना कठिन है कि चन्द्रगुप्त को क्षुद्रकों की सेना का सेनापतित्व कैसे मिला। इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है।

पर्वतेश्वर द्वारा सिंहरण और मलका के बन्दी किये जाने की घटना काल्पनिक है। इस सम्पूर्ण घटना से दो अर्थ सिद्ध हुए हैं, एक तो सिंहरण और मलका के बीच सामान्य राग बढ़कर प्रेम दशा तक पहुँचने का अवसर मिला है और दूसरे पर्वतेश्वर के पतन के लिए घटना क्रम में उसकी विलासी प्रवृत्ति को प्रकट किया गया है। इसके अभाव में इतिहास प्रसिद्ध वीर पर्वतेश्वर के चरित्र को नीचे गिराना असम्भव हो जाता।

मालवों की युद्ध परिणय सम्बन्धी घटना मूलतः ऐतिहासिक है। ग्रीक इतिहास से ज्ञात होता है कि मालव-क्षुद्रकों में आपस में संघर्ष रहा करता था। किन्तु सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप दोनों ने मैत्री करने का निश्चय किया और दोनों ने इस मैत्री के उद्देश्य से एक दूसरे की १० सहस्र कन्याओं से परिणय किया किन्तु व्यक्तिगत समस्यों के कारण उनको

---

(१) डायोडोरस—१७।९५ कर्टियस—९।३ प्लूटार्क—चैप्टर ६२

(२) एनाबसिस—(ऐरियन) ६।५ कर्टियस ९।४ डायोडोरस १७।९६

परिषदों के विचार विनिमय में अधिक समय लग गया । सबसे अधिक कठिनाई इस बात के निर्णय में हुई कि दोनों सेनाओं का सेनापतित्व कौन करे । ग्रीक लेखकों से ज्ञात होता है कि इस संगठन के बनने से पूर्व ही सिकन्दर ने मालवों पर आक्रमण कर उनको हरा दिया ।[1] छठे दृश्य में प्रसाद ने मालव-क्षुद्रक परिषद् में सेनापति के लिये उपस्थित किये गये संघर्ष का ही चित्रण किया है किन्तु प्रसाद ने इस दृश्य का समाहार चाणक्य और चन्द्रगुप्त के माध्यम से कर प्रधान चरित्रों से घटना को जोड़ दिया है । इस प्रकार घटना की ऐतिहासिकता के साथ-साथ उसका नाटकीय महत्व भी बढ़ गया है । चन्द्रगुप्त का दोनों की सम्मिलित सेनाओं का सेनापति बनाया जाना ऐतिहासिक तथ्य न होते हुए भी नाटक के घटना क्रम में अत्यन्त संभाव्य हो गया है । कर्टियस लिखता है कि मालव-क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का सेनापति एक अत्यन्त वीर और अनुभवी व्यक्ति चुना गया था ।[2] प्रसाद ने उसे चन्द्रगुप्त मान लिया है ।

कठ जाति के सोगल प्रदेश को जीतने में पोरस ने सिकन्दर को पर्याप्त सहायता पहुँचाई । वह हाथियों और पैदल सैनिकों की ५०० सेना लेकर सांगल पहुँचा था । यह कहना कठिन है कि मालवों के प्रदेश पर आक्रमण करते समय सिकन्दर ने उससे आठ सहस्र अश्वारोहियों की मांग की थी अथवा नहीं । उसका पर्वतेश्वर सम्बन्धी कल्पित कथा (सप्तम दृश्य) में सिकन्दर की उक्त मांग की चर्चा हुई है । इस घटना में ऐतिहासिक संभाव्यता पूरी है । यदि पुरु पर जय विजयी सिकन्दर सांगल विजय के लिए पुरु की सहायता की अपेक्षा रखता था तो मालव-विजय के लिए तो उसकी आवश्यकताएं और भी बढ़ गई होंगी ।

प्रसाद के अनुसार ग्रीक सेना को रोकने के लिए मालवों की जल-सेना संनद्ध थी । स्वयं ग्रीक इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि मालव क्षुद्रक और शिवि गणतन्त्रों के योद्धा भयंकर थे । झेलम और चिनाब के संगम के समीप के राज्य होने के कारण उनकी जल-सेना अवश्य अत्यन्त शक्तिशाली होगी । सिकन्दर ने जो दूत मालव नेताओं के पास भेजा उसकी ऐतिहासिकता भी संदिग्ध है । वस्तुतः सिकन्दर की यह इच्छा नहीं थी कि वह अपनी वापसी यात्रा में किसी युद्ध संघर्ष में पड़े । कठ जाति से युद्ध करते समय वह इन गणतन्त्रों की शक्ति देख चुका था । अतः वह अपनी शक्ति का भय दिखाकर आतंक द्वारा ही सिर ऊंचा किये अपनी हारी थकी सेना लेकर लौट जाना चाहता था ।[3]

---

१ डायोडोरस १७।९८
२ कर्टियस-बुक ९ चैप्टर ४
३ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ७८

कल्याणी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रणय प्रस्ताव चाणक्य की कूटनीतिक चातुरी का नमूना है। ऐसा उसने इसलिए किया कि मगध सेना मालव-युद्ध में सहायक बन सके। वह राक्षस को धमकी देता है कि यदि उसने कल्याणी को न रोका तो क्षुद्रक सिकन्दर को मगध तक आने का मार्ग दे देंगे। यह धमकी उस चातुरी का दूसरा नमूना है। दोनों घटनाएं काल्पनिक हैं किन्तु नाटक के घटना क्रम में ये अनिवार्य हैं। राक्षस को यवनासक्त मगध न जाने देकर चाणक्य ने भावी मगध-विद्रोह के लिये बीज बो दिये अन्यथा उन परिस्थितियों से अवगत राक्षस के लिए उक्त विद्रोह को रोक सकना असम्भव न होता।

नवें दृश्य में ही चाणक्य राक्षस को सूचना देता है कि "इस यात्रा में इतना विघ्न उपस्थित हुआ कि सिकन्दर को स्थल मार्ग पर से मालवों पर आक्रमण करना पड़ा।"[1] हम पूर्व कह चुके हैं कि ग्रीक इतिहासकारों ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सिकन्दर ने मालव-क्षुद्रकों को पूर्णतया पराजित कर दिया था क्योंकि मालव-क्षुद्रक आपस में संगठित नहीं हो पाए। पाणिनि और पातञ्जलि से हमें कथा का दूसरा ही रूप मिलता है। पाणिनी ने "मालव-क्षुद्रकों" के संगठन की चर्चा की है (संमिश्र द्वन्द्व)।[2] स्वयं कर्टियस के अनुसार मालव-क्षुद्रकों की सेना की शक्ति एक लाख थी। जब ग्रीक सैनिकों को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने पुनः विद्रोह कर दिया और उनमें त्रास छा गया। न मानकर यौद्धा ने एक उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि बिना रक्तपात के सिकन्दर को आगे छोड़ने नहीं देंगे।[3] परिणामस्वरूप सिकन्दर को एक बार पुनः भाषण देकर रोषकर हतोत्साहित कर सेना को साहस बंधाना पड़ा और उसने अपनी सेना को दो भागों में बांट कर स्थल मार्ग से ले जाने का निश्चय किया।

मालव-दुर्ग में युद्ध हुआ। स्मिथ हम मालव-दुर्ग की झंग एवं मोटगोमरी जिले की सीमा पर मुलतान के उत्तर-पूर्व ८ या १० मील के आसपास मानते हैं।[4] ग्रीकों ने दुर्ग में प्रवेश करने का प्रयास किया। सिकन्दर स्वयं एक सीढ़ी लेकर तीन सैनिकों के साथ दुर्ग की दीवाल पर चढ़ गया। अपने पर चारों ओर से आक्रमण होता देख सिकन्दर दुर्ग के अन्दर कूद गया। सिकन्दर का एक सहायक मारा गया

---

१ चन्द्र० २।१४८

२ काशिका ४ २।४५

३ कर्टियस बुक ६ चेप्टर ४
—इन्वेज़न आफ इण्डिया बाइ एलैक्जेण्डर (मैक्रिडल) ३४

४ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १००

और एक तीर सिकन्दर के कवच को बेध कर उसकी छाती में जा लगा। बड़ी कठिनाई से सिकन्दर के प्राण बच सके। दुर्ग का द्वार तोड़ कर यवन सैनिकों ने मुमूर्षु सिकन्दर की रक्षा की।[1] प्रसाद ने मूल घटना में कुछ परिवर्तन कर दिया है। अलका द्वारा दुर्ग पर चढ़ते हुए यवन सैनिक का वध काल्पनिक है। सिंहरण और सिकन्दर का द्वन्द्व भी ऐतिहासिक नहीं। वस्तुतः सिकन्दर एक तीर से घायल होकर गिर पड़ा था। उसे तलवार या भाले से युद्ध करने का अवसर ही नहीं मिला था। इस घटना का चित्र बहुत ही सुन्दर और नाटकीय है। इतिहास से यह समझ में नहीं आता कि इतने शक्तिशाली मालवों के दुर्ग में केवल तीन सैनिकों सहित प्रवेश करने पर सिकन्दर किस प्रकार सुरक्षित लौट गया। दुर्ग का द्वार टूटना आसान कार्य नहीं। ग्रीक लेखक चाहे कुछ भी कहें यह तो निश्चित है कि सिकन्दर मालव-क्षुद्रकों पर विजय नहीं पा सकता था।[2] अतः प्रसाद ने जो यह कल्पना की है कि मालवों ने घायल पर्वतेश्वर के प्रति दिखलाई गई सिकन्दर की उदारता को भारत पर उसका एक ऋण माना और इसी ऋण को चुकाने के लिए उन्होंने मुमूर्षु सिकन्दर को जीवित और सकुशल दुर्ग के बाहर कर दिया—यह भारतीय क्षत्रियत्व के आदर्श के अत्यन्त अनुकूल होने के साथ साथ अत्यन्त स्वाभाविक और सम्भाव्य प्रतीत होता है।

मालव क्षुद्रकों के युद्ध में सिकन्दर विजयी न हो सका। स्वयं एरियन इस बात को स्वीकार करता है कि मालव क्षुद्रकों के युद्ध में सिकन्दर को जो चोट लगी उस पर *आधारित कल्पनाओं की भरमार की गई है*[3]*। अतः इस सम्बन्ध में प्रसाद* ने भी ग्रीक इतिहास को अक्षरशः नहीं ग्रहण किया है। तृतीय अङ्क के प्रारम्भिक दृश्यों में घटनाओं के क्रम से ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने स्वयं मालव-क्षुद्रकों के साथ संधि की। क्षुद्रकों के विजयी होने का उल्लेख पातंजलि ने भी किया है।[4] यहां प्रसाद ने घटनाओं को इस प्रकार संतुलित किया है कि ज्ञात इतिहास की घटनाएं भी सुरक्षित रह सकी हैं और प्रसाद की स्वयं की कल्पनाएं भी। रावी तट पर *विस्तृत शिविरों की रंगभूमि बनी जिसमें सिंहरण* और अलका का विवाह हुआ। मालव और यवनों का एक सम्मिलित उत्सव मनाया गया जिसमें सिकन्दर ने भी भाग लिया। सिंहरण और अलका का विवाह एक काल्पनिक घटना है किन्तु

---

१ कर्टियस बुक [illegible] चैप्टर ७
२ हिन्दू पौलिटी (जायसवाल) पृ० ६९
३ एरियन बुक ६ चैप्टर ११
४ "एकाकिभिः क्षुद्रकैः" (पातंजलि)—१ ३ २
(कीलहॉर्न)—२ पृ० ४ २

अवसर के सबसे अधिक उपयुक्त होने से ऐतिहासिक घटना में इसका समाहार हो गया है। ग्रीक लेखकों के अनुसार— 'युद्ध के उपरान्त मालव-क्षुद्रकों के सौ दूत सिकन्दर के पास आए। वे अत्यन्त विशालकाय प्रभावशाली पुरुष रथों पर चढ़े हुए थे। सुनहरे एवं सुमाकी रथों से कढ़े हुए उनके रेशमी वस्त्र अत्यन्त सुन्दर थे। उन्होंने सिकन्दर से कहा कि सहस्रों वर्षों से आज तक वे अपनी जिस स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रख सके हैं उसका उन्हें गर्व है। देवों की इच्छानुसार वे आज झुके अवश्य हैं पर किसी भय से नहीं। सिकन्दर ने अपने स्वभाव की क्रूरता के प्रतिकूल उनका असाधारण स्वागत किया। उसने एक महान् भोज की व्यवस्था की सौ स्वर्ण खचित वस्त्रों से ढके हुए सोने के आसन रखे गये। कई प्रकार के भोजनों के उपरान्त सुरापान हुआ और वे सब दूत अपने अपने स्थानों को लौट गये।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह तो स्पष्ट है कि यह विजित मालव क्षुद्रकों के सम्मान का स्वरूप हो ही नहीं सकता। इससे तो यह प्रतीत होता है कि कोई विजित राजा विजेताओं का स्वागत कर रहा है। सिकन्दर को न केवल पीछे ही हटना पड़ा वरन् अपने सैनिकों को भी सन्तुष्ट कर उनमें आगे की यात्रा के लिए साहस भरना पड़ा।[2]" वस्तुतः यवन और मालवों के सम्मिलित उत्सव द्वारा प्रसाद ने उपर्युक्त ऐतिहासिक उत्सव की ओर संकेत किया है। राक्षस को छद्म मगध सैनिकों द्वारा बंदी बनाकर अपने सैनिकों द्वारा उसे मुक्त करने में चाणक्य की कूटनीति पुनः प्रतिफलित हुई है। चाणक्य का कौटिलीय रूप यहाँ स्पष्ट प्रकट होता है। हम पहले कह चुके हैं कि राक्षस का मगध बसा जाना नन्द की स्थिति की दृढ़ता का कारण बन जाता और चाणक्य की दूर दृष्टि कुशासन के कारण नंद के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर मगध में भावी विद्रोह को देख रही थी। अतः राक्षस के मन में यह भ्रम उत्पन्न किया गया कि नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी और राक्षस के अनुचित संबंधों का विश्वास हो गया है अतः वह राक्षस को बंदी बनाना चाहता है। इस प्रकार के भ्रम द्वारा चाणक्य ने राक्षस को दो बार मगध जाने से रोक दिया। यह घटना काल्पनिक है। किन्तु इसमें "अर्थशास्त्र" के "मन्त्र-युद्ध" एवं "दण्डनीति" की इतनी अधिक छाया है कि घटना अत्यन्त स्वाभाविक और सम्भाव्य बन गई है। "मुद्राराक्षस" से भी इस प्रकार की कूट नीति की पुष्टि हो जाती है

---

१ कर्टियस बुक १० चैप्टर ७
इन्वेजन—(मैक्रिण्डल) पृ० २५८—५९
२ हिन्दू पौलिटी—(जायसवाल) पृ० ६६

अलका सिंहरण के विवाह से पुरु को ईर्ष्या हुई एवं उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया। दूरदर्शी चाणक्य अभी उससे एक नये संघर्ष में सहायता चाहता था अतः उसने पुरु की रक्षा की। यह घटना भी काल्पनिक है किन्तु अनिवार्य थी, अन्यथा न तो मुद्राराक्षस की पर्वतक वध की घटना से इसका समाहार हो पाता और न चाणक्य की दूरदर्शिता ही प्रकट होती घटना क्रम में भी विशृङ्खलता उत्पन्न होने की संभावना हो जाती और कथा का एक सूत्र मध्य में ही टूट जाता। अलका के विवाह के अवसर पर गांधार राज और अलका का पुनर्मिलन काल्पनिक है, साथ ही अनावश्यक भी। इसके उपरांत गान्धार राज का चरित्र घटना क्रम से हट जाता है। अच्छा होता यदि प्रसाद यवन आक्रमण से पूर्व ही गान्धार राज की मृत्यु स्वीकार कर आम्भी को ही वास्तविक शासक मान लेते। इससे घटना के अनावश्यक और अनाटकीय विस्तार की रक्षा हो जाती। इसी प्रकार में कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त की प्रेम चर्चा और तज्जन्य ईर्ष्या के कारण फिलिप्स द्वारा चन्द्रगुप्त को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारना दोनों पूर्णतया काल्पनिक हैं। कार्नेलिया-संबंधी घटना तो चतुर्थ अंक की चरम-परिणति की पूर्वपीठिका बन जा किन्तु फिलिप्स संबंधी घटना और भी नाटकीय है। पर्वतेश्वर के विद्रोह में चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में यवन सामन्तों के मारकर भारतीयों ने सिकन्दर के आक्रमण के अन्तिम अवशेषों को नष्ट कर दिया। इसी विद्रोह में वहाँ के क्षत्रप फिलिप्स की हत्या कर दी गई।[१] यह हत्या किसने की इसका इतिहास में कोई भी उल्लेख नहीं प्रसाद ने कार्नेलिया के लिए लड़े गये द्वन्द्व में चन्द्रगुप्त द्वारा उसके वध की कल्पना कर एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सम्भाव्यता के साथ साथ एक अत्यन्त सुन्दर नाटकीय घटना की योजना भी करदी है।

सिकन्दर चला गया किन्तु विजेता बनकर नहीं मालव-क्षुद्रकों से संघर्ष करके। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों उसको विदा करते समय उपस्थित थे। या तथ्य ऐतिहासिक भले ही न हो कथानक की सम्भावना के अनुकूल एवं नाटकीय त है ही।

राक्षस को यह ज्ञात हो गया कि चाणक्य उसके साथ छल कर रहा है और इसी छल से उसने सुवासिनी को मुक्त करने के बहाने उसकी नामांकित मुद्रा भी ले ली है। अतः वह सीधा मगध की ओर चल दिया। राक्षस संबंधी इस घटना का आधार "मुद्राराक्षस" है। उक्त कथानक में राक्षस और चाणक्य के दांव-पेच में राक्षस की नामांकित मुद्रा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चाणक्य का च चन्दनदास जौहरी के द्वार पर चित्र फैलाकर गा रहा था। उस कौतुक को देख के लिए एक पाँच वर्ष का सुन्दर बालक एक परदे की आड़ से बाहर निकला

---

१ कर्टियस—पुस्तक १ चैप्टर १।

भीतर स्त्रियों में कोलाहल हुआ कि लड़का कहाँ चला गया। इतने में एक स्त्री ने द्वार से बाहर मुँह निकाल कर देखा और बच्चे को भीतर पकड़ ले गई। उसके हाथ से राक्षस की नामांकित अंगूठी गिर पड़ी। वह चर ने चाणक्य को लाकर दी।[१] वे मंत्री राक्षस के स्त्री और पुत्र थे। चाणक्य ने राक्षस की उस मुद्रा के द्वारा शकटदास से पत्र लिखवाकर राक्षस और कुमार मलयकेतु में फूट डलवा दी, साथ ही मलयकेतु की आज्ञा से उसके सहायक कौलूत चित्रवर्मा मलयाधिपति सिंहनाद कश्मीराधीश पुष्कराक्ष सिंधुराज सुषेण और पारसीकपति मेघाक्ष का वध करवा दिया।[२] "मुद्राराक्षस" के कथानक से प्रसाद के कथानक में अन्तर है। यहाँ चाणक्य स्वयं राक्षस से मुद्रा ले लेता है और नन्द राक्षस के बीच फूट उत्पन्न करवा देता है। "मुद्राराक्षस" में चाणक्य का चर सिद्धार्थक इस कार्य को करता है और 'चन्द्रगुप्त" में चाणक्य के चर के रूप में कार्य करती हुई मालविका। किन्तु इस कथानक का मूल स्रोत यही है भले ही "चन्द्रगुप्त" नाटक में चाणक्य की कूटनीति उतनी प्रकट नहीं हो पाती जितनी "मुद्राराक्षस" में।

चाणक्य का पर्वतेश्वर को नन्द विजय के लिए ले आना ऐतिहासिक है इसका आधार भी "मुद्राराक्षस" नाटक ही है। चाणक्य ने पर्वतक की सहायता से नन्दवंश पर विजय प्राप्त की। मुद्राराक्षस का पर्वतक म्लेच्छराज है। प्रसाद ने यौद्धों के पोरस से उसे मिला दिया है। यह कहना कठिन है कि दोनों एक ही थे अथवा नहीं। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार— "नन्दवंश की राजलक्ष्मी चन्द्रगुप्त के वशीभूत होकर भी चाणक्य नहीं त्याग रही थी अर्थात् वह साम्राज्य को दो विभागों में—चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक के बीच-बँट जाने के विचार से अस्थिर हो रही थी।"[३] इसका एक मात्र कारण यही था कि चाणक्य ने पर्वतक को अपना सहायक और मित्र बनाने की कूटनीति अपनाई थी। प्रसाद के नाटक में भी चाणक्य पर्वतेश्वर को आत्महत्या करने से केवल इसलिए रोकता है कि वह उसकी सेना की सहायता पाकर नन्द विजय कर सके। राज्य के एक मात्र विरोधी पर्वतेश्वर में महत्वाकांक्षा नहीं प्रतीत होती। वह राजलक्ष्मी से उदासीन है पर मुद्राराक्षस का पर्वतक अपने को भाग्य का आशीर्वाद मानता है। यहाँ चाणक्य की कूटनीति कुछ दब गई है। मूल कथानक में यह परिवर्तन कर प्रसाद ने क्या लाभ देखा यह नहीं कहा जा सकता।

---

१ मुद्राराक्षस अंक १
२ वही अंक ५
३ मुद्राराक्षस (अनु० हरिश्चन्द्र) कथावस्तु पृ० २५

सुवासिनी के प्रति नंद की कामुकता और राक्षस द्वारा उसकी रक्षा की घटना एकान्त काल्पनिक है। इससे एक लाभ हुआ है कि नंद और राक्षस के बीच चाणक्य की कूटनीति से उत्पन्न भावी संघर्ष के लिये सुवासिनी का प्रयोग सहायक बन गया है और कथानक में संघर्ष के लिए प्रबल कारण आ गये हैं।

चाणक्य की योजना है कि वणिकों के रूप में सारी सेना कुसुमपुर में एकत्रित हो जाय। कथानक की दृष्टि से यह काल्पनिक है किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र की दण्डनीति और कूट-युद्ध के पूर्णतया अनुकूल है। इससे उचित ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि होती है। शकटार सम्बन्धी कथा का आधार 'कथा-सरित्सागर' है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में शकटार को नंद ने अन्धकूप में डाल दिया। वह और उसके सातों पुत्रों को सत्तू और नमक मिला हुआ पानी दिया जाता था। सातों पुत्रों ने भूख से तड़प कर प्राण दे दिए, अकेला शकटार पुत्रों की हड्डियों से सुरंग बनाकर नंद से बदला लेने बाहर निकल आया और चाणक्य से मिल गया। कथासरित्सागर' के अनुसार व्याडि इन्द्रदत्त एवं वररुचि अयोध्या के सम्राट नन्द के पास गुरुदक्षिणा के लिए दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएं मांगने गए। किन्तु जब वे वहां पहुंचे तो राजा की मृत्यु हो गई थी। इन्द्रदत्त ने योगबल से नंद के शरीर में प्रवेश किया। नंद जीवित हो गया। व्याडि इन्द्रदत्त के शरीर की रक्षा करता रहा और वररुचि मुद्राएं मांगने चला गया। योगनन्द ने नन्द के मंत्री शकटार को आज्ञा दी कि वररुचि को दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएं दे दी जायें। शकटार ने आज्ञा तो मान ली किन्तु उसे सन्देह हो गया। उसने यह सोचकर कि जब तक नन्द का पुत्र छोटा है तब तक योगनन्द ही शासक रहे सारे राज्य के मृतकों को भस्म कर दिया। इसी में इन्द्रदत्त का शरीर भी जल गया।

योगनन्द ने व्याडि से सलाह की। व्याडि ने कहा कि शकटार को तुम पर संदेह हो गया है अतः तुम उसे बन्दी बना लो। अन्यथा वह तुम्हें मारकर नंद के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठा देगा। व्याडि संन्यास लेकर चला गया। वररुचि ने भी यही बात कही। इस पर योगनन्द ने शकटार और उसके सौ पुत्रों को अन्धकूप में डलवा दिया। उन पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने एक ब्राह्मण को जीवित जलाया है। उन्हें नित्य एक बर्तन में जल तथा सत्तू दिया जाता था। एक दिन शकटार ने अपने पुत्रों से कहा "पुत्रो! इस अन्न-जल से एक आदमी भी कठिनता से जीवित रह सकता है इतने लोगों का तो प्रश्न ही नहीं। अतः हम में से जो भी योगनन्द से बदला ले सकने में समर्थ हो वही नित्य इस जल और सत्तू को ग्रहण करे। सब पुत्रों ने शकटार को ही इसके योग्य माना। शकटार उस अन्धकूप में अपने पुत्रों को भूख से तड़प-तड़प कर मरता देखता रहा। अन्त में अपने पुत्रों की हड्डियों से घिरा हुआ शकटार जीवित रहा।

कथान्तर में पाटलिपुत्र में विन्ध्यगिरि में छिपकर सब काम वररुचि पर डाल दिया। वररुचि ने नन्द की माया लेकर शकटाल को बन्दीगृह से निकाल कर पद मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित किया। शकटाल बदले का अवसर ढूंढता रहा।[1]

प्रभाव ने शकटार के सौ पुत्रों के स्थान पर पांच पुत्रों का ही उल्लेख किया है। साथ ही शकटार की मुक्ति वररुचि द्वारा न होकर स्वयं उसके ही प्रयत्नों से हुई है। इस परिवर्तन से विशेष ऐतिहासिक क्षति नहीं हुई है। किन्तु नन्द की क्रूरता और शकटार के दुःख और क्षोभ में सहस्रों गुणावृद्धि अवश्य हो गई है। इसी कारण कथानक के विकास में नन्द की समापादना के उपरान्त भी शकटार द्वारा उसके वध में कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। यह परिवर्तन प्रभावात्मक और मर्मस्पर्शी होने के साथ कथानक की कार्य कारण परम्परा में पूर्णतया सहायक बन कर आया है। कथासरित्सागर के अनुसार भी नन्द वध के लिए शकटार ने चाणक्य से मैत्री की थी। नन्द की सभा में चाणक्य का अपमान इसके बाद की घटना है।[2] प्रभाव ने राजसभा में अपमान की घटना को पहिले रखा है और शकटार-चाणक्य की मैत्री का उपयोग मगध विप्लव और शकटार द्वारा नंद-वध के समय ही किया है। प्रबंध को इस प्रकार पूर्वापर मिलाने से घटना को आवश्यक विस्तार मिल जाता है एवं शकटार के बन्दी बनाये जाने से लेकर उसके द्वारा नंद-वध तक नाटक के तीन अंक पूर्ण हो जाते हैं। यह काल-योजना की भी अत्यन्त अनुकूल है।

"चाणक्य कथा" से ज्ञात होता है कि नंदों ने अपने सेनापति और उसके सौ पुत्रों को ईर्ष्या के कारण बन्दी कर लिया। सब के सब बन्दीगृह में मर गये। अकेला चन्द्रगुप्त बचा। लंका के सम्राट ने एक पिंजरे में बन्द सिंह की मूर्ति नन्द के पास भेजी थी। उसे बिना पिंजरा खोले कोई नहीं निकाल सका था। चन्द्रगुप्त ने बन्दी सिंह को परम मोह की अवस्थाओं से अवगत कर पिंजरा खाली कर दिया। इस पर चन्द्रगुप्त तीन माह बाद मुक्त कर दिया गया। अपने पिता और भाइयों का बदला लेने का उसे एक अवसर मिला और उसने चाणक्य को भोज के लिए निमंत्रित कर दिया नदों ने चाणक्य का अपमान कर अपने नाश का मार्ग खोल दिया।[3] वस्तुतः 'कथासरित्सागर' की शकटार-कथा और "चाणक्य कथा" की चन्द्रगुप्त-कथा पर

---

(१) कथासरित्सागर—लम्बक १ पृ० ७-८ प्रथम तरंग

(२) कथासरित्सागर—प्रथम तरंग

(३) मौर्य्य (नारायण चंद्र बन्धोपाध्याय) पृ० १
मैकड मान एडमिनिस्ट्रेशन और सोशल-लाइफ इन एन्शियेण्ट इण्डिया।

एक ही प्रकार की है। यह निश्चय है कि दोनों का मूल एक ही है और एक स्थान पर उसका प्रयोग शकटार के लिए तथा दूसरे स्थान पर चंद्रगुप्त के लिए है। प्रसाद ने नंद द्वारा मौर्य सेनापति एवं उसकी पत्नी के बंदी किये जाने के लिये 'चाणक्य-कथा' का आश्रय लिया है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें चंद्रगुप्त बंदी नहीं हुआ और मौर्य सेनापति भी मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए। ठीक समय विप्लव के पूर्व वह अन्धकूप से निकलता है। यह परिवर्तन आवश्यक है अन्यथा वररुचि, राक्षस एवं बुद्धिसिंह इनके साथ बंदी मौर्य सेनापति की मृत्यु अस्वाभाविक हो जाती। प्रसाद को इस कथा की आवश्यकता केवल इसलिए पड़ी कि नंद के पापों का प्याला इस अत्याचार से छलक उठे और जनता का विरोध उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया मालूम पड़े। सम्भाव्यता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है।

'कथासरित्सागर' से ही यह भी ज्ञात होता है कि नंद ने वररुचि को भी बंदी कर लिया था। "चंद्रगुप्त" नाटक में इसका कारण वररुचि का मौर्य पत्नि की रक्षा के लिये नंद का विरोध करना है। कथासरित्सागर में नंद को उस पर संदेह हो गया था। नंद के दरबार में एक नया चित्रकार आया था। उसने योगनंद और महारानी का एक चित्र बनाया। चित्र से प्रसन्न होकर योगनंद ने चित्रकार को बहुत धन दिया और चित्र को अपने रनिवास में लगाया। एक दिन जब वररुचि उस चित्र को देख रहा था तो उसने अपनी विद्या से जाना कि महारानी के चित्र में उसके सभी शुभ-चिह्न नहीं बन पाये हैं। अतः उसने कटि के नीचे एक तिल बना दिया। क्रुद्ध होकर योगनंद ने शकटार को आज्ञा दे दी कि महारानी से अनुचित सम्बन्ध रखने के कारण वररुचि का वध कर दिया जाय। शकटार ने वररुचि की रक्षा कर अपने घर में छिपा लिया और किसी अन्य का वध करवा दिया। अन्त में वररुचि ने नंद के पुत्र को योगनंद द्वारा एक शाप से मुक्त कर कलंक से मुक्ति पाई और स्वयं वैरागी हो गया।[1] प्रसाद ने इस कथानक को लिया ही नहीं है केवल वररुचि के बंदी होने की घटना को लेकर उसकी बंदीगृह से मुक्ति और पुनः चंद्रगुप्त के अभिषेक की घोषणा अपनी कल्पना द्वारा की है।

मालविका के पास राक्षस के पत्र और उसकी मुद्रा की घटना "मुद्राराक्षस नाटक" से ली गई है। हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद ने मूल-कथानक में पर्याप्त हेर-फेर कर घटना को अपने नाटक के अनुकूल तो बना लिया किन्तु इसमें कौटिल्य और राक्षस के कूट दाँव-पेचों में उतनी शक्ति नहीं रह गई है।

नगर विद्रोह का आधार भी कथासरित्सागर ही है। वस्तुतः उसमें चाणक्य के क्रुद्ध होने के उपरान्त शकटार की इच्छानुकूल चाणक्य ने कृत्या

१ कथासरित्सागर—प्रथम तरंग

द्वारा सात ही दिन में नंद का वध कर दिया। नंद को भयंकर ज्वर हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। शकटार ने नंद के पुत्र हिरण्यगुप्त का वध कर चंद्रगुप्त को सिंहासनासीन किया। उसी ने चाणक्य को मन्त्री बनाकर स्वयं पूर्ण काम होकर वन मार्ग का अवलम्बन किया।[1] प्रसाद ने चाणक्य के अपमानित होने से लेकर नंद-वध के बीच कई घटनाएँ एवं उसके बीच कई वर्षों का व्यवधान रखा है। उसका आधार ग्रीक इतिहास है। वस्तुतः भारतीय इतिहासकारों ने कहीं भी सिकन्दर के आक्रमण एवं तत्सम्बन्ध परिस्थितियों का उल्लेख नहीं किया है। प्रसाद ने जब भारतीय और ग्रीक इतिहास को मिलाकर चन्द्रगुप्त-चाणक्य सम्बन्धी सम्भाव्य इतिहास को शोधन का प्रयास किया तो स्वभावतः उन्हें काल और घटनाओं में सम्भाव्यता और पूर्ण ऐक्य स्थापित हेर फेर करने पड़े। पर मगध विद्रोह में शकटार ने नंद का वध किया नंद के पुत्र का नहीं। इसके उपरान्त सर्वप्रथम उसी ने चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाने की घोषणा की।

'मुद्राराक्षस' में चाणक्य राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का वध करने के लिए भेजी गई विष कन्या द्वारा पर्वतक का वध करवा देता है। महत्वाकांक्षी पर्वतक चाणक्य के हाथ की कठपुतली बनने के उपरान्त उसकी कूटनीति का शिकार बन जाता है। चन्द्रगुप्त नाटक में पर्वतेश्वर की महत्वाकांक्षा केवल चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य में प्रकट हुई है। मदमत्त पर्वतेश्वर कल्याणी के साथ बलात्कार कर आधे मगध पर शासन करना चाहता है। यहाँ चाणक्य की कूटनीति की आवश्यकता नहीं पड़ी है। नंद दुहिता कल्याणी क्रोध में पर्वतेश्वर का वध कर स्वयं आत्मघात कर लेती है। मार्ग के दोनों कण्टक दूर हो जाते हैं। यह घटना काल्पनिक है किन्तु महत्वाकांक्षा से रहित पर्वतेश्वर का वध सम्भवतः चाणक्य के लिये औचित्य के विरुद्ध होता। पर एक आकस्मिक घटना द्वारा पर्वतेश्वर को हटा अधिक स्वाभाविक है यद्यपि इस कारण चाणक्य के चरित्र का कौटलीय रूप कम हो गया है। विषकन्या वाली घटना को न लेकर प्रसाद ने ठीक ही किया है क्योंकि विषकन्या का आलिंगन ही मृत्यु का कारण होने के कारण सम्भवतः यह घटना उन्हें 'मुद्राराक्षस' की ही भाँति मुख्य रूप में रखनी पड़ती। इस प्रकार के सूक्ष्म हस्य कथानक में कौतूहल की सृष्टि करने में प्रायः असमर्थ ही सिद्ध होते हैं।

सुवासिनी और चाणक्य के सम्बन्ध में राक्षस का सन्देह एवं पुनः चाणक्य से उसकी प्रतिद्वन्द्विता केवल चतुर्थ अंक की घटना को आगे बढ़ाने के लिये आए हैं। वस्तुतः चतुर्थ अंक की घटना को हम नाटक से पूर्णतः अलग कर सकते हैं। मूल कथानक की एक चरमसीमा तृतीय अंक में ही समाप्त हो जाती

---

१ कथासरित्सागर — प्रथम तरंग

है अत तृतीय और चतुर्थ अंक को जोड़ने के लिये कई छोटे छोटे काल्पनिक संवादों की सृष्टि की गई है। उन्हीं में से एक यह भी है।

चन्द्रगुप्त ने सिंहासन पर बैठते ही दक्षिण विजय की। इतिहास से ज्ञात होता है कि अशोक की एक मात्र विजय 'कलिंग-विजय' थी अत नर्मदा के दक्षिण प्रदेश की विजय का कार्य या तो बिन्दुसार ने किया या चन्द्रगुप्त ने। स्मिथ का अनुमान है कि दक्षिण विजय का कार्य संभवतः बिन्दुसार ने किया।[1] अन्य ऐतिहासिक प्रमाण बिन्दुसार की किसी भी विजय की सूचना नहीं देते अतः यही स्वीकार करना उचित है कि यह विजय चन्द्रगुप्त ने ही की थी।[2] विजयोत्सव सम्बन्धी घटना का आधार 'मुद्राराक्षस' है। अन्तर केवल इतना है कि मुद्राराक्षस में 'कौमुदी महोत्सव' के कारण चाणक्य चन्द्रगुप्त का संघर्ष बनावटी और चाणक्य की एक चाल मात्र है। प्रसाद ने उसे वास्तविकता का जामा पहिनाकर चन्द्रगुप्त के चरित्र की विशेषता प्रदर्शित की है। चन्द्रगुप्त रक्षा के लिए मालविका की हत्या राक्षस का षड्यन्त्र इत्यादि घटनाएं काल्पनिक हैं किन्तु अर्थशास्त्र[3] और मुद्राराक्षस दोनों से इनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। दोनों में शत्रुओं के षड्यन्त्रों से राजा[4] की रक्षा के प्रयत्नों का उल्लेख हुआ है। अपमानित होकर मौर्य सेनापति और चन्द्रगुप्त की माता का राज्य छोड़कर चला जाना पूर्णतया काल्पनिक है। इसका उपयोग अन्त में किया गया है जहां चाणक्य के चरित्र की मूल उज्ज्वलता के प्रदर्शन के लिये मौर्य सेनापति उसका वध करने जाकर भी क्षमा पाता है। चतुर्थ अंक के छठे दृश्य में राक्षस को सिल्यूकस के पास भेजकर प्रसाद ने एक काल्पनिक घटना का सृजन किया है। उक्त घटना से यवन-कन्या का चरित्र भले ही अधिक सुन्दर बन गया हो पर राक्षस का चरित्र बहुत गिर गया है जो 'मुद्राराक्षस' के 'राक्षस' के चरित्र का पूर्णतः विरोधी है। यहां उस पर देश-द्रोह का आरोप लग सकता है।

जहां तक दाण्ड्यायन का प्रश्न है यह कहना कठिन है कि दाण्ड्यायन ने चन्द्रगुप्त के साथ संधि की अथवा नहीं। उसका बाकी घटना तो काल्पनिक है ही दाण्ड्यायन और चाणक्य का सम्पूर्ण संवाद भी काल्पनिक है। दाण्ड्यायन का हृदय परिवर्तन करना अभीष्ट होने के कारण प्रसाद ने इस घटना का सृजन किया है। इतिहास से इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं दूंढे जा सकते। सुवासिनी सम्बन्धी सम्पूर्ण घट

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (स्मिथ) पृ १०५

(२) दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ९१

(३) सुरंगया चास्य राजवासमनुप्रविश्य गुप्तश्च हन्यात—अर्थशास्त्र १२।५।६१

(४) मुद्राराक्षस अंक २ पृ० २९

गए काल्पनिक हैं—यथा चाणक्य द्वारा सुवासिनी की प्रणय प्रार्थना का ठुकराया जाना और सुवासिनी का बौद्ध शिविर में जाकर राक्षस और कार्नेलिया दोनों के हृदयों में परिवर्तन करना ऐतिहासिक नहीं हो सकता। इनसे घटना का प्रवाह अवश्य बढ़ता है और वैचित्र्य की सृष्टि होती है।

सिल्यूकस का आक्रमण अवश्य ऐतिहासिक है और उसकी हार भी।[1] यह भी सत्य है कि सिल्यूकस ने संधि की शर्तों में हिन्दूकुश पर्वतमाला तक के प्रदेश को चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा मान लिया था साथ ही दोनों सम्राटों के बीच एक वैवाहिक सम्बन्ध भी हुआ।[2] इतिहास में इसके पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि सिल्यूकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त से ही हुआ था। प्रसाद ने संधि की शर्तों में इन दोनों का उल्लेख किया है। सीरिया पर एण्टिगोनस की चढ़ाई का अवसर उठाकर सिल्यूकस को इन शर्तों को स्वीकार करने के लिये मजबूर कर दिया गया है। प्रसाद के अनुसार एक यवन-कन्या भी सिल्यूकस की सहायता के लिये गई थी। यह घटना भी इतिहास सम्मत है।[3] सिल्यूकस ने परोपनिषद् (काबुल) एरिया (हिरात) एरकोसिया (कंधार) और गेड्रोसिया (मकरान) के इलाके चन्द्रगुप्त को दिये थे।[4] चतुर्थ अंक का तेरहवाँ दृश्य पूर्णतया काल्पनिक होने के साथ ही बहुत कुछ ऐतिहासिकता का विरोध करता हुआ प्रतीत होता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त सम्भवतः चाणक्य ने बिन्दुसार का मंत्रित्व भी किया था।[5] ऐसी दशा में यहाँ चाणक्य का निष्काम होकर विरक्त हो जाना ऐतिहासिक नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि इस परिवर्तन से चाणक्य के चरित्र की उच्चता का पूर्ण निखार हो सका है किन्तु घटना क्रम कुछ बदल अवश्य जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रसाद ने मुद्राराक्षस के अंतिम अंक को थोड़ा-सा बदल कर अपना बना लिया है। चाणक्य की प्रेरणा से ही चन्द्रगुप्त को राक्षस का मंत्रित्व मिल सका है। दूसरा ऐतिहासिक आधार जैन इतिहास है[6] जिसके अनुसार चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही जैन साधु हो जाते हैं। इसे प्रसाद ने स्वयं ही अनैतिहासिक और भ्रामक मान लिया है।[7]

---

(१) स्ट्राबो बुक २ चैप्टर २ ९

(२) देखिए 'चन्द्रगुप्त एँड हिज़ मौर्य इम्पायर' (राधाकुमुद मुकर्जी) पृ० ६०

(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया—(स्मिथ) फुटनोट पृ० १२१

(४) वही (स्मिथ) [illegible] पृ० १२८

(५) (स्मिथ) पृ० १२७

(६) रामनाम १७२ इंडियन एँटिक्वेरी २१। (१८९२) पृ० २८७

(७) चंद्रगुप्त (भूमिका) पृ० ५०

इसी दृश्य में मौर्य सेनापति द्वारा चाणक्य के वध का प्रयत्न सुवासिनी द्वारा उसकी रक्षा और अन्त में चाणक्य द्वारा उसको क्षमा किया जाना काल्पनिक घटनाएं हैं और मात्र चाणक्य और चंद्रगुप्त के चरित्रों को सबल बनाने के लिये इनका उपयोग किया गया है।

अन्तिम दृश्य की घटना का सम्बन्ध इतिहास से होना ही चाहिये। चंद्रगुप्त और सिल्यूकस की संधि यदि इतिहास है, उनके बीच कन्या सम्प्रदान यदि ऐतिहासिक सत्य है तो अन्तिम दृश्य की ऐतिहासिक संभाव्यता में कहीं भी आघात नहीं पहुंच सकता।

'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक

'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु का आधार गुप्तकालीन इतिहास के सम्बन्ध में नूतन ऐतिहासिक गवेषणा थी। प्रसाद के समकालीन इतिहासकारों ने 'श्रृंगार प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' से प्राप्त 'देवी चंद्रगुप्त' नाटक के कुछ उद्धरणों के आधार पर रामगुप्त और ध्रुवदेवी के सम्बन्ध में गुप्त इतिहास का एक नवीन कड़ी को जोड़ने का प्रयास किया। प्रसाद ने इस नाटक के उस के लिए ध्रुव इतिहास की जिस सामग्री का उल्लेख किया है उसमें से सवात ताम्रपत्र समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति हर्षचरित श्रृंगार प्रकाश तथा नाट्य-दर्पण मुख्य हैं। भूमिका में जिन इतिहासकारों की उन्होंने चर्चा की है वे जायसवाल राखलदास बनर्जी अल्टेकर अबुलहसन अली तथा भण्डारकर हैं। स्मृतिकारों में नारद और पाराशर को प्रमाण स्वरूप ग्रहण किया गया है।

जहाँ तक कथानक का प्रश्न है 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक न तो 'प्रसाद मनु' की तरह कई कथानकों से बना है और न उसे स्कंदगुप्त की तरह ही अनुकुंचित बनाकर विकसित किया गया है। चंद्रगुप्त और राज्यश्री की तरह उसमें सुदीर्घ-काल की सामग्री को श्रमपूर्वक ठूंसने का प्रयास भी नहीं है। कथानक अत्यंत सीधा एवं सरल है अतः तीन अंकों में विभाजित इस नाटक की कथावस्तु का प्रत्येक अंक में गुम्फित कथावस्तु के आधार पर ही विवेचन किया जाना उचित है।

वस्तुतः रामगुप्त सम्बन्धी इतिहास के अनुसन्धान का श्रेय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को जाता है। उसके उपरांत डाक्टर सिलवां लेवी ने इस समस्या पर विचार किया था। प्रसाद ने नाटक की भूमिका में इन दो नामों का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि इनके बाद के सभी इतिहासकारों की उसमें यथास्थान चर्चा हुई है।

रामगुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। अयोग्य एवं दुर्बल चरित्र का व्यक्ति होने के कारण सम्राट ने उसे राज्याधिकार से वंचित कर चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित कर दिया। समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त शिखर स्वामी ने 'ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होना चाहिए"—इस सिद्धान्त की आड़ लेकर रामगुप्त को ही सम्राट बना दिया। गुप्तकुल की गौरव रक्षा के विचार से चन्द्रगुप्त ने भारत के समान प्राप्य राज्य का भार रामगुप्त को ही सौंप दिया पर कुटिलता की प्रतिमूर्ति रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी का भी अपहरण कर उससे विवाह कर लिया। विवाहिता होने पर भी ध्रुवस्वामिनी को नीरव अपमान के अतिरिक्त और कुछ न मिला। वह यह भी न जान सकी कि वह

पर राजा का जितना अनुग्रह है न उसने कभी उसका मधुर संभाषण सुना क्योंकि विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त रामगुप्त को अपने ही आनन्द से अवकाश नहीं मिलता था। विवाह के पूर्व ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त एक दूसरे पर आसक्त थे। चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों को जानने के लिए संशयी रामगुप्तने गूंगी का अभिनय करने वाली खड्गधारिणी को उसकी अंगरक्षिका बना दिया। कुब्ज की आड़ में छिपाकर उसने जान लिया कि जगत की अनुपम सुन्दरी राजाधिराज होते हुए भी उससे स्नेह नहीं करती और उसके हृदय के किसी कोने में अब भी चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम छिपा हुआ है। रामगुप्त को यह भी आशंका थी कि सहसा राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। सभी विरोधी तत्वों को एक साथ हटाने के लिये उसने एक दुष्ट उपाय सोच निकाला।

रामगुप्त दिग्विजय करने निकला। पार्वत्य प्रदेश में शकों ने उस पर आक्रमण कर दिया और किसी पहाड़ी राह से उतर कर नीचे का गिरिपथ रोक लिया। शिविर घिर गया। शकराज ने सन्धि का जो प्रस्ताव भेजा उसमें एक शर्त यह थी कि महादेवी ध्रुवस्वामिनी शकराज को समर्पित की जाय और उसके सामन्तों को मगध के सामन्तों की स्त्रियाँ भेंट में दी जाय। रामगुप्त किसी ऐसे ही सुअवसर की प्रतीक्षा में था जिसमें भीतर और बाहर सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों। अत महादेवी के समक्ष ही शिखरस्वामी के परामर्श से यही निर्णय लिया गया कि राष्ट्र के हित के लिए स्त्री-समर्पण के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं तथा राष्ट्र-रक्षा-*यज्ञ में रानी की बलि देनी ही होगी।* ध्रुवस्वामिनी ने रामगुप्त से पत्नी के अधिकार की रक्षा की माँग की पर वह ठुकरा दी गई। ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या का प्रयत्न कर ही रही थी कि मंदाकिनी से सब समाचार पाकर चन्द्रगुप्त वहाँ आ पहुँचा। जिस कुलमर्यादा की रक्षा के लिये उसने राजदण्ड ग्रहण न कर अपना प्राप्य अधिकार छोड़ दिया उसी का इस प्रकार पददलित होना उसे सहन नहीं हुआ। उसने रामगुप्त और शिखरस्वामी दोनों को बुरी तरह फटकारा और यह निर्णय किया कि सामन्तकुमारों को लेकर ध्रुवस्वामिनी के वेश में वह स्वयं शकराज के पास जायगा। रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को भी दण्ड देना चाहता था अतः उसने राजाज्ञा के नाम पर ध्रुवस्वामिनी को भी शकराज के पास जाने को विवश किया। इस अवसर पर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम का भी संकेत मिल जाता है। इस अंक में बौने कुबड़े और हिजड़े के द्वारा हास्यरस की सृष्टि करने का भी प्रयास किया गया है।

शकराज के गुरु मिहिरदेव की पालिता कन्या कोमा शकराज को प्यार करती थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि सन्धि की शर्तों में ध्रुवस्वामिनी को शकराज

ने उपहार स्वरूप माँगा है तब उसने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसने और मिहिरदेव ने भी शकराज को समझाने की बहुत चेष्टा की पर शकराज पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मिहिरदेव ने धूमकेतु की ओर संकेत कर उसके सर्वनाश की ओर संकेत किया और उसे छोड़ कर चल दिया। कोमा भी शकित शकराज के रोकने की चिन्ता न कर चली गई। रामगुप्त द्वारा संधि की शर्तें स्वीकृत होने के फलस्वरूप अनायास प्राप्त की हुई विजय के उपलक्ष में शकराज के दुर्ग में रागरंग चल ही रहा था कि ध्रुवस्वामिनी के वेश में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को लेकर दुर्ग में आ पहुँचा। वास्तविक ध्रुवस्वामिनी कौन है इस पर क्षणिक वाद विवाद के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने शकराज का वध कर डाला और उसका तूर्यनाद सुनकर सामन्तकुमारों ने शक दुर्ग को जीतकर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

शकदुर्ग की स्वामिनी ध्रुवस्वामिनी और मंदाकिनी ने शांतिकर्म के लिये आये हुए पुरोहित के सामने क्लीव पति और अयोग्य राजा के द्वारा परित्यक्ता एवं भेंटस्वामी के समान शत्रु के पास प्रेषिता नारी के अधिकारों का प्रश्न रखा। पुरोहित एक बार पुनः धर्म शास्त्र का मंथन कर निर्णय देने का आश्वासन देकर चला गया। कोमा और मिहिरदेव शकराज का शव लेकर जा रहे थे कि रामगुप्त के सैनिकों ने दोनों का वध कर डाला। इस घटना से सामन्तकुमार उत्तेजित हो गये। उधर रामगुप्त के सैनिकों ने चन्द्रगुप्त को भी बन्दी बना लिया और ध्रुवस्वामिनी के व्यंग प्रहारों से क्रुद्ध होकर रामगुप्त ने उसे भी बन्दी बनाने की आज्ञा दी तो चन्द्रगुप्त ने लौहश्रृंखलाएं तोड़ दीं और परिषद् के सामने अपने अधिकार रखे। परिषद ने निर्णय दिया कि रामगुप्त आर्यसाम्राज्य के पवित्र सिंहासन पर बैठने के अधिकार से पदच्युत किया जाय और गौरव से नष्ट आचरण से पतित कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर भी कोई अधिकार नहीं। इस निर्णय से बौखलाया हुआ रामगुप्त चन्द्रगुप्त पर वार करना ही चाहता था कि एक सामन्त कुमार ने रामगुप्त का वध कर दिया।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु का विवेचन किया जा सकता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की परिणीता पत्नी थी। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों से इसकी पुष्टि होती है[1] और इस तथ्य को प्रायः सभी इतिहासकारों ने एकमत से स्वीकार कर लिया है।[2] रामगुप्त समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। किन्तु गुप्तकुल का यह नियम नहीं था कि ज्येष्ठ

(१) देखिये 'समीक्षायण' में डा० वरुण का लेख
(२) जर्नल आफ बिहार एँड ओरीसा रिसर्च सोसायटी
—अल्टेकर का लेख वौल्यूम १४/११२८

पुत्र ही सर्वथा सिंहासन का अधिकारी होता हो। इस धारणा का आधार समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में वर्णित 'राजपद के लिये चुनाव' की घटना है। उसमें पिता द्वारा चन्द्रगुप्त के चुन लिये जाने पर परिषद् के सभ्यों एवं तुल्य-कुलज अन्य राजकुमारों की मानसिक स्थितियों का वर्णन किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त अधिकांश गुप्तकालीन शिलालेखों में 'तत्परिगृहीतो' विशेषण का स्थान स्थान पर प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता जान पड़ता है।[2]

स्वयं चन्द्रगुप्त के शिलालेखों में समुद्रगुप्त के उपरान्त चन्द्रगुप्त का ही उल्लेख आता है। रामगुप्त का नहीं। अतः प्रसाद तथा अन्य इतिहासकारों के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाय कि गुप्त-वंशावली में रामगुप्त का नाम न आना आश्चर्यजनक नहीं[3] तो भी हमारे नाटक के संबंध में यह समस्या बराबर बनी रहती है कि यदि समुद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को ही भावी शासक चुना था तो रामगुप्त किस प्रकार सिंहासनासीन हो सका! नाटक से ज्ञात होता है कि रामगुप्त आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल गुप्तसिंहासन पर बैठा था और वह ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण सम्राट बन सका था। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के विरुद्ध कोई षड्यंत्र करके रामगुप्त शिखरस्वामी की सहायता से गुप्त-सिंहासन पर बैठा परन्तु इतिहास में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के जो उद्धरण अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के बीच परस्पर प्रेम और सौहार्द्र की भावना थी। यदि शक-युद्ध और चन्द्रगुप्त की विजय से पूर्व रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच राज्याधिकार के कारण विरोध होता तो शायद शिवास्वामी की लेखनी से ये शब्द न निकल सकते:—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। न शक्नोम्यहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे।
प्रत्यग्रयौवन विभूषितमंगमेतद्
रूपश्रियं च तव यौवन योग्यरूपाम्।
भक्तिं च मय्यनुपमां नु रम्यमाना।
देवी त्यजामि बलवांस्त्वयि मे अनुराग॥[4]

(उठो उठो, तुम्हारा त्याग करने में मैं असमर्थ हूँ। यौवन से विभूषित तुम्हारा यह अंग यौवन के अनुरूप तुम्हारा यह मोहक सौन्दर्य और मुझ में तुम्हारी

(१) तत्त्वेप्सुषु विदेषु-तुल्य-कुलज-म्लानाननोद्वीक्षितः
—प्रयाग प्रशस्ति (सरकार) पृ २६४

(२) स्कन्दगुप्त का बिहार का शिलालेख नं० २६ व भितरी का शिलालेख नं० २८ (सरकार)

(३) ध्रुव (भूमिका) पृ० ४ (४) जनरल आफ बी ऐंड औ रिसर्च सोसायटी बी १४।१६ प

यह अनुपम भक्ति—इन सब को देखते हुए मैं तुम्हारा त्याग न कर, महादेवी को त्याग देता हूँ । तुम पर तो मेरा प्रबल अनुराग है, गाढ़ी प्रीति है ।)

जो राजा अपने भाई के प्रति ऐसे वचनों का उच्चारण कर रहा है वह कम से कम उस समय तो उसका विरोधी नहीं होगा । इसके अतिरिक्त अबुलहसन अली भी इस बात पर कोई प्रकाश नहीं डालता कि रामगुप्त ने किस की कूटनीति द्वारा या छल से राज्य प्राप्त किया होगा । जायसवाल साहब का अनुमान है कि गुप्त सम्राटों द्वारा हिन्दू धर्म के विकास के फल स्वरूप हिन्दू धर्म के ज्येष्ठाधिकार का नियम धर्मशास्त्रता इस संघर्ष में विजयी हुआ हो तथा चन्द्रगुप्त ने भरत के आदर्श पर चलकर अपने बड़े भाई के लिए राज्य छोड़ दिया हो ।[1] किन्तु अल्तेकर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि चन्द्रगुप्त ने स्वेच्छा से राज्य छोड़ा । यह कहना कठिन है कि किस आधार पर उन्होंने चन्द्रगुप्त के राज्याधिकार को रामगुप्त द्वारा अन्याय से छिनवाया ।

नाटक के प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही ध्रुवस्वामिनी के अन्तर्द्वन्द्व से यह ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है और रामगुप्त को इस बात की पूर्ण आशंका है । आगे चलकर यह भी ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी किन्तु रामगुप्त के राज्याधिकार पा जाने पर वह रामगुप्त की पत्नी हुई । इसी कारण कुमार पर राजकोप है । वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी एवं चन्द्रगुप्त के इस पूर्व राग का साक्षी कोई भी नहीं । 'देवीचंद्रगुप्तम्' से तो यह भी ज्ञात नहीं हो पाता कि ध्रुवस्वामिनी कौन थी और उसका रामगुप्त से कैसे परिणय हुआ । पूर्ण नाटक के अभाव में यह कहना कठिन है कि नाटक का अंत किस प्रकार हुआ होगा । नाटक में प्रसाद की मान्यताओं का एक आधार 'मजुमलुत्तवारीख' की कथा है । उसके अनुसार रानी का विवाह पहिले बर्कमारीस (विक्रमादित्य) से निश्चित हुआ था किन्तु उसके बड़े भाई रव्वाल (राम) ने उसको अपनी रानी बना लिया ।[2] यदि इस पूर्व राग के लिए ठोस आधार है तो इतना ही । अन्यथा संभव साहसांक के 'हत्वा भ्रातरमेव राज्य महरद् देवीं च दीनस्तथा' जैसी उक्तियों से तो केवल इस अन्तिम घटना से पूर्व स्थितियों की कल्पना भर की जा सकती है । प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी के गुप्त-कुल में आने का कारण समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर 'कन्योपायनदान' की प्रथा को माना है । यह

(१) जर्नल ऑफ दी । एस० ओ० रिसर्च सोसायटी
—वोल्यूम १८। १६२-

(२) देखिये जायसवाल का लेख—
—जर्नल आफ दी एस० ओ० रिसर्च सोसायटी । वो १८।१६२२

संभाव्य होते हुए भी इस घटना के सम्बन्ध में इसकी ऐतिहासिकता को नहीं माना जा सकता। नाटक के प्रारम्भ में ही रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर चंद्रगुप्त अनुरक्ति का सन्देह और प्रमाण-संग्रह के लिए एक ब्रह्मचारिणी की नियुक्ति पूर्णतया काल्पनिक घटनाएं हैं जो केवल ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध की सूचक हैं। 'देवीचंद्रगुप्तम्' के अंशों से तो ऐसा प्रतीत होता कि ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त से सहज सम्बन्ध था। बहुत संभव है वह एक भारतीय नारी के ही समान पति में अनुरक्त भी हो। रामगुप्त ने स्त्रीवेशधारी चंद्रगुप्त को भेजना अस्वीकार कर ध्रुवदेवी को ही शत्रु के पास भेजने का निर्णय कर लिया। स्त्री वेशधारी चंद्रगुप्त से राजा ने जो कुछ कहा वह ध्रुवदेवी ने नेपथ्य से सुन लिया था। अत चंद्रगुप्त को अन्य स्त्री समझकर राजा के वाक्यों का मनमाना अर्थ निकालती रही और बारबार राजा के प्रति अपनी निष्ठा और प्रेम की सूचना देती रही।

"ध्रुवदेवी—(अन्य स्त्री शंकया)—(यदि भक्ति अपेक्षसि ततो मं मन्दभागिनीं ण परित्यक्ष्यसि।) यदि भक्तिमपेक्षसे ततो मां मन्दभागिनीं न परित्यक्षसि। (यदि आप भक्ति की ओर देखें तो मुझ मंदभागिनी का कभी त्याग न करेंगे।)

राजा—अपि च त्यजामि देवी तृणवत् त्वत्कृते (तुम्हारे लिए मैं देवी को तृणवत् छोड़ सकता हूँ)

× × × ×

ध्रुव०—(अहं वि जीविद परिच्चअंती पढमदरं एव्व परिच्चइस्से) अहमपि जीवितं परित्यजन्ति आर्यपुत्रं प्रथमतरमेव परित्यक्षामि (उसके पहिले तो मैं ही प्राणत्याग करके स्वामी को छोड़ दूंगी)

× × × ×

राजा—कोऽपि देवी प्रति मे दयालुता
(देवी के प्रति मेरी दयालुता अब भी रह है)

ध्रुव०—(इयं अज्जउत्तस्स दयालुदा जं अणवरद्धो जणो अणुरत्तो एवं परिच्चई अदि।) इयमार्यपुत्रस्य दयालुता यदनपराधो जनोऽनुरक्त एव परित्यज्यते (जिसने कोई अपराध नहीं किया और जो आर्य पुत्र की अनुगामिनी है उसका इस प्रकार परित्याग किया जा रहा है, क्या खूब।"[1]

× × × ×

उपर्युक्त उद्धरण में ध्रुवस्वामिनी स्वयं राजा की अनुगामिनी होना स्वीकार करती है साथ ही अन्य स्त्री के प्रति राजा के आकर्षण की ईर्ष्या और तज्जन्य कटुता

(१) समीक्षायण—डा० कन्हैयालाल सहल 'ध्रुवस्वामिनी का आनुमानिक कथानक'

उसमें पर्याप्त मात्रा में है।[१] प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत प्रारम्भ से ही यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि ध्रुवस्वामिनी ने न तो कभी राजा से सरल संभाषण किया और न राजा के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की निष्ठा या अनुराग ही था। यह सब प्रसाद की अपनी योजना है और इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। इसी कारण प्रारम्भ से ही कुमार चन्द्रगुप्त राजकोप का भाजन बना। इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः प्रसाद ने प्रारम्भ से ही समस्त कथानक अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ दिया है।

प्रतिहारी सूचना देती है कि शकों ने किसी पहाड़ी राह से उतरकर नीचे का गिरिपथ रोक दिया है और शिविर का सम्बन्ध राजपथ से छूट गया है। इससे पुनः एक नवीन प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह घटना कहाँ और क्यों हुई ? नाटक में आगे दी गई सूचनाओं से ज्ञात होता है कि रामगुप्त भी समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था और किसी पहाड़ी प्रदेश में शकों ने उस पर आक्रमण कर दिया। इतिहास से रामगुप्त की किसी भी दिग्विजय की सूचना नहीं मिलती। सम्भव है समुद्रगुप्त की ही तरह रामगुप्त के सिक्कों में भी काचोगां अभिजित्य दिवं कर्मभिर्-उत्तमैर् जयति सर्वराजोच्छेत्ता[२] जैसा विरुद देखकर प्रसाद ने इसकी कल्पना करली हो परन्तु घटना ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक ही कही जायेगी। जहाँ तक शकों के आक्रमण का प्रश्न है, यह घटना अवश्य ऐतिहासिक मानी जा सकती है क्योंकि 'नाट्य-दर्पण' के अनुसार—"यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनाय यियासुः प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमार चन्द्रगुप्तो विज्ञापयन्नुच्यते"[३] यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रजा को आश्वासन देने के लिए' राजा रामगुप्त ने शकों को ध्रुवदेवी का देना स्वीकार कर लिया। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शकों ने रामगुप्त को कहीं इस प्रकार पराजय अवश्य दी जहाँ वह इतना बड़े अपमान को भी चुपचाप पी गया और इसी सम्प्रदान के लिए प्रस्तुत हो गया। शकों के आक्रमण सम्बन्धी विवरण हमें कहीं नहीं मिलते किन्तु इसी घटना सम्बन्धी शृंगारप्रकाश काव्यमीमांसा और हर्षचरित के स्वतन्त्र उद्धरणों से इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि शकों ने रामगुप्त को पराजित कर ध्रुवदेवी की माँग की होगी और उसने इस

---

(१) अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्री प्रत्ययादुद्धदेव्या गुरमनुस्तारपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्ति '

—जे बी ओ आर ऐस (अल्टेकर का लेख)

(२) (ऐलैन)—कैटलॉग ऑफ इण्डियन क्वाइन्स १२।१

(३) जे बी ओ आर ऐस—अल्टेकर का लेख

शर्त को स्वीकार कर लिया होगा। इस आक्रमण के सम्बन्ध में अबुलहसन अली की सूचना महत्वपूर्ण है।[1] अबुलहसन अली लिखता है।

'रसाल कर्फंद का पोता और अयन्द का पुत्र था। रव्वाल (रामगुप्त) को सिंहासनाधीन होने के पूर्व वह भगा दिया गया। रसाल के पुत्र ने एक बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया और रव्वाल को भगा दिया। रव्वाल अपने भाइयों और प्रधान पुरुषों के साथ एक पहाड़ी दुर्ग में चला गया। दुर्ग की रक्षा का प्रबन्ध कर वे निश्चिंत हो गये पर शत्रु ने बड़ी चतुराई से दुर्ग को घेर लिया। रव्वाल ने संधि करनी चाही। उत्तर मिला कि तुम्हारी अविवाहिता वधू अपनी भाभियों के साथ यदि प्रत्येक राजपुरुष मेरे सरदारों के लिये एक एक लड़की देवें तो मैं वापस लौट सकता हूँ।'[2] यहाँ स्पष्ट ही पहाड़ी दुर्ग की चर्चा हुई है। राजशेखर के उद्धरण में भी—'तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे गीयन्ते तव कार्तिकेय नगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः'[3] हिमालय की गुफाओं का उल्लेख सम्भवतः इसी ओर संकेत करता हो। विद्वानों ने इसी आधार पर इस युद्ध का कार्तिकेयपुर में होना स्वीकार किया है जिसको वे कांगड़ा से लेकर अल्मोड़ा में बैजनाथ की घाटी तक में होना स्वीकार करते हैं।[4] कुछ भी हो प्रसाद ने किसी नाम का उल्लेख नहीं किया अतः हम इस प्रश्न को यहीं छोड़ सकते हैं।

ऊपर अबुलहसनअली के आधार पर हम देख चुके हैं कि संधि की प्रार्थना रव्वाल (रामगुप्त) ने की थी। प्रसाद ने प्रथम अङ्क में ही यह प्रदर्शित किया है कि शकराज ने संधि के लिये दूत भेजा। शकराज समुद्रगुप्त की दिग्विजय में पराजित शकों का बदला इस प्रकार अपमानजनक प्रस्ताव से लेना चाहता था। इस शकराज का प्रसाद ने कोई नाम नहीं लिखा है। अतः यहाँ यह प्रसंग उठाना भी अनावश्यक सा ही है कि वह शकराज कौन था। इतिहासकारों की मान्यता है कि वह सम्भवतः रुद्रसिंह तृतीय था जो पश्चिमी क्षत्रपों की शाखा का शासक था। सम्भव है प्रसाद का शकराज यही रुद्रसेन हो। इन सम्बन्धी घटना का अन्य कोई प्रमाण नहीं है अतः यही मानना पड़ेगा कि प्रसाद की उक्त मान्यता अपनी स्वतन्त्र है ऐतिहासिक नहीं।

---

१ अबुलहसनअली एक अरबी था जिसने किसी भारतीय पुस्तक का 'मुजमुल उत तवारीख' के नाम से अरबी में अनुवाद किया। १०२६ ई० में इसका फारसी में अनुवाद हुआ।

२ जे बी ओ आर एस—जायसवाल १८।१९३२

३ काव्य मीमांसा (राजशेखर) १४।१९२८

४ ध्रु० (भूमिका) पृ० ८

जहाँ तक संधि की शर्तों का प्रश्न है प्रसाद ने इस सम्बन्ध में अनुश्रुतियों को पूर्णतया स्वीकार किया है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से तो केवल यही अनुमान होता है कि शकों ने ध्रुवदेवी का ही माँग की थी। हर्षचरित के टीकाकार शंकर के कथन से अवश्य हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शकाधिपति ने केवल ध्रुवदेवी की ही माँग न की होगी वरन् साथ ही अन्य कुल-कन्याओं को भी माँगा होगा।[1] ठीक यही सूचना 'मुजमुल उत्-तवारीख' से मिलती है। नाटक में संधि की इस अपमानजनक शर्त को राजा अपने मन्त्री शिखरस्वामी की मंत्रणा के आधार पर स्वीकार कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं रामगुप्त भी ध्रुवस्वामिनी से मुक्त होना चाहता था। यहीं बीच में कुबड़े-बौने-हिजड़े का एक काल्पनिक हास्य-व्यंगात्मक प्रसंग आया है जो अनैतिहासिक है किन्तु अनावश्यक नहीं क्योंकि इसी प्रसंग से चन्द्रगुप्त के मन में स्त्री वेश धारण करने का विचार उत्पन्न होता है। शिखरस्वामी संधि की ये शर्तें ध्रुवस्वामिनी के सम्मुख रखता है। यह सम्पूर्ण घटना तो नहीं किन्तु इसका एक भाग 'मुजमुल-उत-तवारीख' से लिया गया है। अनुश्रुति में मिलता है —

'जब रव्वाल को संधि की शर्तों का ज्ञान हुआ तो वह निरुपाय हो गया। उसका सफर नामक एक अच्छा वज़ीर था उससे करणीय कर्तव्य पूछा। वज़ीर ने उत्तर दिया कि वह स्त्री को दे दे और अपनी रक्षा करे तभी वह बाद में शत्रु से बदला ले सकता है। यदि वह मर गया तो पुत्र स्त्री और धन से क्या लाभ। अन्त में यह निश्चय हो गया कि स्त्री-सम्प्रदान ही ठीक है।[2]

ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त और शिखरस्वामी के सम्पूर्ण वार्तालाप काल्पनिक हैं। हाँ इतना अवश्य माना जा सकता है कि राजा के चरणों में बैठकर ध्रुवस्वामिनी ने दया की जो भिक्षा माँगी, सम्भवतः उसको लिखते समय प्रसाद के मन में 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' का पूर्वोक्त प्रसंग रहा हो जिसमें अन्य स्त्री की शंका से ध्रुवदेवी स्वगत कथनों द्वारा अपने उद्गार प्रकट करती है। राजा के प्रति ध्रुवदेवी का क्षोभ 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के निम्न अवतरण में मिलता है—

राजा— देवी वियोग दुःखार्तामित्थमस्मात् रमयिष्यामि (देवी वियोग के दुःख से तुम दुःखी होगी किन्तु तुम्हारे पास रहने से हम उस दुःख को भूल जायेंगे।)

---

(१) आकारमाचार्य शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजन परिवृतेन व्यापादितः"

(२) जे बी ओ आर एस—१८।१९३२

नाटक में यहाँ तक की घटनाएं तो मुजमुल-उत-तवारीख से मेल खाती हैं किन्तु इसके उपरान्त की घटना उन्होंने छोड़ दी है। नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त के तूर्यनाद करने पर शक-दुर्ग में युद्ध होता है और अन्त में चन्द्रगुप्त और अन्य स्त्रीवेष धारी सामंत ही दुर्ग पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। मुजमुल-उत-तवारीख में बर्कमारीस की सहायता के लिये रव्वाल अपनी सेना तैयार रखता है क्योंकि बर्कमारीस की योजना के अनुसार तूर्यनाद सुनते ही रव्वाल और उसके सैनिकों को शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिये प्रस्तुत रहने का निर्देश किया गया है।[1] इसका कारण स्पष्ट है। प्रसाद जिस तरह से घटनाओं की योजना करते हैं उस प्रकार रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में कोई स्नेह सम्बन्ध के लिये स्थान नहीं और रामगुप्त वस्तुतः चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों से छुटकारा पाना चाहता है। इस घटना का इस रूप में विस्तृत उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है। स्त्रीवेष में शकराज के वध की घटना अन्यत्र भी मिलती है।[2]

तृतीय अङ्क में रामगुप्त का अपने सैनिकों सहित शक-दुर्ग में आगमन एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः हम जैसा पहले कह चुके हैं मुजमुल-उत-तवारीख के अनुसार भी रव्वाल अपने सैनिकों के साथ शक-दुर्ग में गया था। प्रसाद ने इतना अन्तर कर दिया है कि नाटक में वह दुर्ग-विजय के उपरान्त पहुँचता है और यह नाटक के चरित्र तथा घटनाओं के अनुरूप ही है। कोमा और मिहिरदेव का ध्रुवस्वामिनी के पास आगमन और रामगुप्त के सैनिकों द्वारा उनकी हत्या पूर्ण काल्पनिक प्रसंग है पर रामगुप्त के नाटकीय अन्त के लिये इसकी भी उपयोगिता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके बाद की घटना अत्यन्त महत्व की है। 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' नाटक के श्लोकों से घटना अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती किन्तु उक्त नाटक के पंचम अङ्क में चंद्रगुप्त (सम्भवतः अपने प्राणों की) रक्षा से उन्मत्त बनने का

(१) वही—(बामसवाल)

(२) (अ) अरिपुरे च परकलत्र कामुकं कामिनी वेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।

— हर्षचरित

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तेन भ्रातृजायां
ध्रुवदेवी प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवी वेशधारिणी
स्त्रीवेषजन परिवृतेन व्यापादितः

—शांकरी टीका

(ब) स्त्रीवेशनिह्नुतश्चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्।

—शृंगार प्रकाश (भोज)

बहाना करता हुआ राजमहल में फिरता है ।[1] अमोघवर्ष के ताम्रपत्र से यह भी ज्ञात होता है कि किसी गुप्त राजा ने भाई को मारकर उसका राज्य और उसकी महादेवी को स्वयं ले लिया । इतिहासकार इस गुप्त राजा को चन्द्रगुप्त मानते हैं । ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्भवतः देवीचन्द्रगुप्त में ध्रुव देवी की रक्षा के उपरांत चन्द्रगुप्त और देवी में प्रेम हो गया हो । राजा पर प्रकट होते ही उसने चन्द्रगुप्त का वध करना चाहा अपनी रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त ने पागलपन का बहाना किया और अन्त में अवसर पाकर रामगुप्त का वध कर दिया । 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में 'कृतकोन्मत्तस्य' 'मदनविकार-गोपनस्य एवं मत्ताक्ष बीभत्स' शब्द बड़े सार्थक प्रतीत होते हैं । 'मदनविकार-गोपनस्य' का प्रयोग वेश्या माधव सेना के सम्बन्ध में नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं नाटक में ही वेश्या के प्रति चन्द्रगुप्त के रस पूर्ण भाव स्पष्ट हैं ।[2] साथ ही सामान्या नायिका के प्रति अपने विकार को छिपाने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।[3] अतः निश्चय ही यह गुप्त प्रेम ध्रुवदेवी के प्रति ही होना चाहिए, जिसका परिणाम 'बीभत्स' में और जिसकी परिणति कृतकोन्मत्तस्य में स्पष्ट रीति से व्यक्त है ।

ध्रुवस्वामिनी मंदाकिनी और पुरोहित की बातचीत काल्पनिक है किन्तु यदि सम्पूर्ण ऐतिहासिक घटना को इतिहास से समन्वित करके देखा हो तो इस प्रकार

(१) अथ देवीचंद्रगुप्ते पंचमे' के—

* * * *

एवं स्वाभाविक कृतकोन्मत्तस्य कुमारचंद्रगुप्तस्य चंद्रोन्द वर्णनेन प्रवेश प्रतिपादितोति ।

* * * *

इयमुन्मत्तस्य चंद्रगुप्तस्य मदनविकार-गोपनपरस्य मानक धवलीउस्य राज कुलगमनार्थं निजानुभूतिकेति ।

(२) मागन्धामृतवर्ष शिरोन्मत्तचीरामता वेश्या ।
प्रथमेषु वरानने कुर्णाहपुरुष तथा तन्मया ॥
कुर्णाजेन विर्जयोत्तरस्य मन्मुर्रायोरप्यमी ।
केनाप्यस्तृतशाप्यको निजवान विस्तरीप्यामसिन ॥

—देवी चंद्रगुप्तम् ।

—माधवसेना मनुद्दिश्य कुमारचंद्रगुप्तस्योक्ति

(३) श्री डायसकाम की मान्यता है कि 'मदनविकार गोपनस्य' 'माधवसेना' संबंधी अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य प्रेम के निमित्त आया प्रतीत होता है ।

—जे. डी. ए. आर. ऐस

की घटनाओं का सृजन अनिवार्य हो जाता है। इतिहास से यह कहीं भी ज्ञात नहीं होता कि ध्रुवदेवी ने अपने पति और सम्राट रामगुप्त के विरुद्ध धर्म न्याय अथवा गुप्त-वंश की कीर्ति की रक्षा की थी। इतिहास इस सम्बन्ध में अधिक है भी नहीं परन्तु जो कुछ है उससे बीच की सम्पूर्ण घटनाएं एक दूसरा ही चित्र प्रस्तुत करती हैं चाहे उससे चंद्रगुप्त जैसे पराक्रमी और विशाल राजा के चरित्र पर कुछ भी प्रभाव पड़ता हो।

संजान ताम्रपत्र की साक्षी स्पष्ट है। 'हत्वा भ्रातरमेव' शब्दों का अन्य कोई अर्थ नहीं होता। विशाखदत्त की कथा उपलब्ध नहीं हो पाई और मुजमुल-उत तवारीख के अनुसार बर्कमारीस ने ही रव्वाल का वध किया। मुजमल के अनुसार रानी बर्कमारीस से प्रेम करने लगी क्योंकि उसका आग्रह पूर्व ही उससे हो चुका था और बर्कमारीस ने उसकी रक्षा की थी। राजा को इस बात का पता चला तो वह बर्कमारीस पर क्रुद्ध हुआ और उसे अपमानित किया। एक दिन रव्वाल और रानी राजमहल में बैठे हुए गन्ना खा रहे थे। रानी के हाथ में छुरी थी और वह उससे गन्ना छीलकर राजा को दे रही थी। द्वार पर प्रतिहारी भी नहीं थी। उसी समय बर्कमारीस एक भीम भिक्षुक के वेश में राजमहल में घुस गया। रानी के आग्रह से राजा ने उसको भी खाने के लिये गन्ना दिया। रव्वाल उस भिक्षुक को न पहचान सका। रानी ने उसको पहचान लिया था। राजा द्वारा गन्ना मिलते ही रानी ने उसे छीलने के लिए अपनी छुरी दे दी। संकेत समझकर बर्कमारीस ने छुरी से रव्वाल का वध कर दिया और बाद में रानी से स्वयं विवाह कर राजा बना। सभी प्रकार का दोष होते हुए भी बर्कमारीस ने उसे क्षमा कर दिया। सफर ने अपने नवीन मंत्रित्व काल में राजनीति पर एक ग्रन्थ लिखा और अन्त में चिता में जलकर अपने प्राण त्याग दिये।

उपर्युक्त विवरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सम्भव है कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का प्रेम ही रामगुप्त की मृत्यु का कारण रहा हो और इसमें ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों ने मिलकर षड्यंत्र किया हो। देवीचन्द्रगुप्तम् का सम्मत चन्द्रगुप्त और मजमुल-उल-तवारीख का विक्रमी बर्कमारीस एक दूसरे के बहुत समीप हैं। अतः इतना स्पष्ट है कि जायसवाल का यह मत किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रामगुप्त को अपनी प्रजा से युद्ध करना पड़ा और उसी में उसका वध किया गया।[1] ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्ट हैं। चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी

(१) 'दी साइकली ट्रू नेम एण्ड दी फोर्म आफ मोड्रेर रामगुप्त'—ध्रुवस्वामिनी (भूमिका)

वाजिरा श्यामा रजनी में ही बन्दीगृह पहुँचती है। यहाँ एक बात यह समझ में नहीं आती कि यदि यह घटना रात्रि की है तो रात्रि में ही दीर्घकारायण से लेकर प्रसेनजित और वासवी तक बन्दीगृह में कैसे पहुँच गये? वस्तुतः यह घटना दिन को ही होनी चाहिए। यहाँ श्याम-रजनी का प्रतीकात्मक अर्थ बन्दीगृह अथवा जीवन के निराश क्षण मान लेने से उक्त शंका का निराकरण किया जा सकता है।

तीसरे दृश्य का सम्बन्ध दो दृश्यों से है। विरुद्धक के घायल होने का सम्बन्ध द्वितीय अंक के अन्तिम दृश्य से है और श्यामा का सम्बन्ध उसी अंक के आठवें दृश्य से। इन दोनों दृश्यों और तीसरे दृश्य के बीच कितना अन्तर होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मल्लिका की सेवा शुश्रूषा से ही विरुद्धक को प्राणदान मिला है।[1] अतः यह अन्तर १५ दिन से लेकर १ माह तक का माना जा सकता है। घटना ४६४ ई० पू० के तीसरे या चौथे माह की है। सम्पूर्ण घटना का काल घंटे भर से अधिक का नहीं है। चौथे और तीसरे दृश्य के बीच अधिक अन्तर नहीं है। मल्लिका को कोशल की सीमा पर बनी अपनी कुटी से श्रावस्ती तक पहुँचने में जितना समय लगा होगा उतना ही अन्तर इन दोनों दृश्यों के बीच है। यह अधिक से अधिक एक सप्ताह का हो सकता है अन्यथा एक या दो दिन पर्याप्त समझे जा सकते हैं। दृश्य की घटना आधे घंटे से अधिक की नहीं है।

वस्तुतः दूसरे और पाँचवें एवं तीसरे-चौथे और पाँचवें दृश्यों के बीच पर्याप्त अन्तर होना चाहिए था। आवश्यकता होते हुए भी प्रसाद इस अन्तर को नहीं निभा पाये हैं। अजात के बन्दी होने से लेकर विवाह तक की घटना को कम से कम एक माह का माना जाय तो दूसरे दृश्य में विरुद्धक के घायल होने से लेकर स्वस्थ होने के काल को (तीसरा दृश्य) भी इतना ही मानना पड़ेगा। दूसरे और पाँचवें दृश्य को प्रसाद ने एक साथ ही दिन में घटित मान लिया है। चौथे दृश्य में मल्लिका कहती 'जाओ आज अपने स्वामी से क्षमा माँगो सुना जाता है कि अजात और वाजिरा का ब्याह होने वाला है, तुम भी उस उत्सव में अपने घर को सूना मत रखो।'[2] पाँचवाँ दृश्य विवाह के उपरान्त क्षमा याचना का ही है। अतः "आज" शब्द से तीनों घटनाएँ एक ही दिन में घटित सिद्ध होती हैं। पाँचवें दृश्य का घटनाकाल केवल कुछ ही घंटों का है। चौथे और पाँचवें दृश्य के बीच एक दो घंटों में सम्भवतः अजात और वाजिरा का विवाह सम्पन्न हुआ होगा।

---

(१) अजात० ३।१२०
(२) अजात० ३।१२७

छठे और पांचवें दृश्य के बीच अधिक अन्तर नहीं हो सकता। आलोक मालाओं के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त घटना उसी दिन रात्रि की है।[1] नागरिक कहता है "आज तो श्रावस्ती में महोत्सव है"[2] साथ ही वत्सराज कौशाम्बी से वैवाहिक उपहार लाया है पर वह कुछ पिछड़ गया है।[3] सम्पूर्ण घटना का काल बहुत ही कम है। सातवें दृश्य का सम्बन्ध वैशाली की गणिका आम्रपाली से जोड़ा गया है और इस अभिकल्पना को प्रसाद भूमिका में ही काल्पनिक स्वीकार कर चुके हैं। तिथिक्रम की दृष्टि से उक्त घटना का काल ४९४ ई० पू० से बहुत बाद का होना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के शासन-काल के नवें चातुर्मास में हुआ था। शासन सूत्र सम्भालने के कुछ ही वर्ष बाद लगभग ४८४ ई० पू० में अजातशत्रु ने लिच्छवियों पर आक्रमण कर दिया था और वह युद्ध ४६८ ई० पू० तक चलता रहा।[4] बिम्बसार का आम्रपाली से विमल कौण्डिन्य नामक एक पुत्र था।[5] अतः आम्रपाली का पूर्ण विलास-काल बिम्बसार के शासन काल में मानना पड़ेगा। बौद्ध ग्रन्थों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुद्ध अपनी मृत्यु से कुछ ही समय पूर्व जब अन्तिम बार वैशाली आये थे तभी अम्बपाली ने आम्रकानन और विहार बुद्ध को समर्पित किये थे।[6] अतः उक्त घटना ४८३ ई० पू० अथवा उससे कुछ ही पूर्व की मानी जा सकती है। सम्पूर्ण दृश्य की काल योजना बहुत थोड़े समय की है।

आठवें दृश्य का सम्बन्ध छठे से है और इन दोनों के बीच कम से कम लगभग १० माह से लेकर एक वर्ष तक का समय मानना पड़ेगा। इसी बीच अजात मगध लौट चुका है और वाजिरा से उसका एक शिशु भी उत्पन्न हो गया है। अतः उक्त घटना निश्चय ही ४९ ई० पू० भी माननी पड़ेगी। सम्पूर्ण दृश्य कुछ ही मिनटों का है। हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद ने अपने नाटक के नवें दृश्य की योजना प्राचीन जैन इतिहास के आधार पर की है और उसके अनुसार अजात को शिशुप्राप्ति के साथ ही बिम्बसार की मृत्यु हुई। उक्त मान्यतानुसार भी आठवें और नवें दृश्य के बीच काल का अन्तर बहुत कम होना चाहिए। प्रसाद ने भी ऐसा ही किया है। काल की दृष्टि से नवें दृश्य का प्रारम्भ और आठवाँ दृश्य एक साथ ही घटित माने जा सकते हैं। सम्पूर्ण नवां दृश्य एक घण्टे से अधिक का नहीं। यही दृश्य

---

(१) अजातशत्रु १।११२
(२) वही १।११४
(३) वही १।११२
(४) दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ २९
(५) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्स पृ० ११४
(६) वही .... पृ० १२५

बिंबसार की मृत्यु का भी सूचक है। बिम्बसार की मृत्यु का हम ४९३ ई० पू० में होना स्वीकार कर चुके हैं। नाटक के घटनाक्रम के अनुसार ४९१ ई० पू० के प्रारम्भिक चार पांच महीनों के उपरान्त ही उसकी मृत्यु हुई होगी। इस नाटक की काल-योजना का सबसे बड़ा दोष यही है कि यत्र-तत्र विभिन्न कालों की दूरस्थ घटनाओं को पास पास लाकर मिला देने का अवांछनीय और अनावश्यक प्रयास किया गया है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक की काल योजना

चन्द्रगुप्त नाटक की विस्तृत भूमिका में प्रसाद ने कई प्रमाणों के आधार प मौर्य कालीन तिथि क्रमों का पर्याप्त विवेचन किया है। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त नाटक से सम्बन्ध रखने वाली प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार हैं।

चन्द्रगुप्त की जन्म तिथि ---- ----	३४५ ई० पू०
सिकन्दर से मिलने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त के तक्षशिला पहुंचने की तिथि ---- ----	३२६ ई० पू०
सिकन्दर के विपाशा तट से वापस लौटने की तिथि ---- ----	३२५ ई० पू०
सिकन्दर की मत्यु और पंजाब में चन्द्रगुप्त द्वारा ग्रीकों के विरुद्ध आयोजित विद्रोह की तिथि ----	३२३ ई० पू०
उसके राज्यारोहण की तिथि ---- ----	३२१ ई० पू०
सिल्यूकस द्वारा भारत में आक्रमण किये जाने की तिथि ---- ----	३०५ ई० पू०
और चन्द्रगुप्त से उसकी सन्धि की तिथि ---- ----	३०२ ई० पू०

इन तिथियों के सम्बन्ध में इतिहासकारों में विशेष मतभेद नहीं है अतः प्रसाद द्वारा निर्धारित तिथियों को स्वीकार करने में विशेष आपत्ति नहीं।

सम्पूर्ण नाटक की अवधि

उपर्युक्त तिथियों को ध्यान में रखते हुए यदि सम्पूर्ण नाटक के कथानक पर विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक का आरम्भ ३२७ ई० पू० में होता है। नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही एक ओर तो सिकन्दर के अभियान की सूचना दी गई है और दूसरी ओर तक्षशिलाधीश का 'यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाल्हीक तक जाने का उल्लेख हुआ है।[१] यह वाल्हीक वस्तुतः ग्रीकों का बैक्ट्रिया प्रदेश है जिसे सिकन्दर ने ३३० ई० पू० विजय कर लिया था। उसी वर्ष वह हिन्दु-कुश को लांघकर सिकन्दरिया (एलेक्जेंड्रिया) नगर में आकर ठहरा था।[२] यदि तक्षशिलाधीश के सिकन्दर से मिलने वाल्हीक जाने के ठीक बाद ही

---

(१) अंक १ १ २७

(२) बौद्धकालीन भारत जनार्दन भट्ट पृ० १०६

प्रथम अङ्क का प्रारम्भ माना जाय तो नाटक ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। नाटक का अन्त चन्द्रगुप्त सिल्यूकस की सन्धि और कार्नेलिया के विवाह में होता है। प्रसाद ई० पू० ३०२ में इस घटना का होना स्वीकार करते हैं। अतः चन्द्रगुप्त नाटक की सम्पूर्ण घटना २२ वर्ष (३२७ ई० पू० से ३०५ ई० पू० तक) की है। स्मिथ के अनुसार ३२७ ई० पू० ऐलेक्जेण्ड्रिया से भारत की ओर अभियान करते समय सिकन्दर के साथ तक्षशिलाधीश भी थे जिन्होंने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी।[1] उक्त घटना उस वर्ष जून माह की है।[2] स्मिथ के अनुसार सिल्यूकस से सन्धि की घटना ३०३ ई० पू० की है।[3] इस तिथिक्रम को मानने पर चन्द्रगुप्त की सम्पूर्ण घटना का काल २४ वर्ष का हो जाता है।

सम्पूर्ण नाटक चार अङ्कों में विभाजित है। प्रथम अङ्क में ग्यारह, द्वितीय में दस तृतीय में नौ और चतुर्थ में चौदह दृश्यों की योजना की गई है। जैसा हम पहले

प्रथम अङ्क की अवधि

निर्धारित कर चुके हैं प्रथम अङ्क की घटना ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होती है। उसका अन्त दाण्ड्यायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की प्रथम भेंट में होता है। इस भेंट का काल प्रसाद के अनुसार ३२६ ई० पू० है। नीलकंठ शास्त्री भी इस तिथि को ३२६ ई० पू० के आस पास ही मानते हैं।[4] अतः प्रथम अङ्क की कथा ३२७ ई० पू० से ३२६ ई० पू० तक की एक वर्ष की कथा है। प्रथम और द्वितीय

द्वितीय अङ्क की अवधि

अङ्कों के बीच कम से कम एक माह का अन्तर माना जा सकता है क्योंकि चन्द्रगुप्त ग्रीक शिविर में इतने दिनों तक रहकर यवन रणनीति से कुछ परिचित हो गया है। द्वितीय अङ्क का प्रारम्भ भी ३२६ ई० पू० में ही होता है क्योंकि उसका प्रथम दृश्य ही उद्भाण्ड तट का है, और उद्भाण्ड का सेतु ३२६ ई० पू० बसन्त ऋतु में बनाया गया था।[5]

द्वितीय अङ्क सिकन्दर और मालव क्षुद्रकों के युद्ध में सिकन्दर के घायल हो जाने की घटना के साथ समाप्त होता है। स्मिथ के अनुसार उक्त युद्ध ३२५ ई० पू०

(१) 'इर्म्युरिंग दिस मार्च ईस्टवर्ड ट्रैवर्सिंग एण्ड परिक्रिमिटम वेर ए कम्पनीड बाइ दि किंग आफ तक्षिला ए ग्रेट सिटी बिट्वीन दि इण्डस एण्ड हाइडेस्पीस हू हैड मोस्ट नो टाइम इन ओवेइंग एलेक्जेण्डर्स समन्स एण्ड इन प्रोमिसिंग हिज सबमिशन एट दि डिस्पोजल आफ दि इनवेडर। दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ ५४

(२) वही पृ ११६ (३) वही पृ० १२५

(४) एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज के ए नीलकंठ शास्त्री पृ ७७

(५) चन्द्र २।१११ (६) वही २।१०७

(७) बौद्ध कालीन भारत—जनार्दन भट्ट पृ १६

जनवरी में कहा गया था।[1] 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में प्रसाद लिखते हैं 'क्रमशः वितस्ता चन्द्रभागा इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपाशा तट तक आया और फिर मगध के राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और ३२५ ई० पू० में फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर गया.......... इस मार्ग में सिकन्दर को मालव जाति से युद्ध करने में बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक दुर्ग के युद्ध में तो उसे ऐसा मर्माघात मिला कि वह महीनों तक बड़ी बीमारी झेलता रहा।'[2] 'चन्द्रगुप्त' नाटक का दूसरा अङ्क ठीक यहीं पर समाप्त होता है। अतः यदि उक्त घटना को ३२५ ई० पू० में मान लिया जाय तो सम्भवतः यह प्रसाद की मान्यता के विरोध में न होगा। इस दशा में दूसरे अङ्क का घटना काल भी ३२६ ई० पू० से ३२५ ई० पू० तक लगभग एक वर्ष का काल होगा।

तृतीय अङ्क की अवधि

तीसरा अङ्क सिकन्दर और मालव क्षुद्रकों की सन्धि से आरम्भ होकर मगध में चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण पर समाप्त होता है। दूसरे और तीसरे अङ्क की घटना के बीच कम से कम एक सप्ताह और अधिक से अधिक १५ दिन से अधिक का अन्तर नहीं प्रतीत होता। यदि इस घटना को स्वीकार कर लिया जाय कि मालव दुर्ग में सिकन्दर की पराजय हुई तो सिकन्दर ने सन्धि के लिए अधिक समय नहीं लिया होगा। उसके अवशिष्ट सैनिकों की वापस लौटने की उत्कट इच्छा ने उसे शीघ्र सन्धि करने के लिए बाध्य किया होगा। अतः तीसरा अङ्क ३२५ ई० पू० से ही प्रारम्भ होता है। प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि ३२१ ई० पू० है। अतः तृतीय अङ्क का घटना काल ४ वर्ष का है। स्मिथ इसे ३२२ ई० पू० मानते हैं।[3] ऐसी दशा में उक्त काल तीन ही वर्ष का रह जाता है।

चतुर्थ अङ्क की अवधि

चतुर्थ अङ्क पर्वतेश्वर की हत्या से आरम्भ होकर सिल्यूकस की पराजय और कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के विवाह पर समाप्त होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२१ ई० पू० स्वीकार कर लेने पर यह मान लेना कठिन नहीं कि पर्वतेश्वर की हत्या भी उसी वर्ष हुई होगी। वस्तुतः उक्त घटना इतिहास की नहीं है और उसका मूल स्रोत 'मुद्राराक्षस' नाटक है। मुद्राराक्षस के अनुसार भी पर्वतक की हत्या और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ। पृ० ११६
(२) चन्द्रगुप्त भूमिका पृ० २६
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० १२४

में अधिक समय का अन्तर नहीं है। अतः तृतीय और चतुर्थ अङ्क के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर माना जा सकता है जो पर्वतेश्वर जैसे प्रभावशाली राजपुरुष में निराशा और तज्जन्य ईर्ष्या उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि को प्रसाद ३ ५ ई पू में होना मानते हैं। अतः चतुर्थ अङ्क की कथा ३२१ ई. पू से ३०३ ई पू तक १६ वर्ष की है। *यदि स्मिथ*[1] *के आधार पर इसे ३०१ ई पू मानें तो उक्त अङ्क का काल १८ वर्ष* का हो जाता है।

नाटक के प्रथम अङ्क का पहला दृश्य ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। यह कहना कठिन है कि सिकन्दर के आक्रमण से कितने वर्ष पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त तक्षशिला में थे। प्रसाद ने 'मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की

प्रथम अङ्क की काल योजना

तिथि ३२७ या ३२८ ई० पू० मानी है'[2] क्योंकि ३२६ ई. पू में वह सिकन्दर से मिला था। यदि उक्त तिथि को माना जाय तो प्रसाद के घटना क्रममें स्वयं ही व्याघात उपस्थित हो जाता है। जस्टिन लिखता है 'मगधनरेश महापद्म नन्द का कोपभाजन होने के कारण चन्द्रगुप्त को निष्कासन का दण्ड दिया गया। प्रथम निष्कासन काल में ही वह सिकन्दर से मिला था।[3] चन्द्रगुप्त के निष्कासन की कथा को प्रसाद ने प्रथम अङ्क के पांचवें दृश्य में रखा है और प्रथम दृश्य में चन्द्रगुप्त को तक्षशिला में मगध साम्राज्य से भेजे गये विद्यार्थी के रूप में प्रदर्शित किया है जहाँ वह पाँच वर्ष तक रहा था।[4] अतः प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ३३२ ई पू से ३२७ ई पू तक अध्ययन करता रहा। ३२७ ई पू में ही सिकन्दर ने बक्ट्रिया तक के प्रदेश को विजय कर गांधार से मैत्री कर ली। ३२७ में ही चन्द्रगुप्त मगध लौट गया और संभवतः ३२७ ई पू के ही अन्तिम दिनों में उसे मगध से निष्कासित कर दिया गया। ३२७ ई पू में मगध का शासक धननंद था महापद्म नद नहीं। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त को महापद्मनद ने निकाला था। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो उपर्युक्त घटना ३२७ ई पू से बहुत पहले हुई होगी। जस्टिन को प्रमाण मान लेने पर यहाँ प्रसाद का तिथिक्रम काल्पनिक हो जाता है। यदि जस्टिन द्वारा प्रयुक्त 'नैन्ड्स' शब्द का अर्थ 'सिकन्दर' हो 'नंद' नहीं। तो उक्त घटना का

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १२१ व बौद्धकालीन भारत पृ० ११४
(२) चन्द्र० भूमिका । पृ० २७
(३) जिस्टन १५ ४ मैक्रिण्डिल, पृ० ३२७ ४०५
(४) चन्द्रगुप्त १ ७२
(५) मैक्रिण्डिल पृ० ३२७ ४०५

जनवरी में कहा गया था।[1] 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में प्रसाद लिखते हैं 'क्रमशः वितस्ता चन्द्रभागा इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपाशा तट तक आया और फिर मगध के राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और ३२५ ई० पू० में फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर गया.......... इस मार्ग में सिकन्दर को मालव जाति से युद्ध करने में बड़ी हानि उठानी पड़ी। एक दुर्ग के युद्ध में तो उसे ऐसा अस्त्राघात मिला कि वह महीनों तक बड़ी बीमारी झेलता रहा।[2] 'चन्द्रगुप्त' नाटक का दूसरा अङ्क ठीक यहीं पर समाप्त होता है। अतः यदि उक्त घटना को ३२५ ई० पू० में मान लिया जाय तो सम्भवतः यह प्रसाद की मान्यता के विरोध में न होगा। इस दशा में दूसरे अङ्क का घटना काल भी ३२६ ई० पू० से ३२५ ई० पू० तक लगभग एक वर्ष का काल होगा।

तृतीय अङ्क की अवधि

तीसरा अङ्क सिकन्दर और मालव क्षुद्रकों की सन्धि से प्रारम्भ होकर मगध में चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण पर समाप्त होता है। दूसरे और तीसरे अङ्क की घटना के बीच कम से कम एक सप्ताह और अधिक से अधिक १२ दिन से अधिक का अन्तर नहीं प्रतीत होता। यदि इस घटना को स्वीकार कर लिया जाय कि मालव दुर्ग में सिकन्दर की पराजय हुई तो सिकन्दर ने सन्धि के लिए अधिक समय नहीं लिया होगा। उसके असन्तुष्ट सैनिकों की वापस लौटने की उत्कट इच्छा ने उसे शीघ्र सन्धि करने के लिए बाध्य किया होगा। अतः तीसरा अङ्क ३२५ ई० पू० से ही प्रारम्भ होता है। प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि ३२१ ई० पू० है। अतः तृतीय अङ्क का घटना काल ४ वर्ष का है। स्मिथ इसे ३२२ ई० पू० मानते हैं।[3] ऐसी दशा में उक्त काल तीन ही वर्ष का रह जाता है।

चतुर्थ अङ्क की अवधि

चतुर्थ अङ्क पर्वतेश्वर की हत्या से प्रारम्भ होकर सिल्यूकस की पराजय और कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के विवाह पर समाप्त होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२१ ई० पू० स्वीकार कर लेने पर यह मान लेना कठिन नहीं कि पर्वतेश्वर की हत्या भी उसी वर्ष हुई होगी। वस्तुतः उक्त घटना इतिहास की नहीं है और उसका मूल स्रोत 'मुद्राराक्षस' नाटक है। मुद्राराक्षस के अनुसार भी पर्वतक की हत्या और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ। पृ० ११६
(२) चन्द्रगुप्त भूमिका पृ० २६
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० १२४

में अधिक समय का अन्तर नहीं है। अतः तृतीय और चतुर्थ अङ्क के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर माना जा सकता है जो पर्वतेश्वर जैसे प्रभावशाली राजपुरुष में निराशा और तज्जन्य ईर्ष्या उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि को प्रसाद ३०५ ई० पू० में होना मानते हैं। अतः चतुर्थ अङ्क की कथा ३२१ ई० पू० से ३०५ ई० पू० तक १६ वर्ष की है। यदि स्मिथ[1] के आधार पर इसे ३०३ ई० पू० मानें तो उक्त अङ्क का काल १८ वर्ष का हो जाता है।

प्रथम अङ्क की काल योजना

नाटक के प्रथम अङ्क का पहला दृश्य ३२७ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। यह कहना कठिन है कि सिकन्दर के आक्रमण से कितने वर्ष पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त तक्षशिला में थे। प्रसाद ने 'मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की तिथि ३२७ या ३२८ ई० पू० मानी है[2] क्योंकि ३२६ ई० पू० में वह सिकन्दर से मिला था। यदि उक्त तिथि को माना जाय तो प्रसाद के घटना क्रम में स्वयं ही व्याघात उपस्थित हो जाता है। जस्टिन लिखता है 'मगधाधीश महापद्म नन्द का कोपभाजन होने के कारण चन्द्रगुप्त को निष्कासन का दण्ड दिया गया। अपने निष्कासन काल में ही वह सिकन्दर से मिला था।[3] चन्द्रगुप्त के निष्कासन की कथा को प्रसाद ने प्रथम अङ्क के पाँचवें दृश्य में रखा है और प्रथम दृश्य में चन्द्रगुप्त को तक्षशिला में मगध साम्राज्य से भेजे गये विद्यार्थी के रूप में प्रदर्शित किया है जहाँ वह पाँच वर्ष तक रहा था।[4] अतः प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ३३२ ई० पू० से ३२७ ई० पू० तक अध्ययन करता रहा। ३२७ ई० पू० में ही सिकन्दर ने बैक्ट्रिया तक के प्रदेश को विजय कर गांधार से मैत्री कर ली। ३२७ में ही चन्द्रगुप्त मगध लौट गया और संभवतः ३२७ ई० पू० के ही अन्तिम दिनों में उसे मगध से निष्कासित कर दिया गया। ३२७ ई० पू० में मगध का शासन धननन्द था महापद्म नन्द नहीं। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त को अग्रमसनीज ने निकाला था। यदि इस बात को स्वीकार किया जाय तो उपर्युक्त घटना ३२७ ई० पू० से बहुत पहले हुई होगी। जस्टिन को प्रमाण मान लेने पर यहाँ प्रसाद का तिथिक्रम काल्पनिक हो जाता है। यदि जस्टिन द्वारा प्रयुक्त 'नैन्ड्रस' शब्द का अर्थ 'अलिकसुन्दर' हो 'नंद' नहीं। तो उक्त घटना का

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १२५ व बौद्धकालीन भारत पृ० ११४

(२) चन्द्र० भूमिका । पृ० २७

(३) जस्टिन १५.४ मैक्रिण्डिल, पृ० ३२७ ४०५

(४) चन्द्रगुप्त १ ७५

(५) मैक्रिण्डिल पृ० ३२७ ४०५

सम्बन्ध शब से न जुड़कर सिकन्दर से जुड़ सकता है और सिकन्दर द्वारा चन्द्रगुप्त के निकाले जाने की घटना ३२६ ई पू की होगी। कुछ भी हो प्रथम अंक की घटना ३२७ ई पू से प्रारम्भ होती है। सम्पूर्ण दृश्य का काल अधिक से अधिक एक दिन का है।

द्वितीय दृश्य और प्रथम दृश्य में स्थान भेद है अतः दोनों को एक साथ घटित हुआ माना जा सकता है। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मगध की यह घटना ३२७ ई पू की है और यह वसन्त ऋतु में घटित हुई होगी। स्मिथ के अनुसार ३२७ ई पू के मई माह में सिकन्दर हिन्दूकुश पर्वत को पार कर रहा था। इससे प्रतीत होता है कि पहला और दूसरा दृश्य समकालीन है। सम्पूर्ण द्वितीय दृश्य एक दिन का है। तृतीय दृश्य का सम्बन्ध प्रथम दृश्य से है और इस बीच चाणक्य तक्षशिला छोड़कर पाटिली-पुत्र आ गया है। इसमें अनुमानतः एक माह से लेकर दो माह तक का समय माना जा सकता है।[1] समस्त दृश्य अधिक से अधिक आधे घंटे का है। तृतीय और चतुर्थ दृश्य का प्रारम्भिक अंश सूच्य दृश्य का काम करता है जिससे यह ज्ञात होता है कि चाणक्य ने सुवासिनी पर व्यंग किया। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तृतीय और चतुर्थ दृश्यों के बीच कम से कम एक दिन का अन्तर होगा। चतुर्थ दृश्य अधिक से अधिक घंटे भर का है। चतुर्थ और पंचम दृश्य के बीच भी एक दिन का अन्तर संभव है। यदि पहिले दिन स्नातकों ने सरस्वती मन्दिर में पूजन किया हो तो संभव है वे नंद की राजसभा में दूसरे दिन गए हों। दृश्य योजना दो घंटे से अधिक की नहीं है।

छठे दृश्य में सामाजिक पुनः मगध से सिन्धु तट पहुँचा दिया गया है। अब तक के दृश्यों की कुल घटना एक माह का समय लेती है अतः ये सब घटनाएं ३२०

(१) मेगास्थनीज ने एक ऐसे मार्ग की चर्चा की है जो भारत की उत्तरपश्चिमी सीमा से पाटलीपुत्र और संभवतः उससे भी आगे तक जाता था। पाणिनि ने इसे ही 'उत्तरापथ" कहा है। मेगास्थनीज के अनुसार उत्तर पश्चिमी सीमा से पाटलीपुत्र तक का राजमार्ग १०००० स्टेडिया (लगभग ११५६ मील) लम्बा था। (स्ट्राबो १५ १ ११) स्मिथ मार्टिन ने प्लिनी के आधार पर इस दूरी का अनुमान ११२० मील माना है। ग्रीक और भारतीय इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि रथ अश्व शिविका और बैलगाड़ी यातायात के साधन थे। अर्थशास्त्र में तीव्रगामी अश्वों की चर्चा भी हुई है। यदि अनुमानतः इन अश्वों द्वारा प्रतिदिन ४० से लेकर ६० मील तक की यात्रा की जा सकती हो तो तक्षशिला से पाटलिपुत्र पहुँचने में एक माह का समय लगेगा। रथ में इससे कुछ अधिक समय लगेगा और शिविका में उससे भी अधिक"।

ई० पू० में ही घटित हुई है। छठा दृश्य उद्भाण्ड में सेतु निर्माण की चर्चा से प्रारम्भ होता है। हम पहले कह चुके हैं कि उद्भाण्ड का सेतु ३२६ ई० पू० बसन्त ऋतु में बनाया गया था। द्वितीय दृश्य ३२७ ई० पू० के बसन्त का है अतः निश्चय ही पाँचवें और छठे दृश्य के बीच कम से कम ग्यारह माह का अन्तर हो जाता है। छठे दृश्य की सम्पूर्ण घटना कुछ ही घटों की है।

सातवें दृश्य का सम्बन्ध पाँचवें दृश्य से है और सिन्धुतट से मालविका को पुनः पाटली-पुत्र में आना पड़ता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि चाणक्य कितने काल तक बन्दी स्थिति में रहा। यदि चन्द्रगुप्त सिकन्दर से ३२६ ई० पू० में मिला तो निश्चय ही उक्त घटना ३२७ ई० पू० के अन्तिम दिनों के बाद की नहीं हो सकती। यह भी सम्भव है कि चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य को छुड़ाने में एक माह से भी कम समय लगा हो। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नहीं है।

आठवें दृश्य में मालविका को पुनः मगध से गांधार आना पड़ता है। उक्त दृश्य का सम्बन्ध छठे दृश्य से है। जहाँ छठा दृश्य समाप्त होता है वहीं से आठवां आरम्भ होता है अतः आठवें दृश्य की घटना भी उसी दिन की है। अलका छठे में बन्दी बना ली जाती है और आठवें में वह गांधार नरेश के सम्मुख लाई गई है। सम्पूर्ण दृश्य घटे भर से अधिक का नहीं है।

नवें दृश्य में पुनः स्थान भेद है। नवें दृश्य का सम्बन्ध सातवें से है। चाणक्य मगध के बन्दीगृह से मुक्त होकर पर्वतेश्वर के राज्य पंचनद पहुँच गया है अतः सातवें दृश्य और इसके बीच लगभग ३० दिन का अन्तर मानना पड़ेगा। इस दृश्य में पर्वतेश्वर यवन युद्ध तैयारी करने के कारण मगध विद्रोह के लिए अपने सैनिक भेजने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है और वह युद्ध लड़ा गया है द्वितीय अंक के तीसरे दृश्य में। तब तक नाटक के अनुसार सिकन्दर की सेना उद्भाण्ड में सिन्धु तट पर ही है। स्मिथ का अनुमान है कि जनवरी ३२६ ई० पू० उद्भाण्ड पर पहुँच कर सिकन्दर वहाँ एक माह तक रुका रहा। उसके उपरान्त वह एक माह तक तक्षशिला में रुका। मई में वह झेलम तट पर पहुँचा और जुलाई में पुरु से उसका युद्ध हुआ। यह निश्चित है कि पुरु ने यवन युद्ध की तैयारी तभी आरंभ करदी होगी जब सिकन्दर उद्भाण्ड के तट पर ही होगा अतः नवें दृश्य की घटना ३२६ ई० पू० जनवरी फरवरी की प्रतीत होती है। सम्पूर्ण दृश्य योजना बहुत ही कम समय की है।

दसवें दृश्य का संबंध आठवें और नवें दोनों दृश्यों से है। अलका गांधार के बन्दीगृह से निकलकर कानन पथ में जा रही है और चाणक्य पंचनद से गांधार

की ओर जा रहा है। यहाँ चन्द्रगुप्त भी उसी के साथ है। सिंहरण भी यहीं है अत उक्त दृश्य की योजना गांधार में ही की गई है। अलका गांधार में ही है क्योंकि अगले ही दृश्य में वह राजप्रासाद से गांधार छोड़ने की अपनी इच्छा प्रकट करती है। गांधार और पंचनद की सीमा एक दूसरे से मिली हुई थी अत पंचनद से गांधार की सीमा तक पहुँचने में चाणक्य और चन्द्रगुप्त को अधिक से अधिक एक सप्ताह से भी कम समय लगा होगा अत नवें और दसवें दृश्य के बीच एक सप्ताह से भी कम अन्तर माना जा सकता है। घटना ३२६ ई पू के फरवरी माह की हो सकती है। समस्त दृश्य दो घण्टे से अधिक का नहीं है।

ग्यारहवां दृश्य सिन्धु तट का है। उक्त घटना भी ३२६ ई पू के फरवरी माह की ही हो सकती है। दसवें दृश्य (कानन पथ) में अलका गांधार छोड़ने के उपक्रम में है और ग्यारहवें में वह अपना निर्णय सिंहरण के सम्मुख रखती है। इसी दृश्य में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की प्रथम भेंट होती है। चन्द्रगुप्त और सिंहरण के संवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि इनके प्रथम परिचय (दसवें दृश्य के अन्त में) और इस द्वितीय परिचय के बीच कुछ व्यवधान रहा होगा। सम्भव है कि इन दोनों दृश्यों के बीच एक सप्ताह का अन्तर रहा हो। यदि चन्द्रगुप्त सिंहरण संवाद को हटा दें तो अधिक से अधिक एक दिन का अन्तर हो सकता है। राजप्रासाद (ग्रीकों का शासनिक) व सिकन्दर से उस समय भेंट की थी जब वह तक्षशिला में था।[1] उक्त घटना ३२६ ई पू मार्च की प्रतीत होती है क्योंकि सिकन्दर मार्च ३२६ ई पू में तक्षशिला आ गया था। दूसरे अंक में ऐसा प्रतीत होता है कि यवन सेना का शिविर वङ्क्षु के तट पर ही था अत प्रसाद के अनुसार या तो ग्रीक शिविर यवन युद्ध लड़ने के लिये हटाया ही नहीं गया अथवा लोकलाज से सिकन्दर की भेंट कुछ पूर्व ही करवादी गई। सम्पूर्ण दृश्य का काल अधिक से अधिक दो घंटे का माना जा सकता है।

द्वितीय अंक की काल योजना

सप्रमाण में सिन्धु के किनारे ग्रीक शिविर के दृश्य से दूसरे अंक के प्रथम दृश्य का प्रारम्भ ३२६ ई पू की बसन्त ऋतु में होना चाहिए। किन्तु इसमें चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का संवाद भी है। सिकन्दर के रुष्ट हो जाने के कारण चन्द्रगुप्त को ग्रीक शिविर से भागना पड़ा था। "चन्द्रगुप्त की भूमिका में प्रसाद ने जस्टिन के आधार

---

(२) ऐंशिएण्ट इण्डिया मैक्रिंडल पृ० आर० आर० ७ २ १० ११
और देयर ही रिसीव्ड एट तक्षशिला एम्बसी फ्रॉम दि इण्डियन किंग अबिसारिस एण्ड
डिसायर सीज़ सिंग टु हैव बन आफ दीज़ पाट इण्डु हिज प्रेजन्स......"

पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को कष्ट कर दिया।[1] स्वयं प्रसाद के अनुसार यह घटना तक्षशिला में घटी।[2] नाटक का दृश्य उद्भाण्ड का है अतः यहाँ स्थान दोष के साथ साथ काल दोष भी है और स्वयं नाटककार की ऐतिहासिक मान्यता से इसका विरोध भी। सम्पूर्ण दृश्य ४ घण्टे के आसपास का है। प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य और द्वितीय अंक के इस प्रथम दृश्य के बीच पर्याप्त दिनों का अन्तर होना चाहिये। इसी बीच चन्द्रगुप्त ने ग्रीक शिविर में रहकर यवन रणनीति ज्ञात की थी। स्मिथ का अनुमान है सिकन्दर तक्षशिला से झेलम तट की ओर अप्रैल में प्रयाण कर चुका था।[3] प्रसाद के अनुसार चन्द्रगुप्त झेलम युद्ध से पूर्व ग्रीक शिविर से चला आया था। अतः प्रथम और द्वितीय अंक के बीच अधिक से अधिक एक माह का समय माना जा सकता है।

द्वितीय दृश्य की घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि झेलम के एक तट पर ग्रीक शिविर लगा है और दूसरे तट पर पर्वतेश्वर का। सम्पूर्ण दृश्य की घटना प्रातःकाल की है। इसकी पहली रात को यवन सेना ने वितस्ता को पार कर लिया था।[4] पर्वतेश्वर और सिकन्दर का युद्ध इस दृश्य में न होकर अगले दृश्य में हुआ है पर घटना इसी प्रातःकाल की है स्मिथ की घटना-सूची के अनुसार प्रथम और द्वितीय दृश्य में कम से कम तीन माह का अन्तर होना चाहिये। सिकन्दर ने अप्रैल में तक्षशिला से प्रयाण किया मई में वह झेलम तट पर पहुँचा और जुलाई के प्रारम्भ में उसने रातो रात झेलम पार कर पुरु से युद्ध किया।[5] दूसरे दृश्य की घटना युद्ध के कुछ ही घंटे पूर्व की प्रतीत होती है। घटना का काल अधिक से अधिक दो तीन घंटों का है।

तृतीय दृश्य और दूसरे दृश्य के बीच सम्भवतः दो तीन घण्टों से अधिक का अन्तर नहीं। घटना युद्ध की है जो जुलाई ३२६ ई. पू. में लड़ा गया था। युद्ध में अधिक समय नहीं लगा। स्मिथ के अनुसार भी उक्त युद्ध का काल केवल एक दिन

(१) चन्द्र भूमिका पृ २८
(२) वही पृ २८ "---------- (ई पू ३२६ में) इसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट, मार्ग में झेलते झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था।"
(३) अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया स्मिथ पृ ११६
(४) चन्द्रगुप्त २. १२०
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ ११६

का है।[1] अतः अधिक से अधिक तीसरे दृश्य को भी एक दिन का माना जा सकता है।

चतुर्थ दृश्य में चन्द्रगुप्त द्वारा यह उल्लेख हुआ कि विपाशा के तट पर यवन शिविर लगा हुआ है और वहीं पर यवन सेना में विद्रोह हो गया है।[2] वस्तुतः झेलम के तट पर पुरु युद्ध के उपरान्त सिकन्दर ने चिनाब (एकेसाइनीज) नदी को पार किया और अगस्त में रावी (हाइड्रोओटीज) को पार कर कठ जाति से युद्ध किया। सितम्बर के आस पास वह व्यास (हाइफेसिस) के तट पर पहुँचा जिसका प्राचीन नाम विपाशा था।[3] स्मिथ के अनुसार सिकन्दर सितम्बर ३२६ ई० पू० में व्यास के तट पर पहुँचा है। सितम्बर ३२६ ई० पू० की घटना इस दृश्य में सूच्य रूप से आई है। अतः यह दृश्य इसके बाद का होना चाहिए। इसी दृश्य से ज्ञात होता है कि सैनिकों के विद्रोह के कारण सिकन्दर ने रावी के जल मार्ग से लौटने का निश्चय किया।[4] यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि वस्तुतः सिकन्दर रावी (हाइड्रोओटीज) के जल मार्ग से नहीं लौटा था। सिकन्दर की सेना विपाशा से लौटकर झेलम (हाइडेस्पीज) के तट पर आ गई थी और वहीं से जल यात्रा का प्रारम्भ हुआ था।[5] सम्भवतः (हाइड्रोओटीज) रावी और (हाइडेस्पीज) झेलम के ध्वनि साम्य के कारण प्रसाद से उक्त भूल हो गई हो। कुछ भी हो यदि चतुर्थ दृश्य को सितम्बर ३२६ ई० पू० का मान लिया जाय तो तृतीय और चतुर्थ दृश्य के बीच लगभग दो माह का अन्तर हो जाता है। नाटक के घटना क्रम को देखते हुए इतना अन्तर उचित ही प्रतीत होता है।

चतुर्थ और पंचम दृश्य में स्थान भेद है। चतुर्थ दृश्य मालव का है और पंचम पंचनद का और दोनों का एक ही काल में घटित होना सम्भव माना जा सकता है। इस दृश्य में भी रावी पार करने का उल्लेख हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों मालवों का राज्य रावी के तट पर ही था किन्तु पहले कहा जा चुका है कि सिकन्दर की जल यात्रा झेलम से प्रारम्भ हुई रावी से नहीं। सेना का अधिक भाग स्थल से चलता रहा।[6] जायसवाल का अनुमान है कि झेलम चिनाब के संगम के दक्षिण में झेलम के तट पर मालवों का और उसके उत्तर में क्षुद्रकों का राज्य था।[7]

(१) स्मिथ पृ० ८१ ६०
(२) चन्द्र० २ १२८
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० ११६
(४) चन्द्र० २ १२६
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० ११६
(६) ऐन्शिएण्ट इण्डिया मैकक्रिण्डल १ १२
(७) हिन्दू पौलिटी जायसवाल पृ० ६६

अतः यदि सिकन्दर झेलम से लौटा तो भी मालव राज्य उसके मार्ग में अवश्य पड़ा होगा। झेलम के तट पर ही सिकन्दर की जल यात्रा से पूर्व उत्सव मनाया गया था उसी में पर्वतेश्वर और चाणक्य की मैत्री हुई थी।[1] स्मिथ के अनुसार उक्त घटना अक्टूबर में हुई थी।[2] सम्पूर्ण दृश्य दो घण्टे से अधिक का नहीं है और चतुर्थ दृश्य की घटना सितम्बर की मान लेने पर दोनों के बीच एक माह का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

पाँचवें दृश्य के प्रारम्भ में सिंहरण पर्वतेश्वर के बन्दीगृह से मुक्त कर दिया गया है और छठे ही दृश्य में वह मालवों के स्कन्धावार में सिकन्दर के प्रति अभियान की तैयारी करता हुआ दिखाया गया है। इसी बीच सिकन्दर भी झेलम से चलकर चिनाब के संगम तक पहुँच गया है। इन दोनों घटनाओं में अनुमानतः १५ दिन का अन्तर माना जा सकता है। अतः छठा दृश्य अक्टूबर अथवा नवम्बर ३२६ ई० पू० के आस पास का हो सकता है। सम्पूर्ण दृश्य का काल घण्टे भर से अधिक का नहीं प्रतीत होता।

सातवाँ दृश्य पुनः पंचनद का है। इसमें सिकन्दर ने पर्वतेश्वर का रण निमन्त्रण भेजा है। स्मिथ के अनुसार जनवरी ३२५ ई० पू० में सिकन्दर का मालवों से युद्ध हुआ था। अतः यह रण निमन्त्रण दिसम्बर ३२६ ई० पू० के अन्त में अथवा जनवरी ३२५ ई० पू० के प्रारम्भ में भेजा गया होगा। सम्पूर्ण दृश्य कुछ ही मिनटों में समाप्त हो जाता है। आठवाँ दृश्य वास्तविक युद्ध से कुछ ही पूर्व का प्रतीत होता है क्योंकि इसमें मालवों द्वारा की गई युद्ध की समस्त तैयारियों का उल्लेख हुआ है। बहुत सम्भव है कि यह घटना भी दिसम्बर या जनवरी की ही हो। सम्पूर्ण घटना का काल एक दिन से अधिक का नहीं। यहाँ सिकन्दर की सहायता के लिए पर्वतेश्वर की सेना पहुँच चुकी है अतः सातवें और आठवें दृश्य के बीच आसानी से एक सप्ताह का अन्तर माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ स्थान का अन्तर अधिक नहीं।

नवें दृश्य में 'विपाशा तट' का उल्लेख हुआ है साथ ही सिकन्दर द्वारा स्थल मार्ग पर आक्रमण करने का उल्लेख भी हुआ है।[3] अतः उक्त दृश्य जनवरी ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। आठवें और नवें दृश्य के बीच १५-२० दिन का अन्तर होना सम्भव है। दृश्य योजना दो घण्टे से भी कम की है। दसवाँ दृश्य मालव युद्ध का है, इसमें घायल होने के उपरान्त सिकन्दर ने मालव क्षुद्रकों से सन्धि कर ली थी। उक्त घटना जनवरी ३२४ ई० पू० को ही माननी

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ० ९१

(२) वही स्मिथ पृ० ११६

(३) चन्द्र २, १४७ १४८

पड़ेगी । सम्पूर्ण दृश्य संध्या का है और चार पांच घण्टे से अधिक समय उस युद्ध में नहीं लगा होगा।

तृतीय मन्नू की घटनाओं में कुल कितना समय लगा होगा इसमें मतभेद है। प्रसाद के अनुसार इस अंक की घटनाओं में चार वर्ष (३२५ ई पू से ३२१ ई पू तक) लगे परन्तु स्मिथ के अनुसार इस मन्नू की घटनाएं तीन ही वर्ष (३२५ ई पू से ३२२ ई पू तक) में समाप्त हो जाती है। द्वितीय मन्नू का अन्तिम दृश्य जनवरी ३२१ ई पू का है। कर्टियस से ज्ञात होता है कि भाले से घायल होकर सिकन्दर कई दिन तक बीमार रहा और अन्त में शस्त्र क्रिया द्वारा भाले की धनी को निकाला गया।[1] इसमें यदि १५ दिन का समय मान लें तो अनुमानतः द्वितीय और तृतीय मन्नू के बीच इतना ही अन्तर रहा होगा अतः तृतीय मन्नू फरवरी ३२५ ई पू का माना जा सकता है। इस दृश्य में मैत्री उत्सव की ओर संकेत किया गया है।[2] सम्पूर्ण दृश्य दो घण्टे से अधिक का नहीं है।

तृतीय मन्नू की काल योजना

दूसरा दृश्य उस उत्सव का है, जिसमें सिकन्दर ने मालव क्षुद्रकों से संधि की। कर्टियस[3] और एरियन[4] दोनों ने इस मैत्री उत्सव का उल्लेख किया है। प्रथम और द्वितीय दृश्य के बीच एक या दो दिन का अन्तर माना जा सकता है। अतः उक्त घटना भी फरवरी में हुई होगी। संपूर्ण दृश्य एक दिन का है। तीसरा दृश्य संधि के उपरांत सिकन्दर के प्रयाण का है अतः द्वितीय और तृतीय दृश्य के बीच एक सप्ताह का अन्तर माना जा सकता है क्योंकि इतनी बड़ी सेना के प्रयाण की तैयारी में कुछ समय लगना स्वाभाविक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल दो घण्टे से भी कम का है।

चतुर्थ दृश्य के समय का निर्णय करने के लिए फिलिप्स द्वारा चन्द्रगुप्त को भेजे गए द्वन्द्व युद्ध के निमंत्रण का सहारा लिया जा सकता है। संभव है कि निमंत्रण मिलने के अधिक से अधिक एक माह के भीतर फिलिप्स मारा गया हो। स्मिथ लिखता है जब सिकन्दर कारमेनिया में ही था उसे सूचना मिली कि फिलिप्स (फिलिपोस) की हत्या कर दी गई है और पंजाब में विद्रोह हो गया है।[5] उसी से यह भी ज्ञात होता है कि सिकन्दर ने फरवरी ३२४ ई पू में कारमेनिया को पार किया था।[6]

---

(१) कर्टियम ९ २३ २४ परिच्छेद मैक्रिण्डल अनुवाद
(२) चन्द्र ३ १२९
(३) कर्टियम ९ परिच्छेद २३'२४ (४) एरियन ११,४
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ ११४
(६) वही पृ १२०

यदि अधिक से अधिक दो माह का समय उसके पास उक्त समाचार पहुंचने में माना जाय तो फिलिप्स की हत्या सितम्बर ३२५ ई० पू० में हुई होगी अतः चतुर्थ दृश्य को नवम्बर ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। यह स्वीकार कर लेने पर तृतीय और चतुर्थ दृश्य के बीच कम से कम दस माह का अन्तर पड़ जाता है। इस अंक के दूसरे दृश्य में यह उल्लेख हुआ है कि राजकुमारी कल्याणी सिकन्दर के प्रस्थान के दूसरे ही दिन मगध चली जाएगी।[1] उसके साथ उसका मगध पहुंचना भी गया होगा। चतुर्थ दृश्य में राक्षस का चर पता करता है कि मगध पहुंच मार्ग में ही मिल जायगा।[2] अत इनके बीच अधिक से अधिक एक सप्ताह का अन्तर माना जा सकता है। नाटक में फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध के लिए प्रथम आह्वान उस समय होता है जब सिकन्दर भारत छोड़ रहा था और हम पहले निर्णय कर चुके हैं कि इतिहास के अनुसार फिलिप्स की मृत्यु सितम्बर ३२५ ई० पू० में हुई होगी यदि इस दृश्य में कल्याणी के मगध पहुंच को मार्ग में ही पकड़ लेने की चर्चा राक्षस न करता तो इन दोनों दृश्यों के बीच इतिहास सम्मत १० माह का अन्तर मानने में कोई आपत्ति नहीं रहती। उक्त प्रसंग से तिथिक्रम में पर्याप्त गड़बड़ हो गई है और १० माह की घटना को ७ दिन के भीतर ही दिखला दिया गया है। इसे प्रसाद की काल योजना की एक महत्त्वपूर्ण भूल माननी ही पड़ेगी। सम्पूर्ण दृश्य घण्टे भर से अधिक का नहीं।

पांचवें दृश्य में राक्षस लौट कर मगध आ गया है। प्रसाद के अनुसार तो चौथे और पांचवें दृश्य के बीच अधिक से अधिक एक या डेढ़ माह का अन्तर होना चाहिए। चौथे दृश्य की घटना नवम्बर की है तो पांचवें दृश्य की घटना भी नवम्बर अथवा अधिक से अधिक दिसम्बर की मानी जा सकती है। सम्पूर्ण दृश्य घण्टे भर से अधिक का नहीं। छठा दृश्य दिसम्बर ३२५ ई० पू० का माना जा सकता है। मगध में अलका चाणक्य के सामने चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व के परिणाम पर शंका प्रकट करती है। चाणक्य इस सम्बन्ध में निश्चिन्त है और उसने चन्द्रगुप्त को मगध बुलाया है। उक्त घटना मगध में ठीक उसी समय घटी होगी जिस समय चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व हो रहा होगा। इसमें मगध विद्रोह की तैयारियों का उल्लेख भी हुआ है किन्तु इस दृश्य की घटना उससे बहुत पूर्व की है। सम्पूर्ण दृश्य एक दिन का है।

सातवें आठवें और नवें दृश्यों की घटनाएं एक ही दिन की हैं। नन्द सातवें दृश्य के अन्त में राक्षस को शीघ्र बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। आठवें दृश्य में

---

(१) चन्द्र० १ ६२
(२) चन्द्र० १ ११६

सूचना दी गई है कि विवाह की वेदी से राक्षस को घसीट कर ले आया गया है और उसे बन्दी बनाया गया है। नवें दृश्य में बंदी राक्षस का नन्द के सामने उपस्थित किया गया है। आठवें में मगध विद्रोह की चर्चा हुई है और नवें में विद्रोह के साथ साथ नन्द की हत्या होती है और वहीं चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक भी। स्वयं प्रसाद के अनुसार चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक ३२१ ई पू में हुआ था। छठा दृश्य दिसम्बर ३२५ ई पू का है। अतः छठे और सातवें के बीच कम से कम तीन वर्षों का अन्तर अवश्य मानना पड़ेगा। यदि स्मिथ की काल योजना मानी जाय तो उक्त अन्तर दो ही वर्ष का रह जाता है। सेना को वणिकों के रूप में कुसुमपुर में एकत्र होते होते दो तीन वर्ष आसानी से लग सकते हैं। मगध का पतन इतना आस भी नहीं था अत इतना साधारण अन्तर उचित ही कहा जा सकता है। … दृश्य कुसुमपुर के प्रांत भाग का है और उसमें चाणक्य मालविका को नन्द रंगशाला में पत्र लेकर जाने की आज्ञा देता है। सातवें दृश्य में मालविका नन्द रंगशाला में उपस्थित है। इस दृष्टि से इन दोनों दृश्यों के बीच एक सप्ताह का अन्तर कठिनता से मानना पड़ता है। इन दोनों दृश्यों के बीच की उक्त … घटनाओं में किसी प्रकार भी काल का सामंजस्य नहीं बैठाया जा सकता। फिर … ही प्रसाद ने तीन वर्ष की घटना को एक सप्ताह में पूरा कर दिया है। सातवां दृ… अधिक से अधिक दो या तीन घंटा का हो सकता है। आठवें दृश्य में एक ओर आ… म्भि द्वारा की घटना के रूप में इन्द्र से फिलिप्स के वध की चर्चा हुई है दूसरी … राक्षस के बन्दी बनाये जाने के उपरांत मगध विद्रोह का उल्लेख हुआ है। पहली घट… दूसरी से १ वर्ष पहले सितम्बर ३२५ ई पू में हुई थी। वस्तुत इस रूप में य… फिलिप्स वध की चर्चा यहां न हुई होती तो काल क्रम में यह अव्यवस्था न आती… यह सम्पूर्ण दृश्य ४ या ५ घण्टों का है। नवें दृश्य में नन्द की हत्या और चन्द्रगु… का राज्याभिषेक ये दोनों घटनाएं प्रसाद के अनुसार ३२१ ई पू की है। सम्पू… दृश्य का काल चार घण्टे से अधिक का नहीं हो सकता क्योंकि उसी दिन के पूर्वा… में ही सातवें और आठवें दृश्यों की घटनाएं भी हुई हैं। यहां यह उल्लेख कर… अप्रासंगिक न होगा कि 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक की घटनाएं काल की दृष्टि … जितनी अस्तव्यस्त है उतनी संभवत अन्य नहीं।

हम पहले देख चुके हैं कि चतुर्थ अंक ३२१ ई० पू० से ३०५ ई० पू० त… लम्बे १६ वर्षों के काल को अपनी सीमा में समेटे चलता है। चतुर्थ अंक के प्रा… रम्भ में ही महत्वाकांक्षी पर्वतेश्वर की हत्या कर स्वयं आत्मघात क… लेती है। 'मुद्राराक्षस' से यह निश्चित रूप से पता नहीं चलत… कि पर्वतेश्वर की हत्या चन्द्रगुप्त के सिंहासनासीन होने से पू… हुई अथवा उसके उपरांत किन्तु यह निश्चित है कि तब तक

चतुर्थ अंक की काल योजना

चन्द्रगुप्त ने नंदभवन में प्रवेश नहीं किया था। कालान्तर में पर्वतेश्वर की हत्या के उपरांत उक्त प्रवेश के मुहूर्त पर ही उसका भाई वैरोधक मागध का आधा राज्य पाकर चाणक्य की कूटनीति से मारा गया।[1] इससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि पर्वतेश्वर की हत्या और चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के काल में विशेष अन्तर नहीं हो सकता।

तीसरे और चौथे अंक के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर हो सकता है। पर चतुर्थ अंक का प्रथम दृश्य ३२१ ई० पू० का है। द्वितीय दृश्य में राक्षस, कल्याणी की मृत्यु से उत्पन्न उत्तेजना की चर्चा करता है अतः इन दोनों दृश्यों के बीच एक दो दिन का अन्तर हो सकता है। प्रथम दृश्य का काल एक घंटे से अधिक नहीं है और दूसरे का उससे भी कम।

दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच पर्याप्त अन्तर प्रतीत होता है। तीसरे दृश्य में एक ओर तो चंद्रगुप्त दक्षिणापथ पर विजय प्राप्त कर लौट रहा है दूसरी ओर सिकन्दर के पश्चिमी प्रान्तों को जीतकर सिल्यूकस पूर्वी प्रान्तों की ओर बढ़ा आ रहा है।[2] प्रसाद ने उक्त घटना का ३१६ ई. पू होना स्वीकार किया है।[3] उनके अनुसार ई पू ३२३ में सिकन्दर मरा और ई पू ३२१ में सिल्यूकस बेबीलोन की गद्दी पर बिठाया गया। एन्टिगोनस के प्रभाव के कारण ३११ ई पू की सन्धि में सिल्यूकस सिरिया, टालेमी और बेबीलोन का शासक हुआ और ३१२ ई पू में उसने अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया।[4] स्मिथ के अनुसार भी सिल्यूकस ३१२ ई पू पश्चिमी राजनीति में पूर्णतया विजयी हुआ और ३११ ई पू में उसने पूर्वी प्रांतों की ओर ध्यान दिया।[5] दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच ५ वर्ष का अन्तर है। सम्पूर्ण दृश्य की काल योजना एक दिन से भी कम की है।

तृतीय दृश्य के अन्त में मालविका के कथन से यह मान लिया जाय कि चंद्रगुप्त उसी दिन पाटलीपुत्र लौट आया था तो चतुर्थ दृश्य की घटना उसी रात्रि की हो सकती है अन्यथा इन दोनों दृश्यों के बीच किंचित अन्तर हो सकता है। सम्पूर्ण दृश्य घंटे भर से अधिक का नहीं है।

पाँचवा दृश्य उसी रात्रि के उपरान्त आगत प्रभात का है। पिछले दृश्य में रात्रि में मालविका की हत्या की सूचना चन्द्रगुप्त को पाँचवें दृश्य में दी जाती है।

---

(१) मुद्राराक्षस २।१६७ २११ पृ २१ (हरिदास)
(२) चन्द्र० ४।२ १   (३) चन्द्र० (भूमिका) पृ ११
(४) चन्द्र (भूमिका) पृ १७
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ १२४

सम्पूर्ण दृश्य घंटे भर से अधिक नहीं है। छठे दृश्य में आंभीक की हलचल एवं राक्षस के बाल्हीक जाकर सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने की सूचना दी गई है। सातवां दृश्य 'कपिशा में एलेक्जेण्ड्रिया के राजमन्दिर'[1] का है। यहां राक्षस कार्नेलिया को पढ़ा रहा है और इसी दृश्य में सिल्यूकस भारत विजय की चर्चा कर रहा है। प्रसाद के अनुसार सिल्यूकस ने सिन्धु को ई० पू० ३०६ में पार किया था।[2] स्मिथ के अनुसार उक्त तिथि ई० पू० ३०५ है।[3] सिकन्दर ने लगभग ३२७ ई० पू० में काकेशस की तलहटी में अलेक्जेण्ड्रिया की नींव डाली थी।[4] और वह सिन्धु के तट पर ३२६ ई० पू० के जनवरी में पहुँचा था। यदि सिल्यूकस ने इतनी दूरी तय करने में इससे (१ वर्ष से) कुछ कम समय भी लिया हो तो भी छठा दृश्य ३०७ ई० पू० के आसपास का ही मानना उचित है। पांचवें अंक की घटना ३१६ ई० पू० में हुई थी इसलिए पांचवें और छठे दृश्य के बीच कम से कम ९ वर्ष का अन्तर प्रतीत होता है। सातवां दृश्य छठे दृश्य का ही समकालिक है। दोनों में केवल स्थान परिवर्तन है। छठे दृश्य का कुल समय एक दिन का हो सकता है और सातवां दृश्य घंटे भर से भी कम का है।

आठवें दृश्य से बारहवें दृश्य तक सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त का अभियान सिन्धुतट पर सिल्यूकस चन्द्रगुप्त का युद्ध सिल्यूकस की पराजय और चाणक्य प्रेषित संधि की शर्तों का उल्लेख है। इतिहास के अनुसार सिल्यूकस सिन्धु के तट पर ३०६ ई० पू० जनवरी में पहुँचा अत: इन सभी दृश्यों की घटनाएं ३०६ ई० पू० में ही घटी होंगी। यह कहना कठिन है कि सिल्यूकस के सिन्धुतट में पहुँचने और युद्ध में पराजित होने में कितना समय लगा होगा। बारहवां दृश्य संधि का पूर्व सूचक है। स्मिथ के अनुसार उक्त संधि ३०३ ई० पू० में हुई थी[5] और प्रसाद के अनुसार ३०२ ई० पू० में। स्मिथ के अनुसार ही ३०६ ई० पू० के आसपास उस युद्ध का होना मान लिया जाय तो संधि का समय ३०३ ई० पू० मानने का कोई अर्थ नहीं। इतिहास में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि वह युद्ध तीन वर्ष तक लड़ा गया था। प्रसाद की मान्यता सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। सिल्यूकस को ऐलग्जण्ड्रिया से सिन्धु तट पर पहुंचने में एक वर्ष का समय लग गया होगा अत: सातवें और आठवें दृश्य के बीच १ वर्ष का अन्तर माना जा सकता है। आठवें दृश्य की घटना १० मिनट से भी कम की है। आठवें और नवें दृश्य के

---

(१) चन्द्र० ४।२२४ (२) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ३६

(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १२५ (४) वही (स्मिथ पृ० ४२

(५) वही (स्मिथ) पृ० १२५

बीच अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। काम नहीं है। सुभाषिणी ग्रीक शिविर में बन्दी होकर आ गई है। इस योजना की सूचना छठे दृश्य में चाणक्य द्वारा दी गई थी। नवाँ दृश्य सन्ध्याकाल का है और अन्त में रात्रि के आगमन की सूचना दी गई है। दसवाँ दृश्य प्रातःकाल का है। नवम् दृश्य में सिल्यूकस दूसरे ही दिन चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की योजना बनाता है और दसवें दृश्य में वह युद्ध लड़ा गया है अतः नवें और दसवें दृश्य के बीच केवल एक रात का अन्तर है। दसवाँ दृश्य एक दिन का है। दसवें दृश्य में सिल्यूकस हार गया है और ग्यारहवें में वह ग्रीक शिविर में पहुँच गया है अतः ग्यारहवाँ दृश्य सम्भवतः उसी दिन के पश्चिम भाग का है।

बारहवाँ दृश्य सन्धि का है। सिल्यूकस की पराजय और चन्द्रगुप्त से उसकी सन्धि के बीच अधिक समय मानना न नाटक की काल योजना की दृष्टि से संगत बैठता है न इतिहास की दृष्टि से। युद्ध ३०६ ई० पू० के अन्तिम दिनों में लड़ा गया था ऐसा मान लें तो प्रसाद की दी हुई तिथि ३०५ ई० पू० युक्ति संगत कही जा सकती है। नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त घटना युद्ध के दूसरे ही दिन सम्पन्न हुई होगी।

तेरहवें दृश्य के अन्त में सिल्यूकस की अभ्यर्थना का और चौदहवें दृश्य में सन्धि के स्वीकार किए जाने का उल्लेख हुआ है। घटना ३०५ ई० पू० की है। बारहवें और तेरहवें दृश्य के बीच कम से कम एक सप्ताह का अन्तर होना चाहिए क्योंकि सिल्यूकस को सन्धि की शर्तों पर विचार कर अन्तिम निर्णय करने में इतना समय लगा ही होगा। यह भी सम्भव है इसमें एक मास से अधिक का समय लग गया हो किन्तु इसमें एक वर्ष का समय तो किसी प्रकार नहीं लग सकता। इतिहास कहता है कि एँटिगोनस के आक्रमण का समाचार सुनते ही सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से सन्धि कर ली और तुरन्त वापस लौट गया।[1] तेरहवाँ दृश्य तीन चार घंटे से अधिक का नहीं है। तेरहवें दृश्य के अन्त में ही चौदहवें दृश्य के प्रारम्भ की सूचना है अतः इन दोनों दृश्यों के बीच कालान्तर नहीं है। यह अन्तिम दृश्य सन्धि और कार्नेलिया के विवाह का सूचक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल भी दो या तीन घंटे से अधिक का नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार चतुर्थ अंक ३०५ ई० पू० में समाप्त हो जाता है। समस्त अंक में १६ वर्षों की लम्बी कथावस्तु की योजना रखने में न तो इतिहास की रक्षा हो सकी है और न नाटकीयता की ही।

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १२५

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में काल-योजना

ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है किन्तु नाटक की मूल समस्या ऐतिहासिक न होकर सामाजिक है। उसमें जिन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है उनके सम्बन्ध में न तो प्रसाद ने ही स्वयं कोई ऐतिहासिक काल-योजना निर्धारित की है और न इतिहासकार ही किसी अन्तिम निर्णय तक पहुँच सके हैं। प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के सम्बन्ध में केवल श्री जायसवाल द्वारा मान्य एक तिथि का उल्लेख किया है। उक्त तिथि का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त और शकराज के युद्ध से है।[1] ३७४ ई० से लेकर ३८० ई० के बीच के समय को हम निश्चित तिथि नहीं मान सकते। यह समय इतना दीर्घ है कि सम्पूर्ण नाटक का घटना काल भी इससे कम प्रतीत होता है। रामगुप्त के सम्बन्ध में डा० स्टोर ने कुछ निश्चित तिथियाँ दी हैं उनका अनुमान है कि रामगुप्त ३७५ ई० में गुप्त सिंहासन पर बैठा और उसने ३८० तक शासन किया। मथुरा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३८०-८१ में सिंहासनासीन हुआ था। इतिहास की इस घटना के संबंध में प्रायः सभी इतिहासकार एक मत हैं।[2] केवल राधाकुमुद मुकर्जी चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की उचित तिथि ३७५ ई० मानते हैं।[3] कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि आज का गुप्तकालीन इतिहास रामगुप्त के राज्य-काल को अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि उसके लिए पर्याप्त प्रमाण मिल चुके हैं। ऐसी स्थिति में ३७५ ई० से लेकर ३८० ई० तक का काल ही समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच का रह जाता है जिसे हम सरलता से रामगुप्त का शासनकाल कह सकते हैं।

ध्रुवस्वामिनी नाटक तीन अंकों का है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। संपूर्ण नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका घटना-काल बहुत कम है।

ध्रुवस्वामिनि नाटक की कालावधि

नाटक की घटना रामगुप्त के राज्यकाल के अन्तिम दिनों की है। शकराज ने ध्रुवस्वामिनी की माँग की और वह चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ। इस पराजय के ठीक बाद ही रामगुप्त की हत्या कर दी गई और चन्द्रगुप्त गुप्तसिंहासन पर बैठा। अतः हम सम्पूर्ण नाटक की घटना को ३८० ई० की मान सकते हैं,

---

(१) ध्रुवस्वामिनी (सूचना) पृ० ५

(२) (अ) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियण्ट इण्डिया (राय चौधरी) पृ० ४६५

(आ) दि हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इण्डिया (बसाक) अध्याय १–४

(३) दि गुप्ता एम्पायर (मुकर्जी) पृ० ४५

क्योंकि एक तो यह रामगुप्त के शासन-काल का अन्तिम वर्ष है और दूसरे चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का प्रथम वर्ष। जायसवाल ने शक-युद्ध की जो दो तिथियाँ मानी हैं उनमें से एक ३८० ई० भी है, अतः शक-युद्ध की तिथि भी यही मान लेने पर सब घटनाओं का काल समन्वित हो जाता है।

प्रथम अङ्क की काल योजना

नाटक का प्रथम अङ्क सन्ध्याकाल के कुछ ही पहले आरम्भ होता है। ध्रुवस्वामिनी और खड्गधारिणी के संवाद आरम्भ होने के कुछ ही देर बाद दासी शाम हो जाने की सूचना देती है। सम्पूर्ण अङ्क में एक ही दृश्य होने के कारण अन्य सूचनाओं के अभाव में यही मानना उचित है कि जिस सन्ध्या-काल से घटना का आरम्भ होता है उसी रात्रि में सामन्त कुमारों के साथ चन्द्रगुप्त शक-शिविर में चला गया होगा। सारे अङ्क की घटना चार पाँच घण्टों की है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि प्रथम और द्वितीय अङ्क के बीच कितना अन्तर माना जाय? प्रसाद के नाटक से तो इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय नहीं निकाला जा सकता। वस्तुतः इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि शक-दुर्ग और रामगुप्त के पहाड़ी शिविर के बीच कितना अन्तर है। प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी में कोई भौगोलिक उल्लेख नहीं किया है। प्रथम अङ्क में रामगुप्त के कथन से एवं द्वितीय अङ्क में खिंगिल के कथन से ज्ञात होता है कि रामगुप्त दिग्विजय के उद्देश्य से पार्वत्य प्रदेश में गया और शकों ने उसे घेर लिया था। शक दुर्ग एवं रामगुप्त शिविर के बीच अधिक अन्तर सम्भव नहीं, विशेषकर जब दोनों में युद्ध चल रहा हो। इस तर्क को ध्यान में रखते हुए हम पहिले और दूसरे दृश्य के बीच अधिक से अधिक एक दिन का अन्तर मान सकते हैं।

द्वितीय अङ्क की काल योजना

दूसरा अङ्क भी सन्ध्या का है—दूसरे अङ्क में मध्य रात्रि के आगमन की सूचना से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दूसरे अङ्क की घटना भी सन्ध्या के आस पास आरम्भ हुई है। पहले अङ्क में सन्ध्या के समय खिंगिल शकराज का सन्देश लेकर रामगुप्त के शिविर में उपस्थित है और सम्भवतः दूसरी ही सन्ध्या को रामगुप्त का उत्तर लेकर शकराज के पास आ उपस्थित हुआ। नर्तकियों का गीत भी सन्ध्याकाल की ही सूचना देता है। सन्ध्या से लेकर रात्रि के आगमन की सूचना तक शकराज नृत्य और सुरापान का उत्सव मना रहा है। धूमकेतु का प्रसंग भी इस बात की पुष्टि करता है कि रात हो चुकी है। इसी रात्रि को स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को लेकर शक दुर्ग में पहुँच जाता है और वहाँ शकराज का वध और उसकी सेना का संहार कर रातों-रात शक-दुर्ग पर अधिकार कर लेता है।

शिलालेख के अनुसार भी यह सारी घटना रात्रि की ही है। सम्पूर्ण अङ्क की घटना एक रात्रि की है।

तृतीय अङ्क की काल योजना

दूसरे और तीसरे अङ्कों के बीच भी एक या दो दिन का ही अन्तर मानना पड़ेगा। शक-दुर्ग से विजय की सूचना लेकर सैनिक रामगुप्त के शिविर तक गए होंगे और रामगुप्त उक्त सूचना पाकर शक-दुर्ग में आया होगा। यदि एक ओर के मार्ग को तय करने में एक दिन का समय भी लगे तो यह माना जा सकता है कि दूसरे और तीसरे अङ्क के बीच लग भग दो दिन अथवा उससे कुछ कम समय का अन्तर है। ध्रुवस्वामिनी के एक प्रश्न का उत्तर थोड़ी सी समस्या उत्पन्न करता है। ध्रुवस्वामिनी पूछती है— "कुमार के घाव अब कैसे हैं?" सैनिक उत्तर देता है—"घाव चिन्ताजनक नहीं हैं उन पर पट्टियाँ बँध चुकी हैं। कुमार प्रधान मण्डप में विश्राम कर रहे हैं।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस संवाद द्वारा प्रसाद ने दूसरे और तीसरे अङ्क के बीच की घटना के अन्तर को पाट दिया है। कुमार चन्द्रगुप्त ने रात्रि में युद्ध किया था। उस युद्ध में लगे घावों के सम्बन्ध में कुशल प्रश्न युद्ध के शीघ्र बाद प्रातःकाल के लगभग ही पूछा जाना उचित है। उन घावों की परिचर्या युद्ध के ठीक बाद ही की गई होगी। तीसरा अङ्क सारा ही तीन चार घण्टे से अधिक का नहीं है।

उक्त काल योजना को स्वीकार करने पर समस्त नाटक का काल अधिक से अधिक चार दिन का माना जा सकता है। हम ऊपर "ध्रुवस्वामिनी" के जिस संवाद का उल्लेख कर चुके हैं उस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। प्रसाद का यह नाटक रचनात्मक की दृष्टि से एकांकी नाटकों के रचना-तन्त्र के अधिक समीप है अतः यदि उस दृष्टि से नाटक की घटनाओं की गति को कुछ बढ़ा दें और उक्त संवाद के आधार पर घटनाओं के अन्तर को कम से कम करदें तो सम्पूर्ण नाटक का काल एक रात्रि और एक दिन का माना जा सकता है। प्रथम अङ्क सन्ध्या का है। अब यदि प्रथम अङ्क की घटना-गति को बढ़ा दें तो उक्त अङ्क की सम्पूर्ण घटना दो घण्टे से भी कम में समाप्त हो जाती है। सन्ध्या के आगमन के दो घण्टों से भी कम समय में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी शक-दुर्ग की ओर प्रयाण करते हैं और शक दुर्ग के द्वार बन्द होने से पूर्व वहाँ पहुँच जाते हैं। यदि यह मान लें कि दुर्ग का द्वार लगभग दस बजे बन्द किया जाता होगा तो समस्या और भी सुलझ जाती है और दूसरे अंक की घटनाओं के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। चिन्तन शक-दुर्ग में ध्रुवस्वामिनी से पूर्व ही पहुँच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनी से कुछ पूछने के पूर्व ही रामगुप्त ने शिखरस्वामी की मंत्रणा से "कुछ

मे आधार् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान"[1] दिया होगा और विजय की शर्ते स्वीकार करली होंगी उसी समय खिगल शक-दुर्ग के लिए रवाना हुआ होगा । उक्त पटना की योजना प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही है । स्थान का अन्तर अधिक है ही नहीं अत: खिंगल तुरन्त ही वहाँ पहुँच गया होगा । ध्रुवस्वामिनी के आगमन की सूचना पाकर शकराज के दुर्ग में सन्ध्या को ही नृत्य गीत का आयोजन हुआ होगा । ऐसी दशा में काल की दृष्टि से प्रथम अङ्क का उत्तरार्द्ध (रामगुप्त और शिखरस्वामी के पहली बार प्रस्थान करने से लेकर अन्त तक) और दूसरे अङ्क का पूर्वार्द्ध (उत्सव समारोह तक) दोनों समकालीन होंगे। दूसरे अङ्क का उत्तरार्द्ध रात्रि में घटित हुआ । तीसरा अङ्क युद्धोपरान्त प्रात:काल का है । उक्त अंकों को भी दो घटे का मान लेने पर सम्पूर्ण नाटक का काल पहली सन्ध्या के ६ बजे से लेकर दूसरे दिन प्रात:काल के १० बजे तक माना जा सकता है ।

प्रसाद का यह अकेला ही नाटक है जिसमें घटना का काल और स्थान से बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है ।

(१) ध्रुवस्वामिनी पृष्ठ १८

स्कंदगुप्त नाटक में काल योजना

''स्कंदगुप्त' भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग की घटनाओं को लेकर लिखा गया एक महत्वपूर्ण नाटक है। अन्य नाटकों के समान ही इस नाटक में भी प्रसाद ने इतिहास के सुदीर्घ काल की घटनाओं को कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि कुमारगुप्त के शासन-काल की निश्चित पूर्वापर तिथियां ४१२ ई० से ४५५ ई० हैं।[1] स्कंदगुप्त का राज्यकाल ४५५ ई० से लेकर ४६७ ई० तक माना जाता है।[2] आर. सी. मजूमदार स्कंदगुप्त के शासन काल की इस प्रथम तिथि को स्वीकार नहीं करते। उनका अनुमान है कि सिंहासन पर बैठने से पूर्व उसे अपने अन्य भाइयों से युद्ध करना पड़ा था।[3] राखालदास बनर्जी स्कंदगुप्त के शासन की अन्तिम तिथि ४८० ई० मानते हैं।[4] विन्सेंट स्मिथ के अनुसार भी कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त के शासन काल की तिथियां क्रमशः ४१५ ४५५ ई० तथा ४५५ ४६७ ई० ही हैं।[5]

सम्पूर्ण नाटक की अवधि

स्कंदगुप्त नाटक पुष्यमित्र-युद्ध के समय से प्रारम्भ होता है। प्रथम अंक के पहिले ही दृश्य (?) में उक्त युद्ध का उल्लेख वर्तमान काल में किया गया है।[6] प्रथम दृश्य में ही कपिशा के श्वेत हूणों द्वारा पादाक्रांत किये जाने का भी उल्लेख किया गया है।[7] स्मिथ के अनुसार पुष्यमित्र-युद्ध का काल ४५० ई० है और कपिशा में श्वेत हूणों के आगमन की घटना ४५५ ई० के आस पास की है।[8] हूणों की इसी बाढ़ को स्कंदगुप्त ने पहली बार रोका था। अब यदि यह मान लें कि कपिशा पर हूणों का आक्रमण ४५५ ई० के प्रारम्भिक दिनों में हुआ तो स्कंदगुप्त से उनका युद्ध ४५५ ई० के अन्तिम दिनों में हुआ होगा। कुमारगुप्त की मृत्यु ४५५

---

(१) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशिएन्ट इण्डिया (राय चौधरी) पृ० ५४६ ५०
(२) वही
(३) जर्नल आफ दि बंगाल एशियाटिक सोसायटी १८८९ "कदापा" भूमिका
(४) दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज (बनर्जी) पृ० ५२ ५६
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १७५ ४६
(६) स्कं० १।११ १२
(७) वही १।११
(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ११४

ई० के प्रारम्भ में हुई होगी और उन्हीं दिनों स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा होगा। "स्कन्दगुप्त" नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य की घटना ४५५ ई० के प्रारम्भ की मान सकते हैं परन्तु ऐसा करने पर पुष्यमित्र युद्ध की समस्या शेष रह जाती है। इसका समाधान स्कन्दगुप्त के भिटारी के शिलालेख के आधार पर किया जा सकता है। जब स्कन्द पुष्यमित्रों से युद्ध कर उन पर विजय प्राप्त कर लौटा तब उसके पिता का स्वर्गवास हो गया था और वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी माता से उसी प्रकार मिला जिस प्रकार शत्रुओं को मारकर कृष्ण देवकी से मिले थे।[1] शिलालेख में वर्णित इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रों पर विजय प्राप्ति और कुमारगुप्त की मृत्यु वाला समय एक ही समय में हुई होगी। यदि पुष्यमित्र-युद्ध का प्रारम्भ स्मिथ के अनुसार ४५० ई० मानें तो यह युद्ध पांच वर्ष चला और ४५५ ई० के आरम्भ में ही स्कन्द उन पर विजय पा सका होगा। शिलालेख में इसके उपरान्त हूण आक्रमण का वर्णन किया गया है[2] अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुमारगुप्त की मृत्यु के समय अथवा उससे कुछ पूर्व कपिशा में श्वेत हूणों ने अपना अधिकार कर लिया और ४५५ ई० के ही अन्तिम दिनों में श्वेत हूणों की पहली बाढ़ को स्कंदगुप्त ने रोका।

उक्त तिथियों को स्वीकार कर लेने पर यह माना जा सकता है कि "स्कन्दगुप्त" नाटक का प्रारम्भ ४५५ ई० के प्रारम्भिक दिनों में होता है। नाटक की अन्तिम तिथि का निरूपण करना भी कुछ कठिन है। वस्तुतः प्रसाद के नाटक में श्वेत हूणों के तीन आक्रमणों का उल्लेख हुआ है। दूसरे आक्रमण में स्कन्दगुप्त की पराजय हुई और तीसरे में उसकी विजय। यह कहना कठिन है कि हूणों के साथ स्कंदगुप्त ने कितने युद्ध किये पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ४५ ई० में हूणों की प्रथम पराजय हुई। इसी का उल्लेख भिटारी के शिलालेख में हुआ है। इसके उपरान्त ४६५ ई० के लगभग हूणों ने गांधार को विजय कर कुषाण शासकों को उखाड़ फेंका और वहां बहुत ही अत्याचार किये। कुछ समय उपरान्त सम्भवतः ४७० ई० से कुछ पूर्व हूणों ने स्कंदगुप्त के साम्राज्य के भीतर ही आक्रमण कर

---

(१) समुदित बल कोशान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा।
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंश लक्ष्मी
जितमिति परितोषान्मातरं साश्रु नेत्रां
भुजबल विजितारिर्य प्रतिष्ठाप्य भूयः
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः

(२) हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता—स्कंदगुप्त का भिटारी का शिलालेख-सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन (सरकार) पृ० १८

दिया।[1] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ४६५ ई० में गुप्त साम्राज्य को कश्मीर से हाथ धोना पड़ा किन्तु स्कंदगुप्त ने हूणों को आगे बढ़ने से रोक दिया। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का अनुमान है कि '४५५ ई० के बाद हूणों ने फिर कई बार गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किये। लगातार बहुत दिनों तक युद्ध करने के कारण स्कन्द की शक्ति बहुत घट गयी थी और अन्त में एक हूण युद्ध में ही उनके प्राण गये थे'।[2] कुछ भी हो किसी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में इतना अवश्य माना जा सकता है कि यदि ४५५ ई० के बाद हूणों के कई आक्रमण हुए हों तो सम्भव है स्कन्दगुप्त की किसी युद्ध में पुनः विजय हुयी हो। स्वयं प्रसाद ने अपने नाटक में जिस अन्तिम विजय का चित्रण किया है उसमें स्कंदगुप्त का हूण सेनापति को दिया गया आदेश महत्वपूर्ण है। स्कन्दगुप्त ने उसे आज्ञा दी कि वह सिन्धु के इस पार के देश में कभी आक्रमण करने का साहस न करे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस युद्ध के पहले ही समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा विजय किये गये प्रदेश का पश्चिमी भाग हूणों ने आक्रान्त कर लिया था। सम्भव है यह घटना ४५५ ई० के युद्ध की हो। इतिहासकारों के तर्क के आधार पर यह भी माना जा सकता है कि ४६६ ई० में भी हूण आक्रमण हुआ था। यहाँ यह भी कल्पना की जा सकती है कि इस आक्रमण में संभवतः स्कन्दगुप्त ने हूणों को सिन्धु पार इस ओर न आने दिया हो और ४६७ ई० के युद्ध में वह स्वयं लड़ते लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गया हो।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 'स्कंदगुप्त' नाटक की घटना का कुल काल ४५५ ई० से लेकर ४६६ ई० तक ग्यारह वर्ष का माना जा सकता है।

स्कंदगुप्त नाटक की कथावस्तु में इतिहास इतना उलझा दिया गया है कि विभ्रम का निर्णय करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी हो जाता है। नाटक

प्रथम अंक की अवधि

का प्रथम अंक उज्जयिनी में शक हूणों की सम्मिलित सेना के आक्रमण और उस पर स्कंदगुप्त की विजय में समाप्त होता है। इतिहास के अनुसार उज्जयिनी पर हूणों का आक्रमण बहुत बाद की घटना है और शकों को तो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही उज्जयिनी से निर्मूल कर दिया था। शक-हूण युद्ध की योजना ही अनैतिहासिक है। अतः इसकी तिथि का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। यदि इसे प्रथम हूण आक्रमण मानकर चलें तो प्रथम अंक की घटना ४५५ ई० के

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३१८

(२) करुणा (हिन्दी अनुवाद) भूमिका चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

सम्पूर्ण वंश को घेर लेती है। इस बीच कुमारगुप्त की मृत्यु हुई[1] पुष्यमित्रों का युद्ध समाप्त हो गया[2] और प्रथम हूण-युद्ध में स्कन्दगुप्त की विजय हुई। इन समस्त घटनाओं का काल एक वर्ष का होना चाहिए अन्यथा पूर्व तर्क के आधार पर ४५५ ई० में ही इन सब घटनाओं की संगति नहीं बैठ सकती। अतः प्रथम अंक ४५५ ई० के आरम्भ से अन्त तक मानना पड़ता है। यह मानना असम्भव है कि हूणों ने पश्चिमोत्तर प्रदेश पर विजय किए बिना ही भारत के दक्षिण में स्थित उज्जयनी पर आक्रमण कर दिया होगा।

द्वितीय अंक की अवधि

द्वितीय अंक का आरम्भ सहज ही ४५५ ई० के अन्त से मानना पड़ेगा। यहाँ एक असंगति की ओर बरबस ही ध्यान आकर्षित हो जाता है। इतिहासकारों का मत है कि प्रथम हूण-युद्ध स्कंदगुप्त के सिंहासनासीन होने के उपरांत लड़ा गया था। प्रसाद के नाटकों में घटनाओं का क्रम उलट दिया गया है। अतः तिथिक्रम का उलट फेर हो जाना स्वाभाविक ही है। द्वितीय अंक में जो गृह-संघर्ष है वह अनुमानतः दो या तीन माह चला होगा। स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के साथ ही द्वितीय अंक समाप्त हो जाता है। उक्त घटना को भी हम ४५५ ई० के अन्तिम दिनों की मान सकते हैं। इस अंक की घटना क्रम में उलट फेर है। स्कंदगुप्त का राज्याभिषेक मगध में न होकर उज्जयनी में हुआ है। इतिहास इसका साक्षी नहीं अतः उक्त घटना की तिथि का प्रश्न उठाना असंगत होगा।

तृतीय अंक की अवधि

तृतीय अंक के प्रारम्भिक दृश्य की कथावस्तु काल्पनिक है अतः काल योजना का प्रश्न ही नहीं उठता। इस समय तक हूणों ने कपिशा के साथ गान्धार को भी आक्रान्त कर लिया था। अतः इस अंक के आरम्भ की तिथि ४६५ ई० है। प्रसाद ने तृतीय अंक में गान्धार की घाटी और कुभा के तट का उल्लेख किया है। इस युद्ध में स्कंदगुप्त की हार हुई है अतः निश्चय ही तृतीय अंक का प्रारम्भ ४६५ ई० के कुछ पूर्व हुआ होगा। तृतीय अंक की समाप्ति उक्त गान्धार युद्ध में ही हुई है अतः सम्पूर्ण तृतीय अंक का काल कम से कम दो-तीन महीने का माना जा सकता है यद्यपि निश्चित रूप से यहाँ भी कुछ कहना कठिन है।

चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य की घटना का इतिहास से कोई संबंध नहीं अतः तिथिक्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। तृतीय अंक में दूसरे दृश्य को हम ठीक ४५५

---

१ स्कंद १।११

२ वही २।१२

ई० के चतुर्थ या पंचम माह का मान सकते हैं। इससे पूर्व हूण आक्रमण मे ही वे और इस अंक तक आते आते हम देखते हैं कि सप्तसिंधु प्रदेश भी हूणों से आक्रांत हो चुका है[1] अस्तु चतुर्थ अंक का प्रारम्भ ४५५ ई० के बीच में कहीं हुआ होगा। उक्त अंक के अंत के संबंध में भी इतना ही संकेत मिलता है कि उस समय अन्तर्वेदी भी हूणों से आक्रांत हो चुकी थी। ४५७ ई० तक अन्तर्वेदी पर स्कंदगुप्त का अधिकार था किन्तु यह कहना कठिन है कि उसके बाद कब वहां हूणों का अधिकार हो गया। संभव है उक्त घटना भी ४५५ ई० के अन्तिम दिनों की हो। चतुर्थ अंक की समस्त घटना तीन या चार माह की मानी जा सकती है।

चतुर्थ अंक की अवधि

तृतीय अंक के अन्त में कुभा में बह जाने के उपरांत स्कंदगुप्त पुनः पंचम अंक के प्रारम्भ में ही प्रकट होता है। इससे पूर्व चतुर्थ अंक के अन्त में हम उसे उद्भ्रांत और निराशामग्न पाते हैं किन्तु वह स्वजनों के सामने पंचम अंक में ही प्रकट होता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद स्कंद को कितने समय तक अज्ञात रखना चाहते हैं। यह ऐतिहासिक घटना भी नहीं है। नाटक के घटना-क्रम के आधार पर यदि काल-निर्णय किया जाय तो तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक के प्रारम्भ तक एक माह से अधिक का अन्तर मानना कथा प्रवाह की दृष्टि से उचित नहीं बैठता ऐसी दशा में चतुर्थ अंक में केवल एक माह की घटना होगी और उक्त घटना भी ४५५ ई० के मध्य की ही मानी जायेगी।

पंचम अंक की अवधि।

पंचम अंक का प्रारंभ ४५५ ई० के तृतीय चरण में माना जा सकता है। पंचम अंक की समाप्ति हूण-युद्ध में स्कंदगुप्त की विजय के साथ होती है। उक्त घटना को हम ४५५ ई० की घटना मान चुके हैं। अतः पंचम अंक में ४५५ ई० के तृतीय चरण से ४५६ ई० के प्रारंभ तक का काल आ जाता है। 'स्कंदगुप्त' में हम ४५५ के प्रारम्भ से ४५६ ई० तक की घटना मान चुके हैं। इस घटना में एक तो कई काल्पनिक प्रसंगों की योजना हुई है दूसरे इतिहास भी स्कंदगुप्त के राज्यकाल की अधिकांश घटनाओं के सम्बन्ध में मौन है अतः यह कहना कठिन है कि प्रत्येक दृश्य का ऐतिहासिक घटना काल कौन सा है और दो दृश्यों के बीच कितना कालान्तर हुआ है? जहाँ तक दृश्यों का सम्बन्ध है वहाँ तक नाटकीय घटना काल को लेकर ही हम दृश्यों की काल योजना पर विचार करेंगे।

प्रथम दृश्य उज्जयनी में गुप्त साम्राज्य के स्कंधावार का है और इसका घटना-काल अधिक से अधिक एक घण्टे का है। दूसरे दृश्य में साम्राज्य राजधानी

---

[1] स्कंद० ४।१२१

प्रथम अङ्क की काल योजना

से तुरन्त कुसुमपुर पहुँचा दिया गया है। सम्पूर्ण दृश्य का काल घण्टे भर से अधिक का नहीं है। तीसरा दृश्य कुसुमपुर का ही है। यहाँ "काश्मीर मण्डल में हूणों के आतंक" का उल्लेख हुआ है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि हूणों ने काश्मीर पर सर्व प्रथम कब अधिकार किया सम्भव है उक्त घटना ४५५ ई० के अन्त में हुए आक्रमण की हो। सम्पूर्ण तीसरा दृश्य एक घण्टे से अधिक का नहीं है।

चौथा दृश्य कुसुमपुर के राजमन्दिर का है। स्थान वही है और समय रात्रि का है। द्वितीय पहर बीत चुका है। सम्पूर्ण दृश्य घण्टे भर से अधिक का नहीं प्रतीत होता।

चतुर्थ और पंचम दृश्य के बीच कितने दिन का अन्तर है यह कहना कठिन है। पंचम दृश्य भी कुसुमपुर का ही है। समय रात्रि का है। समस्त घटना उस अमावास्या के पहले प्रहर की है जिसका उल्लेख प्रपंचबुद्धि ने चतुर्थ दृश्य में किया था। सम्पूर्ण दृश्य का काल एक प्रहर के लगभग माना जा सकता है। छठा दृश्य पुनः मुख्य स्थान (राजधानी) अथवा नगर-प्रांत के पथ का है अतः इसे भी कुसुमपुर का ही दृश्य कहा जायगा। दृश्य दो तीन घण्टे का माना जा सकता है।

सातवाँ दृश्य अवंती का है। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि उज्जयनी में ही गुप्त-साम्राज्य के स्कन्धावार से अवन्ती पहुँचने में स्कन्दगुप्त का इतना समय क्यों लग गया कि वह समय पर अवन्ती दुर्ग की रक्षा के लिए नहीं पहुँच पाया? यदि स्कंदगुप्त प्रथम दृश्य के समय मगध में होता तो बीच के ये दृश्य सामाजिक को मगध और अवन्ती की दूरी का अनुमान कराने के लिए बड़े उपयुक्त होते और तब ठीक समय पर स्कंदगुप्त को मालव रक्षा के लिए पहुँचा कर जिस प्रभाव की सृष्टि करने का प्रयास किया गया है उसका भी समर्थन किया जा सकता। यहाँ स्पष्ट ही काल दोष है। समस्त सेना के साथ सीमा से अवन्ती दुर्ग तक जाने में अधिक से अधिक एक सप्ताह का समय माना जा सकता है। सप्तम दृश्य दो घण्टे से लेकर ४–५ घण्टे तक का माना जा सकता है क्योंकि युद्ध में लगे समय का ठीक ठीक अनुमान करना कठिन है।

द्वितीय अङ्क की काल योजना

द्वितीय अङ्क का घटना काल ४५५ ई० के अन्त का माना जा चुका है। प्रथम दृश्य क्षिप्रा तट का है। घटना प्रथम अङ्क के अन्त में लड़े गए हूण-युद्ध के ठीक बाद की है। इसलिए दोनों अङ्कों के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रथम दृश्य का घटना-काल घण्टे भर का है। द्वितीय दृश्य मठ का है। बातचीत से ज्ञात होता है कि यह मठ कुसुमपुर में है। उस मठ में महादेवी देवकी की हत्या की योजना बन रही है। प्रथम दृश्य से यह पता चलता है कि स्कंदगुप्त अभी उज्जयनी में है

और शीघ्र कुसुमपुर जा रहा है पर दूसरे दृश्य में सहसा यह सूचना मिलती है कि युवराज पहुंच चुके हैं। इससे हमें इन दोनों दृश्यों के बीच की अवधि का अनुमान लगाने में आसानी होती है। उज्जयनी से कुसुमपुर जाते जाते लगभग एक माह का समय लग गया होगा। इसमें एक बड़ा भारी नाटकीय दोष भी आ गया है, 'एक ही अङ्क में दूर दूर देशों की घटनाएं दिखलाना उचित नहीं।' देश परिवर्तन का आभास इस कौशल से दिखलाया जाता है कि सामाजिक को पता भी नहीं चलता। वस्तुतः उज्जयनी और कुसुमपुर की दूरी को सूचित करने के लिए इन दो दृश्यों के बीच में कुछ और दृश्यों का व्यवधान होना अत्यावश्यक था। दूसरे दृश्य का घटना काल एक घण्टे से अधिक का नहीं है। तृतीय दृश्य कुसुमपुर के बन्दीगृह का है। दूसरे दृश्य में 'आज गई रात्रि में कारागार में होने वाली घटना का उल्लेख हुआ है। तृतीय दृश्य में वह घटना हो रही है इसलिए दूसरे और तीसरे दृश्य के बीच दिन भर का अन्तर है। तृतीय दृश्य है, देवकी के राजमन्दिर के बाहरी भाग का और यह अल्प दृश्य घण्टे भर से भी कम का है। समय रात्रि का है। चतुर्थ दृश्य उसी रात्रि के तुरन्त बाद का है। रामा बन्दीगृह में पहुंच गई है, और उसके पहुंचने के कुछ समय बाद ही भटार्क और अनन्तदेवी भी वहां आ जाते हैं। दृश्य के अन्त में सहसा स्कंद भी वहां पहुंच जाता है। वस्तुतः दूसरे, तीसरे और चौथे भागों की घटनाएं एक ही दिन रात की हैं। दूसरा दृश्य दिन का है और तीसरा व चौथा उसी रात्रि के। चौथे दृश्य का घटना काल लगभग एक घण्टे का है।

पांचवां दृश्य अवन्ती का है। उसमें यह सूचना मिलती है कि 'सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परमभट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।' इसका अर्थ यह होता है कि चौथे दृश्य में कुसुमपुर में अपनी माता की रक्षा करने के उपरान्त स्कंद सौराष्ट्र गए वहां शकों को निर्मूल किया और अब वहां से अवन्ती के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। यहां पुनः देश और काल के इतने बड़े व्यवधान को प्रसाद ने एक ही दृश्य में संकुचित कर दिया है मानो मगध, सौराष्ट्र और अवन्ती में कोई दूरी ही न हो और ये सब घटनाएं एक ही दिन में घटित हो गई हों? वस्तुतः इन सब घटनाओं के सम्पन्न होने में कम से कम ६ माह का अन्तर तो अपेक्षित है ही। समस्त दृश्य लगभग एक घण्टे का है। इस घटना की ऐतिहासिक तिथि का निर्धारण नहीं किया जा सकता। वस्तुतः सौराष्ट्र और मालव दोनों से शकों का निर्मूल करने का कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३९५ ई० में कर चुके थे। स्कंदगुप्त के काल में पुनः ऐसी कोई घटना नहीं हुई।[1]

छठा दृश्य उज्जयनी के पथ का है। इससे यह सूचना मिलती है कि स्कंद का राज्याभिषेक होने वाला है पर स्कंद सौराष्ट्र से वहां पहुंच चुका है। स्पष्ट

१ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया-स्मिथ पृ० ३०५

ही पाँचवें और छठे दृश्यों के बीच भी देश और काल दोनों का पर्याप्त अन्तर है। अनुमानतः इसे एक मास की घटना मान सकते हैं। भटार्क और उसकी माता का बिना किसी पूर्व सूचना के कुसुमपुर से वहाँ पहुँच जाना विचित्र-सा लगता है। समस्त दृश्य का काल घण्टे भर से भी कम का है। सातवाँ दृश्य छठें दृश्य के ठीक बाद का है। इसमें स्कंदगुप्त का राज्याभिषेक उज्जयनी में सम्पन्न हुआ है। उक्त दृश्य में पुनः सर्वनाग और कुमारदास का उज्जयनी में होना आकस्मिक है। सम्पूर्ण दृश्य का काल दो तीन घण्टे से अधिक का नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से स्कंदगुप्त का राज्याभिषेक ४५५ ई० के अन्तिम दिनों में हुआ था। उन दिनों उज्जयनी में बन्धुवर्मा गुप्त सम्राटों के करद राजा के रूप में राज्य कर रहा था। उसके राज्य त्याग का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है अतः उज्जयनी में स्कंदगुप्त का राज्याभिषेक होना मान्य नहीं।

तृतीय अंक की काल योजना

तृतीय अंक के प्रथम और द्वितीय दृश्य सर्वथा काल्पनिक हैं और उनमें किसी भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत नहीं किया गया है। इसके आधार पर यह निर्णय करना सम्भव नहीं कि दूसरे और तीसरे अंक के बीच कितना समय बीता होगा। तृतीय अंक की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है गांधार तक हूणों का प्रवेश और हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि हूणों का द्वितीय आक्रमण ४५५ ई० में हुआ था, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय और तृतीय अंक के बीच १० वर्ष का अन्तर है परन्तु नाटकीय घटनाएं इस अन्तर को स्वीकार करने में बाधा पहुंचाती हैं। तीसरे अंक का पहला दृश्य तो दूसरे अंक के अन्तिम दृश्य के एकदम बाद का है। स्थान वही है और कालान्तर अधिक से अधिक एक दिन का। देवसेना और विजया का संवाद हमारे कथन की पुष्टि करता है। दृश्य का घटना काल लगभग एक घंटे का है। दूसरे दृश्य की घटना पहले दृश्य के ठीक बाद की है और दोनों के बीच में एक दो दिन का अन्तर हो सकता है। घटना काल लगभग १ घंटे का है। तृतीय दृश्य में भटार्क उज्जयनी से सहसा मगध पहुंच गया है। इस बीच भटार्क और अनन्तदेवी ने हूणों से गुप्त सन्धि कर ली है और "स्कंदगुप्त ने हूणों को एक बार सौराष्ट्र सीमा से दूर करने के लिए समस्त सामन्तों को आमन्त्रण दिया है" "कुसुमपुर की सेना गान्धार से भी आगे बढ़ चुकी है।' ऐतिहासिक दृष्टि से हूणों के आक्रमण की यह घटना—चाहे द्वितीय अंक के बाद मानें अथवा तृतीय अंक के दूसरे दृश्य के बाद दस वर्ष उपरान्त की है इस बीच परिस्थितियों में कहीं किसी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ है। घटनाएं या तो स्थिर सी हैं या उनकी गति अत्यन्त मन्द है। नाटकीय दृष्टि से इन घटनाओं के घटित होने में १० वर्ष तो क्या १० मास का भी अन्तर कठिनता से स्वीकार किया जा सकता है। विजया भटार्क

का द्वितीय अंक के अन्तिम दृश्य में धारण कर चुकी है किन्तु अभी तक उसे सन्देह है कि वह उसे अपने बाहुपाश में भी बांध सकेगी या नहीं ? देवसेना अभी स्कन्दगुप्त से प्रणय राग से ही रंजित है। १० वर्ष की दीर्घ अवधि तक यह स्थिति सम्भाव्य नहीं। चौथे दृश्य में सामाजिक पुनः मगध से उज्जयनी में पहुँचा दिया जाता है। इस बीच सिन्धु-तट पर हुए युद्ध में स्कन्दगुप्त की विजय हो चुकी है तथा "अधीर सम्राट स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है और मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया गया है।" हूण युद्ध में कितना समय लगा यह इतिहासकार नहीं बताते पर यह घटना ४५७ ई० की है। मातृगुप्त की घटना और उसकी तिथि का भी कोई ऐतिहासिक आधार नहीं। समस्त दृश्य आधे घंटे से अधिक का नहीं। पांचवें दृश्य में हुआ युद्ध अभी चल रहा है। सिन्धु तट से हूणों को खदेड़ते हुए स्कन्दगुप्त ने उन्हें गांधार की घाटी तक ढकेल दिया है। पांचवें और छठे दृश्यों के दोनों युद्ध गांधार की घाटी में लड़े गये हैं। युद्ध से सम्बन्धित होने के कारण दोनों दृश्यों का काल स्पष्ट नहीं किया जा सकता। गांधार और कुभा के रणक्षेत्रों के युद्ध और कुभा के बाँध न रहने से बह जाने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं।

चतुर्थ अंक में ४५५ ई० के मध्य की लगभग एक माह की घटनाएँ आती हैं—ऐसा हम पहले स्वीकार कर चुके हैं। तृतीय अंक के अन्तिम दृश्य में कुभा का बांध तोड़ दिए जाने से स्कन्दगुप्त और उसकी सेना के बह जाने की सूचना मिलती है। चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य में मन्दर्भेद का विजयपति बंधवर्मा मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय मालवा को लौट रहा है।' इसका अभिप्राय यह है कि एक तो अभी तक मगध में स्कन्दगुप्त की पराजय के समाचार नहीं पहुँचे हैं और दूसरे अभी तक अन्तर्वेदी हूणों से आक्रान्त नहीं हो पाई है। अतः या तो यह दृश्य तीसरे अंक के अन्तिम दृश्य का समकालीन है या उसके थोड़े ही समय के पश्चात का। प्रथम दृश्य का समय एक घंटे से भी कम का है। दूसरा किस स्थान का है यह नहीं कहा जा सकता। कुसुमपुर का दृश्य होता तो इसमें भटार्क के शिविर का उल्लेख न होता किन्तु इस दृश्य में महादेवी देवकी की उपस्थिति के कारण इसे गांधार के युद्ध क्षेत्र का दृश्य भी मानने को जी नहीं चाहता। सम्पूर्ण दृश्य घंटे भर से भी कम का है। तीसरे दृश्य का घटना स्थल सहसा काश्मीर बन गया है। काश्मीर का कथा तक स्कन्दगुप्त से सम्बद्ध ऐतिहासिक घटना नहीं है तथापि नाटक के इस दृश्य से हमें इतना ज्ञात होता है कि अब तक स्कन्दगुप्त का सहसा लुप्त होने का समाचार काश्मीर तक पहुँच गया है। पंचनद पर हूणों का अधिकार हो गया है और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं। पंचनद पर हूणों का अधिकार हूणों के प्रथम आक्रमण (४५५ ई०) से १० वर्ष बाद हुआ था। इसमें भी हमारी उपर्युक्त

चतुर्थ अंक की काल योजना

तिथि की पुष्टि होती है। समस्त दृश्य का अन्तिम काल एक सप्ताह है। चौथा दृश्य "नगर प्रान्त" का है। यह समझ में नहीं आता कि "नगर प्रान्त" से प्रसाद किस स्थान का अर्थ ले रहे हैं। इसमें प्रसाद के नाटकों के भूगोल पर विचार करते समय "नगर-प्रान्त" नामक कोई प्रदेश अथवा नगर नहीं माना है। "नगरहार" को अवश्य "पाराशर तन्त्र" "ह्वेनसांग के वृत्तान्त" और "तुजक बाबरी" के आधार पर कुभा (काबुल) तथा उसकी एक अन्य सहायक नदी (सुर्खाब) के संगम के दाँये किनारे पर माना है।[1] नाटक का यह दृश्य "नगरहार" का नहीं हो सकता क्योंकि इससे पूर्व के दृश्य में[2] हूणों के पञ्चनद पर अधिकार कर लेने की चर्चा हुई है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि चतुर्थ से लेकर ग्यारहवें दृश्य तक साधारणतया नगर प्रान्त का अर्थ पाटलिपुत्र भी माना जा सकता है। यह मान लेने पर यहाँ महादेवी देवकी की समाधि की स्थिति एवं ग्यारहवें दृश्य में पुरगुप्त एवं अनन्तदेवी देवकी की उपस्थिति स्वाभाविक एवं सरल प्रतीत होती है। हम पहिले कह चुके हैं कि चतुर्थ अंक का दूसरा दृश्य पाटलिपुत्र के आसपास मानना ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि महादेवी देवकी की मृत्यु सिन्धु के उस ओर किसी अन्यत्र प्रदेश में मानने की इच्छा नहीं होती। इन सभी दृश्यों में किसी कनिष्क चैत्य[3] एवं महाबोधि विहार[4] के उल्लेख किसी निश्चित स्थान की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। चैत्य को एक स्थल पर कनिष्क स्तूप[4] भी कहा गया है। इनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि कनिष्क का प्रसिद्ध स्तूप और संलग्न चैत्य उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में थे। सौभाग्य से फाहियान, ह्वेनसांग और अलबरूनी सब ने इस "कनिष्क-चैत्य" का उल्लेख किया है।[5] निःसन्देह प्रसाद का अभिप्राय पुरुषपुर से ही होना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रसाद के भौगोलिक ज्ञान पर बहुत बड़ा आक्षेप लगाया जा सकता है। पंचनद में हूणों का अधिकार हो जाने के उपरांत पुरुषपुर में इन दृश्यों की योजना का अर्थ यही हो सकता है कि प्रसाद पञ्चनद को गान्धार के पश्चिम का प्रदेश मान लेते हैं जो सर्वथा अमान्य और गलत है। पाँचवें दृश्य में उक्त घटना है अद्भुत ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष का चित्रण हुआ है। दृश्य में दुर्दान्त हूणों द्वारा सप्तसिन्धु-प्रदेश के पदाक्रान्त किये जाने की चर्चा भी हुई है। उक्त घटना का हम ४५२ ई० में होना स्वीकार कर चुके हैं। सम्पूर्ण दृश्य लगभग घंटे भर का है।

छठे दृश्य में प्रख्यात कीर्ति की उपस्थिति एवं कनिष्क चैत्य के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाँचवें और छठे दृश्य के बीच विशेष अन्तर नहीं—

---

(१) देखिए "भौगोलिक विवरण"

(२) स्कंद ४।१४७ (३) स्कंद० ५।१५८ (४) वही ५।१३१

(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. २९३

यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित समय बतला सकना संभव नहीं । यह दृश्य भी पुष्पपुर का मानना पड़ेगा । इसका काल कुछ ही मिनटों का है ।

सातवें दृश्य में स्कंदगुप्त का पुनः प्रवेश हुआ है । तृतीय अंक के अन्त में कुभा में बह जाने के उपरान्त प्रथम बार स्कंदगुप्त के जीवित होने की सूचना उसने स्वयं दी है । अतः तृतीय अंक के अन्तिम दृश्य और चौथे अंक के सातवें दृश्य के बीच अधिक अन्तर सम्भव ही नहीं है । सातवें दृश्य के स्थान का अनुमान लगाना भी कठिन नहीं । कनिष्क चैत्य का उल्लेख इस दृश्य में भी हुआ है ।

पंचम अंक की काल योजना

पंचम अंक में ४६७ ई० से ४६८ ई के बीच की ५-६ महीनों की घटना है । पंचम अंक के प्रथम दृश्य से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चतुर्थ और पंचम अंक के बीच काल का अन्तर नहीं के बराबर है । चतुर्थ अंक के अन्त में कमला स्कंदगुप्त को उसकी मां की मृत्यु का समाचार देती है और पंचम अंक के प्रथम दृश्य में ही मुद्गल विजया को सूचना देता है कि "आज कमलादेवी के कुटीर से सम्राट वहीं अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं । दृश्य कनिष्क चैत्य के पास का ही है । काल योजना घंटे भर से भी कम की है ।

दूसरा दृश्य उसी दिन का है जिस दिन पहला दृश्य सम्पन्न हुआ । महाराज स्कंदगुप्त कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि में फूल चढ़ाने आते हैं । इसी दृश्य में देवसेना स्कंद से विवाह करना अस्वीकार कर देती है स्कंद से प्रणय याचना में विफल होकर विजया आत्मघात कर लेती है । उसके लिए समाधि खोदते हुए भटार्क को रत्नगृह मिलता है । इन सब घटनाओं को देखते हुए इस समस्त दृश्य में लगभग ४ घण्टे का समय लग सकता है । विजया वाली घटना ऐतिहासिक न होते हुए भी उसके रत्नगृह का कनिष्क चैत्य के समीप पुष्पपुर में पाया जाना नाटकीय दृष्टि से भी अस्वाभाविक है इस घटना को किसी प्रकार भी वास्तव भी नहीं माना जा सकता । सातवां दृश्य उसी दिन का है । छठे दृश्य में स्तूप के पास जिस भीड़ की सूचना दी गई है वही भीड़ सातवें दृश्य में है । इसका घटनाकाल कुछ ही मिनटों का है ।

आठवां दृश्य महाबोधि विहार का है किन्तु यहां भी यह कहना कठिन है कि प्रसाद का अभिप्राय किस स्थान के विहार से है । हूण सेनापति के एक कथन से इतना अवश्य प्रतीत होता है कि दृश्य की घटना सिन्धु के इस पार के प्रदेशों में घटती है । साम्राज्य स्कंधावार के उल्लेख से यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि सिन्धु के ठीक पूर्व के प्रदेश में कहीं इस दृश्य की योजना हुई है । यहां प्रसाद पुनः वही भौगोलिक भ्रांति में पड़ गए हैं । कनिष्क चैत्य निश्चय ही पुष्पपुर में था । नवीं शताब्दी तक उसके वहां होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं और पुष्पपुर

सिन्धु के उस पार या इस पार नहीं। दृश्य की कालयोजना बहुत ही कम समय की है। नवां दृश्य रणक्षेत्र का है। यहाँ भी यह अनुमान लगाना कठिन है कि रणक्षेत्र कौन-सा है। यदि अपने पूर्व निष्कर्ष को ठीक मान लें तो सिन्धु के इस ओर सम्भवत पंचनद की सीमा पर कहीं नाटक का अन्तिम युद्ध लड़ा गया होगा। इस युद्ध का संभावित काल हम ४६६ ई० मान चुके हैं—यद्यपि ऐसा किसी ऐतिहासिक आधार पर नहीं किया गया है। युद्ध से सम्बन्धित होने के कारण निश्चित समय को दृश्य की काल सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता।

दसवाँ और अन्तिम दृश्य उद्यान का है परन्तु यहाँ भी वही अस्पष्टता परिलक्षित होती है। यह निर्धारित करना असम्भव है कि उक्त उद्यान गान्धार का है, पंचनद का है, कुसुमपुर का है कश्मीर का है उज्जयनी का है अथवा किसी अन्य स्थान का। दृश्य का काल अधिक नहीं है कुछ कम है। इतना अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि नवें और दसवें दृश्यों के बीच एक या दो दिन से अधिक का अन्तर नहीं होगा।

'राज्यश्री' नाटक की काल-योजना

'राज्यश्री' में प्रसाद ने राज्यवर्द्धन के काल से लेकर हर्ष द्वारा आयोजित प्रयाग की धर्म-सभा तक के काल को अपने नाटक की घटनाओं का विषय बनाया है। नाटक की भूमिका में उन्होंने हर्ष के राज्यकाल की अवधि ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक मानी है।[1] उक्त दोनों तिथियाँ इतिहासकारों को सामान्यतः मान्य हैं। प्राचीन इतिहासकारों में स्वयं स्मिथ ने ६०५ ई० में राज्यवर्द्धन का जीवित होना स्वीकार किया है और ६०६ ई० से हर्ष का काल माना है। हर्ष की मृत्यु उन्होंने भी ६४७ ई० में मानी है। प्रसाद ने अन्य तिथियों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा मान्य तिथियों का स्मिथ की मान्यताओं से विरोध न होने के कारण यहाँ स्मिथ की मुख्य मुख्य तिथियों को ही आधार मानना उचित रहेगा। स्मिथ के अनुसार प्रयाग की धर्मसभा ६४३ ई० हुयी थी।[2] उक्त आधार पर सम्पूर्ण नाटक का घटनाकाल ६०५ ई० से लेकर ६४३ ई० तक ३८ वर्ष का माना जा सकता है।

सम्पूर्ण नाटक की कालावधि

प्रथम अंक उस समय प्रारम्भ हो जाता है जब देवगुप्त कान्यकुब्ज के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था और ग्रहवर्मा सीमा प्रांत से मृगया के लिए आ रहा था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस षड्यन्त्र और ग्रहवर्मा की मृत्यु में कितना अन्तर रहा होगा। कम से कम समय मानने पर भी घटना का काल छः या सात माह से अधिक का नहीं माना जा सकता। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु का समाचार राज्यवर्द्धन को स्कन्धावार में मिला जब वह हूण-विजय कर लौट रहा था। जिस दिन वह लौटा उस दिन उसने कुछ भी भोजन नहीं किया। दूसरे दिन प्रातःकाल अत्यन्त अनुनय विनय के उपरान्त भी उसने राज्य ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। उसी समय राज्यश्री के मुख्य संवादक ने आकर ग्रहवर्मा की हत्या और राज्यश्री के बन्दी होने का समाचार सुनाया।[3] राज्यवर्द्धन उसी दिन देवगुप्त से युद्ध करने के लिए चल दिया।[4] उक्त आधार पर

प्रथम अंक की कालावधि

---

(१) राज्यश्री—भूमिका पृ० ७

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया—स्मिथ पृ० ३७१

(३) हर्षचरित—कावेल एण्ड थामस—छठा उच्छ्वास। २०१

(४) वही छठा उच्छ्वास। २०३

यह माना जा सकता है कि जिस दिन प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हुई उसी दिन मौखरी ग्रहवर्मा की भी हत्या की गई और कान्यकुब्ज पर अधिकार किया गया[1] अत: यदि प्रथम अंक को ६०५ ई० के प्रारम्भ से लेकर ६०५ ई० के मध्य तक मानें तो द्वितीय अंक को ६०५ ई० के मध्य से लेकर देवगुप्त की मृत्यु तक अर्थात् ६०५ ई० के अन्त तक मानना उचित है।

द्वितीय अंक की कालावधि

राज्यवर्द्धन को कान्यकुब्ज जैसे सुदृढ़ दुर्ग पर अधिकार करने में कुछ समय अवश्य लगा होगा विशेष कर जब शत्रु सतर्क था। नाटक में तो ऐसा प्रतीत होता है कि शर्विल ने केवल एक दिन में ही दुर्ग पर विजय पा ली थी।[2] ऐसी दशा में पहिले और दूसरे अंक के बीच अधिक से अधिक एक माह का अन्तर मानकर दूसरे अंक को भी ६०५ ई० के मध्य में ही मानना होगा। दूसरे और तीसरे अंक के बीच एक दो माह का अन्तर सरलता से माना जा सकता है भी गौरीशंकर चटर्जी यह मानते हैं कि ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यवर्द्धन की हत्या के बीच पर्याप्त समय का अन्तर था।[3]

तृतीय अंक की कालावधि

हर्षचरित के उल्लेख 'अतिक्रान्तेषु च बहुषु वासरेषु'[4] से भी इसकी पुष्टि होती है। अब यदि ग्रहवर्मा की हत्या के एक माह के भीतर राज्यवर्द्धन कान्यकुब्ज पहुँच गया हो और एक ही दिन में उसने दुर्ग पर अधिकार कर लिया हो तो राज्यवर्द्धन की हत्या उसके एक या दो माह बाद भी मानी जा सकती है। हर्षचरित के अनुसार कुन्तल हर्ष के पास आकर कहता है 'कान्यकुब्ज और गौड़-युद्ध में गुप्त नामक किसी कुलपुत्र ने राज्यश्री को बंधन मुक्त कर दिया। वह राज्यवर्द्धन का मरण सुनकर विन्ध्याटवी की ओर निकल गई'[5] यदि प्रकार से नाटक के अनुसार राज्यवर्द्धन का कान्यकुब्ज दुर्ग पर अधिकार किया जाना मान लें तो राज्यवर्द्धन की हत्या की सूचना के बाद भी किसी अज्ञात कुलपुत्र द्वारा राज्यश्री को मुक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ राज्यवर्द्धन की विजयी सेना थी और था उसका विश्वस्त मंत्री मंत्रि। ऐसी स्थिति में राज्यश्री का विन्ध्याटवी को भाग जाने का कोई कारण नहीं।

---

(१) 'अस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इत्यभूद्वार्ता तस्मिन्नेव देवो'——प्राप्त षष्ठ उच्छ्वास पृ० २११

(२) राज्यश्री २।११

(३) हर्षवर्द्धन—गौरीशंकर चटर्जी

(४) हर्षचरित पृ २४४

(५) 'कष्टात्मीय अवनात् प्रभृति विस्तरतः श्रमुः कान्यकुब्जे गौड़ संभ्रमे गुप्तिहो गुप्तनाम्ना कुलपुत्रेण निष्कासनं निर्गतायाश्च राज्यवर्द्धन मरण-श्रवणं—
—हर्षचरित पृ १११

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कान्यकुब्ज पर अधिकार करने के पूर्व ही राज्यवर्द्धन की हत्या की जा चुकी थी। कुछ भी हो नाटक के अनुसार द्वितीय और तृतीय अंक के बीच एक मास का अन्तर स्वीकार किया जा सकता है। तब भी तीसरे अंक का प्रारम्भ ६०५ ई० के अन्त से मानना होगा। नाटक के अनुसार तृतीय अंक का अन्त चालुक्य-हर्ष युद्ध के बाद का है। यहाँ प्रसाद ने ऐतिहासिक घटना क्रम में भी पर्याप्त अन्तर उपस्थित कर दिया है फिर भी इस अंक की सबसे महत्वपूर्ण घटना चालुक्य-युद्ध है। स्मिथ के अनुसार उक्त युद्ध ६२० ई० में लड़ा गया किन्तु पनिक्कर इस तिथि को ६३३ ई० मानते हैं।[1] एक तो चालुक्य के ६३४ ई० पूर्व के 'ऐहोल' के शिलालेख में हर्ष सम्बन्धी उल्लेख नहीं है दूसरे शशांक का गंजाम ताम्रपत्र ६१९-२० ई० का है। यह ताम्रपत्र इस बात का साक्षी है कि वह उस समय तक जीवित और संभवतः शक्तिशाली भी था।[2] ऐसी दशा में चालुक्य जैसे शक्तिशाली राजा से युद्ध करने के लिए हर्ष संभवतः स्वयं प्रस्तुत न हुआ हो। पनिक्कर की तिथि स्वीकार कर लेने पर तृतीय अंक ६३३ ई० में समाप्त होता है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि प्रसाद के नाटक में समय इतना नहीं माना जा सकता क्योंकि राज्यश्री की घटना को इतिहास के विरोध से, चालुक्य-युद्ध के बाद रख देने से यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि राज्यश्री ११ वर्ष तक विन्ध्याटवी में भटकती रही। स्मिथ की तिथि स्वीकार कर लेने पर भी उक्त घटनाओं में कुल १५ वर्ष का ही अन्तर उपस्थित होता है। तब भी यह स्वीकार करना कठिन है कि राज्यश्री १५ वर्ष तक भटकती रही।

तृतीय और चतुर्थ अंक के बीच स्मिथ के तिथिक्रम को स्वीकार करने पर २१ वर्ष का और पनिक्कर की तिथि को ग्रहण करने पर ७ वर्ष का अन्तर रहता है। तृतीय अंक ठीक कान्यकुब्ज के दान के उपरान्त प्रारम्भ होता है और प्रयाग के दान में समाप्त हो जाता है। 'बील' से ज्ञात होता है कि कन्नौज की सभा बसन्त ऋतु में हुई थी।[3] स्मिथ के अनुसार यह सभा ६४३ ई० के फरवरी-मार्च में हुई थी।[4] यह दान कई दिन तक चलता रहा और उसके ठीक बाद ही प्रयाग का दान प्रारम्भ हुआ। प्रयाग का उत्सव ७५ दिन तक चलता रहा और सम्भवतः अप्रैल के

चतुर्थ अंक की कालावधि

१ श्री हर्ष आफ कन्नौज (के० एम० पनिक्कर)
२ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३७१
३ 'इट वाज ड्यू दि बिगिनिंग मन्थ आफ स्प्रिंग टाइम'—रेकर्ड्स (बील) १।२१८
४ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३५२

अन्त में इसकी समाप्ति हुई।[1] यह घटना भी ६०६ ई० की ही है। सम्पूर्ण चतुर्थ अंक की घटना का काल तीन माह के लगभग होना चाहिए।

'राज्यश्री' में १८ वर्ष की दीर्घ काल की घटनाओं का चित्रण हुआ है किन्तु कालक्रम में किसी भी प्रकार की योजना नहीं दीख पड़ती। न तो काल का अंकों में ही समुचित विभाजन हो सका है और न दृश्यों में ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि एक दृश्य में कितनी घटना रखी जाय। अतः इस नाटक में विभिन्न दृश्यों की घटनाओं की काल-योजना पर विचार कर सकना संभव नहीं।

---

१ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया—(स्मिथ) पृ० १६४

ऐतिहासिक वातावरण

सामान्य भौगोलिक खंड

"अजातशत्रु", "स्कंदगुप्त" और "राज्यश्री" इन तीनों में जम्बूद्वीप का उल्लेख हुआ है। "अजातशत्रु" में देवदत्त गौतम बुद्ध के प्रभाव को अभिव्यक्ति करने के उद्देश्य से उक्त शब्द का उल्लेख करता है। "..........यह राष्ट्र का शत्रु गौतम समस्त जम्बूद्वीप को भिक्षु बनाना चाहता है और अपने को उसका मुखिया। इस तरह जम्बूद्वीप भर पर एक दूसरे रूप में शासन करना चाहता है।[1]"

जम्बूद्वीप

"स्कंदगुप्त" में भी एक श्रमण तथागत की चेष्टा और उनके गौरव की व्यापकता दिखाने के उद्देश्य से जम्बूद्वीप का उल्लेख करता है—'तुम्हारी इसी हिंसा नीति और अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा मान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समस्त जम्बूद्वीप ने उस शान्त रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की?"[2] "राज्यश्री" में देवगुप्त ने इसका उल्लेख पुष्प-कुंज के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए किया है—"मधुकर! देवगुप्त उसी पुष्प-कुंज का है जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप विकम्पित होता था।[3]"

बौद्ध धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के बाहर समस्त एशिया महाद्वीप में फैल गया था जहाँ वह अब भी एक प्रधान धर्म के रूप में अवस्थित है। समुद्रगुप्त कृत दिग्विजय, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कृत शक-संहार, कुमारगुप्त कृत अश्वमेध और स्कंदगुप्त कृत हूण-पराभव आदि से लक्षित होता है कि गुप्त-साम्राज्य का प्रताप प्रभाव भारत के बाहर समस्त एशिया महाद्वीप में फैल गया था। प्रसाद ने एशिया के इस प्राचीन नाम जम्बूद्वीप का उल्लेख जान बूझकर किया है। अपने प्राचीन अर्थ में जम्बूद्वीप लाख-योजन विस्तीर्ण है और पद्ममध्यस्थित कोष की तरह स्थित है। यह पद्मपत्र की भाँति गोल और क्षार योजन समुद्र द्वारा वेष्टित है। यह द्वीप नौ खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड नौ हजार योजन विस्तीर्ण और सीमा पर्वतों द्वारा इसी भाँति विभक्त है।[4] अपने मूल अर्थ में जम्बूद्वीप समस्त एशिया महाद्वीप का

---

(१) अजातशत्रु १।३४ (२) स्कंदगुप्त ४।१२२ (३) राज्यश्री १।२५

(४) दि इन्साइक्लोपीडिया इण्डिका (वसु) "जम्बूद्वीप

ही मत देता है। प्रसाद ने प्राचीन वातावरण की सृष्टि करने के उद्देश्य से इस शब्द का प्रयोग किया है, किसी भौगोलिक करारेखा को ध्यान में रख कर नहीं।

भरतखण्ड का एकमात्र उल्लेख "अजातशत्रु" में हुआ है। छलना कहती है— "वत्स मैंने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हें भरतखण्ड का सम्राट देखूंगी और

भरतखण्ड वीरप्रसूती होकर एक बार गर्व से तुमसे चरणवन्दना कराऊँगी।[1] अपने मूल रूप में "भरतखण्ड" जम्बूद्वीप के नौ खण्डों में से एक है, जो नौ हजार योजन विस्तीर्ण है। यह छः भागों में विभक्त है, जिसमें पाँच खण्डों में म्लेच्छ और एक क्षेत्र में आर्य रहते हैं।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि जम्बूद्वीप की तरह ही भरतखण्ड का भी कोई स्पष्ट चित्र प्रसाद के नाटकों से नहीं प्राप्त होता केवल परिपाटी के रूप में प्राचीनता के वातावरण की रक्षा के लिए ही ग्रहण किया गया है। अजातशत्रु का साम्राज्य समस्त उत्तरी भारत में भी नहीं फैल सका था समस्त भरतखण्ड की तो बात ही दूर रही। प्रसाद ने स्वयं अपने नाटक में मगध के साथ ही दो अन्य शक्तिशाली राज्य कोशल और कौशाम्बी का उल्लेख किया है और कोई ऐसी सम्भावना न तो इतिहास में और न नाटक में ही दीख पड़ती है जिससे अजातशत्रु को भरतखण्ड का सम्राट देखने की छलना की इच्छा फलवती हो सकती। भरतखण्ड से सम्पूर्ण भारतवर्ष अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि छलना अजातशत्रु को केवल उत्साहित करने के उद्देश्य से भरतखण्ड का उल्लेख कर गई। भरतखण्ड केवल मगध साम्राज्य के विस्तार की भावना के रूप में आया प्रतीत होता है, किसी अर्थ-विशेष में नहीं।

भारत को ठीक उसी अर्थ में प्रसाद ने लिया है जिस अर्थ में वह दीर्घ काल से लिया जा रहा है। "विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने और सबसे

भारत गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है।"[3] उक्त उद्धरण से भारत की उत्तरी और दक्षिणी सीमा का निर्देश हो जाता है। अन्य सीमाओं के लिए स्कन्दगुप्त के आर्य-साम्राज्य की सीमा देखी जा सकती है। भीमवर्मा उसकी सीमा इस प्रकार बताता है, "लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी सावधान होने लगा।"[4] अब यदि हम

(१) अजात० २।१०७

(२) दि इन्साइक्लोपीडिया इण्डिका (वसु) "भरतखण्ड"

(३) स्कन्द० ५।११६

(४) स्कं० ३।२२

इस आधार पर भारत की मोटी-मोटी सीमाएं निर्धारित करें तो कह सकते हैं कि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्र पूर्व में लौहित्य और पश्चिम में सिन्धु ये चार मोटी-मोटी प्राकृतिक सीमाएं स्पष्ट हैं। पुराणों में भी भारत की सीमा निर्धारित की गई है जो इससे मिलती जुलती है —

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय ददौ पिता
तस्माच्च भारतं वर्षं
— — — — —
उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणञ्च यत्।
वर्षं तद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा।[1]

उत्तर और दक्षिण की प्राकृतिक सीमाओं को मान लेने पर, पूर्व और पश्चिम की सीमाएं और विशेष रूप से पश्चिमी सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि पूर्वी सीमा लौहित्य मान ली जाय तो भी पश्चिमी सीमा प्रत्येक ऐतिहासिक काल में कुछ न कुछ बदलती रही है। मौर्य काल में हिन्दुकुश पर्वतमाला को ही भारतवर्ष की नैसर्गिक सीमा मान लिया गया था।[2] परन्तु यह नैसर्गिक सीमा सदा ही नहीं बनी रही।[3] स्कन्दगुप्त ने सम्भवतः सिन्धु नदी को ही सीमा मान लिया था।[3] जब कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में पश्चिमी सीमा वक्षु से भी आगे बढ़ गई थी।[4] वक्षु कुषाण साम्राज्य का दूरस्थ केन्द्र था।

प्रसाद ने अपने नाटकों में भारत की महिमा और इसके सौंदर्य का स्थान स्थान पर वर्णन किया है। 'यहाँ के श्यामल कुंज घने जंगल सरिताओं की माला पहने हुए शैल श्रेणी हरी भरी वर्षा गर्मी की चांदनी शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएं ……यह स्वप्नों का देश त्याग और ज्ञान का पालना यह प्रेम की रंगभूमि——सभ्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।[5]

"भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है…… एक से एक सुन्दर दृश्य प्रकृति के अपने इस घर में चित्रित कर रहा है।"[6] अरुण

---

(१) इन्सा इक्लोपीडिया व विका (वायु) ४५।११४—१६
(२) चन्द्र० ४।२४१
(३) स्कंद० ५।१५२
(४) जर्नल आफ बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसायटी—वोल्यूम १७ पृ० २६
(५) चन्द्र० ३।१९०
(६) स्कंद० ४।११६

यह मधुमय देश हमारा ।"[1] तथा "हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।"[2] आदि गीतों में भारत के प्राकृतिक और वैभव उसकी श्रेष्ठता की स्पष्ट झाँकी मिल सकती है ।

आर्यावर्त

आर्यावर्त शब्द का प्रयोग प्रसाद के नाटकों में सर्वाधिक हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष या भारत कहने से जिस भू-भाग का अर्थ मिलता है, आर्यावर्त कहने से उस सम्पूर्ण भू-भाग की सांस्कृतिक अविच्छिन्नता स्पष्ट हो जाती है । चाणक्य ने "मालव और मागध को भूलकर"[3] जिस आर्यावर्त की एकता का प्रचार किया था वह आर्यावर्त आर्यों की जन्मभूमि है । आर्य जाति कहीं बाहर से नहीं आई, वरन् यही भारतवर्ष या आर्यावर्त उनकी जन्मभूमि है ।[4]

मनु टीका में कुल्लूक भट्ट ने लिखा है "जिस स्थान में आर्यों का पुन: जन्म होता है, वही आर्यावर्त कहलाता है ।"[5]

प्राचीन ग्रीक लेखकों ने "एरिया" "एरियाना" जनपद का उल्लेख किया है,[6] जिसकी सीमा पूर्व में सिन्धुनद, दक्षिण में भारत महासागर अर्थात् सिन्धु मुख से पारसीक उपसागर पर्यन्त जलभाग पश्चिम में कास्पीयन सागर से कार्मेनिया (अर्थात् फारस सिम समस्त येजद् और किरमान प्रदेश) तक और उत्तर में परोपनीयस पर्वत (अर्थात् भारत की उत्तर सीमा स्थित हिमालय संलग्न काकेशस गिरि माला) है । सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी पण्डित मुशो बुरनौफ के मतानुसार ग्रीक एरिया या एरियाना और फारसी ईरान संस्कृत "आर्य" शब्द के रूपान्तर हैं । अवस्ता में ऐर्यन वैजो (अर्थात् आर्यावास) संस्कृत आर्यदेश नाम से परिचित है ।[7]

मनुस्मृति में आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार दी गई है:—

"पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र पर्यन्त विस्तृत देश के मध्यवर्ती प्रदेश में, उत्तर

---

(१) चन्द्र० २।१०७

(२) स्कंद० ३।१५०

(३) चन्द्र० १।६०

(४) स्कंद ५।१५० (गीत)

(५) "आर्या अत्रावर्तन्ते पुन: पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त:" मनुस्मृति २।२२

(६) एंशिएन्ट इण्डिया—टॉलेमी (मैक्रिण्डल) पृ० ३०५

(७) दि इन्साइक्लोपीडिया इण्डिका २।११६०–६१

दक्षिण गिरि के मध्यवर्ती स्थान को पंडितों ने आर्यावर्त कहा है।'[1]

अमरकोष में आर्यावर्त की सीमा इस प्रकार बताई गई है —

'आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः'"[2]

उपयुक्त विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः आर्यावर्त शब्द का प्रयोग कभी सप्तसिन्धु के पश्चिमी देश के लिए, कभी सम्पूर्ण हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के उत्तरी भारतवर्ष के लिए होता था। कालान्तर में जब उत्तर और दक्षिण के बीच का अन्तर क्रमशः कम होता गया तो सम्पूर्ण भारतवर्ष को आर्यावर्त कहने में किसी प्रकार की कठिनाई न रही। आधुनिक काल तक पहुँचते पहुँचते आर्यावर्त शब्द सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ में रूढ़ हो गया। प्रसाद ने अपने नाटकों में आर्यावर्त को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण किया है।[3] आर्यावर्त[4] आर्य जाति[5] आर्यावर्त की बालिका[6] आर्य विधान[7] आर्य कोष[8] जैसे शब्द एक रूढ़ पर सांस्कृतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, जिसमें सम्पूर्ण भारत की एकता की भावना सन्निहित है। यद्यपि "मध्यं विन्ध्य हिमालयोः" का अर्थ लेने पर भी प्रसाद के नाटकों में विरोध नहीं आ सकता

आर्यावर्त की भाँति उत्तरापथ[8] और दक्षिणापथ[9] का प्रयोग भी प्रसाद ने बहुत किया है। पाणिनि ने भी उत्तरापथ का उल्लेख किया है। उत्तरापथ से आई आने वाली वस्तुओं के लिए (उत्तरपथेन आहृतम् च) तथा उस पथ के यात्रियों के लिए (उत्तरपथेन गच्छति) "औत्तरापथिक" का उल्लेख है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल उत्तरापथ उस प्राचीन मार्ग को मानते हैं जो पूर्वी भारत से गान्धार तक तथा

भारतवर्ष के दो विभाग (क) उत्तरापथ

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्

(१) तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः (२।२२)

(२) अमर कोष २।१।८

(३) "आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट्" और "आर्यावर्त प्यारा देश" जैसे प्रयोग द्रष्टव्य हैं। चन्द्र० ३।१२७ व चन्द्र० ४।२१७

(४) चन्द्र १।१९ स्कंद० २।२६

(५) वही १।२७ , वही १।०९

(६) वही १।६२ (आर्य कन्याए) २।७९

(७) वही १।८६

(८) वही १।१०६

(९) चन्द्र० १ १।११ तथा अन्यत्र स्कंद० २।७२ तथा अन्यत्र राज्यश्री ३।२७ तथा अन्यत्र।

(१०) वही ४।१२६ ———— वही १।११ ———— वही ३।१८ ————

गान्धार से सुदूर पश्चिम तक जाता था। "भारत की सम्पूर्ण ग्रैण्ड-ट्रंक रोड जो भारत के बाहर बल्ख तक गई हुई थी यूनानियों को उत्तरापथ (नौर्दर्न रूट) के नाम से ज्ञात थी।" यह विशाल राजमार्ग बाह्लीक कपिशा पुष्कलावती, तक्षशिला शाकल हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज तथा प्रयाग जैसे प्रसिद्ध जनपदों और नगरों में होता हुआ जाता था।[1]

सम्भवतः अपने मूल रूप में उत्तरापथ का यही अर्थ रहा हो परन्तु प्रसाद ने उत्तरापथ का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उत्तरापथ का संकुचित अर्थ है उत्तर-पश्चिमी-भारतवर्ष जो उस काल में अधिकतर गणतंत्रों से शासित था।[2] केवल आम्भीक और पर्वतेश्वर के राज्य ही गणतन्त्र नहीं थे। उक्त परिभाषा के अन्तर्गत मगध 'आर्य्यों का देश' है।[3] स्पष्ट है कि उत्तरापथ का यह अर्थ ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार लिया गया है। डा० राय चौधरी[4] ने सिकन्दर के समय के उत्तरापथ में तत्कालीन २८ राज्यों का उल्लेख किया है जिनकी सीमा प्रसाद के 'उत्तरापथ' से ठीक मेल खाती है। बहुत कुछ इसी अर्थ में उत्तरापथ का उल्लेख काव्य मीमांसा में भी हुआ है —

पृथूदकात् परतः उत्तरापथः[5] -

कनिंघम पृथूदक का संबंध पेहोआ से जोड़ते हैं जो थानेश्वर से १४ मील पश्चिम की ओर है।[6]

स्कंदगुप्त में उत्तरापथ का स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी उपर्युक्त संकुचित अर्थ ही प्रतीत होता है 'महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे'।[7] "उत्तरापथ के समस्त धर्म संघ"[8] 'उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था'[9] तथा "समस्त उत्तरापथ का बौद्ध संघ"[10] जैसे वाक्यों द्वारा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से उद्वेलित उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष का ही तात्पर्य ध्वनित

---

(१) इण्डिया एज़ नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० २४४
(२) चन्द्र० १।७४
(३) चन्द्र० २।१४०
(४) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया (राय चौधरी) पृ० १५० ५१ ५२
(५) काव्यमीमांसा पृ ९३
(६) ऐंशिएंट जोग्राफी आफ इण्डिया (कनिंघम नोट्स) पृ० ३३७
(७) स्कंद २।७२
(८) वही ३।६१
(९) वही ३।१
(१०) वही ३।१४८

होता है। 'राज्यश्री' में उत्तरापथ का प्रयोग[1] समस्त उत्तरी भारत के लिए किया गया है। हर्ष को पुलकेशिन ने उत्तरापथेश्वर कहा है, और 'उत्तरापथ के समस्त नरपति उसके चरणों में प्रणत हैं'[२]। उसका राज्य कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक काश्मीर से लेकर रेवा तक है।[३] कमशः उत्तरापथ की सीमाएं भी ये ही मानी जा सकती हैं। अपने नवीन और विस्तृत अर्थ में यह शब्द समस्त आर्यावर्त का अर्थ देता है"। कनिंघम नोट पृ० ६६७)

अपने मूल अर्थ में दक्षिणापथ भी दक्षिण की ओर कैसे किसी राजमार्ग का द्योतक हो सकता है क्योंकि भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार विन्ध्य से दो मार्ग उत्तरापथ और दक्षिणापथ क्रमशः उत्तर और दक्षिण की

(ख) दक्षिणापथ तरफ जाते थे।[४] प्रसाद ने सभी स्थलों पर दक्षिणापथ को दक्षिण भारतवर्ष के अर्थ में लिया है। चन्द्रगुप्त विजय के लिए दक्षिणापथ जाने की आयोजना करता है[५] उसको दक्षिणापथ में अपूर्व सफलता मिलती है पर सुदूर दक्षिण तक वह नहीं जाता।[६] रेवा से दक्षिण की ओर महाराष्ट्र के सुशासक चालुक्य को हर्ष दक्षिणापथेश्वर[७] के नाम से पुकारता है। काव्यमीमांसाकार के अनुसार भी 'माहिष्मत्याः परतः दक्षिणापथ'। नर्मदा तट पर स्थित मान्धाता को ही माहिष्मती माना गया है[८] ह्वानच्वांग के समय में दक्षिणापथ भी स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था। श्री रामचन्द्र की दक्षिणापथ की यात्रा की ओर भी प्रसाद ने संकेत किया है।[९]

पर्वत और नदियां

हिमालय का उल्लेख प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में मिलता है भारत वर्ष के साथ हिमालय का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्कन्दगुप्त की विजय के साथ ही

---

(१) राज्यश्री ३।२७

(२) वही ३।६४

(३) वही ३।२८

(४) इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० ८

(५) चन्द्र० ४।१६६

(६) चन्द्र० ४।२०२

(७) राज्यश्री ३।२८

(८) जोग्राफी आफ एंशिएंट इण्डिया (कनिंघम)—नोट्स पृ० ३४

(९) स्कंद १।१५

हिमालय

हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दता पूर्वक सामगान होने लगता है।[1] मातृगुप्त की कल्पना में हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु और गंगा-यमुना की घाटियां किसी सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन सी मूली जाति के निर्वासित प्राणियों को सम्मान देकर संतुष्ट करेंगी।[2] और आर्यजाति············अचल हिमालय की भांति सिर ऊंचा किये विश्व को सदाचार के लिए सावधान करती रहेगी।[3] अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है।[4] हिमवान की पलकाभे वाली बर्फों से ही कुभा[5] तथा अन्य नदियां निकली हैं।

विन्ध्य और विन्ध्यपाद

विन्ध्य पर्वत का उल्लेख दो रूपों में हुआ है। (१) विन्ध्य शैल–"स्कंदगुप्त" नाटक में कमला स्कंद से कहती है 'तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विन्ध्य के समान कोई शल उठ सका होगा।"[6] (२) विन्ध्यपाद "राज्यश्री" में हर्ष की अभागा दुखिया बहन राज्यश्री "विन्ध्य पाद" में भागकर चली जाती है।[7] विन्ध्य पर्वत वास्तव में वे प्रसिद्ध शैल श्रेणियां हैं जो भारतवर्ष को 'उत्तरापथ' और "दक्षिणापथ" इन दो भागों में विभाजित करती हैं और विन्ध्यपाद विशाल सतपुड़ा पर्वत श्रेणी का ही दूसरा नाम है जिससे नर्मदा, ताप्ती आदि नदियां निकलती हैं। कालिदास ने इसको "विन्ध्यपाद" कहा है[8] और वाराह-पुराण में भी इन श्रेणियों को विन्ध्यपाद के नाम से अभिहित किया गया है।[9] हर्षचरित के अनुसार राज्यश्री अपनी सखियों के साथ "विन्ध्याटवी" के अन्तराल में जा छिपी थी।[10] प्रसाद ने "विन्ध्यपाद" शब्द का प्रयोग विन्ध्याटवी या विन्ध्यशैल के अर्थ में किया है या विन्ध्या चल की विशिष्ट सतपुड़ा श्रेणियों के लिए, यह स्पष्ट नहीं होता।

निषध पर्वतमाला का उल्लेख मात्र "चन्द्रगुप्त" में हुआ है। प्रसाद के अनुसार यह पर्वत माला आर्यावर्त की नैसर्गिक पश्चिमी सीमा थी।[11] "चन्द्रगुप्त"

---

(१) „ ३।१६
(२) „ ४।११
(३) „ ४।११८
(४) ४।१२६
(५) ४।११४
(६) स्कंद ४।११०
(७) राज्यश्री ३।१३
(८) पूर्वमेघ २१
(९) वाराह पुराण पृ० ८५
(१०) हर्ष चरित (बाण) पृ० १११ (कावेल-थामस)
(११) चन्द्र० ४।२४१

निषध

और "स्कन्दगुप्त" दोनों नाटकों से ज्ञात होता है कि यह नैसर्गिक सीमा सिन्धु के उस पार[1] गांधार से पश्चिम[2] में रही होगी। जब जगद्विजेता सिकन्दर की सेना निषध पर्वत तक पहुँच गई तभी उत्तरापथ के राज्यों में हलचल मचनी प्रारम्भ हुई।[3] आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने संधि की शर्तों में यह प्रदेश सिल्यूकस से प्राप्त कर लिया था। निषध पर्वत का यह नाम अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में भी इस नाम का उल्लेख मिलता है।[4] ग्रीक ऐतिहासिकों के अनुसार मध्यमायन से पश्चिम और काबुल नदी से उत्तर की ओर जो "पैरोपनिसैडर" या परोपनिसस नामक पार्वत्य प्रदेश है वहाँ निषध पर्वतमाला का भाग है। आजकल यह काकेशस के नाम से विख्यात है।[6]

सिन्धु

प्रसाद के नाटकों में सिंधु[6] सिन्धु संगम[7] सिन्धु तट[8] तथा सप्त सिन्धु[9] की घाटियों का प्रचुर उल्लेख हुआ है "सिन्धु की प्रखर धारा ही यवन सेना को रोक सकती थी[10] परन्तु उसमें सेतु बना दिया गया[11] सिन्धु के तट पर ही महात्मा दाण्ड्यायन का आश्रम था[12] और सिन्धु के तट पर ही यवन शिविर लगे थे।[13] सिन्धु तट पर ही सेल्यूकस से चन्द्रगुप्त का युद्ध हुआ था।[14] सिन्धु की लोल लहरियों में से गुप्त साम्राज्य के सेनापति आर्य पर्णदत्त की वीरता की विरुद गाथा लिखी जाती है।[15]

(१ स्कंद० १।११
(२) चन्द्र० ४।२४१
(३) चन्द्र० १।७८
(४) ऋग्वेद १।१०४।१
(५) ऐंशिएंट इण्डिया (मेगास्थनीज एरियन (मैक्क्रिंडल) पृ० १४३
(६) चन्द्र० १।९२ तथा अन्य स्कंद० १।१ तथा अन्य
(७) वही २।११६
(८) वही ४।२११ तथा अन्य
(९) स्कंद० ४।११८
(१०) चन्द्र० १।६२
(११) चन्द्र० १।८२
(१२) चन्द्र० १।१०२
(१३) चन्द्र० २।१०७
(१४) चंद्र० ४।२११
(१५) स्कंद० १।१

सम्भवतः सिन्धु तट पर ही हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का भयंकर युद्ध हुआ था जिसमें हूणों की प्रबल हार हुई थी।[1] इतिहासकार प्लिनी के अनुसार सिन्धु काकेशस पर्वत के उस भाग से उमड़ती है जिसे पैरोपमिसस कहते हैं। इसका उद्गम सूर्योदय की दिशा की ओर है। यह १९ नदियों को सहायक नदियों के रूप में ग्रहण करती है।[2] वास्तव में सिन्धु का उद्गम स्थान ग्रीक निवासियों को ज्ञात न था। सिन्धु की प्रमुख धारा पश्चिम कैलाश से निकलकर, अपनी आधी लम्बाई तक उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है, पुनः काश्मीर के उत्तर पश्चिम दरद प्रदेश तथा छोटे पामीर के दक्षिण से बहती हुई दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यहां इसके तट पर सिन्धु के प्रसिद्ध स्थान बसे हुए हैं।[3]

"सप्तसिन्धु" प्रदेश स्कन्दगुप्त के काल में हूणों से आक्रान्त हो गया था।[4] और गंगा यमुना के समान ही सप्तसिन्धु प्रदेश की नदियां भी हिमालय से निकली हुई नदियां थी।[5] सप्तसिन्धु अत्यन्त प्राचीन नाम है। आर्यों ने सिन्धु कुभा (सिन्धु के पश्चिम में) वितस्ता असिक्नी इरावती शुतुद्रि तथा सरस्वती इन सात नदियों के प्रदेश को सप्तसिन्धु की संज्ञा से अभिहित किया था। यह सम्भव है कि ऋग्वेद के काल में कई बार सप्तसिन्धु तथा सप्तसिन्धु प्रदेश के नामों में परिवर्तन हुआ हो।[6] परन्तु कालान्तर में व सात स्रोत ही सप्तसिन्धु नाम से चलते रहे और इनसे संबंधित भू भाग सप्तसिन्धु कहलाया गया।

सिन्धु-संगम तक के प्रदेश को विजय करने की इच्छा से सिकन्दर सैन्य-बल लेकर आगे बढ़ा था[7]। सिन्धु-संगम का अर्थ उस स्थान से है जहां सिन्धु नदी समुद्र में प्रवेश करती है। एरियन के अनुसार भारत की पश्चिमी सीमा सिन्ध नहीं है जो विशाल सागर तक इसकी सीमा बनाती है और उसी में अपना प्रवाह मिला देती है। यह संगम दो धाराओं में होता है जो इस्टर (डैन्यूब) की पांच धाराओं की तरह पास पास न होकर नील नदी की धाराओं के समान दूर दूर पर हैं। सिन्धु भी नील नदी द्वारा निर्मित मिस्र के डेल्टा के समान ही एक भारतीय डेल्टा बनाती है जो मिस्र के डेल्टा के आकार से किसी प्रकार भी छोटा नहीं कहा जा सकता। भारत की

(१) स्कन्द० २।१४८
(२) एन्शिएण्ट इण्डिया—मैगास्थनीज-एरियन (मैक्रिन्डल) पृ० १४१
(३) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० ४१
(४) स्कन्द० ४।१२२
(५) वही ४।११८
(६) इन्साइक्लोपीडिया—(अनु) देखिये "सप्तसिन्धु"
(७) ऋग्० २।११२

भाषा में इस डेल्टा का नाम पटल पाताल है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-संगम के समीप ही यह पाताल रहा होगा। सिकन्दर के बेड़े के द्वारा पाताल विजय संभवतः उसकी अन्तिम विजय थी।

सिन्धु के उपरान्त उसकी दूसरी सहायक नदी वितस्ता है, जिसको ग्रीक इतिहासकारों ने 'हाइडेस्पस'[2] कहा है। आधुनिक काल में इसका नाम झेलम है और प्रसाद ने वितस्ता[3] और झेलम[4] दोनों ही नामों से इसे अभिहित किया है। वितस्ता का इतिहास सिकन्दर के आक्रमण में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आम्भीक और पुरु के राज्यों की सीमा वितस्ता ही थी। पुरु ने प्राचीन सन्धियों के विरुद्ध वितस्ता के दूसरी ओर एक चौकी बना ली थी।[5] झेलम के पास ही पौरव ने कुछ सेना प्रतिरोध के लिए रखी थी।[6] रातो रात वितस्ता को पार कर[7] यवन सेना ने पुरु से युद्ध किया था जिसमें सिकन्दर को यह अच्छी तरह विदित हो गया था कि भारतीयों के खड्गों में कितनी धार है।[8] चन्द्रगुप्त ने वितस्ता पार कर ही सिल्यूकस के स्कन्धावार में आक्रमण किया[9] था। प्लिनी के अनुसार सिन्धु की उन्नीस सहायक नदियों में से हाइडेस्पस तथा अन्य दो तीन नदियाँ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वितस्ता की चार सहायक नदियों का उल्लेख भी उसने किया है।[10]

वितस्ता

प्लिनी के अनुसार वितस्ता से पूर्व की ओर सिन्धु की दूसरी प्रसिद्ध सहायक नदी चिनाब अथवा चन्द्रभागा (कैंटेब्रा या ऐसकाइनिस) है।[11] चिनाब से पूर्व की ओर सिन्धु की तीसरी सहायक नदी रावी है सिकन्दर ने रावी के आसपास से ही लौटने का निश्चय किया था।[12] रावी के तट पर ही मालवों का स्कंधावार था जहाँ सिकन्दर का मार्ग रोकने के लिए उनकी हलचलें बढ़ी थीं।[13] रावी तट पर ही विस्तृत शिविरों की रणभूमि में अलका का विवाहोत्सव मनाया गया था।[14] मालवों और क्षुद्रकों से मैत्री कर यवन-बेड़ा

रावी

---

(१) ऐंशिएण्ट इण्डिया—मेगास्थनीज-एरियन (मैक्रिडल) पृ० १८७
(२) ऐंशिएण्ट इण्डिया—मेगास्थनीज-एरियन (मैक्रिडल) पृ १९०
(३) चन्द्र० १।१४ तथा अन्य (४) वही १।१०१ तथा अन्य
(५) वही १।१४ (६) चन्द्र० २।११० (७) वही २।१२०
(८) वही २।१२२ (९) चन्द्र० ४।२३२
(१०) ऐंशिएण्ट इण्डिया—मेगास्थनीज (मैक्रिडल) पृ १४१
(११) वही पृ० १४१ (१२) चन्द्र० २।१२१
(१३) चन्द्र २।१४१ (१४) वही ३।१५५

रावी से ही भारत अभियान का विचार छोड़ वापस लौट पड़ा था।[१] रावी तक पहुँचने से पूर्व सिकन्दर को कठ जाति से भयानक युद्ध करना पड़ा था[२] जिससे उसकी सेना के सम्मुख छक्के छूट गये होंगे और स्वदेश लौटने की भावना को दूसरी आहुति मिली होगी। रावी नदी का वैदिक नाम इरावती था।

सिन्धु की चौथी सहायक शाखा, विपाशा थी। इसका नाम ग्रीक लेखकों ने हाइफेसिस लिखा है। वास्तव में विपाशा के तट पर ही सिकन्दर के सैनिकों ने आगे

विपाशा

बढ़ने का स्पष्ट विरोध किया था।[३] विपाशा और शतद्रु के मध्य के भू भाग में ही चन्द्रगुप्त ने अवरोध किया[४] फलतः सिकन्दर ने विपाशा को अपने आक्रमण की सीमा बना लिया।[५] उसके सैनिकों ने विपाशा पार कर इस सैनिक स्कन्धावार को प्राच्य देश के सम्राट का शिविर समझकर ही पार नहीं किया।[६] विपाशा का आधुनिक नाम व्यास है। प्लिनी ने इसको बस-धारा के योग्य लिखा है।[७] विपाशा का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[८]

सिन्धु नदी की सबसे पूर्वी शाखा का नाम शतद्रु था। प्रचार के अनुसार सिकन्दर की सेना को विचलित करने के लिए यह प्रचार किया गया था कि शतद्रु

शतद्रु

के तट पर मगध की असाधिक सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध है।[९] यवन सेना शतद्रु को पार न कर सकी। शतद्रु वह सीमा बन गई थी जिसको पार करते ही मगध का नाश निश्चित माना जाता था।[१०] शतद्रु के तट पर ही नन्द व राक्षस के विरुद्ध षड्यन्त्र की पुष्टि हुई।[११] ग्रीक इतिहासकारों ने इसका नाम हुफैसिस रखा है, कहीं कहीं हुर्फेसिस नाम भी मिलता है।[१२] शतद्रु का आधुनिक नाम सतलज है।

गंगा का उल्लेख मात्र ही इन नाटकों में हुआ है। गंगा और शोण के

गंगा

तट पर मगध की राजधानी कुसुमपुर बसी हुई थी।[१३] हिमालय से निकली हुई गंगा यमुना की घाटियाँ प्राणियों को पालन करने में समर्थ थी।[१४] गंगा के तट पर ही सम्राट् हर्षवर्द्धन ने प्रयाग में सर्वस्व दान किया था।[१५] प्राचीन ग्रन्थों में गंगा का सर्वत्र उल्लेख मिलता है।

---

(१) चन्द्र० १।१६४ (२) ऐंशियण्ट इण्डिया—(मैसन तथा अन्य ग्रन्थ) पृ० ११
(३) वही—(मैसन) पृ० ३२ (४) चन्द्र० २।१२९ (५) वही २।१४१
(६) वही २।१४० (७) ऐंशिएण्ट इण्डिया—मेगास्थनीज मैक्रिडल पृ १४३
(८) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० ४४
(९) चन्द्र ३।१२८ (१०) „ ३।१५३ (११) „ ३।१२८
(१२) ऐंशिएण्ट इण्डिया—मेगास्थनीज (मैक्रिडल) पृ० ६१
(१३) चन्द्र० ४।१६१ (१४) स्कन्द ४।११८ (१५) राज्यश्री ४९६९

प्रवाह में शोण का भी उल्लेख मात्र कर दिया है। इसका आधुनिक नाम सोन है। जहां यह गंगा में मिलती थी वहीं प्राचीन पाटलिपुत्र या कुसुमपुर बसा हुआ था। गंगा को भारतवर्ष की सबसे बड़ी नदी लिखकर एरिअन एरैनोबोअस अथवा शोण को भारत की तीसरी बड़ी नदी लिखता है। उसके अनुसार अन्य देशों की सबसे बड़ी नदियों से यह बड़ी है परन्तु जहां यह गंगा से संगम करती है वहां उससे छोटी है।[१] शोण विन्ध्य पर्वत की चोटियों से निकलती है। इसका प्राचीन नाम हिरण्यवाहु था जो पूर्व काल में आधुनिक पटना के पास ही गंगा से संगम करती थी।[२]

शोरण

गुप्तकाल में वंक्षु के तट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फहराई थी और गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण प्रभा का विस्तार करता था।[३] यह स्थिति कुमारगुप्त के शासनकाल तक रही। स्कंदगुप्त के शासन में संभवतः यह समस्त प्रदेश हूणों ने आक्रान्त कर लिया था और स्कंदगुप्त ने पुन: वंक्षु के तट तक उनकी पहली और दूसरी बाढ़ को रोक कर खदेड़ दिया था।[४] वंक्षु का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है जहां इसको "वंक्षु" कहा है।[५] कालिदास ने रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय के सम्बन्ध में इसका उल्लेख किया है।[६]

वंक्षु

वास्तव में गुप्तकाल के इतिहासकारों को इतिहास के लिए कालिदास से बहुत सहायता मिली है। हूणों ने ४५० ई० के आसपास वंक्षु की घाटी में एक शक्तिशाली साम्राज्य बना लिया था। ई० ४२२ के आस पास जब स्कंदगुप्त ने उनको प्रथम बार हराया तो भी वे 'वंक्षु' की घाटी में श्वेत योद्धाओं के नाम से प्रसिद्ध थे।[७] वंक्षु से प्रसार का अभिप्राय भी चीनी द्वारा अभिहित ओक्सस अथवा आधुनिक काल की आमू दरिया से है। भगवत शरण उपाध्याय ओक्सस नदी को सबसे बड़ी शाखा नदियों की उपत्यका को ही कालिदास में वर्णित वंक्षु मानते हैं।[८]

---

(१) वही—(बंकिम) पृ० ६१
(२) जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल १४।१३६
(३) स्कन्द० ३।६२
(४) प्राचीन भारत के आलोक स्तम्भ (भगवत शरण)—स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य
(५) ऋग्वेद १०।२७ १७
(६) रघुवंश ४।६७
(७) संस्कृत ड्रामा (कीथ) डेट आफ कालिदास
(८) इंडिया इन कालिदास पृ० २२

सरयू

सरयू का उल्लेख बहुत कम हुआ है। सरयू के तट पर चित्रघोष देवी की उपासना करता है और चीनी यात्री ह्वेनसांग पर उसके सहयात्री डाकू आक्रमण करते हैं।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में जितने भी यज्ञ हुए वे गंगा यमुना, सरयू के तट पर हुए। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया था जिसकी प्रशस्ति प्रयाग में गंगा–यमुना के संगम पर चन्द्रगुप्त ने लिखवाई। गुप्तों की एक राजधानी सरयू तट पर स्थित अयोध्या थी। फलतः सरयू के तट पर यज्ञ हुए होंगे और इन यज्ञों की स्मृति में कई यज्ञ-यूप गाड़े गये होंगे।[२] हिमालय की चोटियों से निकलकर सरयू छोपरा से कुछ ऊपर गंगा से संगम करती है। यह रामायण-काल की प्रसिद्ध नदी है।

कुभा।

कुभा नदी गोवार की घाटी में बहती है।[३] मालव-नरेश बन्धुवर्मा कुभा के तट पर हूणों को रोकते हैं और नदी की तीव्र धारा को लाल कर देने की प्रतिज्ञा करते हैं।[४] पर्वतों से प्रवाहित होने के कारण इस नदी का प्रवाह बहुत तीव्र है परन्तु जल कम होने या बिना किसी पुल के भी पार उतरने में अधिक कठिनाई न होती होगी क्योंकि स्कंद उसको पार करने का प्रयत्न करता है।[५] प्रसाद के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि कुभा के जल-प्रवाह को रणनीति के विचार से सन्तुलित रखने के लिए उसमें कोई बन्ध भी गुप्त-काल में बना था जिसको काट देने से उस नदी की प्रखर धारा जल से परिपूर्ण हो जाती थी।[६] हिमवान की मस्त वाली वन्य वर्तों से निकलने वाली कुभा की यह धारा सुख लहरों[७] से आलोड़ित रहती है। कुभा वैदिककालीन आर्यावर्त की नदी है और ऋग्वेद में इसका उल्लेख है—

> मावो रसानितभा कुभुर्क्रमुर्मा वः सिन्धुर्निरीरमत्
> मावः परिष्ठात् सरयूः पुरीषिण्यस्मे इत् सुम्नमस्तु वः।[८]

---

(१) धम्मपदो ३।४६
(२) स्कंद० ७।१२१
(३) वही ३।१०१
(४) वही ३।१०३
(५) स्कंद० ३।१०४
(६) वही ३।१०६
(७) वही ४।११४
(८) ऋक् ५।५३।९—(सरयू, सिन्धु तथा अन्य नदियों का उल्लेख भी द्रष्टव्य है)

"हे मरुद्गण ! रसा अनितभा तथा कुभा और क्रमु नदी एवं सर्वत्र गमन शील सिन्धु नद तुम्हें विलम्ब न करें और न जलमयी सरयू एवं पुरीषिणी (परुष्णी) तुम्हें रोक रखे जिससे हमें तुम्हारा दर्शन सुख मिले ।

बहुत से ग्रीक इतिहासकार सिन्धु को ही भारत की पश्चिमी सीमा मानते हैं परन्तु चार ग्रीक सम्मतियों का समावेश करने पर कोफस (कुभा) नदी को भी इसकी दूरस्थ सीमा मान लिया गया है ।[1] ग्रीकों की यह कोफस नदी ही वास्तव में प्राचीन कुभा है जो आजकल काबुल कहलाती है । यह [illegible] पर्वतमाला (काकेशस पर्वत) से निकलकर गांधार की घाटी पार करती हुई पूर्व की ओर बहती है और पुष्कलावती के कुछ दक्षिण पूर्व की ओर सिन्धु से संगम करती है । गुप्तकाल का इतिहास बताता है कि स्कन्द के काल में हूणों ने गांधार को आक्रान्त किया था और पंचनद तक भी उसकी दुर्जेय वाहिनी बढ़ आई थी । कुभा के वर्णन की कल्पना प्रसाद की अपनी प्रतीत होती है ।

प्रसाद ने स्कन्दगुप्त के समय के आर्य साम्राज्य की सीमा का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से सिन्धु के साथ लौहित्य का भी उल्लेख किया है ।[2] मेहरौली के लौह

लौहित्य

स्तम्भ लेख में चन्द्र लौहित्य से लेकर बैक्ट्रिया तक के प्रदेश को विजय करने की घोषणा करता है ।[3] कदाचित् उक्त लेख के आधार पर ही प्रसाद ने स्कन्द के राज्य काल से लौहित्य को भी आर्य साम्राज्य की पूर्वी सीमा स्वीकार कर लिया है । लौहित्य ब्रह्मपुत्र नदी है जो कालिदास के अनुसार प्राग्ज्योतिष राज्य की पश्चिमी सीमा थी ।[4]

सिप्रा ।

चन्द्रगुप्त ने सिप्रा के तट पर ही शकों को भगाया होगा क्योंकि आज पर्यंत उस वीरता की लेखमाला सिप्रा की लोल-लहरियों से लिखी जाती है ।[5] प्रसाद के नाटकों के आधार पर सिप्रा मालव की नदी है ।[6] इसके तट पर महाकाल का प्रसिद्ध मंदिर बसा हुआ है जो कभी तांत्रिकों और योगाचारियों का भी केन्द्र रहा था ।[7] साथ

---

(१) वही (मैक्रिंडल) पृ० १५६

(२) स्कंद ३।११

(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ २९४-९५ (चतुर्थ संस्करण)

(४) इण्डिया इन कालिदास पृ० १२

(५) स्कंद १।६

(६) स्कंद ३।२०

(७) स्कंद ३।८४

काल का दृश्य देखने के लिए शिप्रा तट पर लोग भ्रमण करते थे।[1] आज भी शिप्रा मालवा में बहती है और इस ऐतिहासिक नाम से अभिहित की जाती है। कालिदास के अनुसार शिप्रा के तट पर ही उज्जयिनी बसी हुई थी पर महाकाल का मन्दिर शिप्रा के तट पर नहीं किन्तु उसकी शाखा गंधवती के तट पर बसा हुआ था। कालिदास ने शिप्रा की एक और सहायक नदी गम्भीरा का भी उल्लेख किया है।[2]

रेवा। प्रसाद ने रेवा को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की विभाजक रेखा मान लिया है।[3] कुमार हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन चालुक्य का युद्ध रेवा तट पर ही हुआ है।[4] अन्त में हर्ष ने रेवा को ही अपने साम्राज्य की दक्षिणी सीमा मान लिया है।[5] कालिदास ने इसका नाम नर्मदा गौतमी और मंदाकिनी भी लिखा है।[6] रेवा आधुनिक नर्मदा ही है और यह अमरकंटक पर्वत से निकलकर खम्भात की खाड़ी में समुद्र से जा मिलती है।

इन नदियों के अतिरिक्त केवल एक स्थल पर "सरस्वती के शोणित जल" का उल्लेख केवल उपमान रूप में हुआ है।[7] भारत की अन्य नदियों के सम्बन्ध में नाटकों से कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

---

(१) स्कंद १।८२
(२) इण्डिया इन कालिदास पृ० १६
(३) राज्यश्री १।२७-२८
(४) वही १।२८
(५) वही १।२८
(६) इण्डिया इन कालिदास पृ० १६
(७) स्कंद ३।१४१

विभिन्न राज्य और उनकी सीमाएं

बौद्ध काल में वत्स-राष्ट्र की सीमा क्या थी, उसका भूगोल कैसा था और कौशाम्बी के चारों ओर वह कितनी दूर तक फैला हुआ था इस विषय में इतिहास चुप ही है। प्रसाद ने भी अजातशत्रु की भूमिका में कथा-प्रसंग के अन्तर्गत केवल इतना लिखकर सन्तोष कर लिया कि 'वत्स राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी जिसका खंडहर जिला बांदा (करवी सब डिवीजन) में यमुना के किनारे "कोसम" नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था।"[१] यद्यपि उन्होंने बौद्धों के प्राचीन ग्रंथों के अनुसार बहु राष्ट्रों का उल्लेख किया है[२] जिनमें "वत्स" का भी नाम है। भूमिका में इतनी सूचना देने के उपरांत समस्त नाटक में कहीं भी 'वत्स' का उल्लेख नहीं है। उदयन के लिए भी वत्सराज के स्थान पर कौशाम्बी-नरेश[३] का प्रयोग किया गया है। जातक कथाओं में उदयन को वंशराज[४] तथा वत्सराज[५] दोनों कहा है। कथासरित्सागर में उदयन के वर्णन में "वत्स" का उल्लेख इस प्रकार है "एक देश वत्स के नाम से विख्यात है जिसकी राजधानी कौशाम्बी है। ऐसा प्रतीत होता है विधाता ने स्वर्ग के घमण्ड को चूर-चूर करने के लिए उसका विरोधी खड़ा कर दिया हो।[६]

वत्स राष्ट्र

भी शाह वत्स राज्य की स्थिति कोशल के दक्षिण और काशी के पश्चिम में मानते हैं। कोशल मगध काशी और वत्सराष्ट्र एक दूसरे के परस्पर निकट थे और वैवाहिक संबंधों में भी आबद्ध थे। इसी कारण 'प्रसाद' ने इन राज्यों की घटनाओं का सम्मिश्रण सहज स्वीकार किया है। काशी का प्रश्न उठते ही कोशल का

---

(१) अजात०—कथा प्रसंग १

(२) „ „

(३) „ १।२९

(४) जातक ४।२३१

(५) „ ३।१७५

(६) „ अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इवाधितो। कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी—सदमी-विलास वसतिर्भूतलस्येव कर्णिका।"

—कथासरित्सागर—कथामुख लम्बक—प्रथम तरंग। ४५

यह वाक्य—"तो सुरत कोशल जा चुके हैं और कौशाम्बी में भी यह समाचार पहुँचाना आवश्यक है,"[1] इस कथन को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। प्रसाद ने स्वयं ही कालिदास का एक उद्धरण देकर वत्स वंश को प्रमाणित किया है—"प्रद्योतस्य प्रिय दुहितर वत्सराजोऽत्र जह्रे।"[2] वत्स का नाटक में कहीं उल्लेख न होने से वत्स राज्य से सम्बन्धित अन्य विशेषताएं कौशाम्बी के साथ ही निर्देशित करनी उचित हैं।

प्रसाद के सभी नाटकों में मगध राष्ट्र अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। "अजातशत्रु" की घटनाओं का तो वह केन्द्र ही है "चन्द्रगुप्त" नाटक की आधिकारिक कथावस्तु भी मगध से ही सम्बद्ध है। गुप्त-काल में भी मगध का महत्व कम नहीं हुआ था। "राज्यश्री" का मगध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं है किन्तु नाटक की घटनाओं में संघर्ष की सृष्टि करने वाले नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त मगध के गुप्त-कुल के ही हैं।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-युग में महाराज बिम्बसार और अजातशत्रु दोनों के शासनकाल में मगध एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य बन गया था। प्रसाद ने मगध से तीन प्रमुख राज्यों के वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है। मगध की महारानी वासवी की पुत्री पद्मावती का सम्बन्ध कौशाम्बी से है,[4] वह उदयन की रानी है।[5] मगध की राजमाता छलना की धमनियों में लिच्छवि रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है। इस प्रकार मगध का सम्बन्ध वैशाली के लिच्छवि राज्य से भी है। मगध की महारानी वासवी कोशल के महाराज प्रसेनजित की बहिन है।[6] सम्भवतः बिम्बसार के शासन-काल में ही मगध ने अपनी अच्छी प्रतिष्ठा बना ली थी। काशी का राज्य मगध का एक अङ्ग हो गया था क्योंकि कोशल ने उसे वासवी को दहेज में दे दिया था।[7] मगध की राजधानी उस समय राजगृह थी।

"अजातशत्रु" में मगध।

इतिहास के अनुसार मगध की राजकीय शक्ति का प्रतिष्ठाता बिम्बसार ही था और नवीन राजगृह की स्थापना उसने ही की थी। उसने अङ्ग को विजय किया

---

(१) अजात १।१६

(२) अजात० कथाप्रसंग पृ० ११

(३) राज्यश्री १।२४

(४) अजात २।११

(५) अजात १।२४

(६) „ १।४३

(७) „ १।१७

एवं समीपवर्ती राष्ट्रों से विवाह-सम्बन्ध किये, जिनमें कोशल और वैशाली मुख्य थे।[1] "अजातशत्रु" की भूमिका के अनुसार अजातशत्रु उत्तरी भारत में इतिहासकाल का प्रथम सम्राट् था क्योंकि इसने अङ्ग और वैशाली पर विजय पाकर साम्राज्य का विस्तार किया और अन्य राज्यों से मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित किया।[2] इतिहास के अनुसार अङ्ग विजय और समीपवर्ती राष्ट्रों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर मगध राज्य की प्रतिष्ठा बिम्बसार ने की थी और नवीन राजगृह का निर्माण भी उसी ने किया। नाटक में भी अजातशत्रु को मगध साम्राज्य का विस्तार करते हुए कहीं नहीं दिखाया गया है। काशी को लेकर मगध और कोशल के बीच जिन दो युद्धों का उल्लेख किया गया है वे भी घरेलू झगड़ों के ही रूप में सामने आते हैं—साम्राज्य विस्तार के निमित्त किए गए युद्धों के रूप में नहीं।

जनता अजातशत्रु को "भारतवर्ष" का सम्राट् देखना और वीरमुखी होकर उससे बरबस वन्दना कराना चाहती है। उसकी यह इच्छा भी अजातशत्रु उत्तरी भारत का सम्राट् हो" प्रसाद की इस मान्यता की पुष्टि करती है किन्तु इतिहास इस बात को स्वीकार नहीं करता। बौद्ध इतिहास के अनुसार स्वयं अजातशत्रु ने उत्तर भारत के एक प्रमुख राज्य कोशल से दो बार युद्ध किया था पर उसे अपने साम्राज्य में नहीं मिला सका।[3] कोशल राज्य अजातशत्रु के बहुत पीछे ई० पू० चौथी शताब्दी में मगध साम्राज्य में मिल सका था।[4] इसके अतिरिक्त स्वयं प्रसाद ने अजातशत्रु के समकालीन कोशल और कौशाम्बी के स्वतन्त्र राज्यों का उल्लेख किया है। बौद्ध इतिहास में जिन समकालीन १६ महाजनपदों की चर्चा हुई है मगध भी उन्हीं में से एक था।

चाहे अजातशत्रु को उत्तर भारत का प्रथम सम्राट् मानें या न मानें इसमें सन्देह नहीं कि उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रबल प्रयास किये थे। गंगा के उत्तर से लेकर हिमालय तक फैले हुए वृज्जियों और लिच्छवियों के प्रदेश उसी ने मगध साम्राज्य में मिलाये थे। वर्षकार की सहायता से उसने वैशाली पर अधिकार किया था। एक ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि अवन्ती के चण्डप्रद्योत ने मगध पर चढ़ाई करने की तैयारी की परन्तु वास्तव में यह युद्ध हुआ था या नहीं इसकी कोई

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३३
(२) कथा-प्रसंग—अजात० पृ० २०
(३) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्स पृ० ३१-३२
(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३७

सूचना नहीं मिलती ।[१] यद्यपि प्रसाद ने मगध साम्राज्य की सीमा और उसके भूगोल का स्पष्ट संकेत "अजातशत्रु" में नहीं किया है तथापि छलना का उक्त गर्वमय कथन[२] यह स्पष्ट सूचित करता है कि मगध का राज्य अजातशत्रु के शासन काल में अन्य सब राज्यों से शक्तिशाली और बृहत् था । अमात्य स्वयं मगध राष्ट्र को शक्तिशाली बनाता है और उसकी उन्नति के लिए सतर्क है ।[३] देवदत्त के कथन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि मगध साम्राज्य में काशी के समान अन्य प्रदेश भी हैं जो काशी की तरह ही सुरम्य और धनी भी हो सकते हैं तथा काशी के स्वतन्त्र होने पर स्वयं भी स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर सकते हैं ।[४] उदयन जैसा शासक भी अनायास ही मगध की महत्ता को स्वीकार करता हुआ दिखाई देता है । पद्मावती से उसका यह कथन मगध की महत्ता का साक्षी है "तू मगध की राजकुमारी है । प्रभुत्व का विष जो तेरे रक्त में घुला है, वह कितनी ही हत्याएं कर सकता है ।

"चन्द्रगुप्त" नाटक से मगध साम्राज्य की दो विभिन्न सीमाएं निर्धारित की जा सकती हैं । एक तो वह सीमा जो नन्द के शासन काल में रही और दूसरी वह जो चन्द्रगुप्त की विजयों के उपरान्त बन गई । दोनों कालों "चन्द्रगुप्त" में में उसकी राजधानी पाटलीपुत्र अथवा कुसुमपुर में रही । मगध साम्राज्य पाटलीपुत्र नगर बुद्ध-कालीन मगध साम्राज्य के शासक अजातशत्रु ने बसाया था इसका समर्थन "चन्द्रगुप्त" की भूमिका में स्वयं प्रसाद ने किया है ।[५] इतना तो निश्चय है कि चन्द्रगुप्त तक आते आते राजधानी पाटलीपुत्र अथवा कुसुमपुर बन गई थी । प्रसाद ने "विष्णुपुराण" से जो उद्धरण दिये हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिशुनाग वंश के शासकों के उपरान्त मगध नन्दों के शासन में आ गया था ।[६] नन्दों से उसे चन्द्रगुप्त ने ले लिया ।

अपनी भूमिका में प्रसाद ने कहीं भी नन्द शक्ति के अधीन मगध साम्राज्य के विस्तार का विवेचन नहीं किया परन्तु धननन्द के खजाने[७] के उपाख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि मगध साम्राज्य धनी था । "उस समय अन्तिम राजकुल नन्दों की

(१) डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स—अजातशत्रु पृ० ११ १२
(२) अजात २।१ ७
(३) अजात २।६५
(४) अजात० २।६६
(५) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ४२ फुटनोट
(६) चन्द्र० (भूमिका) पृ ४१
(७) वही (भूमिका) पृ २१

अप्रमात शक्ति से आक्रांत" थे[1] "नन्दों की विशाल वाहिनी"[2] तथा "मगध राज्य का प्रचण्ड प्रताप"[3] जैसे वाक्य यह स्पष्ट सूचित करते हैं कि उस समय मगध साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत एवं प्रतापशाली रहा होगा।

समस्त नाटक में नन्दकालीन मगध का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है परन्तु उसकी भौगोलिक सीमाओं का उसमें किंचिन्मात्र भी उल्लेख नहीं है। "महापद्म का जारज पुत्र नन्द—महापद्म का हत्याकारी नन्द' मगध का सम्राट् है"[4] इस धारणा को प्रसाद ने अपनी भूमिका में प्लूटार्क[5] तथा डायडोरस सिक्यूलस[6] से उद्धरण देकर स्पष्ट कर दिया है। प्रसाद ने मगध को राष्ट्र कहा है।[7] "मगध का शासन प्रचंड है"[8] मगध बलबल तथा कूटनीति से चल रहा है और वह साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है"[9] इन कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द के काल में मगध का एक विशाल साम्राज्य रहा होगा और अन्तिम नन्द ने भी अपने साम्राज्य की वृद्धि की होगी। पंचनद नरेश मगध को प्राच्य देश' कहते हैं और मगध में रहने वालों को प्राच्य मनुष्य। मेगास्थनीज का उद्धरण देते हुए प्रसाद लिखते हैं "उस समय गंगा के तट पर दो विस्तृत राज्य थे एक प्राच्य (प्रासी) और दूसरा गंगरिडीज। प्राच्य राज्य में अवन्ती कोशल मगध वाराणसी विहार आदि देश थे और गंगरिडीज गंगा का समुद्र तटवर्ती भाग था। [redacted] बंगाल था। गंगरिडीज गौड़ देश का ही दूसरा नाम था। गौड़ राज्य का राजा नन्द के आधीन था। अवंती में भी एक मध्य प्रदेश की राजधानी थी वह भी नन्दाधीन थी।" इन देशों को नंद काल में मगध साम्राज्य के अन्तर्गत मान लेने के लिए प्रसाद के सम्मुख दो सशक्त प्रमाण हैं—प्लूटार्क लिखता है—"और हे सैट टोल्ड हिम दैट दि किंग आफ दि गैन्डेरीटस ऐण्ड प्रासियन्स एक्सपेक्टेड हैम वेयर विद एटी थाउजैंड हॉर्सेज टू हंड्रेड थाउजैंड फुट एट थाउजैंड चार्मेड चैरियट्स एण्ड सिक्स थाउजैंड फाइटिंग एलिफैन्ट्स।"[10] प्रसाद ने प्लूटार्क की पुस्तक "लाइव्स" का गहरा अध्ययन किया था[11] फलतः गंगरिडीज और प्राच्य की संयुक्त सेना के उल्लेख से उनके लिए यह निष्कर्ष निकालना सरल था कि गंगरिडीज प्राच्य राज्य के आधीन होगा। किन्तु

---

(१) चन्द्र० (भूमिका) पृ० २१
(२) वही पृ० २६
(३) वही पृ० २६
(४) चन्द्र० ११६६ (५) चंद्र० (भूमिका) पृ० १२ (६) वही पृ० १९ फु० नो
(७) चन्द्र० ११६८ (८) वही ११३३ (९) वही ११७२
(१०) "लाइव्स' (प्लूटार्क) पृ० ४१८
(११) देखिए "रातदिन" (विनोदशंकर व्यास)

के अनुसार चंद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय मगध एक विस्तृत साम्राज्य था जिसके अन्तर्गत कोशल तिरहुत (उत्तरी बिहार,) वाराणसी अंग तथा मगध (दक्षिणी) सम्मिलित थे।[1] संभव है अवंती तथा उसके दक्षिण में भी नन्दों का अधिकार रहा हो क्योंकि स्मिथ ने १२ वीं शताब्दी के एक लेख की जनश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार मगध के कुन्तल का प्रान्त मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। इस कुन्तल प्रान्त में दक्षिण भारत का पश्चिमी भाग तथा मैसूर का उत्तरी भाग सम्मलित है।[2] पर्वतक नरेश द्वारा नंद की पुत्री से विवाह सम्बन्ध को अस्वीकार किये जाने पर राक्षस कहता है कि शक्तिशाली मगध राष्ट्र का अपमान करके कोई यों ही नहीं बच जायगा[3] पर्वतक पर अधिकार करते ही यवन सैनिक चंद्रगुप्त को मगध का राजधानी समझ कर उसे वहाँ की सेना का हाल पूछते हैं[4] आम्भीक चन्द्रगुप्त मगध के एक सैनिक से कहता है 'स्मरण रखना विपाशा पार करने पर मगध का साम्राज्य ध्वंस करना यवनों के लिए बड़ा साधारण काम हो जायगा।'[5] यद्यपि इन कथनों से प्रसार का स्पष्ट अभिप्राय क्या है यह नहीं कहा जा सकता तथापि ध्वनि यही निकलती है कि पंचनद के पूर्व की ओर जितना भी विशाल प्रदेश फैला हुआ है उसमें सबसे शक्तिशाली साम्राज्य मगध का ही है। अतः पंचनद के बाद ही मगध की सीमा प्रारम्भ हो जानी चाहिये। चाणक्य राक्षस से कहता है, तो "क्षुद्रकों से कह दूँ कि तुम लोग बाधा न दो और यवनों से भी यह कह दिया जाय कि वास्तव में यह स्कंधावार प्राच्य देश के सम्राट का नहीं है जिससे भयभीत होकर तुम पार होना नहीं चाहते यह तो क्षुद्रकों की क्षुद्र सेना है जो तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है[6] उक्त कथन इस बात की पुष्टि करता है कि यदि सिकन्दर मालव और क्षुद्रकों पर विजय पाकर विपाशा पार करके गंगा-यमुना के प्रदेश की ओर बढ़ता तो निश्चय ही मगध की साम्राज्य-सेना को उससे लोहा लेना पड़ता। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि पंचनद के उपरान्त ही मगध साम्राज्य का संरक्षण पचनद से प्रारम्भ हो जाता था। राक्षस भी इस बात को स्वीकार करता है कि "यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते तो मगध का नाश निश्चित था।"[7] चर राक्षस से कहता है कि मठ-दुर्ग पर अधिकार करके विद्रोह करने के अपराध में आपको बंदी बनाकर ले आने वाले को पुरस्कार की घोषणा की गई है।"[8] इससे यह भी प्रतीत होता

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ पृ० ४५
(२) वही पृ० १२८ (३) चन्द्र० ३।७६
(४) चन्द्र० १।११८ (५) चन्द्र० २।२९
(६) चंद्र० २।१४० (७) चंद्र १।१२१ (८) चंद्र० २।१५१

है कि प्रसाद उस प्रांत-दुर्ग का पंचनद की सीमा पर होना मानते हैं। मगध का मन्त्री राक्षस चाणक्य को तक्षशिला में मगध का गुप्त प्रणिधि बना कर भेजना चाहता है।[1] सिकन्दर के आक्रमण से उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियाँ ही इसका कारण हो सकती हैं। सम्भव है चाणक्य के अस्वीकार करने पर मगध-गुल्म के साथ राक्षस स्वयं भी वहाँ गया हो। अतः जिस प्रान्त दुर्ग पर अधिकार करने का आरोप राक्षस पर लगाया है उसे सीमा के पास ही कहीं होना चाहिए। भूमिका में प्रसाद ने नन्द कालीन मगध का जो भौगोलिक चित्र दिया है वह चन्द्रगुप्त नाटक में स्पष्ट नहीं होता। इससे केवल इतना ही आभास होता है कि नंद के समय का मगध भी एक विस्तृत साम्राज्य रहा होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का मगध साम्राज्य।

मगध के प्राचीन इतिहास की ओर कुछ संकेत प्रसाद ने "चन्द्रगुप्त" नाटक में किए हैं। यह तो मगध का पुराना इतिहास है, जरासंध का यह अखाड़ा है। यहाँ एकाधिपत्य की पटुता सदैव से अभ्यस्त है।'[2] "प्राचीनकाल से मगध साम्राज्य रहा।[3] इस तरह की भावना जनता में जागृत करके ही चन्द्रगुप्त को मगध का एकच्छत्र शासक बनाया गया। नन्दकाल में मगध साम्राज्य पर नागदत्त भी व्यंग करता है— 'लिच्छवि और वृजि गणतन्त्र को कुचलने वाला मगध।'"[4] यह घटना अजातशत्रु के शासन काल की है[5] यह इस बात की सूचना देती है कि मगध ने प्राचीनकाल से ही साम्राज्य का विस्तार किया। फिलिप्स को परास्त कर देने[6] पर सिकन्दर की छावनी का एक बहुत बड़ा भाग उसके अधिकार में आ गया होगा। पर्वतेश्वर की हत्या[7] के परिणामस्वरूप पंचनद का शासन-सूत्र भी चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया था। दक्षिणापथ को भी चन्द्रगुप्त ने विजय किया था। चाणक्य के निषेध करने पर यद्यपि उसने सुदूर दक्षिण प्रदेश पर विजय प्राप्त करने का विचार छोड़ दिया तथापि सीमांत राष्ट्रों ने उसकी मित्रता स्वीकार कर ली थी।[8] प्रसाद ने सिल्यूकस युद्ध से पूर्व के मौर्य कालीन मगध साम्राज्य की सीमा का उल्लेख चाणक्य के मुख से इस प्रकार करवाया है— "तुम जानते हो कि चंद्रगुप्त ने

---

(१) चन्द्र० १।८४ (२) वही १।८५ (३) वही ३।१११

(४) चन्द्र० १।११८

(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३७

(६) चन्द्र० ३।१८२

(७) चन्द्र० ४।११५

(८) चन्द्र० ४।२०१

दक्षिणापथ के स्वर्णगिरी से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक एक महान साम्राज्य स्थापित किया है ·············उत्तरापथ के सब प्रमुख गणराज्य मालव क्षुद्रक और यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं ।"[1] इसके अतिरिक्त प्रसाद के अनुसार चाणक्य ने गांधार और पंचनद को संयुक्त कर अलका और सिंहरण के अधीन[2] कर दिया और अलका के मुख से ही उस प्रदेश को चन्द्रगुप्त द्वारा संगठित आर्य साम्राज्य का एक अंग बना दिया ।[3]

उपयुक्त उद्धरण सिल्यूकस विजय से पूर्व के मगध-साम्राज्य की सीमा इस प्रकार निर्धारित करते हैं—अजातशत्रु के समय से ही (लिच्छवियों के उपरान्त) मगध साम्राज्य की उत्तरी सीमा "हिमालय" बन गई थी ।[4] दक्षिणापथ की विजयके पश्चात् चन्द्रगुप्त ने स्वर्णगिरि को दक्षिणी सीमा बना लिया । चाणक्य के कथनानुसार पूर्वी सीमा बंग थी और अलका के शब्दों में मगध की पश्चिमी सीमा गांधार स्पष्ट है । गांधार से प्रसाद का अभिप्राय पूर्वी गान्धार से है क्योंकि तक्षशिला पूर्वी गांधार की ही राजधानी थी ।[5]

अशोक के शिलालेख सिद्ध करते हैं कि उसके राज्य काल में तामिल राज्य उत्तरी साम्राज्य के स्वतन्त्र पड़ौसी थे । उसके अन्तर्गत ही स्वर्णगिरि मगध साम्राज्य के दक्षिणी-भाग के राज्यपाल की राजधानी थी ।[6] इतिहासकार स्वयं किसी प्रत्यक्ष निश्चय पर नहीं पहुँच सके हैं कि यह दक्षिण-विजय का कार्य किसने किया ।[7] फलतः प्रसाद ने निस्संकोच स्वर्णगिरि का इस काल के मगध साम्राज्य की दक्षिणी सीमा मान लिया है । पूर्वी सीमा में बंग प्रदेश तत्कालीन मगध का ही अंग था ।[8] पश्चिमी सीमा के लिए जस्टिन का उद्धरण देते हुए नीलकंठ शास्त्री लिखते हैं— "देयरआफ्टर ही प्रिपेयर्ड टु अटैक आर्केलॉस प्रीफेक्ट्स एंड लेटर ऑन पुट टु डेथ ऐंड दि योक आफ सर्विट्यूड वाज़ टेकन ऑफ फ्रॉम दि नैक आफ इण्डिया आफ्टर अलैक्जेंडर्स डेथ (देट इज़ आफ्टर ३२३ बी सी०) ।"[9] चाणक्य कथोपकथन में ठीक यही बात प्रसाद ने कही है ।

---

(१) चन्द्र० ४।२१९

(२) चन्द्र० ४।२११

(३) चन्द्र० ४।२२०

(४) देखिये मगध साम्राज्य—अजातशत्रु के समय में—पृ०

(५) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (वा० श० अग्रवाल) पृ० ४६

(६) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५०

(७) वही पृ० १५७

(८) देखिये इसी परिच्छेद में तत्कालीन मगध ।

(९) —दि एज आफ दि नन्दाज एंड मौर्याज ।

नाटक के अनुसार सिल्यूकस से की गई संधि की शर्तें सूचित करती हैं कि मगध की पश्चिमी सीमा निषध पर्वत बन गई थी।[1] अब सिन्धु से लेकर निषध पर्वतमाला तक हिरात का सम्पूर्ण प्रदेश मगध साम्राज्य का एक भाग बन गया।

सिल्यूकस से लिया हुआ मगध साम्राज्य का भाग

स्कंदगुप्त में श्री प्रसाद ने इसका उल्लेख किया है— "मौर्य साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रांत को मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने लिया था।[2] इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त को सिल्यूकस से पैरोपेनिसदै एरिया तथा अरैकोसिया की क्षत्रपी का अधिकार मिला था जिनकी राजधानियाँ क्रमश काबुल हिरात और कंधार थीं। गैड्रोसिया की क्षत्रपी अथवा कम से कम उसका पूर्वी भाग भी सम्भवतः उसके हिस्से में आ गया था।[3] उक्त विवरण प्रसाद से मेल खाता है।

कुमारगुप्त के शासनकाल में ही मगध की राजधानी का महत्व कुसुमपुर और अयोध्या दोनों में बंट गया था। स्मिथ लिखते हैं "साधारणतः पाटलीपुत्र ही राजधानी थी परन्तु समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों के समय में अयोध्या ही अधिकतर साम्राज्य के शासन का केन्द्र बन गई थी।[4]

गुप्त-कालीन मगध साम्राज्य।

"स्कंदगुप्त" की घटनाओं का केन्द्र तो उज्जयनी और पाटलीपुत्र ही है सम्भव है कि प्रसाद गुप्तों की राजधानी अयोध्या में ही मानते हों। "अयोध्या चलने का आपने कब निश्चय किया है राज्यसिंहासन कब तक सूना रहेगा?"[5] बन्धुवर्मा का यह कथन भी मगध की राजधानी अयोध्या सिद्ध करता है। कुमारगुप्त के समय की मगध साम्राज्य की सीमा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही बन गई थी क्योंकि कुमारगुप्त के समय में पुष्यमित्रों के युद्ध के अतिरिक्त अन्य युद्ध नहीं हुए और उसमें कुमारगुप्त की विजय होने पर भी साम्राज्य की सीमा में कोई अन्तर नहीं आया। स्मिथ के अनुसार "दि ईवेंट्स आव दिस किंग्स रेन आर नौट नोन इन डीटेल, बट दि डिस्ट्रिब्यूशन आफ दि न्यूमेरस कंटेम्पोरेरी इन्स्क्रिप्शंस एँड कॉइन्स परमिट्स आफ नो डाउट दैट

---

(१) चन्द्र० ४।२४६
(२) स्कंद ६।११
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १२५
(४) वही पृ० ३१०
(५) स्कंद २।६२

ड्यूरिंग दि ग्रेटर पार्ट आफ हिज अलयुयुगनी प्रोबेबिल रूल दि एम्पायर सफर्ड नो डिमिन्यूशन।"[1] पर्णदत्त की वीरता की सेवमाला सिन्ध और सिन्धु की लोग मह् रियों से लिखी जाती है।[2] इससे यह निश्चित है कि सिन्ध और सिन्धु दोनों तत्का लीन मगध साम्राज्य के अन्तर्गत रहे होंगे। उज्जयिनी साम्राज्य के अन्तर्गत थी क्योंकि वहाँ गुप्त साम्राज्य का स्कन्धावार था और सम्राट का प्रतिनिधि स्कंद स्वयं वहाँ सर्व गत था।[3] पश्चिमी मालवा मगध साम्राज्य का आश्रित राज्य था और दशपुर उसकी राजधानी थी।[4] सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के समय में मगध साम्राज्य में मिल गया था।[5] प्रसाद के अनुसार कुमारगुप्त के काल में सौराष्ट्र में शकराष्ट्र अत्यन्त पुनः स्वतन्त्र और शक्तिशाली हो गया था, यहाँ तक कि उन्होंने सौराष्ट्र को पादाक्रान्त भी कर लिया था।[6] स्मिथ के उपर्युक्त उद्धरण से प्रसाद के इस मत का खण्डन हो जाता है। सुदूर दक्षिण में सिंहल मगध का मित्र राष्ट्र था। प्रसाद के अनुसार काश्मीर मगध कुमारगुप्त कालीन मगध साम्राज्य का एक अंग ही था पर हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप साम्राज्य से अलग हो रहा था।[7] प्रसाद ने एक ओर कुमारगुप्त कालीन मगध को आर्य-अभ्युत्थान का स्मरणीय युग बताया है। साथ ही दूसरी ओर कुमारगुप्त के शासनकाल में ही मगध साम्राज्य की टूटती हुई सीमाओं की ओर भी संकेत किया है। स्कन्दगुप्त नाटक के अनुसार कुमारगुप्त कालीन मगध की सीमा इस प्रकार ठहरती है—पूर्वी सीमा समुद्रगुप्त के समय से ही लौहित्य थी। दक्षिण में मालवा और सौराष्ट्र थे पश्चिम में हूणों के आक्रमण से पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही सिन्धु के उस पार निषध पर्वतमाला थी और उत्तर में काश्मीर था। इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर मालवा गुजरात एवं सौराष्ट्र साम्राज्य में मिला लिये थे समतट प्रभाव और कामरूप पूर्वी-सीमा के अन्तर्गत मगध के करद राज्य थे।[8] मेहरौली

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३१७
२) स्कंद १।६
(३) स्कंद १।६
(४) स्कंद १।१३
(५) स्कंद १।१४
(६ स्कंद १।१२
(७) वही १।२४
(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३११

लौह-स्तम्भ के अनुसार चन्द्रगुप्त ने बाल्हीक तक के प्रदेश पर अपनी वीरता का सिक्का जमा दिया था। अतः कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त के समय की साम्राज्य की सीमाएं वही थी जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजयों के फलस्वरूप बन गई थी। स्कन्दगुप्त के काल मे मगध साम्राज्य की सीमा बढ़ती-घटती गई और प्रसाद के अनुसार उज्जयिनी गुप्त साम्राज्य की राजधानी बनी किन्तु राय चौधरी के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में ही उज्जयनी गुप्त साम्राज्य की राजधानी बन गई थी—"दि ओरिजनल गुप्ता मैट्रोपोलिस सीम्स टु हैव बीन ऐट पाटलीपुत्र बट आफ्टर हिज वैस्टर्न कांक्वेस्ट चन्द्र मेड उज्जयनी ए सैकन्ड कैपिटल।"[1]

प्रसाद का स्कन्दगुप्त नाटक मुख्य रूप से इन दो राजधानियों को ही केन्द्र मानकर चलता है। यद्यपि एक स्थान पर अयोध्या को भी राजधानी के रूप में स्वीकार किया गया है।

स्कंदगुप्त कालीन साम्राज्य की सीमाओं का उल्लेख करते हुए प्रसाद कहते हैं— 'लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी सामगान होने लगा है।"[2] उक्त कथन से तीन स्पष्ट सीमाएं ज्ञात होती है—पूर्व में लौहित्य पश्चिम में सिन्धु और उत्तर मे हिमालय पर्वत। "काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है।[3] भीमवर्मा के इस कथन से प्रकट होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल मे सम्भवतः काश्मीर मगध साम्राज्य के अन्तर्गत नही रह गया था। पर स्कन्दगुप्त ने काश्मीर से हूणों को पराजित कर मातृगुप्त को उसका शासक नियत कर दिया था। दक्षिण में मालवा और सौराष्ट्र उसके साम्राज्य में थे ही। नाटक की घटनाएं यह सिद्ध करती है कि बीच में प्रदेशों का अधिकांश भाग हूणों से आक्रान्त हुआ। गांधार की घाटी (कुभा के रण क्षेत्र) में हूणों से संघर्ष अवश्य हुआ पर इस युद्ध में स्कंदगुप्त की पराजय हुई। अगले युद्ध में स्कन्द ने हूणों को पराजित कर सिन्धु के पार खदेड़ दिया। 'इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिन्धु के इस पार के पवित्र प्रदेश में कभी आने का साहस न करे।"[4] स्कंद के इस कथन से सिन्धु ही स्कंदगुप्त की पश्चिमी सीमा प्रतीत होती है।

---

(१) पालिटिकल हिस्ट्री आफ एंशिएंट इंडिया (राय चौधरी) पृ० ५४६
(२) स्कंद ३।११
(३) वही ३।११
(४) स्कंद ५।११२

'राज्यश्री' के मगध का बहुत कम उल्लेख हुआ है। समस्त नाटक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि मगध का साम्राज्य नतफण भग्नमुण्ड सर्प है और वह सब ओर से अपमानित है।[1] ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि गुप्त कुल का कोई व्यक्ति परम भट्टारक की उपाधि धारण किये हुए मगध का शासक है और अपने ही संबंधी नरेन्द्रगुप्त शशांक की तेजस्विता से सशंक होकर उसने नरेन्द्र गुप्त को मगध के आधीन सुदूरस्थ गौड़ प्रदेश में भेज दिया है।[2] नरेन्द्र गुप्त कहता है कि गौड़ और मगध की समस्त शक्ति राज्यवर्द्धन के लिए प्रस्तुत है।[3] भण्डि के वचन से इतना और प्रकट होता है कि 'महोदय' के साथ साथ मगध भी "मौखरी का मित्र है।[4] देवगुप्त कहता है—"देवगुप्त उसी गुप्त कुल का है जिसके नाम से एक दिन समस्त जम्बूद्वीप निकम्पित होता था"[5]—इससे ऐसी ध्वनि निकलती है कि मगध साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने पर गुप्त-कुल के राजकुमारों ने मगध साम्राज्य के छोटे-छोटे टुकड़ों पर अपना अधिकार कर लिया और वहां के अलग-अलग एवं स्वतन्त्र शासक बन बैठे।

हर्ष के समय मगध

"अजातशत्रु" की समस्त घटनाएं मगध के उपरांत कोशल कौशाम्बी तथा काशी में घटित होती हैं। प्रसाद के अनुसार कोशल की राजधानी श्रावस्ती है "नहीं तो तू इस कोशल की विशाल विस्तृत माया पर पानी फेरकर अपने पिता के साथ उत्तर प्रत्युत्तर न करता क्या इसी कोशल में रामचन्द्र और दशरथ के सदृश पुत्र और पिता अपना उदाहरण नहीं छोड़ गए हैं।"[6] प्रसेनजित के इन उद्गारों द्वारा प्रसाद कोशल के प्राचीन इतिहास की ओर भी दृष्टिपात करते हैं। प्रसाद ने सेनापति बन्धुल के मुंह से कोशल राज्य की केवल एक सीमा का उल्लेख करवाया है। "कोशल की विजयिनी पताका वीरों के रक्त में अपने अरुणोदय का दीप्त तेज दौड़ाती है और शत्रुओं को उसी रक्त में नहाने की सूचना देती है? राजाधिराज! हिमालय का सीमाप्रांत बर्बर लिच्छवियों के रक्त से और भी ठंडा कर दिया गया है। कोशल के प्रचंड नाम से ही शांति स्वयं पहरा दे रही है। अब विद्रोह का नाम भी नहीं

कोशल

(१) राज्यश्री—१।१२
(२) राज्यश्री—१।१२
(३) राज्यश्री—२।१२
(४) वही २।१२
(५) वही
(६) अजात १।५२

है। विदेशी बर्बर जातियाँ तक उधर देखने का भी साहस न करें।"[1] उपर्युक्त सूचना चार विशेषताओं की ओर संकेत करती है —

(१) कोशल ने प्रसेनजित के शासनकाल में सैनिक विजय की थी

(२) कोशल ने लिच्छवियों को परास्त किया था और अपनी सीमा हिमालय की तराइयों तक बढ़ा ली थी,

(३) कोशल को किसी विद्रोह का दमन करना पड़ा था और

(४) इस विद्रोह में कुछ विदेशी बर्बर जातियाँ भी सम्मिलित थीं।

सम्भव है कि प्रसेनजित के शासन-काल तक कोशल एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया हो। कोशल का राष्ट्र अपने यौवन में पैर रखता है[2] वैशन्त का यह कथन उसकी भी शक्ति का द्योतक है।

इतिहास भी कोशल की सीमाओं का स्पष्ट निर्देश नहीं करता। जातकों में सीमा प्रांत के किसी विद्रोह का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसको दबाने के लिए "बन्धुल मल्ल को भेजा गया था।[3] कोशल ने लिच्छवियों पर विजय पाई थी इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। यह काम वास्तव में अजातशत्रु ने किया था।[4] वह कौन सी बर्बर विदेशी जाति थी जिसका उल्लेख प्रसाद ने किया है, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है दूर हिमालय की जातियों में रहने वाली किन्हीं बर्बर जातियों से प्रसाद का अभिप्राय रहा हो।

कोशल के वैवाहिक सम्बन्ध मगध[5] और शाक्यों से थे।[6] प्रसेनजित के शासन-काल में शाक्यों का राज्य कोशल का करद राज्य रहा होगा।[7] काशी राज्य पहले से ही कोशल का अङ्ग बन चुका था और मगध से विवाह सम्बन्ध होने पर देवी वासवी को स्त्रीधन के रूप में दे दिया गया था। इसके लिए मगध और कोशल के बीच दो युद्धों का उल्लेख प्रसाद ने किया है। अन्तिम युद्ध के उपरांत तो मगध और कोशल में पुनः एक वैवाहिक संबंध स्थापित हो गया।[8] पावा के मल्लों को भी कोशल के सेनापति के हाथों हार खानी पड़ी।[9] और संभव है कि कोशल का आतंक उन पर भी पड़ा हो। कौशाम्बी से भी कोशल राज्य के मैत्रीपूर्ण संबंधों की सूचना रानी के इस वाक्य से मिलती है—"कौशाम्बी का दूत आया है संभवतः कौशाम्बी और कोशल की सेना मिलकर अजातशत्रु पर

---

(१) अजात० १।२४ (२) अजात० २।६५ (३) डिक्शनरी आफ पाली प्रौपर नेम्स पृ० २६६ 'बन्धुल' (४) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३७ (५) अजात १।३१ ५४ (६) अजात १।५२ (७) धम्मपद अट्ठकथा १।३३९, जातक १।१३ ४।१४४ (८) अजात ३।१९८ (९) अजात ७४ ७५

आक्रमण करेगी[1] और बसन्तक का कथन —प्रसेनजित भी प्रस्तुत हैं। महाराज मे मन्त्रणा ठीक हो गई है"[2] इस कथन की पुष्टि करते हैं।

काशी प्रदेश मगध के पश्चिम में था और काशी के उत्तर पश्चिम की ओर कोशल प्रदेश था। बौद्धों के सोलह महाजनपदों में इसका दूसरा स्थान है। स्मिथ इसको आधुनिक अवध मानते हैं उनके अनुसार ई० पू० छठी शताब्दी में कोशल का वही महत्व था जो कालान्तर में मगध का था और वह उत्तरी भारत के प्रधान राज्यों में से प्रमुख था। इसीलिए कभी कभी इसका उल्लेख मगध विरोधी सत्ता के रूप में किया जाता है।[3] प्रसाद का कोशल भी ऐसा ही शक्तिशाली राज्य प्रतीत होता है।

काशी।

काशी का राज्य वासवी देवी को उनके पिता ने दहेज में दिया था[4] फलत उसको वे मगध साम्राज्य से बाहर मानती हैं।[5] काशी प्रान्त मगध को राजस्व देता था और वह उनका प्राप्य था।[6] उस राजस्व का संग्रह एक दण्डनायक करता था।[7] दहेज में मगध के पास आ जाने पर भी काशी पर कोशल का विशेष प्रभाव है। प्रसेनजित अभी से काशी की प्रजा के नाम पर इस आशय का पत्र लिखवाता है कि वह राजकर अजात को न देकर वासवी को दे।[8] और काशी की प्रजा दण्डनायक द्वारा समुद्रगुप्त को स्पष्ट शब्दों में कह देती है कि—"हम कोशल की प्रजा हैं[9] राजकर न देंगे[10] ऐसा प्रतीत होता है कि काशी एक "सम्पन्न प्रान्त"[11] रहा होगा क्योंकि वह एक 'सुरम्य और धनी"[12] प्रदेश है। मगध का उस पर "बहुत दिनों से अधिकार"[13] रहा है और वह 'वासवी देवी का रक्षित धन भी है।"[14] कोशल नरेश का अधिकार काशी पर इससे भी स्पष्ट होता है कि वे बन्धुल को वहां का सामन्त बनाकर भेजते हैं और उधर अजातशत्रु भी समुद्रगुप्त को मुख्य प्रतिनिधि बनाकर राजस्व प्राप्त करने के लिए भेजते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मगध भी अपना प्राप्य अधिकार छोड़ने को तत्पर नहीं। बन्धुल राजकुमार विरुद्धक को— 'काशी का सिंहासन दिलाने' का आश्वासन देता है। अतः काशी एक महत्वपूर्ण राज्य होगा—इसमें सन्देह नहीं। काशी के लिए मगध और कोशल में युद्ध हुए और अन्तिम युद्ध के उपरान्त जब मगध और कोशल पुनः वैवाहिक संबंध में बंध गये तो काशी का प्रान्त फिर मगध को मिल गया। नाटकों से ज्ञात होता है कि काशी एक महत्वपूर्ण प्रान्त था क्योंकि बनारस का

(१) अजात २।१०२ (२) अजात २।१०५
(३) (स्मिथ) पृ० ११ (४) अजात १।५७ (५) वही १।५७ (६) वही १।५६ (७) वही १।५६ (८) वही १।६१ (९) वही २।६२ (१०) वही (११) वही २।६६ (१२) वही (१३) वही (१४) वही

काशी के राजा ब्रह्मदत्त को लेकर कई कथाएं कही गई हैं। स्मिथ का विचार है कि प्राचीन ग्रन्थों में इसकी प्रसिद्धि का कारण केवल शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों से संबंध ही नहीं वरन् इसलिए भी है कि बौद्धधर्म के प्रवर्तन के इतिहास का यह सबसे पवित्र स्थान है[1]। इसी सांस्कृतिक महत्ता के कारण संभवत इसका राजनीतिक महत्त्व भी बढ़ गया हो। इसमें संदेह नहीं कि काशी के कारण ही मगध और कोशल के बीच राजनीतिक संघर्ष होते रहे। काशी के इसी महत्त्व के कारण प्रसाद ने इसे एक सम्पन्न प्रदेश के रूप में चित्रित किया है। काशी की भौगोलिक स्थिति के बारे में प्रसाद मौन हैं।

गान्धार

गान्धार का उल्लेख सर्वप्रथम प्रसाद ने आम्भी गान्धार नरेश[2] कहकर आम्भीक के लिए किया है। तक्षशिला गान्धार की राजधानी थी। गान्धार नरेश ने स्वयं ही यवनों के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया था[3] क्योंकि पर्वतेश्वर से उसका बद्धमूल वैर था।[4] उद्भाण्ड पर बनने वाले पुल का मानचित्र बनाने वाले को दण्ड देने के लिए सिल्यूकस गान्धार-राज के पास पहुँचता है।[5] उक्त पुल स्वयं आम्भीक की देख-रेख में बन रहा था। इससे यह स्पष्ट है कि या तो गान्धार की एक सीमा उद्भाण्ड में सिन्धु थी जहाँ सेतु बन रहा है[6] या यह गान्धार का एक भाग था। पर्वतेश्वर से गान्धार की शत्रुता के दो कारण प्रतीत होते हैं— एक तो पर्वतेश्वर गान्धार से विवाह सम्बन्ध करना नहीं चाहता था और दूसरे वितस्ता के इस पार उसने प्राचीन क्षत्रियों के विरुद्ध चौकी बना दी थी।[7] उक्त उद्धरणों से यह तो स्पष्ट ही है कि गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी और गांधार

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३१
(२) चन्द्र० १।६०
(३) चन्द्र० १।८४
(४) चन्द्र० १।८३
(५) चन्द्र० १।८६
(६) चन्द्र० १।८२
(७) वही १।६४

की पश्चिमी सीमा सिन्धु और पूर्वी सीमा वितस्ता थी। प्रसाद के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त गान्धार और पंचनद दोनों भिन्न राज्य हो गये थे।[1] प्रसाद ने सेल्यूकस के आक्रमण के समय पहिले तो गान्धार को तटस्थ दिखलाने का प्रयास किया है[2] पर अन्त में गान्धार का शासन-सूत्र अलका के हाथ में देकर[3] उसे आर्य साम्राज्य का एक अंग बना दिया है।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सिल्यूकस से युद्ध होने के पूर्व ही गान्धार भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक अंग बन गया था। यह भी सम्भव है कि अधीनस्थ होने पर चन्द्रगुप्त के दबाव से गान्धार ने सिल्यूकस के विरुद्ध तटस्थता का अभिनय किया हो।[5] कुछ भी हो अन्त में चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में उत्तरापथ के अन्य राज्यों के समान ही गान्धार को भी मगध साम्राज्य में मिला ही लिया होगा—अलका का कथन इसका साक्षी है।[6] गान्धार का उल्लेख प्रसाद ने स्कन्दगुप्त में भी किया है। गान्धार की घाटी के रण क्षेत्र में* हूणों के विरुद्ध महाबलाधिकृत बन्धुवर्मा ने युद्ध किया था।[7] बन्धुवर्मा के एक कथन से यह भी ज्ञात होता है कि प्रसाद गान्धार की किसी विशेष नदी का उल्लेख करना चाहते हैं जिसका नाम उन्होंने नहीं लिया है। उसी नदी के तट पर हूण युद्ध लड़ा गया है। यह नदी कुभा से भिन्न है क्योंकि अन्यत्र "कुभा के रण-क्षेत्र" की चर्चा भी हुई है। कुभा के आसपास ही गान्धार की यह घाटी रही होगी जिसके युद्ध का नाटक में वर्णन हुआ है।

सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार गान्धार नाम के दो राज्य थे पूर्वी गान्धार और पश्चिमी गान्धार। पूर्वी गान्धार सिन्ध और झेलम नदियों के बीच में था जिसकी राजधानी तक्षशिला सिन्धु के पूर्वी तट पर थी। सिन्ध नदी के पश्चिम में पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती थी।[8]

स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त नाटक में गान्धार से प्रसाद का तात्पर्य पूर्वी गान्धार से ही है पश्चिमी से नहीं। राय चौधरी के अनुसार पूर्वी गान्धार का शासन ग्रीकों

(१) वही २।१११
(२) वही ४।२१७
(३) वही ४।२१९
(४) वही ४।१२०
(५) वही ४।२२८ ४।२२९ ४।२३९
(६) चन्द्र० ४ २२
(७) स्कंद० १।१०१
(८) वही १।१०१
(९) आचार्य चाणक्य—(सत्यकेतु विद्यालंकार) पृ० १४ स्थान परिचय

का टैक्सटाइल्स था, जो तक्षशिलाधीश का ग्रीक रूपान्तर माना जा सकता है। उसका पुत्र आम्भीक (प्रसाद का आम्भीक) था जो उसकी मृत्यु के उपरान्त गद्दी पर बैठा।[1] पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्कलावती थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय इसका शासक हस्ति या अस्टक था।[2] स्कंदगुप्त में जिस गान्धार का उल्लेख हुआ है वह पश्चिमी गान्धार प्रतीत होता है। कुभा के आस-पास का प्रदेश सिन्धु के पश्चिम में ही होना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास "करुणा" की भूमिका में गुलेरी जी लिखते हैं— 'हूण लोग पहली बार ही परास्त होकर नहीं बैठ गये थे उन्होंने उत्तरापथ पर कई बार आक्रमण किये और प्राचीन कपिशा और गान्धार पर अधिकार करके वहां अपना नया राज्य कायम किया'[3] उक्त उद्धरण से भी स्कंदगुप्त कालीन गान्धार से प्रसाद का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

ग्रीक इतिहासकारों ने गान्धार का प्रयोग छोटे पुरु द्वारा शासित चिनाब और रावी के मध्यवर्ती प्रदेश के लिए ही किया गया है[4], यह प्रदेश प्राचीन महाजनपद गान्धार का सुदूर पूर्वी भाग था। दोनों नाटकों में प्रसाद ने जिन जिन गान्धारों का उल्लेख किया है व प्राचीन महाजनपद गान्धार के पूर्वी-पश्चिमी भाग थे जो ग्रीक आक्रमण के समय दो भिन्न भिन्न भागों में बट गये और पुष्कलावती तथा तक्षशिला राज्य के नाम से अभिहित किये जाने लगे। गान्धार महाजनपद का नाम बौद्ध साहित्य में सूचित षोडश महाजनपदों में भी आता है। डा० त्रिपाठी इसको आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग मानते हैं और इसका प्रसार पश्चिमी पंजाब और काश्मीर तथा समाप्य समझते हैं।[5]

'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में वितस्ता चन्द्रभागा इरावती और विपाशा के विस्तृत प्रदेश के अर्थ में 'पंजाब' का प्रयोग करने पर भी नाटक में पंचनद संकुचित अर्थ में ही आया है। सर्वप्रथम पर्वतेश्वर के लिए पंचनद-नरेश

पंचनद

का प्रयोग देख पड़ता है।[6] चाणक्य सिकन्दर के आक्रमण से सचेत करने के लिए पंचनद नरेश से मिलता हुआ अवश्य जाना

---

(१) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएन्ट इण्डिया (रे० चौधरी) पृ० १२०
(२) टैक्सिल्स ओफिस आम्भिक—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएन्ट इण्डिया पृ० १२०
(३) करुणा (राखालदास बनर्जी) भूमिका चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
(४) मैक्रिंडल —(रे० चौधरी)
(५) प्राचीन भारत का इतिहास (रमाशंकर त्रिपाठी) बौद्ध धर्म के उदय के ठीक पूर्व का भारत
(६) चन्द्रगुप्त (भूमिका) पृ० २८ २९ ३०

चाहता है।[1] मगध पंचनद नरेश से विवाह सम्बन्ध करना चाहता है।[2] इससे यह प्रतीत होता है कि पंचनद एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण राज्य रहा होगा। पंचनद का राज्य पर्वतेश्वर का है।[3] पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए चाणक्य तक्षशिला में मगध का गुप्त-प्रणिधि बनकर नहीं जाना चाहता।[4] इससे ज्ञात होता है कि तक्षशिला और पंचनद के बीच पुराना संघर्ष है और मगध इससे लाभ उठाना चाहता है। पंचनद नरेश पौरव विस्तृत भूमि के हैं।[5] वितस्ता पंचनद की एक सीमा है जिसके दूसरी ओर सन्धि के विरुद्ध पर्वतेश्वर ने एक चौकी बना ली है।[6] पंचनद की सीमा झेलम (वितस्ता) का उल्लेख सिकन्दर भी करता है। पंचनद नरेश से युद्ध करने के लिए यवन सेना ने तो रातों रात वितस्ता को पार कर[7] पर्वतेश्वर की सेना से संघर्ष किया था और पंचनद से मैत्री हो जाने पर यवन शिविर विपाशा के तट पर लग गया।[8] अतः विपाशा पंचनद की दूसरी सीमा रही होगी। गान्धार और पंचनद दोनों सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त भी विभास प्रदेश बने रहे होंगे। सिल्यूकस के आक्रमण के साथ ही गान्धार की तरह यह पंचनद का प्रदेश भी आर्य-साम्राज्य (चन्द्रगुप्त के राज्य) का अङ्ग बन गया। "गान्धार और पंचनद" के सम्मिलित भू-भाग को चाणक्य 'महाप्रदेश' कहता है।[9]

चन्द्रगुप्त नाटक में पंचनद से प्रसाद का अभिप्राय पुरु के राज्य से है और इतिहास के अनुसार पुरु के राज्य की सीमा इस प्रकार है— पंचनद झेलम और चिनाब के बीच का प्रदेश था मोटे रूप से यह आधुनिक काल के झेलम गुजरात और शाहपुर के जिलों का प्रदेश है। कैकेयों का प्राचीन प्रदेश भी इसमें सम्मिलित था। स्ट्राबो के अनुसार यह एक विशाल और उर्वर प्रदेश था जिसमें लगभग ३०० नगर थे।[10] उक्त सीमा और उसका विवरण प्रसाद में मिलता है। पंचनद और उस सीमा की शत्रुता का उल्लेख प्रायः सभी ग्रीक इतिहासकारों ने किया है।[11] इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कि मगध ने उसको सहायता दी थी।

---

(१) चन्द्र० १।६० (२) वही १।९
(३) वही १।७६ (४) वही १।३८
(५) वही १।८८-८९ (६) वही १।६४
(७) वही १।६४
(८) वही २।१२०
(९) चन्द्र० ४।२१९
(१०) पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया (रे० चौधरी) पृ० १२०-२१
(११) ऐज आफ दि नन्दाज और मौर्याज (के० ए० नीलकान्त शास्त्री)

"स्कंदगुप्त में पंचनद का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है। वह मातृगुप्त को सूचना देता है कि पंचनद हूणों के अधिकार में है और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं। इतिहास में पंचनद पर हूणों के आक्रमण का उल्लेख हुआ है। ४६५ ई० पू० के आस पास हूणों का एक नया दल सीमा पर दौड़ आया और उसने गान्धार अथवा उत्तर-पश्चिमी पंजाब पर अधिकार कर लिया।[1] राखाल दास बनर्जी के अनुसार सद्धर्म की उन्नति के लिए सम्राट् पुरुगुप्त ने बाह्लीक कपिशा गान्धार और पंचनद हूणराज को देकर उनसे सन्धि कर ली थी।[2] 'राज्यश्री' में राज्यवर्द्धन पंचनद से हूणों को निर्वासित कर चुकने की बात कहता है।[3] उदितराज को जालन्धर के स्कंधावार में छोड़ आता है[4], इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पंचनद हर्ष के आधीन अथवा कम से कम उसके मित्र-राज्यों में से था। कामरूप और वलभी के शासकों की तरह पंचनद का शासक उदितराज भी प्रयाग के दान में भाग लेने आता है।[5] भंडि के "पंचनद-गुल्म के[6] उल्लेख से जान पड़ता है कि पंचनद की सेना भी राज्यवर्द्धन की आधीनता में देवगुप्त से युद्ध करने आई थी। यह तभी सम्भव है जब प्रभाकरवर्द्धन के समय से ही पंचनद स्थाण्वीश्वर राज्य के अधिकार में हो अथवा कम से कम उसका मित्र हो। हर्ष चरित म पंचनद का उल्लेख कहीं नहीं है। वहां राज्यवर्द्धन हूणों से युद्ध करने के लिए उत्तरपथ की ओर अवश्य जाता है पर पंचनद मे नहीं।[7] इतिहास के अनुसार हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा विपाशा थी और जालन्धर उसके राज्य में था।"

सौराष्ट्र का उल्लेख "चन्द्रगुप्त नाटक में केवल एक स्थान पर सिल्यूकस विजय से पूर्व चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सूचित करने के लिए हुआ है।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के शासन-काल के

सौराष्ट्र

अन्तिम दिनों में ही सौराष्ट्र के शक अपना सिर उठाने लगे थे[9] और अपने राज्य के प्रारम्भिक दिनों में[11] स्कंद को सौराष्ट्र में युद्ध

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३२८
(२) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृ० १०५
(३) राज्यश्री २।१५
(४) राज्यश्री २।१५
(५) राज्यश्री ४।९६ ९७
(६) वही २।१४
(७) हर्षचरित – पंचम उच्छ्वास पृ० १५०
(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५४
(९) चन्द्र० ४।२११
(१०) स्कंद १।१३
(११) वही २।८०

शकों को निर्मूल करना पड़ा था। शकों को निर्मूल करने के उपरान्त सैनिक दृष्टि से सौराष्ट्र का स्थान महत्वपूर्ण था और पर्णदत्त जैसे अनुभवी सेनापति को वहां की देख रेख का कार्य सौंपा गया था।[1] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में सौराष्ट्र को भी हूणों ने पदाक्रान्त कर अपने अधिकार में कर लिया था। विक्रम "मालवा और सौराष्ट्र को स्कंद के लिए स्वतन्त्र करा देने की" बात कहती है जो उक्त अर्थ की पुष्टि करता है।[2]

स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख में सुराष्ट्र और उसके शासक पर्णदत्त का उल्लेख है—

सर्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु
यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान्।
आं ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो
भारस्य तस्योद्वहने समर्थः॥
एवं विनिश्चित्य नृपाधिपेन
नैकानहो-रात्र-गणान्स्व-मत्या।
यः संनियुक्तोऽर्थनया कथंचित्
सम्यक्सुराष्ट्रावनि पालनाय।[3]

प्रसाद ने सौराष्ट्र में पर्णदत्त को नियुक्त करने की घटना इतिहास से ही ली है पर वहां तक सौराष्ट्र के शकों को विजय करने का प्रश्न है वहां तक यह कार्य इतिहास के अनुसार स्कंदगुप्त का न होकर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है।[4]

उपर्युक्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि उसकी राजनीति अवश्य चंचल रही होगी। उसके सुशासन की व्यवस्था सम्राट् स्कंदगुप्त के लिए सिरदर्द का कारण रही होगी इसीलिए पर्णदत्त जैसे सुयोग्य व्यक्ति को सौंपा गया। सुराष्ट्र गुप्त साम्राज्य का विस्तृत और महत्वपूर्ण विषय रहा होगा।

---

(१) स्कंद ५।१४१
(२) स्कंद० ५।१४१
(३) सैलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स—सरकार नं० २५
(४) दि बॅटेस्ट मिलिट्री अचीवमेंट आफ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वज हिज ऐडवांस टु दि अरेबियन सी थ्रु मालवा एण्ड गुजरात एण्ड हिज सबजुगेशन आफ दि पैनिन्सुला ऑफ सुराष्ट्र ऑफ काठियावाड़ विच हैड बीन रूल्ड सेन्चुरीज बाइ दि शक डाइनैस्टी ऑफ फौरिन ओरिजिन नोन टु योरोपियन स्कॉलर्स एज दि वैस्टर्न सत्रप्स।

—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १०७

"राज्यश्री" के अनुसार हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र थी। ह्वेनसांग सु-ला च (सुराथ-सुराष्ट्र) को वलभी के अधीन मानता है।[1] इतिहासकारों का अनुमान है कि हर्ष द्वारा वलभी पर आक्रमण ही हर्ष और पुलकेशिन के बीच युद्ध का कारण था।[2] इतिहासकारों ने वलभी नरेश और हर्ष के बीच वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख भी किया है।[3] अतः इसमें सन्देह नहीं कि सुराष्ट्र हर्ष के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा होगी।

वंग का उल्लेख "चन्द्रगुप्त" में केवल चन्द्रगुप्त के राज्य की पूर्वी सीमा निर्धारित करने के लिए हुआ है।[4] स्मिथ के अनुसार अशोक के साम्राज्य में बंगाल के मुहाने तक का सम्पूर्ण बंग देश सम्मिलित था।[5] अतः निश्चय

बंग ही यह चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का भाग भी रहा होगा क्योंकि अशोक ने पूर्व में कोई विजय नहीं की थी।

मालवराज्य का उल्लेख सबसे पहले स्कंदगुप्त नाटक में हुआ है। उसके अनुसार शकों के पतन काल में महाराज सिंहवर्मा ने मालव का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था[6] और दशपुर इसकी राजधानी थी।[7] मालव और शक युद्ध में गुप्त साम्राज्य ने मालव को सहायता पहुँचाई। युद्ध विजय के उपरान्त इन दोनों राज्यों में सन्धि हुई उसके अनुसार मालवराज्य ने गुप्तों की संरक्षता स्वीकार करली।[8] कुमारगुप्त के शासन काल में ही हूणों ने सौराष्ट्र को पादाक्रान्त कर लिया था जिससे पश्चिमी मालव अरक्षित हो गया था।[9] इसलिए तत्कालीन मालवराज बन्धुवर्मा ने उज्जयिनी के गुप्त स्कंधावार में दूत भेजकर मालव की रक्षा के लिए स्कंदगुप्त से सहायता मांगी।[10] स्कंदगुप्त ने संकट के समय हूणों और शकों के हाथ से मालव की रक्षा की।[11] इसी कृतज्ञता के भार से दबकर वीर धर्मविरोध तथा

---

(१) एंशियेंट ज्योग्राफी आफ इण्डिया (कनिंघम) नोट्स थॉन सुराष्ट्र
(२) हर्षवर्द्धन (गौरी शंकर)
(३) भारतीय इतिहास के आलोक स्तम्भ (भगवतशरण उपाध्याय द्वारा)
(४) चन्द्र० ४।२६
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १७१
(६) स्कंद० २।७१
(७) वही २।७०
(८) वही २।६८
(९) वही २।७०
(१०) स्कंद २।६८
(११) वही २।७१

द्वारा आक्रमण से आर्यराष्ट्र के त्राण के लिए बन्धुवर्मा ने अपना पैतृक मालवराज्य स्कन्दगुप्त को समर्पण कर उज्जयिनी में उनका राज्याभिषेक किया। अब उज्जयिनी भी गुप्त-साम्राज्य की राजधानी बन गई।[1]

मालव संवत् और दशपुर का उल्लेख मन्दसौर में स्थित कुमारगुप्त प्रथम और बन्धुवर्मा मालव के सम्मिलित शिलालेख में मिलता है —

....

----हस्मिन्नेव क्षितिपतौ क्षिते बंधुवर्म्मण्युदारे
सम्यक्स्फीता दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे---- ----
मालव ---मालवानां गण-स्थित्या याते शत चतुष्टये
त्रिनवत्यधिके ( ) हानामित्तौ सेव्य घनस्तने ----
सहस्यमास शुक्लस्य प्रशस्ते ( ) ह्नि त्रयोदशे
मगसाचार विधिना प्रासादो ( ) यं निवेशित
बहुना समतीतेन
कालेनान्यैश्च पार्थिवैः
व्यशीर्यतैकदेशो ( ) स्य भवनस्य ततो ( ) धुना।[2]

इस शिलालेख में व्यशीर्य------भवनस्य' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस भवन का एक भाग नष्ट हो गया था चाहे स्वतः टूट-फूट गया हो अथवा आक्रान्ताओं ने तोड़ दिया हो। दशरथ शर्मा का अनुमान है कि संवत् ४९६ के आस पास मालव पर हूणों के आक्रमण के समय यह टूटा होगा। सरकार इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यदि उक्त हूण-युद्ध मालव में ४३६ ई० के आस पास हुआ होता तो इसके आस पास ही बंधुवर्मा की मृत्यु हो गई होती क्योंकि उसका हूण युद्ध में मरना निश्चित है। इसलिए सरकार का कहना है कि यह युद्ध दशपुर पर होने वाले किसी अन्य आक्रमण की ओर संकेत करता है मालव हूण-युद्ध की ओर नहीं। यदि सरकार के इस निष्कर्ष को मान लिया जाय तो ४७३ ई० तक मालवराज बन्धुवर्मा के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। उक्त शिलालेख में मन्दिर के निर्माण के समय सम्राट कुमारगुप्त के शासन का उल्लेख नहीं। इस पर सरकार का अनुमान है कि तब कुमारगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी और इसके परिणाम स्वरूप गुप्त सिंहासन के लिए पारस्परिक संघर्ष हो रहे थे। इसीलिए सम्भवतः शिलालेख के लेखक ने बन्धुवर्मा के साथ किसी सम्राट का नामोल्लेख नहीं किया।

---

(१) स्कंद

(२) सैलेक्ट इंस्क्रिप्शंस—सरकार मन्दसौर स्टोन इंस्क्रिप्शन ऑफ कुमारगुप्त वन एण्ड बन्धुवर्मा मालव नं० २१ पृ २९४—२९५

इतिहास के अनुसार कृत संवत् ४६१ में (जो पहले मालव संवत् कहा जाता था) महाराज नरवर्म्मा पश्चिमी मालवा का शासक था। उसकी राजधानी दशपुर, आधुनिक मन्दसोर थी। वहां के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि (पार्थिव) महाराज नरवर्म्मा (द्वितीय) सिंहवर्म्मा का पुत्र और (नरेन्द्र) जयवर्म्मा का पौत्र है। केवल मात्र "महाराज" के प्रयोग से ही बसाक ने यह अनुमान लगाया है कि नरवर्म्मा चन्द्रगुप्त द्वितीय का आधीनस्थ राजा था।[1]

मन्दसोर का शिलालेख इस बात को पुष्ट करता है कि विश्ववर्म्मा भी गुप्त साम्राज्य में केवल गोप्ता (गवर्नर) थे —

"रणेषु च पार्थ-समान कर्म्मा
बभूव गोप्ता नृप-विश्ववर्मा ॥"[2]

गन्धार के शिलालेख का उल्लेख करते हुए बसाक लिखते हैं कि मालवा राजा विश्ववर्मा कुमारगुप्त के शासनकाल के पूर्वार्द्ध में उसके आधीनस्थ राजा और उसके उपरान्त मालवा के नये शासक बन्धुवर्मा हुए।[3] यहां तक मालव। राजधानी दशपुर और मालव राज की वंशावली का प्रश्न है प्रसाद। कथन इतिहास सम्मत है। मालव को प्रसाद ने यथावत अवन्ती भी लिखा है। अवन्ती मालव का प्राचीन नाम था परन्तु मालव के प्रसंग में कई स्थलों पर प्रसा उलझ से गये हैं। मालवा से शकों को निर्मूल करने का कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित का है। इतिहास से चन्द्रगुप्त का समकालीन महाराज नरवर्मा प्रतीत होता है व बसाक के अनुसार चन्द्रगुप्त का करद राजा था। तब शकों के पतन काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंह वर्मा के द्वारा एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की बात समझ में नहीं आती। मालव और शक युद्ध म गुप्त साम्राज्य और मालव राज्य में जिस क्षति का उल्लेख प्रसाद करते हैं वह भी चंद्रगुप्त के समय में ही हुई कुमारगुप्त के समय में नहीं। कुमारगुप्त के समय में शकों से कोई युद्ध ही नहीं हुआ इसलिए प्रसाद ने मालवा में हूणों और शकों की सम्मिलित वाहिनी के लिए

(१) हिस्ट्री आफ नार्थ इस्टर्न इण्डिया (बसाक) पृ० ४२
(२) सेलक्ट इन्सिक्रप्शन्स (सरकार) नं० १७ पृ० २६१
(३) "हिज पर्मेन हिज आफ मालवा विश्ववर्मा वज ए फ्यूडेटरी प्रोफ कुमारगुप्त इन ड्यूरिंग दि फर्स्ट पार्ट आफ सैटर्स रेन ऐन्ड इन लेटर प्रोन (सम्पर्ट्स बियरिंग दि गैसवट वर्टीन टर्म्स) सक्सीडेड प्रीन दि थ्रोन प्रोफ मालवा बाइ हिज सन ऐन्ड सक्सैसर बंधुवर्मा"

हिस्ट्री प्राफ नार्थ ईस्टर्न इण्डिया (बसाक) पृ० ४८-६१
(४) स्वं८० १ १६ ११४० ११४५

आक्रमण का उल्लेख किया है वह भी इतिहास सम्मत नहीं । यह प्रसाद की अपनी कल्पना नहीं—उन्होंने जायसवाल के आधार पर ही शकों और हूणों के सम्मिलित आक्रमण का उल्लेख किया है जिसे अन्य इतिहासकार स्वीकार नहीं करते ।[1]

“राज्यश्री” के अनुसार देवगुप्त मालव नरेश है ।[2] मालवेश्वर की सीमा महोदय की सीमा से मिली हुई थी[3] और उसी सीमा प्रान्त में मालव और मौखरी सेनाओं में युद्ध हुआ था ।[4] मालवा का शासक स्वयं गुप्तकुल का था ।[5] सीमाप्रांत के युद्ध में मालवा की विजय हुई[6] और अन्त में कान्यकुब्ज में भी मालवा का अधिकार हो गया ।[7] राज्यश्री के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यवर्द्धन ने अंत में मालवराज को परास्त कर[8] कान्यकुब्ज और मालव दोनों को साम्राज्य में मिला लिया था । हर्षचरित में मालवराज का उल्लेख तो हुआ है पर मालवा तथा उसके शासक के विषय में बाण मौन है —

“यतो दलितमहाकुम्भनिपतितस्वरत हस्तकुडातो तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मनः सुकृतेन सह त्याजितः” ।[9]

बंसखेड़ा के ताम्रपत्र में राज्यवर्द्धन की प्रशंसा इस प्रकार की गई है —

“राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्री देवगुप्तादयः । कृत्वा येन कशाप्रहार विमुखास्सर्वे समं संयता”[10] इसमें जिस देवगुप्त का उल्लेख हुआ है उसका संबंध इतिहासकार हर्षचरित के मालवराज से जोड़ते हैं । अतः देवगुप्त को मालव नरेश मानने के संबंध में प्रसाद की मान्यता ऐतिहासिक है । मालवा की केवल एक सीमा का प्रसाद ने संकेत किया है और वह मौखरी राज्य की भी सीमा है । ह्वेन सांग ने मो-ला-पो या मालवा का विवरण दिया है परन्तु उक्त मो-ला-पो के विषय में इतिहासकार एक मत नहीं हैं । इतना अवश्य है कि उज्जयनी मो-ला-पो में नहीं

(१) इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया (जायसवाल) देखिए हूण आक्रमण ।
(२) राज्यश्री १।१६
(३) वही १।१२
(४) वही १।२३
(५) वही १।२५
(६) वही १।२६
(७) वही १।९८
(८) वही ३।४८
(९) हर्षचरित षष्ठ उच्छ्वास पृ० १८३
(१०) बंसखेड़ा का ताम्रपत्र ।

थी, क्योंकि उज्जयिनी का उल्लेख स्वयं ह्वेनसांग ने एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में किया है।[1] स्मिथ मो-ला-पो को पश्चिमी मालवा मानता है। वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं— डाक्टर बूलर ने मालवराज की पहचान देवगुप्त से की थी जो सर्वसम्मत है किन्तु मालवा को पंजाब में मानना तो असंभव है क्योंकि बाण के समय में मालव लोग अवन्ती में आ चुके थे और अवन्तीप्रदेश मालव कहलाने लगा था (उज्जैन की शिप्रा नदी में मालवी स्त्रियों का स्नान वर्णन—कादम्बरी-वैद्य, ११) पंजाब से उखड़ने के बाद मालवों को हम जयपुर रियासत के कर्कोट नगर में पाते हैं। वहां से आगे बढ़ते हुये वे गुप्तकाल में चौथी सदी के लगभग मालवा में आकर बसे होंगे। राजनीतिक घटनाएं इंगित करती हैं कि जैसे ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अवन्ती से शकराजाओं का उन्मूलन किया वैसे ही मालव लोग अवन्ती में आकर अधिकृत हो गए। सम्भव है कि इस कार्य में वे चन्द्रगुप्त के सहायक भी रहे हों। मन्दसौर के लेखों (ई० ४०४ और ई० ४३६) में मालव संवत् का उल्लेख होने से भी यह विदित होता है कि मालव लोग पांचवी सदी से पहले मालवा में आ बसे थे। अतएव मालवराज का सबंध मध्यभारत में स्थित मालवा से ही माना जा सकता है।[2] उपर्युक्त मत के प्रकाश में प्रसाद के विचार भी स्पष्ट हो जाते हैं। प्रसाद ने उधर मालवा को मध्यभारत में ही माना है और उसका एक नाम अवन्ती रखा है।

ध्रुव के अनुसार "यवनागत म्लेच्छग्राहिणी से सौराष्ट्र भी पादाक्रान्त हो चुका है इस कारण पश्चिमी मालवा भी अब सुरक्षित नहीं रहा"[3] तथा "वल्लभी का पतन अभी रुका है"।[4] इन कथनों से यह प्रतीत होता है कि

वल्लभी

वल्लभी सौराष्ट्र और पश्चिम मालव के बीच में कहीं होगी। अन्यत्र कहीं भी वल्लभी का उल्लेख इसमें नहीं है। "राज्यश्री" में भी केवल "वल्लभी के ध्रुवभट्ट"[5] का उल्लेख मात्र है जो प्रयाग में हर्षवर्द्धन के सर्वस्व दान में भाग लेने आ रहे थे।

वल्लभी के सम्बन्ध में प्रसाद का उल्लेख इतिहास के अनुकूल है। स्मिथ लिखते हैं —

"पूर्वी काठियावाड़ में वल्लभी का राज्य मो-ला-पो एवं सौराष्ट्र के बीच था। वहाँ का शासक ध्रुवभट्ट था .... ६४१ ई० में हर्ष ने

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३४८
(२) हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन (अग्रवाल) "मालव"
(३) स्कंदगुप्त १।११
(४) वही १।१३
(५) राज्यश्री ४।६८

कन्नौज और प्रयाग की सभाएं की। उनमें कुमार ने भाग लिया तथा वल्लभी का राजा ध्रुवभट्ट भी अपने श्वसुर के जुलूस में था।[१]

सिंहल या लंका

सिंहल या लंका की चर्चा केवल स्कन्दगुप्त नाटक में हुई और वहां दोनों नाम एक ही अर्थ में आये हैं। इससे केवल इतना पता चलता है कि लंका जाने के लिए दक्षिणापथ से होकर जाना पड़ता था[२] लंका के चारों ओर लहराता हुआ समुद्र था[३] लंका के निवासी अर्थात् सिंहली उज्ज्वल श्यामवर्ण के होते थे और उनके बाल घुंघराले होते थे।[४] यह वर्णन आधुनिक लंका से मिलता है। लंका में कभी राक्षस भी रहते होंगे इस ओर भी संकेत किया गया है।[५] कुमारगुप्त के समय कुमारदास लंका के युवराज थे—और स्कंदगुप्त और मातृगुप्त (कालिदास ?) से उनकी मैत्री थी।[६] भारत और सिंहल के बीच गहरा सांस्कृतिक संबंध था। बौद्ध धर्म के आविर्भाव का स्थल होने के कारण लंका निवासी भारत के प्रति पूज्य भाव रखते थे।[७]

इतिहास से ज्ञात होता है कि सिंहल और गुप्त-साम्राज्य के सांस्कृतिक संबंध अशोक के काल से ही थे समुद्रगुप्त के समय में मेघवर्ण सिंहल का शासक था और उसने समुद्रगुप्त के पास बौद्ध मठ के बनवाने की आज्ञा लेने के लिए उपहारों सहित एक शिष्ट मंडल भेजा था।[८] इसका समर्थन समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से भी होता है। सिंहल तथा अन्य द्वीपवासियों ने गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की सेवा—आत्मनिवेदन और कन्योपायन दान द्वारा की—

"यस्य दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि—शक—मुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्व-द्वीप-वासिभिरात्मनिवेदन—कन्योपायनदान—गरुत्मदङ्कस्व विषय भुक्तिशासन (य) याचनाद्युपाय—सेवा कृत-बाहु—वीर्य—प्रसर—धरणि—बन्धस्य पृथिव्याम् प्रतिरथस्य'—इत्यादि।[९]

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३४२
(२) स्कंद० १।१८
(३) वही १।२४
(४) वही १।२४
(५) वही १।१५
(६) वही २।६१
(७) स्कन्द० ४।११६
(८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३०४
(९) फ्लीट इन्स्क्रिप्शंस पृ० २५४—५५

काश्मीर

काश्मीर का उल्लेख एकमात्र स्कन्दगुप्त नाटक में ही हुआ है। प्रसाद के अनुसार "पृथ्वी की समस्त ज्वाला जहां प्रकृति ने अपने बर्फ के अंचल से ढक लिया है उस हिमालय में काश्मीर बसा है। उसकी राजधानी श्रीनगर है।[1] यह मातृगुप्त (कालिदास) की जन्मभूमि है।[2] कुमारगुप्त के शासनकाल तक गान्धारवंशी राजा वहां राज्य करते थे।[3] हूणों के आतंक से इस म्लेच्छाक्रान्त देश को छोड़कर मातृगुप्त गुप्त साम्राज्य की राजधानी मगध में चला आया।[4] स्कंदगुप्त के शासन काल में गांधार वंशी राजा वहां नहीं रहे अतः देवसेना की प्राणरक्षा में सहायता के उपलक्ष में स्कंदगुप्त ने मातृगुप्त को वहां का शासक बना दिया।[5] और काश्मीर साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। स्कन्दगुप्त के समय भी काश्मीर पर हूणों के आक्रमण की तैयारी का उल्लेख है।

काश्मीर के इतिहास के लिए प्रसाद निश्चित ही कल्हण की राजतरंगिणी के ऋणी हैं। राजा संधिमत के ४७ वें वर्ष में 'उसकी प्रजा उसके शासन से असन्तुष्ट रहने लगी क्योंकि धार्मिक शान्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने के कारण वह राज्य के कार्यों से विमुख हो गया था। अतः उसकी प्रजा के लोग एक नये और योग्य शासक की खोज में थे। उन्हीं दिनों युधिष्ठिर का प्रपौत्र गोपादित्य गान्धार राज के संरक्षण में था। उसका एक अत्यन्त सुयोग्य पुत्र मेघवाहन था। उसकी बढ़ती हुई कीर्ति चारों ओर फैल कर काश्मीर तक जा पहुँची। काश्मीर के मन्त्रियों के आमन्त्रण पर मेघवाहन वहाँ आया और काश्मीर का शासक बना दिया गया। भीमवर्मा ने जिन गांधार वंशी शासकों का उल्लेख किया है वे इसी मेघवाहन के वंशज थे जो वस्तुतः गान्धारवंशी न होकर केवल गान्धार पालित थे।[6]

मेघवाहन के उपरान्त उसके पुत्र श्रेष्ठसेन प्रवरसेन या तुञ्जीर[7]) ने ३० वर्ष तक राज्य किया।[8] तदुपरान्त हिरण्य[9] राजा बना। उसने किसी बात पर रुष्ट

---

(१) स्कंद० ४।११६
(२) वही १।२१
(३) वही ३।६०
(४) वही १।२२
(५) वही १।६६
(६) राजतरंगिणी, तरंग २ पृ ५४ ५५ श्लो १४२ १४७ (पंडित)
(७) कल्हण राजतरंगिणी (आर० एस० पंडित) पृ० ६६ श्लोक ६७ तृतीय तरंग
(८) वही पृ० ६६ श्लोक १०१ ,,
(९) वही पृ० ६६ ,, १०२

होकर अपने छोटे भाई तोरमाण को कैद कर लिया। ऐसी स्थिति में ही २१ वर्ष १ माह तक राज्य की रक्षा कर हिरण्य पुत्रहीन ही स्वर्गवासी हुआ। अपने पिता के निष्कासन से खिन्न होकर तोरमाण का पुत्र प्रवरसेन द्वितीय तीर्थाटन को चला गया था। इस प्रकार जब गान्धार वंशी शासक न रहे तब पुनः योग्य शासक की खोज में उज्जयिनी के एकछत्र शासक महान् सम्राट हर्ष विक्रमादित्य के पास गये। उन्होंने एक कवि मातृगुप्त पर प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक बना दिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने राजतरंगिणी का आधार लेकर जो है केवल राजतरंगिणी के सम्राट हर्ष विक्रमादित्य को प्रसाद ने स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य मान लिया है, फलतः हर्ष [illegible] विक्रमादित्य और स्कन्द विक्रमादित्य एक मान कर उसे उज्जयिनी का सम्राट मानना पड़ता है। इतिहासकार इन दोनों बातों से सहमत नहीं। स्कन्द के हर्ष नाम का कहीं उल्लेख नहीं है और न वह उज्जयिनी का राजा रहा। शासक-हीन काश्मीर को साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेने की कल्पना प्रसाद की अपनी है पर तर्कयुक्त है। मातृगुप्त को वहां का शासक बना देना कल्हण के मतानुसार है।

हिरण्य के भाई तोरमाण का उल्लेख पहले हो चुका है। श्री आर एस० पण्डित के अनुसार तोरमाण तुर्की नाम है।[2] इतिहास में तोरमाण नामक एक हूण शासक का भी उल्लेख मिलता है[3] जिसने काश्मीर में शासन किया था (कब ?) संभवतः उस तोरमाण शब्द के कारण ही प्रसाद का ध्यान काश्मीर में हूणों के आक्रमण की ओर गया हो। प्रसाद ने काश्मीर पर हूणों के आतंक की बात अवश्य लिखी है,[4] पर सारे नाटक में वहां हूणों का अधिकार हो जाने की कहीं भी चर्चा नहीं। इतिहास के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि काश्मीर पर हूणों का अधिकार कब हुआ था। संभवतः स्कन्दगुप्त के समय में अथवा उसके कुछ ही दिन बाद यह आक्रमण हुआ हो। यशोधर्मन के समय में हूण शासक मिहिरकुल यशोधर्मन से पराजित होकर काश्मीर के शासक की शरण में आया और उसने छल से काश्मीर मंडल पर अधिकार कर लिया। तोरमाण इसी मिहिरकुल का पुत्र था। काश्मीर का उक्त शासक भी संभवतः हूण ही था।[5]

---

(१) राजतरंगिणि पृ० १ २ श्लोक १२४ तृतीय तरंग
(२) वही पृ [illegible] फुटनोट १०२ „
(३) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया स्मिथ पृ ३३४
(४) स्कन्द १।२१
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ ३३७

नगर और ग्राम

कथा-प्रसंग के नाम से लिखी हुई अजातशत्रु की भूमिका के अनुसार वत्स राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी जिसका खंडहर जिला बांदा (करवी सब-डिवीजन) में यमुना किनारे 'कोसम' के नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था।[1] मुनि द्वारा दी गई "वीणा द्वारा हाथियों और शबरों की बहुत-सी सेना एकत्र करके उसने कौशाम्बी को हस्तगत किया और अपनी राजधानी बनाया।[2] बररुचि ने यों सहस्रानीक से कौशाम्बी के राजवंश का प्रारम्भ माना है। कहा जाता है इसी उदयन ने अवन्तिका को जीत कर उसका नाम उदयनपुरी या उज्जयनपुरी रखा।[3] 'निचक्षु नामक पांडव वंशी राजा हस्तिनापुर के गंगा में बह जाने पर कौशाम्बी गये, उनसे पचीसवीं पीढ़ी में उदयन हुए।[4]" गौतम ने अपना नवां चातुर्मास्य कौशाम्बी में उदयन के राज्य-काल में व्यतीत किया . . . .।[5]

कौशाम्बी

अजातशत्रु नाटक के अनुसार उदयन कौशाम्बी के राजा हैं[6] और मगध एवं अवन्ती से उनका वैवाहिक सम्बन्ध है।[7] कथासरित्सागर और भास कृत "स्वप्न वासवदत्ता" दोनों से इन वैवाहिक सम्बन्धों की पुष्टि होती है और प्रसाद ने इस आधार को भूमिका (कथा प्रसंग) में स्पष्ट कर दिया है। कौशाम्बी और कौशल भी आपस में मित्र राष्ट्र रहे होंगे। कौशाम्बी की रानी पद्मावती के महल में गौतम बुद्ध का संघ निमन्त्रित हुआ था और उदयन के अनुरोध पर उन्होंने कुछ दिन रहकर वहां धर्म का प्रचार भी किया था।[8]

कौशाम्बी की स्थिति और उसके भौगोलिक या ऐतिहासिक स्वरूप पर सम्पूर्ण नाटक में कहीं भी दृष्टिपात नहीं किया गया है। कौशाम्बी वत्स की राजधानी थी ऐसा उल्लेख आगमों में भी मिलता है।[9] नाटक में वत्सराष्ट्र

(१) अजात (कथा-प्रसंग) पृ [illegible]
(२) वही „ पृ० ११
(३) वही „ पृ० १२
(४) वही „ पृ० १२
(५) वही „ पृ० १६
(६) वही १।४१
(७) अजात० १।१०
(८) वही १।४१
(९) आवश्यक ८।२८ १।७१६

का कहीं उल्लेख भी नहीं । उदयन वहां वत्सराज नहीं कौशाम्बी-नरेश है। बुद्ध के समय में कौशाम्बी अवश्य ही अत्यन्त महत्वपूर्ण नगरी रही होगी क्योंकि आनन्द इसको बुद्ध "परिनिब्बाण" के योग्य स्थानों में से मानता है ।[1] विनय पिटक[2] के अनुसार कौशाम्बी दक्षिण और पश्चिम से आने वाले कोशल और मगध के यात्रियों के लिए महत्वपूर्ण विश्रामस्थल था । मनोरथपूर्णी अंगुत्तर टीका[3] तथा "पटिसम्भिदामग्ग" टीका[4] में लिखा है कि बक्कुल विपत्त वाले वाली मछ लियां यमुना में बनारस से कौशाम्बी तक ३० कोस बह कर चली आती थीं । अतः कौशाम्बी बनारस से तीस कोस पश्चिम में रही होगी ।

बौद्ध ग्रन्थों में कौशाम्बी नाम के दो कारण बताये गये हैं ।[5] प्रथम और अधिक प्रचलित कारण यह है कि ऋषि कुसुम्ब या कुसुम्भ के आश्रम में अथवा उसके आसपास कौशाम्बी बसायी गई थी । दूसरा यह है कि विशालकाय (कोसम्बरुक्ख) ।[6] कोसम्ब के वृक्ष नगर में चारों ओर प्रचुर परिमाण में थे ।

लंका की प्राचीन पुस्तकों में भी कौशाम्बी प्राचीन भारत के १६ प्रमुख नगरों में से एक माना गया है ।[7] बौद्ध साहित्य में सूचित सोलह महाजनपदों में वत्स अथवा वंश का उल्लेख करते हुए भी त्रिपाठी[8] कोसाम्बी या कोसम्बी को उसकी राजधानी मानते हैं और उसकी स्थिति इलाहाबाद से ३० मील दूर आधुनिक कोसम में मानते हैं । प्रद्योत ने भी इसे ही कौशाम्बी माना है ।[9]

मज्झिमनिकाय के अनुसार बुद्ध के जीवन काल में श्रावस्ती कोशल की राजधानी थी ।[10] श्रावस्ती में बुद्ध और बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव था ।[11] महाराज

---

(१) विनय १।९७
(२) विनय १।९३३
(३) डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स पृ ६९२
(४) वही-पृ ६९२
(५) वही-पृ ६९२
(६) "कारमोसा ट्री"
(७) एन्शियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया—कनिंघम पृ ४४८
(८) प्राचीन भारत का इतिहास—डा रमाशंकर त्रिपाठी
(९) प्रद्योत कथा प्रसंग ६
(१०) महाव॰ २।१००
(११) [illegible]

प्रसेनजित उन दिनों कोशल के राजा थे।[1] विष्णु पुराण के अनुसार

श्रावस्ती श्रावस्ती का निर्माण सूर्यवंशी राजा युवनाश्व के पुत्र राजा श्रावस्त ने किया था।[2] श्रावस्ती के इतिहास का विवरण देते हुए कनिंघम लिखते हैं—"बुद्ध के समय में यह महाकोशल के पुत्र राजा प्रसेनजित की राजधानी थी।"[3] श्रावस्ती का उल्लेख बहुत से जातकों में भी मिलता है। यह बौद्ध-काल की सर्वश्रेष्ठ महानगरियों में से एक है। भगवान बुद्ध ज्ञान प्राप्ति से पूर्व एवं उसके उपरान्त भी श्रावस्ती में रहे थे। राजा प्रसेनजित उनके अन्यतम भक्तों में से एक था।

पावा और उसके "अमृतसर" का उल्लेख केवल एक स्थान पर "अजातशत्रु" में हुआ है।[4] पावा मल्लों के राज्य में था, और उसका "अमृत सरोवर"

पावा पांच सौ प्रधान मल्लों से सर्वदा रक्षित रहता था। दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता था।[5] पावा में ही बन्धुल ने सौ मल्लों से अकेले युद्ध किया और मल्लिका उस सरोवर का जल स्वेच्छा से पान कर कोशल लौट आई।[6]

कनिंघम ने पावा के मल्लों के राज्य को वर्तमान पडरौना में माना है।[7] किन्तु अन्य ऐतिहासिकों ने मल्लों की राजधानी कुशीनगर से पूर्वोत्तर १० ११ मील की दूरी पर सठियांव नामक स्थान के पास पावा मानी है। पावा नगरी को भी यहीं होना चाहिये।[8] लंका के इतिहासकारों ने पावा नगर को बुद्ध का अन्तिम स्थान बताया है। वहां वे कुशीनगर में निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व रुके थे।[9] कश्यप के अनुसार लिच्छवि और वृजि संघ के अष्टकुलों में से एक मल्ल भी थे। वे कुशीनगर के रहने वाले थे और पावा उनकी राजधानी थी। प्रसाद ने जिस पावा के अमृतसर की बात की है उसका उल्लेख जातकों में इस रूप में मिलता है—"......और उसकी (मल्लिका) दोहद-कामना थी कि वह उस कमल-ताल में प्रवेश कर उसका जल पान करे जिसका उपयोग वैशाली के राजकुमार अपने राज्यारोहण के समय ही कर

---

(१) अजात० १।६१
(२) विष्णु पुराण (विल्सन) ४।२
(३) ऐंशियेंट ज्योग्राफी आफ इंडिया (कनिंघम) पृ ३६८
(४) अजात० २।७४
(५) अजात० २।७४
(६) वही २।७५
(७) कनिंघम पृ ४३७-३८
(८) प्राचीन भारत (कश्यप) पृ १२८
(९) कनिंघम पृ ४३७

सकते हैं। (उसकी इच्छा पूरी करने के लिए) बन्धुल उसे वैशाली ले गया"……
जब लिच्छवि राजकुमारों ने यह सुना तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने बन्धुल के रथ का पीछा किया।"[1] प्रसाद द्वारा सूचित सौ मल्लों के स्थान पर इसमें पाँच सौ लिच्छवियों का उल्लेख है।[2]

सम्भव है वैशाली के कमल-ताल से ही प्रसाद ने पावा के अमृत सर का सम्बंध जोड़ा हो।

कपिलवस्तु।

कपिलवस्तु का नामोल्लेख केवल एक स्थान पर, अजातशत्रु नाटक में हुआ है। मल्लिका विरुद्धक पर दोषारोपण करती है— 'तुमने कपिलवस्तु के निरीह प्राणियों का किसी दुःख पर निर्दयता से वध किया।'[3] नाटक से इतना पता अवश्य चल जाता है कि कपिलवस्तु शाक्यों की नगरी थी वहीं विरुद्धक की ननिहाल थी।[4] विरुद्धक माता राजकन्या न होकर एक दासी पुत्री थी।[5] शाक्यों ने प्रसेनजित के साथ छल किया। विरुद्धक ने अपनी माता के इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए शाक्यों का निर्दयता पूर्वक संहार किया।[6]

कपिलवस्तु का उल्लेख जातकों एवं अन्य बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुरता से मिलता है। कपिलवस्तु गौतमबुद्ध की जन्मभूमि थी और वहां शाक्यकुमार उन दिनों प्रसेनजित के आधीन थे।[7] कपिलवस्तु हिमालय की तराई में बसा है।

एक बार कपिलवस्तु जाने पर विरुद्धक को अनायास ही यह पता चला कि उसकी माँ दासी पुत्री थी और उसके पिता के साथ उसका विवाह धोखे से कर दिया गया था। उसने इसका प्रतिशोध लेने का प्रण किया। सिंहासनारूढ़ होने पर जब वह एक बड़ी सेना लेकर कपिलवस्तु पर आक्रमण करने को बढ़ा तो उसे तथागत शाक्य की सीमा में लगे हुए एक ठूंठ-वृक्ष के नीचे खड़े मिले। विरुद्धक की सीमा में एक बरगद का विशाल और छायादार वृक्ष था। विरुद्धक ने ठूंठ के नीचे खड़े तथागत से छायादार बरगद के नीचे बैठने की प्रार्थना की। तथागत ने कहा—"आप चिन्ता न करें मुझे अपने बांधवों की छाया ही शीतलता प्रदान करती है।" इस पर विरुद्धक लौट गया। दूसरी बार भी यही बात हुई। तीसरी बार शाक्यों का विनाश

---

(१) डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स—"बन्धुल पृ २६५
(२) वही पृ २६६
(३) अजात ३।११६ (४) वही १।५२ (५) वही १।५२
(६) धम्मपद अट्ठकथा १।३४६ जातक १।१३३ ४।१४४
(७) डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स—विडूडभ—पृ ८७९–८०

अधर्मगामी जानकर तथागत उसके मार्ग से हट गये और उसने बिना विचार किये शाक्यवंश के सभी बच्चों तक का संहार कर डाला।[1]

तक्षशिला

चन्द्रगुप्त नाटक में तक्षशिला का एक महत्वपूर्ण स्थान है। तक्षशिला भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा पर गांधार राज्य की राजधानी थी। 'सिन्धु गांधार राज्य की पश्चिमी सीमा है।[2] और वितस्ता उसकी पूर्वी सीमा।[3] इन दोनों नदियों के बीच में ही कहीं तक्षशिला की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। प्रसाद ने तक्षशिला को एक महान शिक्षा केन्द्र माना है। वररुचि और चाणक्य जैसे मेधावी इसी गुरुकुल के स्नातक थे।[4] इस गुरुकुल की ख्याति इतनी ऊंची थी कि तक्षशिला का स्नातक होना गौरव की बात समझी जाती थी। तत्कालीन राजनीति की दृष्टि से भी तक्षशिला का महत्व कम नहीं था। गांधार भारत का द्वार रक्षक समझा जाता था[5] और इसकी राजधानी होने के कारण भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा का भार तक्षशिला पर ही था। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिलाधीश आंभीक ने पुष्कल स्वर्ण पाकर आक्रमणकारियों का साथ दिया और इस प्रकार आर्यावर्त का यह भू भाग द्वार विदेशियों के लिए खोल दिया। कालान्तर में आर्यावर्त का यह भू-भाग चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का एक अंग बन गया।[6]

तक्षशिला का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। जनमेजय ने इसको विजय किया था [7] बुद्धकालीन षोडश जनपदों में गांधार जनपद और उसकी राजधानी तक्षशिला की चर्चा हुई है।[8] प्लिनी के अनुसार तक्षशिला नगरी पुष्कलावती से ६० रोमन मील (अबकी ५५ मील) दूरी पर निम्न समतल क्षेत्र पर बसे हुए अमन्द (Amanda) नामक जिले में थी।[9] एरियन इसे सिन्धु और झेलम के बीच के प्रदेश का सबसे बड़ा नगर मानता है।[10] राय चौधरी इसका समर्थन करते हुए

---

(१) धम्मपद अट्ठकथा १।३४६–९ ३५०–११ अवदान कल्पलता ११वां पल्लव
(२) चन्द्र० १।८२
(३) वही १।६४
(४) वही १।५६
(५) वही २।११३
(६) वही १।२२०
(७) महाभारत (आदिपर्व) ३।६८२–८३ ८३३–३४
(८) प्राचीन भारत का इतिहास—आर० एस० त्रिपाठी पृ० ७५
(९) प्लिनी ६।२३
(१०) एरियन (इण्डिका) पृ० ८२—मैक्रिंडल

मिलते हैं कि तक्षशिला का राज्य गांधार के प्राचीन राज्य का पूर्वी भाग था। स्ट्राबो इस प्रदेश को अत्यन्त उपजाऊ और बसा हुआ मानते हैं।[१] यूनानी इतिहास-कारों के अनुसार ई० पू० ३२७ में "टैक्साइल्स' तक्षशिला के सिंहासन पर था और उसके पश्चात् "आम्भी" (आम्भीक) वहां का राजा हुआ।

चन्द्रगुप्त की भूमिका में प्रसाद ने स्पष्ट लिख दिया है—"तक्षशिला नगरी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। वहां का विश्वविद्यालय पाणिनि और जीवक ऐसे छात्रों का शिक्षक हो चुका था—— —— ——।[२] जातकों के अनुसार भी तक्षशिला भारतीय शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र रहा है।[३] स्मिथ लिखता है— 'तक्षशिला उन दिनों पूर्व की सबसे बड़ी नगरियों में से थी और यहां उत्तरी भारत का एक प्रख्यात विद्यापीठ था जहां सभी जातियों के विद्वान शिक्षा प्राप्ति के लिए एकत्र होते थे।[४]

चन्द्रगुप्त नाटक में वररुचि पाणिनि को 'शालातुरीय वैयाकरण" कह कर उनके जन्म स्थान "शालातुर" की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं।[५]पाणिनि ने

शालातुर

स्वयं एक सूत्र में शालातुर का उल्लेख कर उस स्थान की प्राचीनता सिद्ध की है। इसी आधार पर इतिहासकार शालातुर को पाणिनि का जन्म स्थान मानते हैं।[६] हुएनसांग ने इसको 'सोलो-तु-लो' लिखा है और इसे उ-तो-किआ-हन-चो (ओहिन्द) के उत्तर-पूर्व बीस "ली" (३½ मील) दूरी पर बताया है।[७]

कुसुमपुर चन्द्रगुप्त एवं स्कंदगुप्त की अधिकांश घटनाओं का केन्द्र है। इन दोनों नाटकों में प्रसाद ने कुसुमपुर के लिए पाटलिपुत्र का भी प्रयोग किया है। चंद्र-

कुसुमपुर या पाटलिपुत्र।

गुप्त नाटक के अनुसार पाटलिपुत्र नगरी मगध साम्राज्य की राजधानी थी जो गंगा और शोण के संगम पर बसी हुई थी। इस प्रदेश के लिए 'प्राच्य' देश और यहां के निवासियों के लिए 'प्राच्य' मनुष्य का प्रयोग भी प्रसाद ने किया है। अपनी समृद्धि और वैभव के कारण पाटलिपुत्र या कुसुमपुर "महानगरी कुसुमपुरी" कहलाती थी।

---

(१) स्ट्राबो (मैक्रिंडल) पृ० ३३
(२) चन्द्रगुप्त (भूमिका) पृ० ५८
(३) जातक २।२२,४१
(४) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ६५
(५) चन्द्रगुप्त ४।२०४
(६) वही ४।१६१
(७) वाट० १०५, २।११६

नंद जैसे राजा के कठोर शासन काल में भी यह नगरी संगीत और कला का केन्द्र थी। कुसुमपुर के राजपथ, सरस्वती मन्दिर उपवनों और सभाओं के से उल्लेख यहां के वैभव का चित्र नेत्रों के सामने स्पष्ट आ जाता है। 'कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊंघ रहा है'[1]—चाणक्य की यह उक्ति कुसुमपुर के विलास की सुन्दर व्यंजना करती है। चाणक्य सैनिकों को वणिकों के रूप में कुसुमपुर में प्रवेश कराना चाहता है।[2] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह नगरी तत्कालीन भारत के वाणिज्य का केन्द्र रही होगी और वणिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की पूर्ण सुविधाएं रही होंगी। कुसुमपुर का एक सुदृढ़ दुर्ग था और वहां सैन्य शक्ति भी अत्यन्त प्रबल थी। इसी से चाणक्य की कुटिल नीति के होते हुए भी अलका को उसके ध्वंस और नंद पराजय पर संदेह हुआ।[3]

स्कन्दगुप्त नाटक के अनुसार भी कुसुमपुर मगध साम्राज्य की राजधानी थी। कुसुमपुर के ऊंचे सौध मन्दिर, उनमें बसती हुई कामायुध पारसीक मदिरा के मद में उन्मत्त आमोद विलास वहां के मणिरत्न भण्डार गुप्तकालीन कुसुमपुर की समृद्धि और उसके वैभव विलास की कहानी कहते हैं।[4] यहां के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं। प्रसाद के अनुसार गुप्तकाल में अयोध्या को भी मगध साम्राज्य की एक और राजधानी होने का गौरव मिल गया था और उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के राज्याभिषेक के साथ तो कुसुमपुर का महत्व बहुत कम हो गया था।[5]

कुसुमपुर और पाटलीपुत्र को समानार्थक सिद्ध करने के लिए प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में लिखा है—"विष्कांडशेष और हेमचन्द्र अभिधान में तथा मुद्राराक्षस में पाटलीपुत्र के दो और नाम पाये जाते हैं कुसुमपुर और पुष्पपुर। चीनी यात्री भी इन नामों से परिचित था कि 'किसुमिपुर' लोक 'फाहियान' ने इसका विवरण है।[6]

मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर पाटलीपुत्र की भौगोलिक स्थिति के बारे में प्रसाद लिखते हैं—"गंगा और सोण के तट पर मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र बसा था। नगर ८० स्टेडिया लम्बा और १० स्टेडिया चौड़ा था। दुर्ग में ६४ द्वार तथा ५७० बुर्ज थे। सौध श्रेणी राजमार्ग सुविस्तृत पण्य वीथिका से नगर पूर्ण था और व्यापारियों की दुकानें अच्छी प्रकार से सुशोभित और सुसज्जित रहती थीं। भारत की केन्द्र नगरी कुसुमपुरी वास्तव में कुसुमपूर्ण रहती थी। सुसज्जित तुरगों में धनाढ्य लोग प्रायः राजमार्ग में यातायात किया करते थे।"[7] हितोपदेश में लिखा है—'अस्ति भागीरथी तीरे पाटलीपुत्र नाम नगरम्।' पर चीनों ने गंगा और हिरण्यबाहु के तट पर उसका होना लिखा है। इधर मुद्राराक्षस "सोण सिन्दूर शोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शत" से ज्ञात होता है कि यह सोन व गंगा के संगम पर था।[8]

यद्यपि नाटक में प्रसाद ने स्पष्ट ही गंगा और सोण के संगम पर पाटलिपुत्र की स्थिति मानी है तथापि भूमिका के उद्धरणों से पाठक असमंजस में पड़ जाता

(१) चन्द्र० १।७० (२) चन्द्र० ३।१७९ (३) वही ३।१७२
(४) स्कन्द० १।१० (५) स्कन्द० २।७८ ५६ (६) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ४१
(७) चन्द्र (भूमिका) पृ० ४० (८) वही (भूमिका) पृ ४१

है कि यह गंगा तट पर था या गंगा या हिरण्यवाह के संगम पर अथवा सोण तट पर। कनिंघम की टिप्पणी के आधार पर पाटलिपुत्र की स्थिति गंगा और "एरानो बोआस" के संगम पर मानी गई है। यह संगम पहले उस स्थान पर माना जाता था जहाँ गण्डक अथवा हिरण्यवती पटना के पास गंगा से मिलती।[१] परन्तु रावेनशा ने निश्चयात्मक[२] रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि गंगा से सोण का संगम पहले पटना के ठीक ऊपर होता था। अपने विस्तृत पीले बालुकामय तट के कारण सोण को हिरण्यवाह भी कहा जाता है। अतः यूनानी शब्द "एरानो बोआस" अपनी स्थिति और नाम साम्य दोनों दृष्टियों से हिरण्यवाह का ही रूपान्तर प्रतीत होता है। सोण का हिरण्यवाह पर्याय स्वप्न रत्न से भी मिलता है। अतः नाटक में प्रसाद की यह मान्यता इतिहास सिद्ध है कि पाटलिपुत्र "सोण और गंगा के संगम पर" बसा था।

यूनानी इतिहासकार एरियन के अनुसार 'प्रसियना (प्राच्यों) के राज्य में स्थित "पालिबोथरा (पाटलिपुत्र) भारत का सबसे विशाल नगर था।..........।[३] एरियन के लेख पर अपनी टिप्पणी देते हुए मैक्रिंडल लिखता है—मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का राज्य गंगा के मुहाने से सिन्धु के उस पार सुदूरवर्ती प्रदेश तक फैला हुआ था चन्द्रगुप्त इस समय भारत के एकछत्र सम्राट थे। एरियन और स्ट्राबो ने मेगास्थनीज के आधार पर पाटलीपुत्र की भव्यता और विशालता का जो चित्रण किया है उससे यह ज्ञात होता है कि यह नगर इस विशाल साम्राज्य की राजधानी होने के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। गंगा और सोण के संगम पर तथा गण्डक के संगम के दूसरी ओर स्थित होने के कारण यह नगरी स्वभावतः वाणिज्य और व्यापार का महान केन्द्र हो गई थी और उत्तरोत्तर इसके ऐश्वर्य और समृद्धि की वृद्धि होती जा रही थी।"[४] ऊपर एरियन ने मगधवासियों के लिए "प्रसियन" शब्द का प्रयोग किया है। पाटलिपुत्र के चतुर्दिक पलाशवृक्षों की प्रचुरता के कारण कनिंघम "प्रासी" की व्युत्पत्ति "पलाश" शब्द से मानते हैं। (पलाश पराश प्रास प्रासी)[५] पर प्रमाद ने स्पष्ट ही इसका प्रयोग 'प्राच्य' या पूर्वी के अर्थ में किया है[६] साथ ही ग्रीक प्रयोग के अनुकरण में भी।[७]

प्रसाद के समस्त ऐतिहासिक नाटकों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद युग के काल तक कुसुमपुर का विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं हो पाया था। मौर्यकाल तक पहुँचते पहुँचते यह नगरी उत्कर्ष की पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। गुप्तकाल में इसके ऐश्वर्य और समृद्धि में तनिक भी कमी न आई। यह अब भी मगध साम्राज्य की राजधानी बनी रही। पर अयोध्या और उज्जयिनी का महत्व बढ़ गया। इतिहास प्रसाद का समर्थन करता है। स्मिथ के अनुसार समुद्रगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् मगध की राजधानी रहते हुये भी पाटलीपुत्र गुप्त शासकों का निवास स्थान नहीं रहा।[८] चौथी शती में अयोध्या गुप्त साम्राज्य का मुख्य नगर बन गया[९] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पाटलीपुत्र के वैभव का जो चित्र स्कंद

(१) ऐंश्येण्ट जोग्राफी आफ इण्डिया (कनिंघम) नोट्स पृ० ५१८
(२) जनरल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल—जी १४।१३७ (देखिए रैवनशा का लेख) ( ) ऐंशिएंट इण्डिया—मैक्रिंडल पृ० २०१ (४) वहीपृ० २११—१२ फुट नोट (५) कनिंघम पृ० ५१८ (७) वही १०६ (६) चन्द्र० ४।१३० (८) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३०९ ९) वही (स्मिथ) पृ ११०

गुप्त' में मिलता है यह ठीक नहीं। इतिहासकार स्पष्ट लिखते हैं कि गुप्तकाल में पाटलीपुत्र की जनसंख्या और वैभव में कोई भी कमी नहीं आई थी।

पिप्पली कानन।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में पिप्पली कानन' मौर्यों के स्थान का निर्देश करता है।[1] भूमिका में प्रसाद लिखते हैं— यह मोरियों का नगर पिप्पली-कानन था और पिप्पली कानन के मौर्य नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर-भस्म के भाग लेने वालों में एक थे।[2] ह्वेनसांग व फाहियान के यात्रा विवरणों के आधार पर कनिंघम लिखते हैं—"दोनों चीनी यात्री पिप्पली-वन में बुद्ध के भस्मावशेषों पर बने हुए स्तूप के दर्शनों के लिए गये। अवशेषों के लिए प्रार्थना करने में विलम्ब हो जाने के कारण इस नगर के मोरियों को केवल बुद्ध के शरीर की भस्म लेकर ही सन्तोष करना पड़ा।[3] अब इस नाम का कोई स्थान नहीं मिलता[4] प्रसाद मौर्यों की प्रथम राजधानी मानते हैं।[5]

उद्भाण्ड।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में उद्भांड का केवल इतना ही उल्लेख है कि मालविका ने उद्भांड में सिन्धु पर पुल बनते देखा और उसका मानचित्र ले लिया।[6] स्पष्ट है कि गान्धार राज्य (तक्षशिला) की सीमा पर ही सिन्धु के तट पर कोई स्थान उद्भाण्ड कहलाता होगा और सिकन्दर के आक्रमण के समय गान्धार से उसकी मित्रता हो जाने पर सिकन्दर की सेना ने उद्भांड में कोई पुल बनाया होगा जो गान्धार को सिन्धु के उस पार के ग्रीक उपनिवेश से मिलाता होगा।

पाणिनि कालीन भारत पर विचार करते हुए डा० अग्रवाल उत्तरापथ के बीच पड़ने वाले स्थानों में उद्भाण्ड का उल्लेख भी करते हैं यहां पर व्यापार का सामान (मांड पाणिनी ६।१।२०) सिन्धु के पार पहुंचाने के लिए उतारा जाता था।[7] उद्भाण्ड का विवरण कल्हण की राजतरंगिणी में भी मिलता है।[8] कनिंघम के सम्पादक इसको सिन्धु के उत्तरी किनारे पर मानते हैं। अतः यह नगर सिन्धु के पूर्वी और तक्षशिला के प्रदेश में न होकर उसके राज्य की सिन्धु परवर्ती सीमा पर रहा होगा।

एरियन सिकन्दर द्वारा सिन्धु पर एक पुल बांधे जाने का उल्लेख करता है।[9] उस स्थान या नगर को 'ओहिन्द' माना गया है। कनिंघम के अनुसार यह पुल उद्भाण्ड पर ही बांधा गया था।[10] प्रसाद ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। पाणिनिकाल में उद्भाण्ड ही से सिन्धु के आरपार व्यापार होता था। वहां पर नावों का एक पुल भी था अतः यहां पुल बनाया जाना बहुत स्वाभाविक है।

गान्धार के उपद्रव के विषय में चर्चा करते हुए कात्यायन ने बाह्लीक का उल्लेख भर किया है।[11] नाटक से इसके बारे में और कोई विशेष परिचय नहीं मिलता है। बाह्लीक ग्रीकों का बैक्ट्रिया-प्रदेश और आधुनिक बल्ख है। रघु की

---

(१) चन्द्र० १।१६ (२) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ११ (३) कनिंघम—देखिए पिप्पली-कानन' (४) वही (५) चन्द्र० (भूमिका) पृ० ११ (६) चन्द्र० १।८१
(७) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल पृ० २४५
(८) कल्हण-राजतरंगिणी—(आर० एस० पंडित) पृ० १००/१४२ ५५
(९) ऐनाबसिस-एरियन ५।२८ (१०) कनिंघम-पृ० ६१ नोट्स १०७
(११) चन्द्र० ४।२११

बाल्हीक — दिग्विजय के प्रसंग में कालिदास के टीकाकार क्षीरस्वामी लिखते हैं—'बाल्हीकदेशायां (बाल्हीकम्) पश्चोत्तरस्यां दिग्विजये कुङ्कुमं जातम् स्कन्धावारमनु कर्मवेसगान्'।[१] बाल्हीक में वंक्षु नदी प्रवाहित होती है जिसका विवरण नदियों के प्रसंग में आ चुका है।[२] साम वसवर गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने भी बाल्हीक को विजय किया था।

कपिशा — 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कपिशा का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख नहीं है। चतुर्थ अङ्क के सातवें दृश्य की घटना कपिशा में एलेक्जेंड्रिया के राज मन्दिर' में घटित होती है।[३] स्कन्दगुप्त नाटक में भी 'कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया है।[४] केवल इतनी सूचना भर देने के लिए कपिशा का नाम आया है।

प्लिनी के अनुसार कपिशा प्रान्त की प्राचीन राजधानी कपिशा को फारस के राजा सिरस ने ध्वस कर दिया था।[५] टोलेमी कपिशा को काबुल के उत्तर में बताता है।[६] पाणिनी के अनुसार भी काम्बोज के दक्षिण में कपिशा राज्य की राजधानी कापिशी थी। डा० अग्रवाल हिन्दुकुश के दक्षिण पूर्व आधुनिक काफिरि स्तान को कपिशा कहते हैं।[७] अब प्रश्न यही है कि कपिशा में ऐलेक्जेंड्रिया से प्रसाद का क्या अभिप्राय है? ग्रीक इतिहासकारों के आधार पर कनिंघम लिखते हैं कि सिकन्दर ने हिन्दुकुश की घाटी एलेक्जेंड्रिया नगर बसाया था। एलेक्जेंड्रिया की ठीक स्थिति कहीं भी रही हो पर हिन्दुकुश के उल्लेख से इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि कपिशा में ही कहीं सिकन्दर ने यह नगर बसाया होगा। प्लिनी के आधार पर कनिंघम ने कपिशा से इसकी स्थिति को निर्धारित कर दिया है।[८] कपिशा को श्वेत हूणों ने पादाक्रान्त किया था यह बात भी इतिहास सम्मत है। हूण लोग ईस्वी सन् ४५२ तक वंक्षु के तट पर बस चुके थे और उसी काल में काबुल विजय कर उन्होंने भारत पर भी आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त ने हूणों के इस प्रथम आक्रमण को विफल कर उन्हें पुनः वक्षु तट तक खदेड़ दिया।[९]

परसिपोलिस — परसिपोलिस का एकमात्र उल्लेख सिकन्दर के इस वाक्य में है— एनिसाक्रेटीज फिर तो परसिपोलिस का राजमहल छोड़ने की आवश्यकता न थी' . .।[१०] परसिपोलिस फारस की राजधानी थी। इस नगरी को ३३० ई० पू० में सिकन्दर ने विजय किया था[११] और डेरियस के सिंहासन पर बैठने के उपरान्त सिकन्दर ने परसिपोलिस पर अधिकार कर एथेन्स की एक गणिका थायी के कहने से परसिपोलिस के राजमहल में आग लगा दी थी।[१२]

चाणक्य के अनुसार 'दक्षिणापथ का स्वर्णगिरि'[१३] चन्द्रगुप्त के राज्य की

---

(१) इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० २१ (२) वही पृ २१
(३) चन्द्र ४।२३४ (४) स्कन्द १।११ (५) 'कपिसीन'—प्लिनी ४।२४ कनिंघम (६) देखिए कनिंघम पृ० २१ (७) इण्डिया एज नोनटु पाणिनी (अग्रवाल) ३० पृ २१ (८) कनिंघम—पृ २२ २६-२७—एलेक्जेंड्रिया
(९) 'ग्राइट हूम्स आफ आक्सस वैली' ए डी ४५२-८४'
—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ३३४ (१०) चन्द्र० २।१११
(११) एंशियण्ट इण्डिया पृ ३० (१२) वही (१३) चन्द्र० ३।२१६

सीमा है। स्वर्णगिरि का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में मिलता है। स्मिथ उक्त नगर की स्थिति रायपुर जिले के मस्की नामक स्थान में मानते हैं। यहाँ अशोक का एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। अशोक के समय में यहाँ सम्राट के प्रतिनिधि का स्थान था।[1] पर यह तो निश्चय है कि यह दक्षिणी सीमा अशोक ने नहीं बनाई। इसका श्रेय या चन्द्रगुप्त को दिया जा सकता है या बिन्दुसार को। कुछ इतिहासकारों के आधार पर प्रसाद चन्द्रगुप्त को ही यह श्रेय देते हैं।[2]

स्वर्णगिरी।

'मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पक्ष में खड़ी है मौर्य्य! सावधान हो'।[3] हिरात में आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे उनसे समाचार मिलने पर और भी सहायता के लिये आर्यावर्त प्रस्तुत है'।[4] इन दो वाक्यों में हिरात का उल्लेख हुआ है। प्रसाद के अनुसार सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का यह युद्ध सिन्धु तट पर हुआ। सिल्यूकस की सेना सिन्धु के पश्चिम में रही होगी तथा चन्द्रगुप्त की सेना उसके पूर्व में अतः हिरात सिन्धु के पश्चिम का ही प्रदेश होगा। इतिहास के अनुसार हिरात ग्रीकों का एरिया या एरियाना है स्ट्राबो एरियन प्लूटार्क जस्टिन और प्लिनी सभी लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त के सन्धि हो जाने पर सिल्यूकस ने उसे आधुनिक काबुल (पैरोपनिसडी) हिरात (एरिया) कन्धार (ऐरेकोसिया) एवं मकरान (गेड्रोसिया) की क्षत्रपियां दे दीं।[5]

हिरात

उज्जयिनी के सम्बन्ध में स्कन्दगुप्त नाटक से केवल इतना ज्ञात होता है कि यह शिप्रा के तट पर मालवा प्रदेश की एक प्रसिद्ध नगरी थी[6] और महाकाल का प्रसिद्ध मन्दिर यहीं था।[7] मालवेश बन्धुवर्मा ने उज्जयिनी में स्कन्दगुप्त का राज्याभिषेक कर त्याग का एक उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया। स्कन्दगुप्त नाटक में ही सम्भव मालव की राजधानी दशपुर का उल्लेख है और इसका समर्थन कुमारगुप्त[8] के मन्दसौर के शिलालेख से भी होता है। तब क्या उज्जयिनी भी मालव की राजधानी थी? प्रसाद इस सम्बन्ध में मौन हैं परन्तु हम 'मालवा' के प्रसंग में बतला चुके हैं कि उज्जयिनी में गुप्त साम्राज्य के सम्राट का प्रतिनिधि रहता था—प्रसाद ने भी इस बात का संकेत किया है[9] उज्जयिनी मालवा या अवन्ती की राजधानी के रूप में सदा से विख्यात रही है परन्तु जिस मालवा का प्रसाद ने उल्लेख किया है उसका सम्बन्ध बन्धुवर्मा से है और बन्धुवर्मा कुमारगुप्त के शासन काल में दशपुर का शासक था। अतः प्रसाद का उज्जयिनी को गुप्त साम्राज्य का एक शासन-केन्द्र मानना स्वाभाविक ही है। मौर्यकाल से ही उज्जयिनी सम्राट के प्रतिनिधि का स्थान रही है[10] और प्रसाद के स्कन्दगुप्त की ही तरह अशोक अपने पिता के जीवन-काल में यहां का शासक रहा। उसको मृत्यु का समाचार भी उसे यहीं मिला था।[11]

उज्जयिनी

उज्जयिनी को स्कन्दगुप्त की राजधानी बनाने का कारण भी स्पष्ट है।

---

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५७ (२) वही पृ० १५६
(३) चन्द्र० ४।२४० (४) वही २।२४६ (५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १५८ (६) स्कन्द० २।७० (७) वही २।७५
(८) सैलेक्ट इंस्क्रिप्शंस नं० २१ पृ २९० (सरकार) (९) स्कंद ११९
(१०) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १५१ (११) वही पृ० १५१

प्रसाद 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' का सम्बन्ध शकारि विक्रमादित्य से जोड़ना चाहते हैं, जिसे कल्हण ने 'हर्ष विक्रमादित्य' लिखा है[1] और सम्भवतः जिस विक्रमादित्य के दरबार में कालिदास रहता था।[2] मातृगुप्त[3] तथा शक और हूणों की सम्मिलित सेना[4] का उल्लेख उनके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

सिप्रा का उल्लेख-मात्र हुआ है।[5] उज्जयिनी के हिन्दुओं के सात पवित्र नगरों में से एक है। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण महाकाल या 'कालप्रिय नाथ' का प्रसिद्ध मन्दिर है।[6] उज्जयिनी के शक-क्षत्रपों को विजय करने का कार्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया था।[7]

नगरहार

स्कन्दगुप्त नाटक से नगरहार के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि नगरहार में हूण[8] तथा स्कन्दगुप्त[9] दोनों के स्कन्धावार हैं और नगरहार कुभा के रणक्षेत्र के पास कहीं है।[10] आज की काबुल नदी ही कुभा है।[11] स्कन्दगुप्त और हूणों के बीच नगरहार के युद्ध का उल्लेख और वहीं बन्धुवर्मा की मृत्यु का विवरण राखालदास बनर्जी ने अपने उपन्यास 'करुणा' में किया है।[12] कनिंघम के सम्पादक के अनुसार बाबर इसे 'नंगेनेहार' लिखता है। यह सुर्खाब नदी के दाँये किनारे पर जहाँ यह काबुल नदी से संगम करती है।[13] प्रसाद के कथन को इससे स्पष्ट आधार मिल जाता है। कुभा के रणक्षेत्र और नगरहार की स्थिति भी इससे स्पष्ट हो जाती है। ह्वेनसांग ने इसको ना-कि-लो-हो लिखा है जिसका अनुवाद वाटर्स 'नगरकोट' करते हैं।[14] संस्कृत नाम नगरहार का उल्लेख पाराशर तन्त्र में मिलता है।[15] नगरहार के आसपास स्कन्दगुप्त का हूणों से संघर्ष सम्भव है क्योंकि हूणों ने कपिशा और गान्धार पर अधिकार करके वहाँ अपना नया राज्य स्थापित किया था।[16]

सेनापति विपन का चार चरखालि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों के साथ विन्ध्याग्र के दुर्गपति का उल्लेख भी करता है। इन सबको परिषद् की मात्रा से

(१) कल्हण—राजतरंगिणी (आर० एस० पंडित) पृ० ६८ १२५
(२) स्कन्दगुप्त—पात्र परिचय 'पुरुष पात्र' (मातृगुप्त—काव्यकर्ता कालिदास)
(३) स्कन्द १।२२ (४) वही १।४५ (५) (सिप्रा तट) महाकालका उल्लेख —स्कन्द० ३।८४ (६) इपिग्राफिका इण्डिया ७ कैम्बे प्लेट्स
(७) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० ६७४ (८) स्कन्द० १।१२
(९) वही ३।१०५ (१०) वही ३।१०४ (११) देखिये 'कुभा' इसी लेख में
(१२) करुणा (राखालदास) पृ १७८ (१३) कनिंघम (नोट्स) पृ० ६७४
(१४) वाटर्स—वॉल्यूम १ पृ० १८२-८० (१५) कनिंघम पृ० ६७४
(१६) करुणा की भूमिका (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)

प्रतिष्ठान। स्कंदगुप्त से विद्रोह करने के लिए भेजा गया था।[1] कनिंघम के टीकाकार तीन प्रतिष्ठानों का उल्लेख करते हैं। एक काबुल में (चीनी यात्री का पो-लि-सि-सा-टांग) दूसरा यमुना पर और तीसरा गोदावरी पर।[2] निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ प्रसाद का तात्पर्य किस दुर्ग से है परन्तु विद्रोह के लिए धन भेजे जाने के कारण यह माना जा सकता है कि अन्तर्विद्रोह के लिए यह सब किया गया है। फलतः उनको मगध साम्राज्य के केन्द्र स्थानों में मानने की इच्छा होती है "करुणा" में प्रतिष्ठान का उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि हूणों से स्कन्दगुप्त का अन्तिम युद्ध गंगा यमुना और सरस्वती के संगम पर प्रतिष्ठान के पास हुआ।[3] स्पष्ट है कि प्रतिष्ठान इलाहाबाद के पास आधुनिक झूसी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है प्रसाद का प्रतिष्ठान से यही अर्थ रहा हो। गोपाद्रि दुर्ग का उल्लेख भी करुणा में ही है यह मालव के उत्तर में था और बगची के अनुमान से यहीं स्कन्द ने हूणों पर विजय पाई थी।[4]

जालन्धर का उल्लेख मात्र "स्कंदगुप्त"[5] और "राज्यश्री"[6] में हुआ है। कनिंघम के अनुसार कांगड़ा के पार्वत्य प्रदेश का नाम जालन्धर था। सातवीं शताब्दी **जालन्धर** में ह्वेनसांग के अनुसार उत्तर में चम्बा पूर्व में मंडि और सुकेत, दक्षिण पूर्व में शतद्रु जालन्धर में सम्मिलित थे।[7] प्रसाद ने इस प्राचीन अर्थ में इसका प्रयोग किया है अथवा प्रचलित आधुनिक अर्थ में यह नाटक से स्पष्ट नहीं होता।

काश्मीर के न्यायाधिकरण में मातृगुप्त नन्दीग्राम के दण्डनायक देवनन्द से प्रश्न करता है।[8] स्पष्ट है कि नन्दी ग्राम काश्मीर का ही कोई ग्राम होना चाहिये। **नन्दीग्राम** समस्त राज-तरंगिणी में कहीं भी नन्दीग्राम का उल्लेख नहीं मिलता। नन्दी क्षेत्र का उल्लेख अवश्य मिलता है जो हरमुकुट (हरमुख) का एक तीर्थ है।[9] सम्भव है प्रसाद ने नन्दी क्षेत्र को ही नन्दी ग्राम लिख दिया हो।

---

(१) स्कंद० ३।१२

(२) कनिंघम (नोट्स) पृष्ठ ६७२

(३) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ १०१

(४) करुणा (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ ११८

(५) स्कंद० ३।१४

(६) राज्यश्री २।३५

(७) कनिंघम पृ १५६

(८) स्कंद० ४।११६

(९) राजतरंगिणी—कल्हण (आर० एस० पण्डित) १ ३६, १४८ २, १७०।

श्रीनगर

श्रीनगर काश्मीर का एक प्रसिद्ध नगर था ।[1] कल्हण के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के संस्थापक सम्राट् अशोक थे । यह नगर आधुनिक श्रीनगर से तीन मील ऊपर था । आधुनिक श्रीनगर की नींव प्रवरसेन द्वितीय ने रखी थी ।[2] प्रसाद का अभिप्राय प्राचीन श्रीनगर से ही होना चाहिए, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय मातृगुप्त के उपरान्त काश्मीर का शासक हुआ था ।[3]

अयोध्या

प्रसाद ने अयोध्या का उल्लेख स्कन्दगुप्त में केवल दो स्थानों पर किया है ।[4] इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद गुप्त शासकों की नई राजधानी की ओर संकेत करते हुए एक ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख कर रहे हैं । स्मिथ अयोध्या को ही गुप्त-शासकों की राजधानी मानते हैं ।[5] इसकी चर्चा हम कुसुमपुर के सम्बन्ध में कर चुके हैं ।

दशपुर

"स्कंदगुप्त" नाटक के अनुसार दशपुर मालव की राजधानी है[6] और बन्धुवर्मा वहाँ के शासक हैं ।[7] कुमारगुप्त प्रथम तथा बन्धुवर्मा मालव के मन्दसौर के शिलालेख में दशपुर का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

लाट—विषयान्नगावृत—शैलाज्जगति—प्रथित—शिल्पा ते देश—पार्थिव—गुणपट्टता प्रकाम मध्वादिवास्यविरताम्यसुखान्यपास्य । जातादरा दशपुरं प्रथमं मनोभिरन्वा गतास्ससुत—बन्धु—जना समेत्य ।[8]

बसाक लिखते हैं— "राजा बन्धुवर्मा मालव संवत् ४९२ में मालव की राजधानी दशपुर के शासक थे यह राज्य कुमारगुप्त प्रथम के आधीन था ।"[9]

प्रसाद का दशपुर के प्रति संकेत स्पष्ट है । वे निश्चय ही उसे पश्चिमी मालव की राजधानी मानते हैं जिसके शासक बन्धुवर्मा थे । दशपुर आधुनिक मन्दसौर ही है ।[10]

---

(१) स्कंद ४।११६
(२) राजतरंगिणी १ १०४ तथा फुटनोट
(३) वही ३।१२० १२१
(४) स्कन्द० १।१० २।३९
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
(६) स्कन्द० १।१२
(७) स्कंद० १।१५
(८) सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शंस
(९) हिस्ट्री आफ नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया (बसाक) पृष्ठ ४८
(१०) कनिंघम—नोट्स पृ० ७२५

प्रतिष्ठान

स्कंदगुप्त ने विद्रोह करने के लिए भेजा गया था।[१] कनिंघम के टीकाकार तीन प्रतिष्ठानों का उल्लेख करते हैं। एक झाबुआ में (चीनी यात्री का पो-लि-षि-था-टांग), दूसरा यमुना पर और तीसरा गोदावरी पर।[२] निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ प्रसाद का तात्पर्य किस दुर्ग से है परन्तु विद्रोह के लिए पत्र भेजे जाने के कारण यह माना जा सकता है कि अन्तर्विद्रोह के लिए यह पत्र किया गया है। अतः उसको मगध साम्राज्य के केन्द्र स्थानों में मानने की इच्छा होती है। "कथगुप्त" में प्रतिष्ठान का उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि हूणों से स्कंदगुप्त का अन्तिम युद्ध गंगा यमुना और सरस्वती के संगम पर प्रतिष्ठान के पास हुआ।[३] स्पष्ट है कि प्रतिष्ठान इलाहाबाद के पास आधुनिक झूसी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है प्रसाद का प्रतिष्ठान से यही अर्थ रहा हो। गोपाद्रि दुर्ग का उल्लेख भी कथगुप्त में ही है यह मालव के उत्तर में था और बनर्जी के अनुमान से यहीं स्कंद ने हूणों पर विजय पाई थी।[४]

जालन्धर

जालन्धर का उल्लेख मात्र "स्कंदगुप्त"[५] और "राज्यश्री"[६] में हुआ है। कनिंघम के अनुसार त्रिगर्त के पार्वत्य प्रदेश का नाम जालन्धर था। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग के अनुसार उत्तर में चम्बा पूर्व में मंडि और सुकेत, दक्षिण पूर्व में सतद्रु जालन्धर में सम्मिलित थे।[७] प्रसाद ने इस प्राचीन अर्थ में इसका प्रयोग किया है अथवा प्रचलित आधुनिक अर्थ में यह नाटक से स्पष्ट नहीं होता।

नन्दीग्राम

काश्मीर के न्यायाधिकरण में मातृगुप्त नन्दीग्राम के दण्डनायक देवनन्द से प्रश्न करता है।[८] स्पष्ट है कि नन्दी ग्राम काश्मीर का ही कोई ग्राम होना चाहिये। समस्त राज-तरंगिणी में कहीं भी नन्दीग्राम का उल्लेख नहीं मिलता। नन्दी क्षेत्र का उल्लेख अवश्य मिलता है जो हरमुकुट (हरमुख) का एक तीर्थ है।[९] सम्भव है प्रसाद ने नन्दी क्षेत्र को ही नन्दी ग्राम लिख दिया हो।

---

(१) स्कन्द० ३।६२

(२) कनिंघम (नोट्स) पृष्ठ ६७२

(३) कथगुप्त (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ १८१

(४) कथगुप्त (राखालदास बनर्जी) पृष्ठ ११८

(५) स्कन्द० ३।२४

(६) राज्यश्री २।१६

(७) कनिंघम पृ १६६

(८) स्कंद ४।११६

(९) राजतरंगिणी—कल्हण (आर० एस० पंडित) १ ३६ १४८ २, १७०।

श्रीनगर काश्मीर का एक प्रसिद्ध नगर था।[1] कल्हण के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगर के संस्थापक सम्राट् अशोक थे। यह नगर आधुनिक श्रीनगर से तीन मील ऊपर था। आधुनिक श्रीनगर की नींव प्रवरसेन द्वितीय ने रखी थी।[2] प्रसाद का अभिप्राय प्राचीन श्रीनगर से ही होना चाहिए, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय मातृगुप्त के उपरान्त काश्मीर का शासक हुआ था।[3]

श्रीनगर

प्रसाद ने अयोध्या का उल्लेख स्कन्दगुप्त में केवल दो स्थानों पर किया है।[4] इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद गुप्त शासकों की नई राजधानी की ओर संकेत करते हुए एक ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख कर रहे हैं। स्मिथ अयोध्या को ही गुप्त-शासकों की राजधानी मानते हैं।[5] इसकी चर्चा हम कुसुमपुर के सम्बन्ध में कर चुके हैं।

अयोध्या

"स्कंदगुप्त" नाटक के अनुसार दशपुर मालव की राजधानी है[6] और बन्धुवर्मा वहां के शासक हैं।[7] कुमारगुप्त प्रथम तथा बन्धुवर्मा मालव के मन्दसौर के शिलालेख में दशपुर का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

घाट—विषयाभ्यपासृत—दीक्षायाम्यगति—प्रथित—गिरिस्था दे वेल—पार्थिव—गुरुपट्टिका' प्रकास मज्ञारिवान्यविरस्तान्यनुवान्यपास्य'। बालापरा दशपुरं प्रथम मनोभिरन्वा गवास्वमुत—बन्धु—बना स्वमेतन।[8]

दशपुर

फ्लीट लिखते हैं— 'राजा बन्धुवर्मा मालव संवत् ४९२ में मालव की राजधानी दशपुर के शासक थे यह राज्य कुमारगुप्त प्रथम के आधीन था।'[9]

प्रसाद का दशपुर के प्रति संकेत स्पष्ट है। वे निश्चय ही उसे पश्चिमी मालव की राजधानी मानते हैं जिसके शासक बन्धुवर्मा हैं। दशपुर आधुनिक मन्दसौर ही है।[10]

---

(१) स्कन्द० ४।११६
(२) राजतरंगिणि १ १०४ तथा फुटनोट
(३) वही ३।३२० ३२१
(४) स्कन्द० १।१० २।२९
(५) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
(६) स्कन्द १।१२
(७) स्कंद० १।१५
(८) फ्लीट इन्स्क्रिप्शंस
(९) हिस्ट्री आफ नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया (बसाक) पृष्ठ ४८
(१०) कनिंघम—नोट्स पृ० ७२६

पुष्करण

पुष्करण का उल्लेख केवल एक स्थान पर 'स्कंदगुप्त' नाटक में बन्धुवर्मा द्वारा हुआ है "शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था।" महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने मेहरौली लौह-स्तम्भ के चन्द्र को चन्द्रवर्मा मानकर उसे मन्दसौर शिलालेख के नरवर्मा इत्यादि का सर्वप्रथम पुष्करणाधिपति बाद में मालवाधिपति माना है। पुष्करण या पोखरण मारवाड़ (राजपूताना) का प्रसिद्ध नगर था। यह २६०.५३ उत्तर एवं ७१०.५५ पूर्व देशान्तर में स्थित है।[1]

कान्यकुब्ज कन्नौज या महोदय

"राज्यश्री" के कथानक का एक बड़ा भाग कान्यकुब्ज में घटित हुआ। प्रसाद ने कहीं प्राचीन नाम 'कान्यकुब्ज'[2] कहीं 'महोदय'[3] और कहीं आधुनिक नाम "कन्नौज"[4] का प्रयोग किया है। कान्यकुब्ज एक उर्वर प्रदेश था[5] और उस राज्य की सीमा मालवेश्वर की सीमा से मिली हुई थी।[6] इस प्रदेश की राजधानी का नाम भी कान्यकुब्ज ही था। राज्यश्री का पति ग्रहवर्मा मौखरी यहां का राजा था। इस काल में कान्यकुब्ज अत्यन्त समृद्धिशाली राज्य था। इसके वैभव-विलास के प्रदर्शनों और उपकरणों का राज्यश्री में उल्लेख हुआ है।[7]

उस समय उत्तरी भारत में दो ही शक्तिशाली राज्य थे एक मौखरियों का राज्य दूसरे वर्द्धनों का राज्य जिनकी राजधानी क्रमशः कान्यकुब्ज और स्थानवी नगर थी। ये दोनों ही गुप्तों के गौरव को लुप्त करने के कारण हुए।[8] कान्यकुब्ज के किसी दुर्ग का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है।[9] जिस पर मालवराज देवगुप्त ने अधिकार कर लिया था।[10] आगे चलकर राज्यवर्द्धन ने स्वयं देवगुप्त के हाथ से उसका पुनरुद्धार किया।[11] परन्तु कान्यकुब्ज के भूगोल के सम्बन्ध में प्रसाद मौन है।

(१) अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १ ७ फुटनोट
(२) राज्यश्री १।१४
(३) वही १।१५
(४) वही १।१२
(५) वही १।१५
(६) राज्यश्री १।१६
(७) वही १।१६-१७
(८) राज्यश्री १।२५-२६
(९) वही १।२७-२८ २।६४
(१०) वही १।२६ २८
(११) वही ३।६५

प्रयाग के दान-पर्व से पूर्व हर्ष ने जो एक महत्वपूर्ण दान-पर्व कान्यकुब्ज में मनाया था उस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करना वे भ्रमवश नहीं भूले हैं।[1]

हर्षचरित के एक वाक्य "मनु वारिकापि राज्यश्री कालायसनिगडयुगलचुम्बितचरणा चौरांगनेव संयता कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता"[2] से श्री मुकर्जी ने यह अनुमान लगाया है कि कान्यकुब्ज मौखरियों की राजधानी थी।[3] हर्षचरित में "अन्यच्च पुष्पनाम्ना गृहीते कुशस्थले"[4] में "कुशस्थल" के नाम से कन्नौज का उल्लेख हुआ है। हर्षकालीन लेख आधुनिक कन्नौज से बहुत दूर पर मिले हैं। इस पर कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि जिस कन्नौज में राज्यश्री बन्दिनी थी वह मौखरियों की राजधानी न होकर उनके राज्य का एक भाग था।[5] शीलादित्य (हर्ष) के जो सिक्के कन्नौज के समीप आधुनिक फैजाबाद जिले में मिले हैं उनके आधार पर ही मुकर्जी ने उक्त कथन का खण्डन किया है। प्रसाद ने कान्यकुब्ज को ही मौखरियों की राजधानी माना है और वहीं राज्यश्री को कारागृह में बन्दी कर पाया है।[6] यह कथन बाण और मुकर्जी दोनों के वर्णन से मेल खाता है। कनिंघम के टीकाकार ने गाधिपुर महोदय और कुशस्थल कान्यकुब्ज के ये तीन और नाम बतलाये हैं।[7] पहले यह मौखरियों की राजधानी रही फिर हर्ष ने इसे अपनी राजधानी बनाया और कालान्तर में सम्भवतः यशोवर्म्मन ने भी इसे राजधानी बनाया था। भवभूति इसी यशोवर्म्मन का आश्रित था।[8] कान्यकुब्ज के दान का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है।

स्थाण्वीश्वर :

स्थाण्वीश्वर वर्द्धनों की राजधानी थी और क्रमशः प्रभाकरवर्द्धन राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन यहां के शासक रहे। कान्यकुब्ज से इस कुल का विवाह सम्बन्ध होने के कारण मैत्री थी।[9] उस काल में स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज की सम्मिलित शक्ति तत्कालीन अनेक नरेशों की आंखों में खटक रही थी।[10] हर्षचरित में बाण ने स्थाण्वीश्वर का विस्तृत वर्णन

---

(१) राज्यश्री ४।६७
(२) हर्षचरित (बाण) (शंकर टीका) षष्ठ उच्छ्वास पृ० १६३
(३) रूलर्स आफ इण्डिया—आर मुकर्जी (हर्ष)
(४) हर्षचरित-सप्तम उच्छ्वास पृ २२६
(५ रूलर्स आफ इण्डिया—आर० मुकर्जी (हर्ष)
(६) राज्यश्री २।४५
(७) कनिंघम—नोट्स पृ० ७ ७
(८) वही
(९) राज्यश्री १।२०
(१०) वही २।१५

किया है।[1] यहाँ के राजा पुष्यभूति थे[2] इन्हीं से वर्धनों का वंश चला था। हर्ष त पुष्यभूतिवंश की राजधानी स्थाण्वीश्वर रही। ह्वेनसांग के समय में सा-टा-नि-श्व-फ-लं या स्थाण्वीश्वर एक स्वतन्त्र प्रदेश की राजधानी थी। इसके किसी तत्कालीन राज का उल्लेख नहीं हुआ है पर यह कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन का आधीनस्थ प्रदेश माना गया है।[3] इससे यह ज्ञात हो जाता है कि ग्रहवर्मा की मृत्यु पर हर्ष ने अपनी राजधानी स्थाण्वीश्वर से हटाकर कान्यकुब्ज में बना ली थी। कनिंघम सतलज से लेकर गंगा तक के प्रदेश को स्थाण्वीश्वर के अन्तर्गत मानते हैं।[4] स्थाण्वीश्वर की महत्ता और उसके सौन्दर्य का जो वर्णन बाण ने किया है[5] वह स्पष्ट कर देता है कि प्रसाद ने स्थाण्वीश्वर की महत्ता के प्रति जो संकेत किया है वह उचित ही है। कनिंघम के अनुसार थानेश्वर सरस्वती और दृषद्वती के बीच कुरुक्षेत्र प्रदेश में स्थित अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर था।[6] प्रसाद ने इसकी भौगोलिक स्थिति का कोई विवरण नहीं दिया है।

'राज्यश्री' में गंगातट पर प्रयाग में हर्ष के दानपर्व का उल्लेखमात्र है।[7]

प्रयाग

भौगोलिक दृष्टि से गंगा यमुना सरस्वती के संगम पर बसा हुआ तीर्थराज ही प्रयाग है और हर्ष के दान की घटना भी ऐतिहासिक है। ह्वेनसांग इस दानपर्व के प्रमुख दर्शकों में था।

---

(१) बाण—हर्षचरित-तृतीय उच्छ्वास पृ० ९७–९८
(२) वही पृ० १०४
(३) कनिंघम पृ० ३७६
(४) वही पृ० ३७६
(५) हर्षचरित—बाण-तृतीय उच्छ्वास पृ० ९७
(६) कनिंघम पृ० ३७६
(७) राज्यश्री पृ० ४।६७

यातायात के साधन

प्रसाद के नाटकों में बहुत थोड़े से यातायात के साधनों का उल्लेख हुआ है। इनमें से अधिकांश साधन तो उसी रूप में आज भी व्यवहृत होते हैं, रथ इत्यादि कुछ साधन ऐसे अवश्य हैं जो आज के युग में अधिक प्रचलित नहीं, किन्तु आज भी देवकार्यों इत्यादि में ऐसे यातायात के साधन कभी दीख ही जाते हैं।

रथ। नाटकों में सवारी के लिए 'रथ' का उल्लेख गिने चुने स्थानों पर हुआ है। रथ रानियों[1] राजकुमारों[2] तथा राजकुल के अन्य व्यक्तियों[3] की सवारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। सवारी के अतिरिक्त युद्धों के लिए भी उनका प्रयोग किया गया है। सुदूर प्राचीन काल से ही भारत में रथ यातायात और युद्ध का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। अपने यौवराज्याभिषेक के अवसर पर राम 'वैयाघ्र रथ' पर बैठे थे।[4] प्राच्य देश के राजा ने युधिष्ठिर के लिए भेंट के रूप में वैयाघ्र परिवारित रथ भेजा था।[5] जातकों में भी राजकुमारों, सम्भ्रान्त नागरिकों, श्रेष्ठियों और गणिकाओं की सवारी के लिए सुसज्जित रथों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है।[6] इस प्रकार साधारण यात्रा के लिये काम में आने वाले रथों के लिये कौटिल्य ने 'पारियाणिक' नाम दिया है[7]। युद्ध के रथों के विषय में वे लिखते हैं कि अपनी सेना की रक्षा करना, चतुरंग बल का प्रतिरोध करना, भिन्न संधान करना, त्रास देना और भयानक रव करना ये सब कार्य रथों के हैं।[8] वस्तुतः रथ चतुरंगिणी सेना के एक प्रधान अंग थे।

शिविका। शिविका का उल्लेख प्रसाद ने केवल स्त्री पात्रों की सवारी के रूप में किया है। राजकुमारियाँ शिविका पर सवार होकर उद्यानों पर आया करती थीं और उन शिविकाओं के साथ रक्षी चलते थे। पर्वतेश्वर अलका से कहता है—"सिंहरण के लिये रथ आयेगा और तुम्हारे लिये शिविका।" इससे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि उन दिनों सामान्यतः पुरुषों के लिए रथ की सवारी काम में आती थी और स्त्रियों के लिए शिविका। गुप्तकुल वधू ध्रुवस्वामिनी भी शिविका पर ही आई थी। शिविका का प्रयोग भी

---

(१) अजात० १।१०२ (२) अजात० १।१४७ (३) चन्द्र० ४।२ २०१
(४) रामायण २।१६।८ (५) महाभारत—सभापर्व ५१।३३
(६) जातक ६।४८ ५० दीघनिकाय पृ० १२७
(७) अर्थशास्त्र २।३३।५ (८) अर्थशास्त्र १०।४।१६,

अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में नहुष शिविकारूढ़ होकर ऋषियों से मिलने जाता है। अर्थशास्त्र में यान-वाहन के साथ दोलिका (शिविका) का उल्लेख भी हुआ है। विष्णुपुराण में जड़भरत के प्रसंग में शिविका की चर्चा हुई है। नाटकों में भी शिविका के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि शिविका स्त्रियों की ही सवारी न होकर पुरुषों की भी थी। 'रथिनों' का उल्लेख शाकुन्तल तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी मिलता है।[1] बौद्ध ग्रन्थों में यह भी ज्ञात होता है कि यान-वाहनों के सामने रक्षी भी चला करते थे जो 'हटो मार्ग दो' कहा करते थे।

अश्व । नाटकों में कुछ ही स्थलों में घोड़ों का उल्लेख हुआ है। चन्द्रगुप्त नामरत्न जित अश्व पर सवार होकर ध्रुवस्वामिनी की शिविका के साथ आया था[2] और पर्वतेश्वर एक हजार अश्वारोहियों की सेना लेकर सिकन्दर की सहायता के लिए गया।[3] घोड़ों का उपयोग अत्यन्त ही प्राचीन है। कौटिल्य ने गति की दृष्टि से घोड़ों के तीन भेद किये हैं,—तीक्ष्णाश्व मद्राश्व और मंदाश्व और प्रयोग की दृष्टि से दो भेद—युद्ध संबंधी घोड़े और सवारी के घोड़े।[4] तीक्ष्णाश्व को कौटिल्य ने शीघ्रगामी और शीघ्र-वाहना भी कहा है।[5] प्रसाद का शीघ्रगामी अश्व[6] कौटिल्य के तीक्ष्णाश्व के ही लिये आया हुआ प्रतीत होता है।

जलयानों के रूप में केवल नौका का उल्लेख इन नाटकों में हुआ है। नौकायें सामान्य यातायात के रूप में काम में आती थीं और युद्ध के लिये भी। सिंहरण नौका पर सवार होकर मालव की ओर जाता है।[7] 'मकर-बेड़े' के उल्लेख से स्पष्ट है कि वह युद्ध में सेना और युद्धोपकरण ले जाने के लिये बनाया गया था।[8]

नौका । सिकन्दर का जल-युद्ध ऐतिहासिक सत्य है।[9] युद्ध नौकाओं के लिए प्रसाद ने 'हिंसिका'[10] का प्रयोग किया है, जो सम्भवतः अर्थशास्त्र के आधार पर है।[11] व्यापार संतरण के लिये उन

---

(१) शाकुन्तल अं० ४ पृ० ८० (२) ध्रुव० १।२८ (३) चन्द्र० २।१४२ (४) तेषां तीक्ष्ण भद्र मंद वशेन पृ० ८० सांनाह्यमौपवाह्यकं वा कर्म प्रयोजयेत—अर्थशास्त्र २।१।१५ (५) वही–२।३४।११ (६) चन्द्र ३।१६६ (७) चंद्र० १।८५ (८) चन्द्र ३।१६१ (९) ही मार्चर्ड दि कोटन मिमार्क्स टु मैट रेडी ए फ्लीट विच बेव इस्तिक्लियन फोनीशियन एण्ड साइप्रियट क्रू फ्रूम सिडोन दि भैनाम एण्ड इजिप्ट टु दि सी—ऐंशिएण्ट इण्डिया (मेक्रम एण्ड अदर्स) चेप्टर ११।० ११ (१०) चन्द्र २।१६१ (११) नौकाचीन (जनार्दन भट्ट) पृ० ४८

योग में आने वाली नौका को पाणिनि 'नाव्य' कहते हैं जिसे जातकों में 'नावतित्थ' कहा गया है।[1] कालान्तर के लेखों से ज्ञात होता है कि पाणिनि के स्थान शालातुर में ही सिन्धु नदी पर संतरण के लिए नौका का स्थान (प्रमनोकम) था। इस स्थान के पास नावों का एक पुल था जिसके द्वारा वर्ष के आठ महीनों में सिन्धु को पार किया जाता था। शेष चार महीनों में नावों से ही सिन्धु-संतरण होता था।[2] अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'नावध्यक्ष' प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में नावों का प्रचुर प्रचलन था।

---

(१) इंडिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० १५९

(२) वही (अग्रवाल) पृ० १६६

सामाजिक परिस्थितियां

सामाजिक ढांचा

प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के ढांचे का दिग्दर्शन हुआ है। यह मानते हुए भी कि भारतीय हिन्दू समाज का यह ढांचा किसी काल विशेष से उतना अधिक सम्बन्ध नहीं रखता वरन् सब कालों में बहुत कुछ एक सा ही है, तो भी उसके निर्माण विकास की स्पष्ट ऐतिहासिक भांकियां इन नाटकों से मिल जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दू वर्ण व्यवस्था को लिया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से उक्त व्यवस्था हिन्दू समाज को अपने शक्तिशाली बन्धन में बांधे हुए है। मनु ने जो व्यवस्था विभिन्न वर्णों के लिए दी है उसका किसी न किसी रूप में आज भी सम्मान किया जाता है। यदि इतिहास के पृष्ठों को पलटा जाय तो ज्ञात होगा कि समय समय पर हिन्दू समाज ने इस कठोर वर्ण व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए विद्रोह किया। बौद्ध और जैन धर्मों ने कुछ काल के लिए इस परम्परा की शृंखला को ढीला कर ही दिया। गुप्त-काल में पुन ब्राह्मण धर्म अपने विकास की चरम-सीमा पर पहुँच गया और ये सामाजिक शृंखलाएं दृढ़ हो गईं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का प्रवाह भले ही अविच्छिन्न रहा हो परन्तु प्रसाद के नाटकों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि समय-समय पर उसमें शिथिलता अवश्य आती रही। 'अजातशत्रु' के समय में सामाजिक व्यवस्था के पुरातन बन्धन ढीले दीख पड़ते हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन 'सार्वभौम साम्राज्य' का जयजयकार करता है, गुप्त साम्राज्य में विशेष कर स्कंद गुप्त के काल में सामाजिक संघर्ष हो रहे हैं और ढांचा कभी जर्जर और कभी पुनः जागरूक एवं शक्तिशाली दीख पड़ता है पर है वह विनाशोन्मुख ही। हर्ष के समय तक आते आते समाज में एक सामंजस्य-सा आता जान पड़ता है जो इतिहास की दुर्दमनीय शक्तियों के आगे अधिक नहीं टिक सका। तब से आज तक यह बनता बिगड़ता और पुन बनता हुआ चला आ रहा है। बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण 'अजातशत्रु' में प्राचीन हिन्दू सामाजिक संगठन की ओर प्रसाद का विशेष ध्यान नहीं गया और फिर भी इसमें कई पंक्तियां इस बात का स्पष्ट संकेत करती हैं कि तत्कालीन समाज ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों में बटा था। वसन्तक और विरुद्धक के कुछ वाक्य ब्राह्मण और क्षत्रियों के विशिष्ट गुण-कार्यों की ओर संकेत करते हैं।[1] अन्य नाटकों में समाज के संगम का विशिष्ट और स्पष्ट रूप मिलता है। चन्द्रगुप्त

---

(१) अजात०   २।१०५   २।७०

मौर्य के समय से लेकर हर्षवर्धन के समय तक समस्त समाज ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में विभक्त था। चंद्रगुप्त में ब्राह्मणत्व को एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव कहा गया है[1] चन्द्रगुप्त के काल में चाणक्य ने ब्राह्मण का एक 'चारण प्रभुता और व्यवस्थापक'[2] की स्थिति पर ला खड़ा किया।

ब्राह्मण — 'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के भय से चलता है स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है..........ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है[3]—इन शब्दों में आदर्श ब्राह्मण का चित्रण है। तपोनिष्ठ ब्राह्मण का वर्णन करते हुए शुक्राचार्य कहते हैं—'तपोनिष्ठ वह है जो जप उपवास नियम कर्म और ध्यान में सदा रत रहकर शान्त क्षमाशील तथा निस्पृह होता है।[4] 'चंद्रगुप्त' में भी चाणक्य एक ऐसा ही तपोनिष्ठ ब्राह्मण है तभी वररुचि उसके क्रोध करने पर भी उसे त्याग और क्षमा का प्रमाण तपोनिधि ब्राह्मण मानता है।[5]

ब्राह्मण का निवास झोपड़ी,[6] जीविका ऋत और अमृत एवं उसका भोजन फल-फूल और प्रजाओं से जल-भात है।[8] भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो जाता है उसको नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते[9]—दार्शनिक ब्राह्मण के इस कथन में ब्राह्मण की तेजोमय निर्भीकता[10] की ओर प्रसाद ने संकेत किया है। ब्राह्मण लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।[11]

ब्राह्मण विद्या के आचार्य हैं।[12] चाणक्य अर्थशास्त्र और दण्डनीति का आचार्य है,[13] वररुचि पाणिनि पर वार्तिक लिख रहा है।[14] राजशासन के

---

(१) चन्द्र० १।६१ (२) चंद्र० १।८८

(३) चन्द्र० १।६६ (४) तपोजपोपवासनियम कर्म ध्यानरतस्तथा।
शान्त क्षमी निस्पृहश्च तपोनिष्ठः स उच्यते। —शुक्र० १।७५—७६

(५) चंद्र० १।८८ (६) चंद्र० १।६८

(७) चंद्र० १।६८—तुलना कीजिये
ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥—मनुस्मृति ४।४

(८) चंद्र० १।१०१ (९) चन्द्र० १।१०२

(१०) चन्द्र० १।१०१ (११) चन्द्र० १।८८

(१२) चंद्र० १।१०५ (१३) चंद्र० १।१०१

(१४) चंद्र० १।८८—८९

आश्रम में सिन्धुकन्या की कन्या एक ओर तो दर्शन पढ़ने जाती है और दूसरी ओर भारतीय संगीत सीखती है।[1]

ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता करना भी नहीं चाहता। हां वह राजाओं का नियमन करना जानता है राजा बनाना जानता है।[2] ब्राह्मणत्व के इस चमत्कार के पीछे प्रसाद ने उस ब्राह्मणत्व की ओर संकेत किया है जो वैदिक ऋषियों की परम्परा में मन्त्र-द्रष्टा और धर्म का नियामक था।[3] वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेता था।[4] वसिष्ठ का ब्राह्मणत्व जब पीड़ित हुआ था पल्लव दरद काम्बोज आदि क्षत्रिय बने थे।[5]

चाणक्य ब्राह्मण के जातिगत आदर्श का प्रतीक है—"चन्द्रगुप्त! मैं ब्राह्मण हूं। मेरा साम्राज्य करुणा का था मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द समुद्र में शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं चन्द्र सूर्य, नक्षत्र मेरे द्वीप के अनंत आकाश वितान था शस्यश्यामला कोमल विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था सन्तोष धन था।[6] मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन दान सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।[7] कार्नेलिया भी ब्राह्मण को बड़ा तपस्वी और त्यागी कहती है।[8] 'राजा न्याय कर सकता है पर ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।'[9]

ब्राह्मण की महानता का कारण यही था कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति थे। इसी के बल पर बड़े बड़े सम्राट उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर आते थे और वे तपस्वी व्रत और अमृत वृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए सायं-प्रात अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे —

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्[10]

ब्राह्मण धर्मशास्त्र का मूल था।[11] वह केवल धर्म से भयभीत होता था। अन्य किसी भी शक्ति को तुच्छ समझता था।[12] वधिक भी उसे धार्मिक सत्य कहने से नहीं रोक सकते थे।[13]

---

(१) चंद्र ३।११२ (२) वही ३।१५७
(३) वही १।६७ (४) वही १।६७
(५) वही १।६७ (६) वही ४।२१०
(७) वही ४।२२१ (८) वही ४।२२४
(९) वही ४।२४० (१०) स्कंद ५।१२।
(११) ध्रुव ३।९१ (१२) ध्रुव ३।९२
(१३) ध्रुव ३।९२

ब्राह्मण के उपर्युक्त चार दोष से प्रसाद का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना नहीं है कि ऐतिहासिक परम्परा में समस्त ब्राह्मण समाज ही ऐसा था । चाणक्य एक आदर्श ब्राह्मण है और उसकी ब्राह्मणत्व की परिभाषा एक वैदिक ऋषि की सी है । अन्य स्थलों पर ऐसे ही वाक्यों से ब्राह्मणत्व की महत्ता मानी ही गई थी तथापि, यह कहा जा सकता है कि आज यह महत्ता जन्मजात न होकर कर्मपरक है । शुक्राचार्य ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र एवं म्लेच्छ का भेद कर्म और गुण पर आश्रित है ।[1] कर्मपरक होने के कारण ही प्रसाद ने स्थान स्थान पर ब्राह्मण के हीन कर्मों का उल्लेख भी कर दिया है । ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका कर रहे हैं । एक वर्ण के लोग दूसरों की धर्मचारी वृत्तियां ग्रहण करने लगे हैं । लोभ ने उनके धर्म का व्यवसाय बना लिया है । दक्षिणाओं की योग्यता से स्वर्ग पुत्र धन धान्य विजय और मोक्ष बेचने लगे—— ——धर्म को बचाने के लिए उन्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई[2] इत्यादि । यह काल-विशेष में ब्राह्मणों के ह्रास का एक चित्र है । कुछ भी हो समस्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का विशेषकर एक आदर्श ब्राह्मण का स्वरूप और उसकी विशेषताएं क्या थी । ब्राह्मण के धर्म की रक्षा करने का कर्तव्य राजा का था ।[3] राजा की ओर से ब्राह्मणों को ब्रह्मवृत्ति भी दी जाती थी ।[4]

ब्राह्मणों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवरण 'चन्द्रगुप्त' में प्राप्त है । अतः यहां पर मौर्यकाल के ग्रीक इतिहासकारों के विचारों का भी उल्लेख आवश्यक है । ब्राह्मणों के विषय में वे लिखते हैं—"भारतीय ब्राह्मणों व दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय ऐसा है जो स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है । वे मांस नहीं खाते और अग्निपक्व भोजन नहीं करते । धरती पर गिरे हुए फलों से ही वे सन्तुष्ट रहते हैं वृक्षों से उन्हें तोड़ते तक नहीं । टगबेना[5] नदी का जल पीते हैं । यह शरीर भगवान ने आत्मा के आच्छादन के रूप में बनाया है इस विचार के कारण वे जीवन भर मग्न रहते हैं । वे ईश्वर को ज्योति-स्वरूप मानते हैं और मृत्यु से कदा भी भयभीत नहीं होते । भक्तिपूर्वक ब्रह्म का नाम लेते हैं और मन्त्रों द्वारा प्रार्थना करते

(१) न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ।————शुक्रनीति ।
(२) स्कन्द० ४।१२२-२३
(३) स्कन्द० ४।१२२
(४) चन्द्र० १।१७७ १।९८ १।७९
(५) संभवतः 'सुवमद्रा' देखिये 'ऐंशिएंट इण्डिया—(मैक्रिण्डल) पृ० ११२० फुटनोट

[...............]।[1] दार्शनिक ब्राह्मणों के सम्बन्ध में उपर्युक्त उद्धरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक के दाण्ड्यायन (ग्रीकों के डाण्डमिस) जैसे ब्राह्मणों की विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण वध से बड़ा कोई पाप नहीं, अतः ब्राह्मण-वध का विचार तक नहीं करना चाहिए। राजा यदि चाहे तो अधिक से अधिक उनका केश मुंडवा देने का अथवा सर्वस्व समेत अक्षत शरीर देश-निकाले का दण्ड दे सकता है।[2] प्रसाद ने नन्द के समय तक मनु के इसी आदेश के अनुसार ब्राह्मण को अवध्य माना है।[3] मनु ने ब्राह्मण के छः प्रधान कर्म—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह बतलाए हैं, इनमें अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह ये तीन कर्म जीविका के निमित्त हैं।[4]

प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण के प्रायः सभी कर्मों का उल्लेख किया है। चाणक्य[5] राक्षस[6] दाण्ड्यायन[7] सभी अध्यापन का कार्य करते थे। चाणक्य[8] और वररुचि[9] दोनों तक्षशिला के स्नातक थे। 'सरयू पर पड़े हुए यज्ञ यूपों'[10] का उल्लेख और बलि[11] कराने के प्रयत्न ब्राह्मण के यजन-याजन कर्मों की ओर संकेत करते हैं। धर्म का नियामक[12] होने के कारण विवाह[13] इत्यादि सभी धार्मिक कृत्यों को वह कराता है, स्वस्त्ययन और शान्ति कर्म[14] का उल्लेख भी याज्ञिक संस्कारों

---

(१) एंशिएंट इण्डिया—(मैक्रिण्डल) पृ० १२०-२१

(२) न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥ ....मनु० ८।८१

(३) मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्॥
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्॥ ....मनु० ८।७९-८०

(४) अध्यापनमध्ययनं यजनं तथा दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥ मनु० ....१० ७५ ७६

(५) चन्द्र १।४४ १।७८ (६) चन्द्र ४।२११
(७) चन्द्र० २।११२ (८) चन्द्र १।७६
(९) वही १।७६ (१०) स्कंद ४।७६
(११) स्कंद० ४।१९१ (१२) ध्रुव ४।१२१
(१३) ध्रुव १।५२ (१४) वही ३।५१

की ओर ही संकेत करता है। ब्राह्मण दान देता था और दान लेता भी था। पर्वतेश्वर का चाणक्य से यह संभाषण—"इस मेरे अन्तिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो?" राजा से प्रतिग्रहण का उदाहरण है। ब्राह्मण के सबसे महत्वपूर्ण कर्म त्याग का सजीव उदाहरण 'दाण्ड्यायन' तथा चन्द्रगुप्त का निष्काम चाणक्य है। 'राक्षस तक को चाणक्य से कहना पड़ा—"आर्य साम्राज्य का महामन्त्री इस तपोवन में। दाण्ड्यायन की आवश्यकताएं तो परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है। वह कन्दमूल खाकर झरने से जलपान कर तृण-शय्या पर आंख बन्द किए सो रहता है। त्याग के ऐसे जीवन्त उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मनु ने आपद्धर्म में ब्राह्मण को कृषि गोरक्षा और वाणिज्य को जीविका के रूप में ग्रहण करने की अनुमति दे दी है।[1] दरिद्र ब्राह्मण चाणक्य भी जीविका के लिए ताम्र व्यवसायी होकर उसमें कृषक बनने की इच्छा प्रकट करता है।[2] यहाँ चाणक्य से प्रसाद ने ब्राह्मण के आपद्धर्म का ही उल्लेख करवाया है।

क्षत्रिय

मनुस्मृति के अनुसार 'प्रजा का रक्षण' क्षत्रिय का परम धर्म है।[3] क्षत्रिय की परिभाषा देते हुए शुक्राचार्य कहते हैं—जो प्रजा का रक्षण करने में निपुण हो शूर और पराक्रमी हो जो दुष्टों का दमन करने में समर्थ हो वही क्षत्रिय कहलाता है। क्षत्रिय अपनी जीविका शस्त्रास्त्र द्वारा करता है प्रसाद के नाटकों के क्षत्रिय इन शास्त्रीय धर्मों का स्वयं पालन करते हैं और अन्य वर्णों से भी धर्म-पालन कराते हैं।[4] जयमाला स्त्रियों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण विसर्जन करना क्षत्रिय का परम कर्तव्य समझती है।[5] बन्धुवर्मा कहता है—'क्षत्रिय का कर्तव्य है—आर्त त्राण परायण होना विपद का हँसते हुए आलिंगन करना विभीषिकाओं की मुस्क्या कर अवहेलना करना और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए देश के लिए प्राण देना।'[6] पर्णदत्त कामना करता है कि वह पवित्र क्षात्र धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए

---

(१) कृषि गोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् मनु० १०।८२

(२) चन्द्र० १७०

(३) 'प्रजानां रक्षणं'—मनु० १।८

(४) लोक संरक्षणे दक्ष शूरो दांत पराक्रमी दुष्ट निग्रह शीलोयः स वै क्षत्रिय उच्यते। —शुक्रनीति १।४१

(५) स्कंद० ४।१७२ १११

(६) वही १।६७-६८

(७) वही २ ७२

मर मिटे।[१] क्षत्रिय कुमार होने के कारण विशुद्ध बाहुबल से उपार्जन करना और मृगया करना अपनी आजीविका मानता है।[२] चन्द्रगुप्त युद्ध को आजीविका और क्षत्रिय का परम धर्म मानता है।[३] पुलकेशिन क्षात्र-धर्म की परीक्षा के लिये युद्ध को अनिवार्य समझता है।[४] चाणक्य कहता है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त वाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए।[५] प्रजा रक्षण करने और धर्म का पालन कराने की क्षमता के कारण क्षत्रिय 'राजपद' के उपयुक्त समझा जाता है।[६]

क्षत्रियों के साथ ही प्रसाद ने स्थान स्थान पर क्षत्राणियों के आदर्श का भी उल्लेख किया है। क्षत्राणियों से चिरसंगिनी खड्ग-लता का चिर स्नेह होता था।[७] विजया क्षत्राणियों को मान की भिखारिणी और ज्वालामुखी की सुन्दर लट कहती है।[८] युद्ध का संदेश क्षत्राणी के लिए शुभ समाचार माना गया है।[९]

'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को वृषल कहा गया है इस वृषल शब्द के कारण कुछ इतिहासकारों ने मौर्यों को शूद्र मान लिया है। पर प्रसाद के अनुसार पिप्पली कानन के मौर्य क्षत्रिय थे। बौद्धों के प्रभाव में आने के कारण उनके श्रौत संस्कार छूट गये थे परन्तु उनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह न था।[१०] प्रसाद का मत है कि आर्य क्रियाओं का लोप हो जाने से क्षत्रियों को वृषलत्व प्राप्त हो जाता था।[११] उनके इस निर्णय को शास्त्रीय आधार प्राप्त है। मनुस्मृति की कुल्लूकभट्ट की टीका के अनुसार क्षत्रिय क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मण याजन अध्यापन तथा प्राय श्चित्तादि के अभाव से शूद्रता को प्राप्त हुए। मनु के अनुसार क्रियालोप से और ब्राह्मण के अदर्शन से क्षत्रिय जाति वृषलत्व को प्राप्त हो गई। पौंड्रक, चौड़ द्रविड़ आदि इसी कोटि के वृषलत्व को प्राप्त क्षत्रिय हैं।[१२] मनु ने मौर्यों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु प्रसाद ने उक्त सिद्धांत का उपयोग सामान्य रूप में क्षत्रियों के वृषलत्व को स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

---

(१) स्कन्द १।६ (२) ध्रुवा० २।७
(३) चन्द्र० १।११ ४।२१६ (४) राज्यश्री १।१८
(५) चन्द्र० १।६७ (६) स्कंद ४।१२२
(७) वही १।४६ (८) वही १।५७
(९) राज्यश्री १।२१ (१०) चन्द्र १।६६
(११) वही १।६६
(१२) शनैकस्तु क्रियालोपादिमा· क्षत्रिय जातय। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।

पौंड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः काम्बोजा यवना शकाः। पारदा पह्लवाश्चीना किराता दरदा खशा।

—मनु० १०।४३ ४४

मनुस्मृति के अनुसार क्षत्रिय के लिए आपत्तिकाल में भी भिक्षावृत्ति को कोई स्थान नहीं भले ही वह वैश्य वृत्ति अपना ले।[1] प्रसाद ने भिक्षावृत्ति को क्षत्रिय का आपद्धर्म नहीं माना है। पर्णदत्त देश के दुर्दशाग्रस्त और दुखियों की सेवा के लिए भिक्षावृत्ति करता है और कहता है — मैं क्षत्रिय हूँ। मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा।[2] यहाँ भिक्षावृत्ति को पाप माना गया है यद्यपि परिस्थिति वश पर्णदत्त उसे भी आपद्धर्म मानने के लिए विवश हो जाता है।

वैश्य के सम्बन्ध में बहुत थोड़े से ही उल्लेख इन नाटकों में मिलते हैं। चाणक्य के एक वाक्य से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण के पोषक

वैश्य

वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय हैं।[3] वणिक होने के कारण विजया को श्रेष्ठि-कन्या कहा गया है[4], उसको 'स्वर्ण रत्न की चमक देखने वाली आँखें' हैं।[5] वैश्यों के विषय में अन्य जातिगत आदर्शों का प्रसाद ने कहीं उल्लेख नहीं किया है।

शूद्र का कर्म सेवा करना है।[6] 'चन्द्रगुप्त' नाटक में शूद्र की हीनता की अभिव्यक्ति कई स्थानों में हुई है। चाणक्य नन्द के प्रतिहारी को 'शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते'[7] कहता है। पर्वतेश्वर चाणक्य को 'शूद्र-शासित

शूद्र

राष्ट्र में रहने वाला ब्राह्मण'[8] कहकर निन्दित करता है। शूद्र के द्वारा निगड़-बद्ध किये जाने और क्षत्रिय के द्वारा निर्वासित होने पर चाणक्य का पददलित ब्राह्मणत्व एक बार अपनी ज्वाला से जलना चाहता है।[10] मनु के अनुसार शूद्र का एक मात्र कर्म—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की सेवा शुश्रूषा करना है।[11] प्रसाद के नाटकों में शूद्र की सेवावृत्ति और उसकी हीनता के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा गया है।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के विषय में इतनी सूचना देने के साथ कहीं-कहीं प्रसाद ने इनके सम्बन्ध में व्यंग्यात्मक उक्तियाँ भी कही हैं। जैसे 'मरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में बनियों की दीवालों की चोट से गिर जाने में और शूद्रों की इन तीनों की ठोकरों से मुक्ति है। महादेवी तो अमराणी है संभवत

(१) मनु० १०।९५ (२) स्कंद० २।११९
(३) चन्द्र० १।९८ (४) अजात० २।७१
(५) स्कंद० १।४६ (६) वही १।४६
(७) चन्द्र० १।९८ (८) चन्द्र० १।४१
(९) चन्द्र० ९७ (१०) चन्द्र० १।९७
(११) मनु० १।९१ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

उनकी मुक्ति मरण से होगी ।'[१] इन व्यंग्यों के अतिरिक्त ब्राह्मण के क्रुद्ध होकर शाप देने[२] और उनके पेटू[३] होने की ओर भी संकेत किया गया है ।

तत्कालीन समाज में प्रचलित चार आश्रमों की ओर भी प्रसाद के नाटकों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं । चाणक्य के कथन 'सौम्य ! कुलपति ने मुझे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है,'[४] से ज्ञात होता है कि स्नातकों

ब्रह्मचर्य

को गुरुकुल में विद्याध्ययन करने तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहना पड़ता था । स्नातक होने पर गृहस्थ-जीवन प्रारम्भ होता था । प्रसाद ने कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है कि ब्रह्मचर्याश्रम कितने वर्षों तक रहता था और कब से गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया जा सकता था । मातृगुप्त के एक वाक्य 'किसी आर्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन

गृहस्थ ।

की मुट्ठी भाति के[५] निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रसाद सद्गृहस्थ उसको मानते हैं जो स्वच्छ और पवित्र जीवन व्यतीत करता हो और गृहस्थाश्रम में दीन-दुखियों को अन्नदान इत्यादि देकर संतुष्ट करता हो ।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम आता है । बिम्बसार के कथन के अनुसार प्रसाद इस प्रथा की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं ।[६]

वानप्रस्थ ।

प्राचीन काल के क्षत्रिय राजा अपने पुत्रों को राज्य देकर अपनी रानियों के साथ वानप्रस्थ धारण कर तपोवन में चले जाते थे । मनु ने इस प्रथा का समर्थन किया है । वे कहते हैं कि जब गृहस्थ वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाय तब अपनी सन्तान को गृहस्थाश्रम का भार सौंपकर वन में चला जाय ।[७] वानप्रस्थ की भावना के पीछे जो सहज मानवी प्रवृत्ति कार्य करती है उसका उल्लेख प्रसाद इस प्रकार करते हैं — 'जीवन की सारी क्रियाओं का अन्त केवल अनन्त विश्राम में है । इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जग उठे तब उसमें विलम्ब क्यों करें ?'[८]

प्रसाद के अनुसार सच्चा वानप्रस्थ तब आता है जब व्यक्ति में त्याग की भावना आती है और वह मानापमान से परे हो जाता है ।[९] शान्ति की आवश्यकता होने पर वानप्रस्थ ग्रहण किया जाता था ।[१०] इसलिए चाणक्य भी विरक्त होकर शांतिमय जीवन बिताने का निश्चय करता है ।[११] चाणक्य ने बिना गार्हस्थ जीवन के

(१) स्कन्द० २।६१
(२) स्कंद० ३।६६
(३) अजात० २।१४
(४) चन्द्र० १।४५
(५) स्कन्द० ४।११८
(६) अजात० १।१२
(७) मनु० ६।२
(८) अजात० १।३७
(९) अजात० १।६६
(१०) चन्द्र० ४।२१०
(११) चन्द्र० ४।२२५

ही वानप्रस्थ ले लिया। स्कंदगुप्त भी पुरुगुप्त को सिंहासन देकर वानप्रस्थ ग्रहण करने की इच्छा करता है।[1]

इससे यह भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य का महत्व अत्यन्त ही अधिक होगा और चाणक्य तथा स्कन्दगुप्त जैसे आजीवन कौमार-व्रत लेने वाले व्यक्ति अत्यन्त ही महान् समझे जाते होंगे।

संन्यास।

संन्यास का स्वतन्त्र उल्लेख प्रसाद ने कहीं नहीं किया है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के पिता को 'अपने अभिमान को मारने लिए' काषाय ग्रहण करने का आदेश देता है। यहां 'काषाय ग्रहण' का प्रयोग 'संन्यास' आश्रम के लिए ही हुआ है। वैसे 'काषाय ग्रहण' का प्रयोग बौद्ध-भिक्षु बनने के अर्थ में प्रसाद ने अनेक बार किया है पर यहां यह काषायग्रहण ब्राह्मण धर्म का स्वरूप नहीं है। अन्यत्र 'वैखानस' शब्द का प्रयोग भी संन्यास आश्रम के लिए हुआ है।[2]

---

(१) स्कन्द० ३।१४४

(२) चन्द्र ४।४८

प्रधान धर्म एवं देवी देवता

प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय इतिहास के जिन कालों को लिया है, प्रायः उन सब में ही धार्मिक क्रांतियां हो रही थीं। अजातशत्रु का काल बौद्ध धर्म के उदय का काल था। जैन धर्म का उदय भी इस से कुछ पूर्व ही हुआ था। ये दोनों धर्म कर्मकांडी ब्राह्मण धर्म के विरोध में उठ खड़े हुये थे। अपनी सरलता एवं जाति और वर्ण व्यवस्था के बन्धन से मुक्त होने के कारण इन धर्मों का प्रचार भी बहुत अधिक हुआ। बौद्ध-ग्रन्थों में प्रसेनजित और बिम्बसार संबंधी जितने भी उल्लेख मिलते हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म तत्कालीन शासकों के जीवन में भी अपना पूर्ण प्रभाव डाल चुका था।[1] मौर्यकाल में चाणक्य को केन्द्र मानकर समस्त राजसत्ता और समाज उसके चारों ओर चक्कर काटते प्रतीत होते हैं। अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज का संगठन वर्णाश्रम तथा स्मृतिकारों के नियमों से पुनः बांध दिया गया था।[2] यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में बौद्ध धर्म कितना शक्तिशाली था तथापि अर्थशास्त्र और ग्रीक इतिहासकारों के प्रमाण के आधार पर उस काल में निश्चय ही ब्राह्मण धर्म और विशेषकर वेदों और उपनिषदों के धर्म की प्रधानता रही होगी। ग्रीक इतिहासकारों ने भारत के जिन तेजस्वी एवं सूर्योपासक दार्शनिकों का उल्लेख किया है[3] वे ब्रह्म को ज्योति स्वरूप मानते थे। सूर्योपासना ब्राह्मण धर्म में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह वर्णन ऋग्वेद के 'गायत्री मंत्र' सविता की वैदिक पूजा का सूचक है किन्तु आगे चलकर इसी मौर्यकाल की तीसरी पीढ़ी में ही अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रताप मध्याह्न के सूर्य की भांति समस्त जम्बू द्वीप के आकाश में प्रसारित कर दिया। गुप्तकाल में भागवत धर्म राजधर्म बना और विष्णु के नाना रूपों की पूजा प्रारम्भ हुई। अश्वमेध आदि यज्ञों तथा कर्मकाण्ड की अधिकता के कारण ब्राह्मण धर्म में उपनिषद् कालीन दार्शनिक पक्ष की कमी हो गई। गुप्तों के शिलालेख ब्राह्मण धर्म के विकास के साक्षी हैं।[4] उनकी उपाधियां भी उस ओर स्पष्ट संकेत करती हैं।[5] इस काल के इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि विभावो

---

(१) महावग्ग १ २२ । मज्झिम अट्ठकथा (१) १८८ 'पब्बज्जा सुत्त'
(२) अर्थशास्त्र 'विनयाधिकारिक' १ ऐंशिएंट इंडिया' मैक्रिंडल पृ १२० २१
(४) 'गोविन्द पादार्पित जीवितेन' जूनागढ का लेख पंक्ति ५५ 'विष्णोरथ पाद कमले'
(५) 'परम भागवतो' 'परम वैष्णव' इत्यादि

मुक्त होते हुए भी बौद्धधर्म अपनी पूरी शक्ति से जीवित था।[1] हर्ष के काल में पुनः बौद्ध धर्म का महत्त्व बढ़ा। यद्यपि धर्म के सम्बन्ध में हर्ष समन्वयवादी समझा गया है तथापि युवानच्वांग के विवरणों से उसकी धार्मिक प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों में दो प्रधान धर्मों का ही उल्लेख हुआ है। उनमें से ब्राह्मण धर्म तो अत्यन्त प्राचीन है और बौद्ध धर्म उसकी तुलना में पर्याप्त नवीन। प्रसाद इतिहास के जिन विभिन्न कालों को लेकर चले हैं उनमें कभी तो एक धर्म की प्रधानता दिखाई देती है और कभी दूसरे की। समय समय पर भारत के महत्त्वपूर्ण सम्राटों ने जिस धर्म को राजाश्रय दिया अथवा वे स्वयं जिस धर्म के अनुयायी बने वही धर्म उस काल का प्रधान धर्म बनकर उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। 'अजातशत्रु' नाटक में बौद्ध धर्म के चरम उत्कर्ष का चित्रण हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में उपनिषदों के दार्शनिक पक्ष की प्रधानता है उसमें 'सविता' की उपासना के उल्लेख का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। बौद्ध ब्राह्मणों का द्वन्द्व संघर्ष पूर्ण ऐतिहासिक सम्भावनाओं से युक्त है। वस्तुतः देखा जाय तो मौर्यकाल ही बौद्ध धर्म के चरम उत्कर्ष का काल भी रहा है। ध्रुव स्वामिनी में धार्मिक तत्त्वों का अभाव है किन्तु उस नाटक का आधार भी ब्राह्मण धर्म का वैष्णवोन्मुखीय रूप है। इसका स्पष्ट रूप 'स्कन्दगुप्त' में देखा जा सकता है। उसमें एक ओर तो 'चक्रपाणि' और विश्वम्भर की आराधना की चर्चा हुई है दूसरी ओर 'बलिदान' इत्यादि के माध्यम से कर्मकाण्ड की ओर भी संकेत किया गया है। उसके साथ साथ ब्राह्मण बौद्ध संघर्ष भी उस काल की विशेषता प्रतीत होती है। उक्त संघर्ष का आधार ऐतिहासिक है। स्कन्दगुप्त के काल में बाह्य संघर्षों से ही नहीं आन्तरिक संघर्षों से भी गुप्त साम्राज्य जर्जरित हो गया था। 'राज्यश्री' में बौद्ध धर्म के नव-जीवन का स्वरूप निखरा हुआ है।

ब्राह्मण धर्म के स्वरूपों में समय समय पर परिवर्तन होते गये। प्रसाद ने अपने नाटकों में इन परिवर्तनों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' नाटकों में ब्राह्मण धर्म के स्वरूपों में कुछ अन्तर दिखता है। ग्रीक इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि 'दार्शनिक' अथवा ज्ञानी दो प्रकार के होते थे ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण नगर के उपकण्ठ में आश्रम बनाकर रहते थे और पत्तों की शय्या काम में लाते, अल्पाहार करते, ब्रह्मचर्य से रहते, मांसाहार का परित्याग करते, गम्भीर चिन्तन में निरत रहते और दूसरों को भी तत्त्व विचार में सम्मिलित करते थे। विद्याध्ययन के उपरान्त ब्राह्मण अपने घर लौटकर विवाह करते, स्वतंत्रता के साथ सांसारिक भोग भोगते, सुनहरे भूषण और सूक्ष्म वस्त्र पहिनते और मांसाहार भी करते थे किन्तु ग्राम्य पशुओं का मांस वे नहीं खाते थे।[2]

१ दि गुप्ता एम्पायर: राधाकुमुद मुकर्जी पृ० १३८

२ मेगास्थनीज खण्ड ४० स्ट्राबो १५ सी ७११

मेगास्थनीज ने दूसरे प्रकार के भिक्षुओं अर्थात श्रमणों को 'प्रमानाई' कहा है जो तर्क में प्रवीण और विवादशील होने के कारण वितण्डावाद में चतुर होते थे। 'सरमेनाइ' शब्द संस्कृत के 'श्रमण' से बना है और मुकर्जी इसका अर्थ 'बौद्ध और भिक्षु' लेते हैं। 'स्ट्राबो' इनके विषय में लिखता है कि वे ब्राह्मणों का उपहास करते थे।[1]

'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य और दाण्ड्यायन ब्राह्मण धर्म के जिस स्वरूप को मानते हैं उसमें दार्शनिक पक्ष की प्रधानता है कर्मकांड की नहीं। दाण्ड्यायन प्रकृति की चिरन्तन गतिशीलता का उल्लेख करता है जिसमें कभी रुकना नहीं होता 'पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता सिन्धु की जलधारा बही जा रही है बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं।[2] उपरोक्त विचार धारा उपनिषदों के 'चरैवेति चरैवेति' के सिद्धांत के अनुकूल है। 'स्कन्दगुप्त' में प्राचीन ऋषियों के सम्बन्ध में इस दार्शनिकता की चर्चा हुई है। भागवत वैष्णव भक्ति तथा ब्राह्मण कर्मकाण्ड के स्वरूप का चित्रण हुआ है।[3]

ब्राह्मण धर्म के समान ही बौद्ध धर्म में भी कई परिवर्तन हुए और क्रमशः धर्म के वे परिवर्तित स्वरूप ही बौद्ध सम्प्रदायों में परिणत हो गये। विशेष कर धार्मिक जटिलताओं से रहित मूल बौद्ध धर्म अशोक के काल तक प्रायः वैसा ही रहा यद्यपि बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त उनके अवशेषों पर निर्मित स्तूपों का पूजन आरम्भ होने लगा था। २४० ई० पू० में 'स्थविरवादी' और 'महासंघिक' स्वतन्त्र हो गये। महायान के मूल 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों का जन्म ई० पू० १९० में हो गया था यद्यपि स्वयं 'महायान सूत्र' ई० पू० ८ में लिखे गये यहीं से महायान धर्म का विकास हुआ।[4]

जहां तक बौद्ध धर्म के बाह्य स्वरूप का प्रश्न है प्रसाद के नाटकों में यह विकास किसी न किसी रूप में स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रसाद ने बिम्बसार अजात शत्रु के शासन काल (५०० ई० पू० के लगभग) में भिक्षा का जो महत्व चित्रित किया है,[5] वह अन्य नाटकों एवं ऐतिहासिक काव्यों में उपलब्ध नहीं। इसका ऐतिहासिक आधार भी है। कालान्तर में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत भिक्षा से आजीविका करने

(१) स्ट्राबो १५ सी ७१२
(२) चन्द्र० १ १०८
(३) स्कंद०
(४) बुद्धिज्म' गोडार्ड बौद्ध थाट पृ० ६६ तथा एपीग्राफिया
(५) अजात० २८३

का वह उद्देश्य ही जाता रहा जो पूर्व काल में था। असंग ने अपने योगशास्त्र में इसके लिये तर्क प्रस्तुत किये। अत केवल भिक्षा मात्र पर ही निर्वाह न कर क्रमश: विहारों और संघारामों में रहकर भिक्षु धन संपत्ति स्वर्ण तथा रेशमी वस्त्र तक का व्यवहार करने लगे।[1] प्रसाद ने 'राज्यश्री' में हर्ष के शासन काल (७वीं शती के प्रारम्भ में) दान और भिक्षा सम्बन्धी प्रचुर उल्लेख किये हैं।[2] स्पष्ट ही उक्त उल्लेखों का उद्देश्य हर्ष राज्यश्री की दानशीलता का परिचय देना है। भिक्षु और भिक्षुसंघ के कठोर नियमों की कोई सूचना उससे नहीं मिल पाती।

'बोधिसत्व' की कल्पना का विकास महायान के साथ साथ हुआ था। प्रसाद ने इसका उल्लेख 'स्कन्दगुप्त'[3] और राज्यश्री[4] में ही किया है, 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में नहीं। इस प्रकार यहां भी ऐतिहासिक क्रम के अनुरोध की रक्षा ही की गई है।

बौद्ध धर्म में तांत्रिक क्रियाओं का विकास ५० ई० के आसपास हुआ था। स्कंदगुप्त का शासन काल ४५५ ई० से ४६७ तक माना गया है।[5] इस प्रकार तन्त्रयान का काल स्कन्दगुप्त के ३० वर्ष बाद माना गया है किन्तु प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' में बौद्ध तांत्रिक प्रपंचबुद्धि[6] का चित्रण किया है जो तन्त्रयान के विकास से कुछ पूर्व होने के कारण काल दोष भी बन सकता है। किन्तु यदि योगाचार के विकास से लेकर तंत्रयान तक के मध्यवर्ती काल में तांत्रिक क्रियाओं के विकास को स्वीकार करलें तो एक ओर तो योगाचार के विज्ञानवाद और शून्यवाद के तांत्रिक आचार्यों के बीच की कड़ी जुड़ जाती है और दूसरी ओर स्कन्दगुप्त का राज्यकाल बौद्ध-तन्त्र के विकास का क्रम बिन्दु बन जाता है। वस्तुतः यही मत प्रसाद के अनुकूल भी है।

'चन्द्रगुप्त' में चैत्य पूजा[7] का उल्लेख हुआ है। यह इतिहासानुकूल है क्योंकि बुद्ध के निर्वाण के ठीक बाद ही चैत्य निर्माण और चैत्य पूजन प्रारम्भ हो गया था। राज्यश्री में विकटघोष या शांतिभिक्षु[8] जैसे भिक्षुओं का उल्लेख बौद्ध धर्म के विनाश की सूचना देते हैं। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में अहिंसा, करुणा और बुद्ध

---

(१) बुद्धिज्म कीथ पृ० ५७ (२) राज्यश्री पृ० २७

(३) स्कन्द० पृ० ६८ (४) राज्यश्री पृ० २८

(५) भारतीय कौमेमोरेशन वॉल्यूम-डा० भण्डारकर का लेख पृ० २०५, भारतीय इतिहास के प्राचीन स्तम्भ (स्कन्दगुप्त) उपाध्याय

(६) स्कन्द० पृ० १०३

(७) चन्द्र० पृ० २००

(८) राज्यश्री पृ० २७

सात्त्विक धर्म का जयजयकार मिलता है वैसा अन्य नाटकों में नहीं मिलता। जैसा हम पहले कह चुके हैं यह बौद्ध धर्म के इतिहास से अनुमोदित है।

प्रसाद के नाटकों में इस प्रकार काल भेद के कारण विभिन्न धर्म सम्बन्धी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट विवरण उपलब्ध होते हैं परन्तु प्रधानता या तो बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं दर्शन की है अथवा ब्राह्मण धर्म के लौकिक एवं पौराणिक पक्षों की। अन्य धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले उल्लेख प्राय नहीं है। इन नाटकों में निम्नलिखित देवी देवताओं का उल्लेख पाया जाता है :—

देवी-देवता

देवी — सरस्वती[1] छिन्नमस्ता[2] लक्ष्मी[3] तारा,[4] देवी की उग्र मूर्ति[5] (संभवतः काली), शची[6] एवम् सिंहवाहिनी[7] (दुर्गा)

देवता — इन्द्र,[8] सविता[9] रुद्र[10] कुबेर,[11] वामन[12] चक्रपाणिमघवान्[13] विश्वम्भर,[14] महाकाल[15] शेष पर्य्यंकशायी,[16] राम[17] वटपत्रशायी[18] और कृष्ण।[19]

---

(१) जन० १ ७१
(२) ध्रु०स्वा० १ २८
(३) स्कन्द १ २ व ४ १२६
(४) वही १ २६ व २ ८४ व ३ ८७
(५) राज्यश्री १ ६१
(६) स्कन्द० ३ १४४
(७) वही १ ११
(८) अजात० २ ८१ जन० ४ १२०
(९) जन० ४ २४८
(१०) स्कन्द० १ ४६
(११) ध्रु०स्वा० १ २०
(१२) ध्रु०स्वा० १ २१
(१३) स्कंद० १ १७
(१४) वही २ १८
(१५) वही २ ७५
(१६) वही ४ ११७
(१७) वही ४ १२२ व १ १५ व ४ ११०
(१८) वही ४ १२७
(१९) वही ४ १२८

प्रसाद ने अप्सरा,[२] सुर सुन्दरियाँ[३] वनदेवता[४] तथा यक्ष[५] का नामोल्लेख किया है इनको ग्रह देवताओं की कोटि में रखा जा सकता है यक्षों में भैरव[६] भैरवी[६] इत्यादि भी इसी श्रेणी में रखे जायेंगे।

ग्रह-देवता

चन्द्रगुप्त नाटक में सरस्वती की चर्चा 'सरस्वती मंदिर के समाज' प्रसंग में हुई है सरस्वती वस्तुतः ज्ञान की अधिष्ठात्री वैदिक देवी है और ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों में उनका उल्लेख हुआ है[७] किन्तु इस प्रसंग में सरस्वती की चर्चा कामसूत्र के आधार पर हुई है वात्स्यायन के अनुसार 'सरस्वती-भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर समाज' हुआ करते थे[८] यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि चन्द्रगुप्त के काल में सरस्वती पूजन का कितना प्रचलन था किन्तु कामसूत्र के आधार पर यह तो माना ही जा सकता है कि सरस्वती के मन्दिर होते थे और उनमें संगीत नृत्य इत्यादि हुआ करता था भट्टाचार्य के अनुसार ई० पू० तीसरी शती से लेकर पहली शती ईसवी तक देवी के विभिन्न रूपों की उपासना का पर्याप्त प्रचार हो चुका था[९] उक्त आधार पर मौर्यकाल में सरस्वती पूजन होना स्वीकार किया जा सकता है।

सरस्वती

वाजसनेयी संहिता में वर्णित रुद्र की भगिनी अम्बिका अम्बिका में उनकी पत्नी बन गई और उनका सम्बन्ध मातृकाओं से जोड़ दिया गया, तैत्तरीय आरण्यक और केनोपनिषद् में उमा और पार्वती का उल्लेख मिलता है। महाभारत के भीष्मपर्व और विराटपर्व में भी उमा के कई नये नामों का उल्लेख हुआ है हरिवंश में वसे ही कुमारी काली, कपाली, महाकाली चण्डी कात्यायनी कराला विजया कौशिकी और कान्तारवासिनी कहा गया है[१] बौद्ध तन्त्र और हिन्दू तन्त्रों का विकास गुप्त काल में ही हुआ होगा क्योंकि कीथ के अनुसार तन्त्रयान की प्रथम तिथि ५०० ई० पू है।[११] इन तन्त्रों में इसी

छिन्नमस्ता

---

(१) वही २।१२ (२) वही ३।१०१

(३) चन्द्रगुप्त १।२७ (४) राज्यश्री २।४१

(५) स्कन्द० १।४८ (६) वही १।४६

(७) प्राणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती धीनामवित्र्यवतु ऋग्वेद १।६।१।२१

(८) 'पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः — कामसूत्र नागरक वृत्त प्रकरण।

(९) भारतीय रिलीजन सेक्ट्स् (एन भी भट्टाचार्य) एन आफ इन्डीरियल यूनिटी पृ० ४६०

(१०) वही पृ ४६७

(११) बुद्धिज्म (कीथ) भारत भाई पृ० ११ एण्ड ऐपेन्डिक्स

देवी के अन्य कई नामों का उल्लेख हुआ है। छिन्नमस्ता को चामुण्डा तन्त्र में विद्या, श्यामा रहस्य में महाविद्या और शिवसार तंत्र में सिद्ध महासिद्ध विद्या माना गया है। अम्बिका के विभिन्न नामों के विकास के उपयुक्त ऐतिहासिक क्रम को स्वीकार कर लेने पर 'ध्रुवस्वामिनी' के गुप्तकालीन कथानक में छिन्नमस्ता का उल्लेख अनुचित नहीं प्रतीत होता।

'परम भागवत' गुप्तों के काल में लक्ष्मी और विष्णु की उपासना के प्रचलन में आश्चर्य नहीं किया जा सकता। स्कंदगुप्त नाटक में 'स्वर्ग की लक्ष्मी के रूप में विष्णु प्रिया लक्ष्मी की ओर ही संकेत है। जिस प्रकार सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री मानी गई है उसी प्रकार लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी। भारत की अत्यन्त प्राचीन वास्तु और शिल्पकला में कमल दल निवासिनी 'श्री' अथवा 'लक्ष्मी' का पर्याप्त अंकन किया गया हुआ है भरहुत स्तूप तक में लक्ष्मी के अनुकूल ही श्री का अंकन किया गया है।[1] 'श्री' देवी अथवा लक्ष्मी' का उल्लेख जातकों में मिलता है।[2] गुप्तकालीन शिलालेखों एवं मुद्राओं में कमल दल से युक्त लक्ष्मी का बहुत अंकन हुआ है। स्कंद गुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख में 'लक्ष्मी' स्वयं वरयाचकार के द्वारा स्कंदगुप्त के राज्य एवं ऐश्वर्य की ओर ही संकेत किया गया है।[3] ध्रुवस्वामिनी गुप्त कुल लक्ष्मी है। स्कंदगुप्त के ही भिटारी के शिलालेख में कुल लक्ष्मी की चर्चा हुई है। 'विचलित कुल लक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन'[4] में कुल लक्ष्मी का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ देता है। इस सम्बन्ध में भट्टाचार्य लिखते हैं जब लक्ष्मी की पूजा का स्वरूप सौंदर्य पूजन के स्थान पर ऐश्वर्य पूजन में परिवर्तित हो गया तो वह सम्राटों की वल्लभीया हो गई और इस प्रकार क्रमशः 'नगर लक्ष्मी' और 'राज लक्ष्मी' का पूजन भी होने लगा।[5] 'वन लक्ष्मी'[6] का प्रयोग वन देवी के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। यहाँ भी लक्ष्मी की पूजा के प्रसार का उपर्युक्त स्वरूप परिलक्षित होता है। संस्कृत ग्रन्थों में वन देवियों का उल्लेख भी मिलता है।[7]

तारा का उल्लेख स्कंदगुप्त में कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर उसे "शव चिता पर तांडव नृत्य करती हुई शक्ति के संहारकारी रूप में चित्रित किया

(१) माइनर रिलीजस सैक्ट्स (एन० सी० भट्टाचार्य) पृ० ४००
(२) श्री कालकण्णी जातक
(३) सैलैक्ट इन्सक्रिप्शन्स (सरकार) नं० २५
(४) सैलैक्ट इन्सक्रिप्शन्स (सरकार) नं० २८
(५) वही (एन० सी० भट्टाचार्य) पृ० ४०१
(६) राज्यश्री ३।५५
(७) अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक ४ पृ० ५० (का० स०)

गया है[1] अन्यत्र इसे ही 'उग्रतारा' भी कहा है जिसकी साधना से विकट से
विकट कार्य सिद्ध होते हैं।[2] एक और स्थल पर इसे 'प्रज्ञापारमिता स्वरूपा तारा'[3]
भी कहा गया है। तारा का सम्बन्ध बौद्ध धर्म के वज्रयान
और तन्त्रयान से है। एडवर्ड कौंजे प्रज्ञापारमिता और तारा
तारा को प्रथम स्वतन्त्र बौद्ध देवियां मानते हैं। उनके अनुसार तारा
२ की उपासना बौद्ध धर्म में १५० ई के लगभग प्रारम्भ हुई। तारा शब्द संस्कृत
'तारयति' से बना है। जिसका अर्थ 'रक्षणकर्त्री' अथवा पार लगाने वाली है और
जो भय को दूर कर मनोकामनाओं को पूर्ण करती है। तारा सम्भवतः बुद्धि की उपज
थी। प्रज्ञापारमिता की धारणा थोड़े से साधु विचारकों के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई
थी। महायान धर्म में प्रज्ञापारमिता का उल्लेख एक गुण विशेष ग्रन्थ विशेष अथवा
मन्त्र विशेष के रूप में ही नहीं वरन् एक देवी के रूप में भी हुआ है। पारमिता
बुद्धि को संभवतः प्रथम शताब्दी ईसवी के आसपास मूर्त रूप दिया गया होगा।
'प्रज्ञापारमिता सूत्र' में उसे 'सब बुद्धों की जननी' कहा गया है।[4] अन्यत्र इस देवी
के भयंकर स्वरूप की कल्पना का कारण बताते हुए कौंजे लिखते हैं 'योगी अपने
ग्रह के विनाश के लिए जो सूक्ष्म संहारात्मक मानसिक प्रयत्न करता है उन्हीं के
मूर्त स्वरूप को वह शक्ति (देवी के भयंकर रूप में) स्वीकार कर लेता है।[5] शक्ति
के इस भीषण रूप की साधना वज्रयान में की जाती है।[6] कौंजे ने तारा को प्रथम
स्वतन्त्र बौद्ध देवी° कहकर अभिहित किया है किन्तु तारा बौद्ध तन्त्र की ही देवी
नहीं हिन्दू तन्त्र की देवी भी है। 'चामुण्डा तन्त्र' में काली और तारा को
महाविद्या कहा गया है। षोडशी भुवनेश्वरी, भैरवी छिन्नमस्ता और धूमावती
विद्या हैं बगला मातंगी और कमला सिद्धविद्या हैं।[8] श्यामा रहस्य में इन
दसों को 'महाविद्या कहा गया है।[9] विश्वसार तन्त्र में काली और तारा महा
महा सिद्ध विद्या' है तथा अन्य 'सिद्ध महासिद्ध विद्या' है।[10]

(१) स्कंद० १।२६
(२) वही ३।७४
(३) वही ३।८७
(४) बुद्धिज्म ऐडवर्ड कौंजे पृ० ११२
(५) वही ऐडवर्ड कौंजे पृ० ११४
(६) "दि आइडिया आफ डिस्ट्रक्शन प्रोसेस मैचुरली दि ऐसोसियेशन विद दि
वरियस फार्म्स ह्वेर दि मैटीरियल बीइंग इज डिस्ट्रोइड। ऐज कोटेड बाई कौंजे इन बुद्धिज्म पृ० ११४
डा० पी० एन० बोस।
(७) "फर्स्ट थीटोनोमस बुद्धिस्ट डीटीज" वही पृ० ११२
(८) प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र : आर्थर ऐवेलन पृ० ४१६
(९) वही पृ० ४२१
(१०) वही पृ० ४१६

दक्ष यज्ञ में योगाग्नि से प्राण त्याग करने के उपरान्त सती ने अपना विकराल रूप शिव को दिखाकर भयानक अट्टाहास किया। शिव भयभीत होकर भाग चले तो उन्होंने अपने इस स्वरूप को अपनी विभिन्न शक्तियों में विभाजित कर दिया और शिव को घेर लिया। अन्त में देवी द्वारा अभय मिलने पर शिव ने कहा 'हे पूज्यभामी देवी यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे बताइये कि आपके ये भिन्न-भिन्न स्वरूप किन नामों से पुकारे जाते हैं। देवी ने क्रमशः उनका वर्णन किया। महारूप के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने कहा 'जो तुम्हारे ऊपर श्याम वर्ण की देवी है वह महाविद्या तारा है और महाकाल की पूर्ण कृति है।'[1] महाकाल के स्वरूप की भयंकरता से हिन्दू तन्त्र में भी महाविद्या तारा के स्वरूप की भयंकरता का अनुमान किया जा सकता है। अतः प्रपंच-बुद्धि ने 'शव चिता में ताण्डव नृत्य करती हुई जिस तारा की ओर संकेत किया है वह बौद्ध तन्त्र की तारा के अनुकूल न होकर ताण्डव नृत्य करते हुए 'महाकाल की पूर्ण प्रतिकृति' के रूप में है।

तारा तिब्बत की राष्ट्रीय देवी 'संग्युमसम्मम' (उच्चारण संग यम चन म्) है। इसका अर्थ है, जो बुद्ध के मन की है।[2] इस प्रकार तिब्बत में तारा को बुद्ध की आँख की पुतली माना गया है। मन का सम्बन्ध ज्ञान से है जो प्रज्ञा है। बुद्ध की प्रज्ञा बुद्ध होने के कारण पारमिता है। अतः तारा का सम्बन्ध प्रज्ञा पारमिता से सीधा जुड़ता प्रतीत होता है। तिब्बती धर्मग्रन्थों में तारा के १०८ नाम हैं जिनमें उसे 'मामकी' और 'डोलमा' भी कहा गया है।[3] तन्त्रयान सम्बन्धी अपनी पूर्व मान्यता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्कन्दगुप्त में तारा का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन है।[4]

वस्तुतः काली का नामोल्लेख प्रसाद के नाटकों में नहीं पाया जाता किन्तु दस्युराज देवी की जिस उग्र मूर्ति के सम्मुख नीली आभी नरमांस की बलि देना चाहता है वह सम्भवतः काली ही होगी क्योंकि वाममार्गी साधकों एवं दस्युओं की प्रधान आराध्या काली ही रही है और इन्हें ही तन्त्रों में महा-काली विद्या कहा गया है।[5] हर्ष कालीन हिन्दू एवं बौद्ध दोनों धर्मों

---

(१) प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र पृ० ३१७
(२) दि टिबेटन बुक ऑफ दि डैड डब्ल्यू वाइ० इवान्स तथा वेन्टस पृ० १०८
(३) 'डोल्मा : सं० तारा शिफिमरेस सी इन दि तिब्बतन कनसॉर्ट ऑफ अवलो कितेश्वर। दियर आर नाउ टु रिकोग्नाइज्ड फौर्म्स ऑफ दिस गौडेस। दि ग्रीन डोल्मा ऐज बर्शिप्ड इन टिबेट एण्ड दि व्हाइट डोल्मा ऐज वर्शिप्ड चीफली इन चाइना एण्ड मंगोलिया। प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र आर्थर ऐवेलन पृ० ११६ फुट नोट
(४) देखिए इसी परिच्छेद में "बौद्ध धर्म"
(५) प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्र आर्थर ऐवेलन पृ० ४१६

मे तांत्रिक क्रिया—कलापों की प्रचुरता हो चली थी । वस्तुत इस काल म महायान की वज्रयानी शाखा अपन परम उत्कर्ष मे थी । बाण और ह्वेनसाग दोनों के विवरणों में तांत्रिक सिद्धियों का उल्लेख हुआ है । हर्षचरित में भैरवाचार्य की उग्र साधना की आराध्या लक्ष्मी है काली नहीं किन्तु बाण के ही 'चण्डी शतक' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काली की उपासना का पर्याप्त प्रचार था । बाण ने स्वयं काली के बीस नामों का उल्लेख किया है ।[1]

ह्वेनसाग सम्बन्धी उक्त घटना का आधार ऐतिहासिक है । जब चीनी यात्री अयोध्या से पूर्व की ओर जल यात्रा कर रहा था तब कुछ डाकुओं ने नौका पर आक्रमण कर चीनी यात्री को बन्दी बना लिया और अपनी आराध्या देवी के सम्मुख उसकी बलि देने लगे ।[2] अत इसमें किसी प्रकार भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि हर्ष के काल में काली की उग्र साधना का प्रचार था ।

यहाँ पर दो शब्द नर बलि के सम्बन्ध में भी लिखना आवश्यक है । प्रसाद के दो नाटकों में नर बलि की चर्चा हुई है । स्कन्दगुप्त नाटक में प्रपचबुद्धि महाश्मशान में देवसेना की बलि देने का उपक्रम करता है और राज्यश्री म दस्युराज चीनी यात्री को बलिवेदी पर खड़ा करता है । यह कहना कठिन है कि स्कन्दगुप्त के काल में नर बलि की प्रथा का प्रचलन था अथवा नहीं । वस्तुत गुप्तकालीन ग्रन्थ अथवा अन्य इतिहास किसी से भी इस विषय से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध नहीं होती । उत्तर गुप्त काल (हर्ष पूर्व से हर्ष के बाद तक) से नर बलि की प्रथा के प्रमाण मिलते हैं । हर्षचरित में प्रभाकरवर्द्धन के रुग्ण होने पर राजकुमारों द्वारा कुल मार्ग मे नर मांस बेचने का उल्लेख हुआ है ।[3] ह्वेनसांग के अनुभव इस प्रथा की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं ।[4] भवभूति (७००–७३० ई०) के मालती माधव में श्मशान मे नरमांस बेचता हुआ माधव किसी स्त्री की चिल्लाहट सुनता है । वहाँ जाकर देखता क्या है कि कापालिक अघोरघंट करालादेवी को मालती की बलि देने को तत्पर है ।[5] वस्तुत स्कन्दगुप्त की घटना मालती माधव की इस घटना के समीप है । गुप्तकाल कुछ भी हो यह कहना कठिन है कि प्रसाद ने किन प्रमाणों के आधार पर गुप्तकाल मे नर बलि की प्रथा का वर्णन किया है । अत इस दृष्टि से इस पर विचार करना आवश्यक है । यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सिंहवाहिनी दुर्गा की उपासना का ई० पू० पहली सदी मे पूर्ण प्रचार था । हुविष्क के सिक्कों में उमा की मूर्ति

(१) चण्डी शतक बाण १।२६७
(२) दि लाइफ ऑफ ह्वेनसांग अमरेन्द्र दत्त सी ऐंड बीन ब्रूक पृ० ८६ ८६
(३) हर्षचरित । बाण पृ० १६५, १३६
(४) दि लाइफ आफ ह्वेनसांग । दत्त सी एण्ड बीन ब्रूक पृ० ८६ ८६
(५) मालती माधव भवभूति अंक ५

और एजेस प्रथम के सिक्कों में सिंहवाहिनी अम्बिका अथवा दुर्गा का अंकन हुआ है।[1] छठी सातवीं शती और उसके उपरांत दुर्गा पूजा सम्बन्धी पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। दुर्गा सप्तशती चण्डी माहात्म्य एवं मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा के महत्व की चर्चा हुई है।[2] अतः 'स्कंदगुप्त' में दुर्गा का उल्लेख अनुचित नहीं कहा जा सकता। जहां तक शची का प्रश्न है वह इन्द्राणी है और उसकी नगरी अमरावती है।[3] इतिहास के किसी भी काल में शची पूजन का महत्व नहीं प्रतीत होता। प्रसाद ने इसका उल्लेख इस अर्थ में किया भी नहीं है।

इन्द्र

प्रसाद के नाटकों में दो बार इन्द्र का नामोल्लेख हुआ है और दोनों स्थानों में इन्द्र के दो विभिन्न स्वरूपों की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। 'अजातशत्रु' नाटक में शक्र का उल्लेख बौद्ध धर्म की उपासिका मल्लिका करती है और 'चन्द्रगुप्त' में ब्राह्मण चाणक्य। मल्लिका तथागत के उपदेशों की प्रशंसा करते हुए करती है "कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की।"[4] इस वाक्य में इन्द्र शब्द का प्रयोग निश्चय ही बौद्धों के 'शक्र' (शक) के अर्थ में हुआ है। चाणक्य पाणिनि के सूत्र 'नवयुवमघोनामतद्धिते' पर तर्क करते हुए इन्द्र का उल्लेख करता है कुत्ता कुत्ता ही रहेगा इन्द्र इन्द्र। ---------नीचों के हाथ में इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है उसे मैं भोग रहा हूँ।[5] यहां इन्द्र वैदिक देवराज इन्द्र है। इन दोनों ही उल्लेखों से इन्द्र की गरिमा ध्वनित होती है।

चाहे बौद्धों का शक्र हो अथवा ब्राह्मणों का इन्द्र दोनों के मूल वैदिक देवता इन्द्र ही हैं। समस्त ऋग्वेद के एक चौथाई मन्त्रों का सम्बन्ध इन्द्र से है। सामवेद में भी 'पुरहूत पुरुष्टुतं गाथान्यं सनुतम इन्द्र इति ब्रवीतन' द्वारा इन्द्र की महत्ता का आभास मिलता है। ब्राह्मण और बौद्ध दोनों के देवराज इन्द्र हैं।[6] प्रसाद स्वयं इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम अभिषिक्त सम्राट मानते हैं।[7] नीचों के हाथ में इन्द्र के अधिकार की चर्चा इन्द्र से सार्वभौम साम्राज्य की ओर ही संकेत करती है। बौद्ध काल में शक्र की पर्याप्त चर्चा थी। इस अनुमान का आधार जातक ग्रन्थों में 'सक्क' सम्बन्धी अगणित उल्लेखों से होता है किन्तु इन ग्रन्थों में शक्र की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। वह वैदिक इन्द्र के समान असुरों का संहार करने वाला गायों की रक्षा करने वाला और सोमपान कर जल बरसाने वाला देव नहीं है। यहां उसकी स्थिति पौराणिक काल के इन्द्र के अधिक समीप है। उसके लिए वह आदर का भाव नहीं जो वैदिक मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के मन में था। वह अधिक से

(१) माडर्न रिलीजस सैक्टस भट्टाचार्य पृ० ४६७ (२) वही वही पृ ४६७
(३) 'पुलोमजा शचीन्द्राणी नगरीत्वमरावती' अमरकोष १।१
(४) अजात० २।८३ (५) चन्द्र० १।८६ (६) निमि जातक ६।५४१
(७) 'भारतवर्ष का प्रथम सम्राट' नागरी प्रचारिणी पत्रिका

धार्मिक युद्धों का मैत्रक-सा प्रतीत होता है। उस पर से अधिकार के बन जाने का भय रहता है।[1] उसकी शक्ति भी सीमित है।[2] कुछ भी हो अजातशत्रु में इन्द्र की चर्चा का होना सर्वाचीन है। हम पहले ही कह चुके हैं कि ब्राह्मण धर्म के दार्शनिक पन्थ का स्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में विकसित हुआ था ऐसी स्थिति में नाटक में वैदिक देवताओं का उल्लेख अस्वाभाविक नहीं।

तपोवन में बैठा हुआ चाणक्य सविता की प्रार्थना करता है "भगवान सविता तुम्हारा आलोक जगत का मंगल करे"[3] यह वाक्य सविता के वैदिक स्वरूप और गायत्री मन्त्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

सविता — सविता वेदों के तीन प्रमुख देवताओं में से एक है। कहीं कहीं इसे ही सूर्य, सावित्री और आदित्य भी कहा गया है। कहीं वह द्यौ का पुत्र है और कहीं होता का प्रसव प्रसव भी माना गया है। कहीं वह अदिति का। एक मन्त्र में उषस् उसकी प्रिया है और अन्य में वह उषा का पुत्र कहा गया है।[4] प्रकार का उपर्युक्त वाक्य ईशावास्योपनिषद के इस मन्त्र के कितने समीप है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन समूह
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
यो सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।

मौर्य काल में सविता की उपासना का प्रचार था। ब्राह्मण धर्म पर विचार करते हुए हम दिखला चुके हैं कि ग्रीक इतिहासकारों ने भारतीय ब्राह्मणों को सविता का उपासक बताया है। सविता की उपासना का स्वरूप सातवीं शती ई० तक भी अत्यन्त प्रचलित था। हर्ष के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सूर्य की उपासना भी करता था। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि वैदिक काल से लेकर बहुत बाद तक सूर्य की उपासना होती रही है। कुछ प्राचीन मुद्राओं एवं भरहुत के एक भानु पत्र में सूर्य की मानुषी मूर्ति का अंकन हुआ है। उसमें रमन के मधु कोष सूर्य से सूर्य की किरणों का भाव दर्शित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ई० पू० तीसरी शती में सूर्य की पूजा का पर्याप्त प्रचार था। चन्द्रगुप्त मौर्य काल भी ई० पू० तीसरी चौथी ही है। मौर्य काल में सूर्योपासना के इस स्वरूप को देखते हुए चाणक्य द्वारा सविता के आवाहन में ऐतिहासिक परम्परा का यथातथ्य निर्वाह हुआ है।

---

(१) "धर्म में सफलता चाहिए" अनभिमुख जातक १।१८२१
(२) 'महाराज यहाँ सबको यहीं देवराजा नि न करेसं चन्दु वातु वनोपि — दिवि जातक १।४११
(३) चाण० ४।२४४
(४) एलफिन्स्टन हिस्टरी ऑफ हिन्दू मोनोथीज्म डाइरेक्शन पृ ११०

'ध्वंसमयी महामाया प्रकृति के निरंतर संहार के संबंध में प्रसाद ने रुद्र का उल्लेख किया है।[१] इससे तुरंत रुद्र के रौद्र और संहारकारी स्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित होता है। ऋग्वेद में रुद्र साधारण श्रेणी के देवता हैं।

रुद्र समस्त ऋग्वेद में केवल तीन मंत्रों में ही उनका उल्लेख हुआ है। यहां वे भूरे रंग उज्ज्वल कांति और सुन्दर अधरों से युक्त हैं। उनके हाथों में वज्र और धनुषबाण हैं। यहीं रुद्र के क्रोध का उल्लेख भी हुआ है। वे पापी तथा विनाश के देवता हैं।[३] यजुर्वेद के काल तक आते आते रुद्र देवताओं की कोटि में आ गये। कालान्तर में रुद्र पूजा का समस्त भारत में प्रचार हो गया और उनका सम्बन्ध शिव से जोड़ा जाने लगा। प्राप सर्वत्र गृह्य सूत्र एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में रुद्र को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। अतः स्पष्ट है कि ई० पू० चौथी शती तक रुद्र की महत्ता स्थापित नहीं हुई थी।[४] गुप्तकाल में तथा उसके उपरान्त रुद्र अथवा शिव के मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। कनिष्क हुविष्क और वासुदेव के सिक्कों में शिव या रुद्र की नंदी युक्त आकृतियों का अंकन मिलता है। उत्तर कुषाण कालीन मूर्तियों में नंदी के सहारे खड़े हुये शिव और पार्वती की एक मूर्ति अत्यन्त ही प्रसिद्ध है।[५] अतः स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ईसवी से रुद्र पूजा का प्रचार हुआ है और गुप्तकाल तक आते आते वे महत्वपूर्ण देवता हो गये। वैष्णव होते हुए भी गुप्त शासकों की एक उपाधि परम माहेश्वर थी। यह उपाधी उनकी शिव भक्ति की ओर भी संकेत करती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र के जिन शकों को पराजित किया वे शिव भक्त थे सौराष्ट्र के क्षत्रप कालीन क्षत्रपों के सिक्कों में सर्वत्र शिव की मूर्तियां बनी हुई हैं।[६] अतः 'स्कन्दगु०' नाटक में रुद्र की चर्चा किसी प्रकार भी इतिहास विरोधी नहीं कही जा सकती। अतः गुप्त काल में रुद्र और उसके साथ साथ शिव का उल्लेख तर्क पूर्ण प्रामाणिक है।

इसी प्रसंग में 'महाकाल' संबंधी चर्चा भी समीचीन है। 'स्कंदगुप्त नाटक' ही उज्जयनी के महाकाल मंदिर का उल्लेख हुआ है। शिव के नामों में से महाकाल भी एक है। रुद्र के संबंध में लिखते हुए हम बतला चुके हैं कि वैदिक देवता रुद्र का संबन्ध कालान्तर में शिव से जुड़ गया और शिव स्वयं प्रधान हो गये रुद्र उनका एक विनाशकारी स्वरूप मात्र रह गया। कथासरित्सागर में "विषय क्षीय सम्बन्ध में

(१) माइनर रिलीजस सैक्ट्स ऐस० बी भट्टाचार्य पृ० ४६६
(२) स्कंद० १।४६
(३) द टैम्पिरैट मैन्स ग्राइस टु द डियन फिलोसोफी पांचका। पृ० १२ ११
(४) वैदिज्म टी० ऐम० पी० महादेवन' पृ० ४६३ ऐज ओफ इम्पीरियल यूनिटी
(५) वही महादेवन पृ० ४६१
(६) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया स्मिथ पृ० ११६
(७) स्कद २ ७६

उज्जयिनी के चित्र का उल्लेख हुआ है और विक्रमादित्य को उसी का प्रवाह स्वरूप माना है।[1] कालिदास ने मेघदूत मे उज्जयिनी के महाकाल की आरती का जो मधुर चित्र खींचा है,[2] उससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि गुप्तकाल मे 'उज्जयिनी के महाकाल' की उपासना का पर्याप्त प्रचार रहा होगा। यहां इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कालिदास ई० पू० प्रथम शती मे थे अथवा प्रसार की मान्यताओं के अनुसार स्कंदगुप्त (ईसवी ५ शती) के समय में।

गुप्तकाल में विष्णु का पूजा की सर्वाधिकार प्रचार था। गुप्त शासक स्वयं भागवत धर्म मानते थे। वस्तुत गुप्तकाल में भागवत धर्म का प्रचार समुद्रगुप्त के काल से हुआ होगा क्योंकि 'गया के ताम्रपत्र मे उसकी उपाधि परमभागवत महाराजाधिराज'[3] है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा चक्रमाणि भगवान के पूर्व महरा के शिलालेखों[4] एवं नालन्दा की कुछ मुद्राओं[5] में उसकी उपाधि 'परमभागवत' है। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के भिटारी[6] और मथुरा के शिलालेखों[7] एवं स्कद के बिहार के शिलालेख[8] में 'विरुद् भागवत' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

वैष्णव धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वैदिक विष्णु और वासुदेव कृष्ण का एकीकरण है।[9] ई० पू० दूसरी शती में ग्रीक शासक अन्तीएलकिडस के राजदूत हेलियोडोरस ने विदिशा में गरुडध्वज स्तंभ का निर्माण किया था। उक्त शासक स्वयं वासुदेव का भक्त था।[10] अतः इसमें संदेह नहीं कि गुप्त काल तक आते आते वासुदेव कृष्ण नारायण और वैदिक विष्णु एक हो गए और वैष्णव धर्म अथवा धर्म में इन सबकी उपासना समान रूप से प्रचलित हो गई। हुविष्क की कुछ मुद्राओं में शख चक्र गदा तथा आवत (कमल के स्थान पर) धारण किए हुए विष्णु का अंकन हुआ है।[11] हुविष्क का काल दूसरी शती ईसवी,[12] अतः इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि दूसरी शती में विष्णु के चक्रपाणि एवं चतुर्भुज स्वरूप की पूजा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख का प्रारम्भ ही विष्णु की प्रार्थना से हुआ है और उसमे उन्हें 'कमलनिलयनाया' भागवत वाम महत्या स जयति विजितार्तिविष्णुरत्यन्त विष्णु कहा गया है।

विष्णु के ही इतर स्वरूपों में 'शेष पर्यंकशायी' एवं 'वटपत्रशायी विष्णु' के उल्लेख महत्वपूर्ण है। मातृगुप्त के एक वाक्य में 'शेष पर्यंकशायी मुधुरिपुनाथ' का

(१) कथासरित्सागर सोमदेव विषमशील लम्बक

(२) अप्यन्यस्मिन्जलधर महाकालमासाद्य काले स्थातव्यं ते नयन विषयं यावदत्येति भानु कुर्वन्सन्ध्या बलिपटहतां शूलिन: श्लाघनीया मामन्द्राणा फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् पूर्व मेघ १८

(३) फ्लीट ३ १ पृ० २५६ (४) वही २ पृ० २७ ७ पृ० १७

(५) मेमोयर्स आफ आर्केलोजिकल सर्वे आफ इंडिया हीरानन्द शास्त्री नं ६६ पृ० ६४, ६६

(६) फ्लीट ८ ३ पृ० ४० (७) वही ३ ६ पृ० ४१

(८) वही ११ पृ० ५० (९) वैष्णविज्म डी० सी० सरकार पृ० ४१

(१०) वही वही पृ० ४१२ दी एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी

(११) वही वही पृ० ४३६ (१२) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० २६

शेष पर्यंकशायी वटपत्रशायी

उल्लेख हुआ है। गुप्त काल में भागवत धर्म में विष्णु के सभी अवतारों एवं सभी रूपों की उपासना का प्रचार हो चला था। 'जगत् के एकार्णवी हो जाने पर भगवान विष्णु कल्पान्त तक शेष-शय्या में योगनिद्रा के वशीभूत रहते हैं।'[1] मार्कण्डेय पुराण के इस उल्लेख में शेष पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ विष्णु ही हैं। कालिदास के रघुवंश में विष्णु के शेषशायी स्वरूप की चर्चा हुई है।[2] इसी प्रकार 'वट पत्र शायी' विष्णु का पूजन भी गुप्तकाल में अवश्य ही प्रचलित रहा होगा।

राम और कृष्ण

प्रसाद ने स्कंदगुप्त नाटक में ही विष्णु के अन्य अवतारों में से राम और कृष्ण का उल्लेख भी किया है हम पूर्व कह चुके हैं कि गुप्त काल भागवत् धर्म के अभ्युत्थान का काल था फलतः विष्णु और उनके अवतारों की पूजा और चर्चा उस काल की धार्मिक स्थिति के सहज परिचायक हैं। भागवत धर्म की सबसे बड़ी विशेषता विष्णु और वासुदेव कृष्ण की अभिन्नता थी। कालिदास के रघुवंश में राम कथा का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।[3] उसी में कौस्तुभ मणि से युक्त कालियमर्दन करने वाले कृष्ण की चर्चा भी हुई है।[4] कालिदास ने स्वयं 'गोपवेषस्य विष्णोः'[5] लिखकर कृष्ण का विष्णु से सीधा सम्पर्क स्थापित कर दिया है।

अप्सरा

अप्सरा और सुरसुन्दरियों की कल्पना भारत की अत्यन्त प्राचीन कल्पना है। वे स्वर्ग की नर्तकियां हैं। वेदों में उषा की भी नर्तकी से उपमा दी गई है। पौराणिक कथाओं में तो अप्सराओं का प्रचुर उल्लेख मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र से ज्ञात होता है कि नाटक में स्त्री पात्रों के लिए अप्सराओं की सृष्टि की गई थी। कुछ भी हो अप्सराओं की कल्पना का गुप्तकाल में भी प्रचलन रहा होगा। प्रसाद ने उर्वशी और रम्भा की चर्चा की है इन दोनों अप्सराओं का उल्लेख कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में हुआ है।

यक्ष

मानवेतर जातियों में यक्ष भी अप्सराओं की ही कोटि में माने जाते हैं।[6] अप्सराओं की तरह यक्ष कल्पना भी प्राचीन है। बौद्ध जातकों में यक्ष सम्बन्धी प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।[7] उपाध्याय इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि व्यवस्थित यक्ष उपासना मौर्य काल के आसपास विकसित हो चुकी थी। भारतीय मूर्तिकला का सर्व प्राचीन नमूना ही एक यक्ष की विशालकाय मूर्ति है। उनका अनुमान है कि कम से कम गुप्त काल तक यक्ष की पूजा का

---

(१) 'योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पान्ते भगवान्प्रभुः'

(२) भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतित विग्रहम् (रघुवंश) १०-७ योग निद्रान्त विशदैः पावनैरवलोकनैः (रघुवंश) १ १४

(३) रघुवंश सर्ग [illegible] १४ त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः वक्षःस्थल व्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् (रघुवंश) ६ ४९

(५) मेघदूत (६) अमरकोष (७) जातक १ ६, २२

...एवर प्रचार रहा होगा ।[1] प्रसाद ने यक्ष का उल्लेख एकमात्र 'राज्यश्री' में किया ... । इतिहास की दृष्टि से हर्ष का काल उत्तर गुप्त काल ही माना जायगा । उक्त उल्लेख में यक्ष की शक्तियों की भी चर्चा हुई है । उसे बाण मारने पर वह लौट कर ...मा जाता है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद ने यक्ष की शक्तियों का उक्त स्वरूप 'पंचावुध जातक' से लिया है । उक्त जातक से ज्ञात होता है कि "बोधिसत्व ने हुला-हल विष से बुझा तीर चलाकर छोड़ा । वह जाकर यक्ष के रोमों में ही चिपक गया---- यक्ष ने उन सभी तीरों को तोड़ मरोड़ कर अपने पैरों के नीचे गिरा दिया और बोधि सत्व के समीप आया ।

भूतनाथ शिव के कई गणों में से भैरव और भैरवी भी हैं । दक्ष यज्ञ में सती के भस्म हो जाने की सूचना जब नन्दी के द्वारा शंकर को मिली तो उनके क्रोध से

भैरव भैरवी

भयंकर स्वरूप वाला भैरव उत्पन्न हुआ जिसका नाम वीर भद्र था । इसी वीरभद्र ने दक्ष यज्ञ का ध्वंस कर दक्ष का वध किया । तन्त्रों में जगदम्बा की अनेक शक्तियों में से भैरवी भी एक मानी गई है ।[3] यह कहना कठिन है कि गुप्तकाल में भैरव भैरवी का क्या स्थान था । इतना अवश्य माना जा सकता है कि सम्भवतः महाकाल, रुद्र और शिव की पूजा के साथ भैरव की पूजा भी होती थी, अथवा तन्त्र सिद्धियों के लिए भैरवी चक्र की साधना में भैरवी का भी पूजन किया जाता था ।

इसके अतिरिक्त राज्यश्री में 'अपदेवता' का उल्लेख भी हुआ है । तन्त्र ग्रन्थों में भूत पिशाच यक्ष राक्षस, गन्धर्व एवं भैरव सभी अपदेवता माने गए हैं ।[4] हम यह

अपदेवता

मान चुके हैं कि यक्ष और भैरव सम्बन्धी उल्लेख इतिहास सुमोदित हैं अतः यह सम्भव है कि उत्तर गुप्त काल में अन्य लोक विश्वासों की तरह अपदेवता सम्बन्धी विश्वास भी अत्यन्त प्रचलित रहा हो । स्वयं प्रसाद ने अपने नाटकों में यत्र-तत्र पिशाचिनी,[5] चुड़ैल[6] पिशाच[7] प्रेत[8] इत्यादि का उल्लेख किया है । वस्तुतः ये लोक विश्वास परम्परागत हैं और आज भी अपने मूल स्वरूप में ही विद्यमान हैं ।

---

(१) "ए रेग्युलर कल्ट सीम्स टु हैव डेवलप्ड ऐज अर्ली ऐज दि मौर्यन पिरियड एंड म्यूमेरस इन्स्टेन्स्ड इमेजेज ओफ दि यक्षाज सपोर्ट दि व्यू दैट देयर वर्शिप हैड स्प्रेड ओवर ए लॉंग रेंज ओफ टाइम डाउन टु दि गुप्ता पीरियड' ।— इण्डिया इन कालिदास पृ० ११८

(२) राज्यश्री (३) प्रिंसिपल ओफ तन्त्र आर्थर ऐवेलन पृ० ४११

(४) शिवस्वर संहिता योग पलावली देवी कवच सप्तशती

(५) स्कंद० २०६४ (६) राज्यश्री २०७०

(७) स्कंद० २ ६१ ६४ (८) वही २.११

लोक–विश्वास

सभी कालों और सभी देशों में लोगों में कई प्रकार के लोक-विश्वास पाये जाते हैं। इस प्रकार के लोक-विश्वास स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं से लेकर शकुन अपशकुन तक को अपने में समेटे चलते हैं। प्राचीन भारतवर्ष में भी इस प्रकार के तर्क-शून्य अन्धविश्वासों अथवा प्रचलित लोक विश्वासों की कमी नहीं थी और न आज ही ऐसा है। प्रसाद के नाटकों में कई प्रकार के लोक विश्वासों का उल्लेख हुआ है।

वाराहमिहिर के अनुसार धूमकेतु आदि केतुओं का उदय और अस्त मनुष्यों के लिए उत्पात रूप होता है। ये धूमकेतु कई रंगों के होते हैं और विभिन्न रंगों और आकार के अनुसार अलग-अलग फल देने वाले होते हैं—

धूमकेतु

धूम्र-ताम्र की-सी कांतिवाला धूमकेतु अनिष्ट फल देता है।—

राजमहल वृक्ष और पर्वत पर प्रकट होने वाला धूमकेतु राजाओं का नाश करने वाला होता है।[1] प्रसाद ने धूमकेतु को 'पीत लोहित रंग का'[2] और 'भयावनी पूंछ वाला'[3] माना है। यह 'आकाश का उच्छृंखल पर्यटक है'[4]—कब इसका उदय और अस्त होता है यह कोई नहीं कह सकता। धूमकेतु का उदय राष्ट्र या देश के लिए अमंगल सूचक है और उसके अशुभ का निवारण करने के लिए शान्ति कराना आवश्यक माना है। शकराज के दुर्ग की ओर भयानक संकेत करने वाला धूमकेतु उसके विनाश का पूर्व सूचक बना। अन्यत्र भी लाक्षणिक रूप में धूमकेतु का प्रयोग प्रसाद ने किया है।[5] नारद और वाराहमिहिर इत्यादि ने पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण में उदय होने वाले केतुओं के विभिन्न देशों पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा के साथ-साथ उनकी शान्ति के उपाय भी बताये हैं। कालिदास ने तारकासुरको 'लोक की समाप्ति के लिए धूमकेतु कहा है।[6] बाण ने स्थाण्वीश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु के पूर्व होने वाले जिन सोलह प्रकार के महोत्पातों का वर्णन किया है उनमें धूमकेतु का उदय भी एक है। राजा के अनिष्ट की सूचना देने वाला धूम्रावेष्टित अग्निज्वाल से युक्त धूमकेतु आकाश में उदय हुआ।[7] स्पष्ट ही धूमकेतु सम्बन्धी लोक-विश्वास का सम्बन्ध ज्योतिष के एक अङ्ग से है जो पर्याप्त प्राचीन है—इतिहासकारों के अनुसार कम से कम गुप्त-कालीन तो है ही। धूमकेतु के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण प्रसाद से मिलता जुलता है।

---

(१) बृहत्संहिता—(वाराहमिहिर) की शुभाशुभ फल वाली

पश्चात् सन्ध्याकाले संवर्तो नाम धूमताम्रशिखः ।

आक्रम्य वियदर्धं शूलाग्रावस्थितो रौद्रः ॥

यावन्त्येव मुहूर्तान् दृश्यो वर्षाणि हन्ति तावन्ति ।

भूपान् शस्त्र निपातैरुदयर्क्षं चापि पीडयति । —११।२१—२२

(२) अ०श० २।४४ (३) वही ९। ४

(४) वही २।४४ (५) स्कंद० ३।७१

(६) कुमार संभव २।३२ (७) हर्षचरित ३।१४४

कभी-कभी जलते हुए तारे या मुग्दर की आकृति के पिण्ड आकाश से पृथ्वी की ओर गिरते हुए दिखाई देते हैं। इनकी लपट मोर के रंग की होती है। इन्हें ही

उल्कापात

उल्कापात कहते हैं।[1] ये उल्कायें भी कई प्रकार की होती हैं और धूमकेतु के समान ही विनाश की सूचक हैं।[2] प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन के द्वारा नीलगगन से भयंकर उल्कापात
२ की सूचना देकर कुमारगुप्त की मृत्यु की ओर संकेत किया है।[3] सांकेतिक रूप में भी स्कन्दगुप्त विजया को अपनी मुस्कराहटों का उल्कापिंड कहकर अपनी प्राचीन समाप्ति की सूचना देता है।[4] हर्षचरित में भी ठीक इसी प्रकार उल्कापात को महोत्पात कहा गया है।[5]

दिग्दाह।

धूमकेतु के समान ही दिग्दाह भी अपशकुन विप्लव और विनाश का सूचक माना गया है। दिशाओं की यह अग्नि यदि पीली हो तो राजा का और अग्निवर्ण हो तो राष्ट्र का और यदि ललाई से युक्त हो तो धान्य का नाश होता है।[6] 'काम बाणों' में दिग्दाह का धूम मन्द और विनाश का सूचक है।[7] बाण द्वारा गिनाए हुए सोलह उत्पातों में दिशाओं का दिग्दाह से धूमायमान हो जाना भी एक है।[8]

प्रतिमा का हँसना

प्रतिमा सम्बन्धी अपशकुन भी पर्याप्त प्राचीन है। वाराहमिहिर ने समय असमय प्रतिमाओं में किसी भी प्रकार के अस्वाभाविक लक्षण प्रकट होने पर उनके शुभाशुभ का निर्णय कर उसकी शान्ति का विधान किया है।[9] हर्षचरित में 'प्रतिमा के हँसने का' कुसुमास्त्र' भी एक उत्पात माना गया है।[10] मानस के एक व्याख्याकार ने इस सम्बन्ध में एक टिप्पणी इस प्रकार दी है—"जिस देश में कुएं गरजते हैं और प्रतिमा हँसती है उस देश का नाश होता है—ऐसा मुनियों का मत है। यहाँ के हँसने और मुस्कराने में अन्तर मानते हुए मूर्ति के ठठाकर हँसने का अपशकुन मानते हैं।[11] 'राज्यश्री' में ग्रहवर्मा की विजय के निमित्त प्रार्थना करने के लिए राज्यश्री मन्दिर में जाती है पर सहसा अट्टहास सुनकर प्रतिमा के हँसने की अपशकुन की आशंका से वह मूर्छित हो जाती है। उसी समय सचमुच ग्रहवर्मा की मृत्यु का समाचार भी मिलता है।

---

(१) बृहत्संहिता ३३ श्लोक १—३०

(२) दिवि भुक्तशुभफलानां पततां रूपाणि यानि तान्युल्का। धिष्ण्योल्काशनिविद्युत्तारा इति पंचधा भिन्ना॥—बृहत्संहिता ३३।१

(३) स्कन्द० १।२९ २।२३

(४) स्कन्द ३।८६

(५) हर्षचरित ३ १४४

(६) दाहो दिशां राजभयाय पीतो देशस्य नाशाय हुताशवर्णः। यश्चारुणः स्यादपसव्यवायुः स सस्य नाशं स करोति दृष्टः।—बृहत्संहिता (वाराहमिहिर) ३३।

(७) काम० २।१७४

(८) हर्षचरित ५।१४४

(९) बृहत्संहिता अ० ४४। श्लोक ६

(१०) हर्षचरित ५।१४४

(११) गर्जन्ति कूपा प्रतिमा हसन्ति। तद्देश नाशो मुनियो वदन्ति। मानस पीयूष (शीतला सहाय) बालकाण्ड २१५

भविष्यवाणी

प्राचीन काल में ऋषि-महात्माओं के मुख से निःसृत भविष्यवाणियों प लोगों का बहुत विश्वास था। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार भारत के कई ब्राह्म सही सही भविष्यवाणियां कियाकरते थे। यदि वैताण् किसी की वाणी ठीक न उतरती तो वह आजन्म मौन धारण कर लेता था[1] कालिदा ने 'दैवचिन्तकों' के रूप में जिन भविष्यवाणियों का उल्लेख कि है। उनका सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र से है।[2] 'चन्द्रगुप्त' नाट म दाण्ड्यायन मलयकेतु को सावधान करते हुए चन्द्रगुप्त के भावी भारत सम्राट हो की भविष्यवाणी करता है।[3] सिकन्दर जैसे विदेशी और वीर पुरुष को भी भविष्य वाणियों के प्रायः सत्य होने में विश्वास है।[4]

ज्योतिष

कालिदास के दैवचिन्तक के समान ही शुक्रनीति में ज्योतिषी के लक्षण भी कर्त्तव्यों का उल्लेख मिलता है।[5] इन ज्योतिषियों में एक प्रकार के ज्योतिषी 'मौहूर्तिक' कहलाते थे। इनका कार्य मुहूर्त का शुभा-शु विचार करना होता था। इसके अतिरिक्त सम्भवतः वे विवा के लिए वर कन्या की कुण्डली का मिलान भी किया करते थे अर्थशास्त्र में मौहूर्तिक का उल्लेख मिलता है। ऐसे मौहूर्तिक राज पुरुष होते थे और उन्हें एक सहस्र मुद्रा वार्षिक वेतन मिलता था।[6] 'हर्षचरित' में गणक[7] और मौहूर्तिक[8] दो प्रकार के ज्योतिषियों का उल्लेख हुआ है। राज्यश्री के विवाह के लिये कुण्डली मिलाने की चर्चा तो उसमे नहीं है किन्तु गणक द्वारा लग्नशोधन का उल्लेख अवश्य किया है।[9] वात्स्यायन ने विवाह के निर्णय के लिए वर और कन्या के विभिन्न प्रकार के साम्य निश्चित करने की चर्चा की है।[10] वात्स्यायन का युग भारतीय गणित विद्या तथा ज्योतिष शास्त्र दोनों के विकास और उत्थान का काल था और उसी समय वराहमिहिर जैसे आचार्यों ने उक्त शास्त्र का विस्तार किया।[11] अतः विवाह के सम्बन्ध में ग्रह विचार को यदि प्राचीन मान लिया जाय तो कोई विशेष आपत्ति नहीं।

---

(१) ऐंशियण्ट इण्डिया (मैक्रिंडल) पृ० ११६-१७ (मेगास्थनीज, एरियन)
(२) मालविक ४।६ (३) चन्द्र० १।१०
(४) चन्द्र २।१११ (५) शुक्रनीति २।८०
(६) अर्थशास्त्र ५।३।१४ (७) हर्षचरित ४।१४२
(८) हर्षचरित ४।१४६
(९) गणमानियुक्त गणक समासाद्य सम्यग्गुणम् ।—वही ४।१४२
(१०) कामसूत्र (स्टडीज इन—पं० कस्तूर) पृ० १२६
(११) वही पृ० १२६

बौद्ध धर्म के पतन काल में तन्त्रयान का विकास हुआ और तन्त्र सिद्धि में लोगों का विश्वास होने लगा। स्कंदगुप्त नाटक में प्रपंचबुद्धि बहुत° कुसोमुख बौद्ध धर्म का प्रतिनिधि है। वह प्रज्वलित कठोर नियति का नील आवरण उठाकर झांकने वाला है।[1] भूत भविष्य और वर्तमान का नियामक रक्षक और द्रष्टा है।[2]

तांत्रिक सिद्ध

कुमारगुप्त की मृत्यु उसके मारण-प्रयोग का परिणाम है और इस प्रयोग के लिए वह भाद्रपद की अमावास्या का दिन चुनता है। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वह महाश्मशान में उग्रतारा की साधना करता है और उस के लिए नरबलि देने में भी नहीं हिचकता। प्राचीन भारत में इस प्रकार के तांत्रिक और उनकी मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि अभिचार क्रियाओं पर लोगों का पूरा विश्वास था। बाहर के बुद्ध धर्म सम्बन्धी विवरणों में ४०० ई० के आसपास एक काश्मीरी भिक्षु का उल्लेख मिलता है जो अपनी तांत्रिक सिद्धि के बल पर राज्यों के सम्बन्ध में भविष्यवाणियां किया करता था। और उसके ये भविष्यकथन अधिकतर सत्य होते थे।[3] ह्वेनसांग के वर्णनों से ज्ञात होता है कि देवी के उपासक तांत्रिकों में नरबलि ... गया थी।[4] हर्षचरित में भैरवाचार्य के क्रियाकलापों के अतिरिक्त नरमांस विक्रय ... उल्लेखों से तांत्रिक-सिद्धियों एवं नरबलि की ओर प्रत्यक्ष संकेत किया गया है।[5]

---

(१) स्कंद० १।२९
(२) वही २।६०
(३) बुद्धिज्म (रिकार्ड कोश पृ० ७९)
(४) लाइफ आफ ह्वेनसांग—पृ० ८९
(५) हर्षचरित—तृतीय और पंचम उच्छ्वास।

प्रणय विवाह

प्रसाद के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों में प्रणय तथा विवाह के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई है परन्तु प्रणय के सम्बन्ध में प्रसाद ने अपने पात्रों को जितनी अधिक स्वतन्त्रता दे रखी है उतनी स्वतन्त्रता कम से कम प्राचीन भारतीय समाज में भी मिलनी कठिन थी। प्रसाद स्वच्छन्द प्रेम को अपना लक्ष्य मानकर चले हैं। स्वभावतः उनकी नारियाँ भी उसी आधार को लेकर प्रणय के क्षेत्र में आँख मूँदे चल पड़ी हैं। बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता न स्वातंत्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि। बाल्ये पितुर्वशेतिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने पुत्राणां भर्तरिप्रेतने नभजेत्स्त्रीस्वतन्त्रताम्'¹ जिसने वाला समाज का अधिष्ठाता पता नहीं प्रसाद के प्रेमी-प्रेमिकाओं के विषय में क्या मन्तव्य प्रगट करेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्मुक्त प्रेम के जिन नाना स्वरूपों को चित्रित कर सकने में प्रसाद सफल हुए हैं वे सभी प्रसाद की स्वच्छन्द प्रेम सम्बन्धी भावनाओं के परिचायक तो अवश्य हैं किन्तु प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित प्रणय सम्बन्धी परिस्थितियों के यथातथ्य प्रकन नहीं हैं। यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार ने अपने काव्य और नाटकों में भी उन्मुक्त और उद्दाम प्रणय के मनोरम चित्र खींचे हैं और इसमें उन्होंने भी संस्कृत के प्राचीन कवियों द्वारा प्रस्तुत श्रृंगार योजना की परम्परा का ही निर्वाह किया है। अतः यह मानना अनुचित नहीं कि प्राचीन भारतीय समाज प्रणय सम्बन्धी स्वतन्त्रता का पक्षपाती रहा होगा। किन्तु यहाँ दो बातें ध्यान में रखना आवश्यक है जहाँ तक काव्यग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें कवि स्वातन्त्र्य और कवि कल्पना को धरती का कोड़ छोड़कर आकाश में उन्मुक्त विहार करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। अधिकांश नाटक ग्रन्थों में भी कथानकों के पौराणिक अथवा दंत कथाओं के मिश्रित स्वरूप से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्ति सम्बन्धी प्रणय की स्वच्छन्दता का चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए कथासरित्सागर के उदयन सम्बन्धी एक ही कथानक को लेकर लिखे गए भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण¹ और श्री हर्ष की 'रत्नावली' को लिया जा सकता है। इन दोनों नाटकों में उदयन के ऐतिहासिक चरित्र की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया है। उसका प्रणय व्यापार ही नाटककार का लक्ष्य है साथ ही इस प्रकार के नाटकों में नायक के धीरोदात्त होते हुए भी उसको एक सम्माननीय संस्था का स्वरूप देने का प्रयास नहीं किया गया है। यही बात कालिदास तथा संस्कृत के अन्य बहुत से नाटककारों के सम्बन्ध में भी

---

(१) मनुस्मृति ५।१४७ ४८

कही जा सकती है। इसके ठीक विपरीत विशाखदत्त के मुद्राराक्षस एवं 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में ऐतिहासिक पक्ष की प्रधानता होने के कारण तत्कालीन समाज द्वारा निर्धारित प्रेम शृंगार एवं प्रणय का पक्ष कम मिलता है। प्रसाद के नाटक रचना-तन्त्र की दृष्टि से दूसरी कोटि के हैं अर्थात् ऐतिहासिक हैं अतः इन नाटकों में चित्रित भारतीय समाज में स्वच्छन्द प्रणय की चर्चा नाटक के ऐतिहासिक स्वरूप को कुछ भ्रष्ट अवश्य कर देती है।

कालिदास जैसे नाटककारों की रचनाओं पर भी सूक्ष्म विचार करने के उपरांत यह निष्कर्ष अच्छी तरह से निकाला जा सकता है कि कालिदास के काल में भी स्वच्छन्द प्रणय की सम्भावनाएँ अधिक नहीं थीं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यंत कहता है 'सुना जाता है (श्रूयते) कि अनेक राजकन्याओं का विवाह गांधर्व पद्धति से हुआ और उनके माता पिता ने इस प्रकार के विवाह का अनुमोदन किया'।[1] इससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक गांधर्व विवाह जैसी स्वतन्त्र विवाह की पद्धति की मान्यता कम हो चली थी।[2] श्लोक में 'श्रूयते' (सुना जाता है) शब्द यही सूचित करता है कि उस समय उन्मुक्त प्रेम के फलस्वरूप होने वाले विवाह अधिक प्रशंसनीय नहीं माने जाते थे। अतः प्रसाद के नाटकों के किसी भी काल में स्वतन्त्र प्रेम-जन्य विवाह सामाजिक रिवाज के रूप में प्रचलित नहीं थे भले ही कहीं एकाध इस प्रकार होते रहे हों। स्मृति ग्रन्थकारों द्वारा ही नहीं वरन् कामसूत्र प्रणेताओं द्वारा भी समाज में स्वच्छन्द और उन्मुक्त प्रणय सम्बन्ध वांछनीय नहीं माना गया है।[3]

प्रसाद के नाटकों में प्रणय के दो रूप मिलते हैं। एक समाज में स्वच्छन्द प्रेम जिसमें देश काल जाति वर्ग का कोई भेदभाव नहीं। उदाहरण के लिए श्रेष्ठि कन्या विजया का स्कंद भटार्क तथा कहीं-कहीं पुरगुप्त के प्रति प्रेम[4] शांतिभिक्षु की महारानी राज्यश्री के प्रति आसक्ति,[5] मालवराज देवगुप्त का सुरमा मालिन के प्रति प्रेम[6] सिन्धु देश की साधारण कन्या मालविका का महाराज चंद्रगुप्त के प्रति प्रेम[7]

(१) अभिज्ञान शाकुन्तलम् (कालिदास) ३ २०

(२) दि कस्टम हैड लौंग बिकम ओब्सोलीट ऐंड फ्रौम दि ऐक्सप्रेशन्स औफ दि पोयट इट इज़ इविडेन्ट दैट इट वाज़ ऐटलीस्ट नौट प्रिवेलैंट ड्यूरिंग दी टाइम औफ दी पोयट एक्सेप्ट इन केस औफ ए फ्यू ऐक्सिडेंटल सिचुएशन्स टु इंडिकेट। — इण्डिया इन कालिदास (भगवतशरण उपाध्याय) पृ १८२

(३) कामसूत्र (वात्स्यायन)

(४) स्कंद २।५१ २७१ ३।११

(५) राज्यश्री १।२४

(६) राज्यश्री १।२२

(७) चंद्र ४।२०७

लिए जा सकते हैं। यह एक प्रकार का उच्छृंखल सा प्रेम प्रतीत होता है जिसे समाज में मान्यता दे दी और समाज का एक सामान्य व्यापार हो गया। प्रणय का दूसरा प्रकार समान कुलशील और स्थितियों के व्यक्तियों में विवाह से पूर्व प्रेम सम्बन्ध है उदाहरण के लिए वाजिरा अजातशत्रु[1], चन्द्रगुप्त कार्नेलिया[2] अलका सिंहरण[3] स्कंद देवसेना[4] का प्रेम लिया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रेम सम्बन्धों पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। ये सब सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संमान्यताएं होने के साथ-साथ प्राचीन नैतिकता एवं सामाजिक नियमों के विरोध में भी नहीं हैं।

प्रणय

प्रसाद के द्वारा चित्रित समाज में स्त्री पुरुष का स्वतन्त्र प्रणय चाहे वह कालान्तर में विवाह सम्बन्ध के रूप में परिणित हुआ हो अथवा न हुआ हो अत्यन्त प्रचुर परिमाण में मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह उस काल के समाज में सहज था। यह प्रणय कभी स्त्री की ओर से मुखर होता है और कभी पुरुष की ओर से। वाजिरा[5], कोमा[6] विजया[7] सुवासिनी[8] और कल्याणी[9] का प्रणय नारी की ओर से मुखर हुआ है। अलका[10] कार्नेलिया[11] मालविका[12] ध्रुवस्वामिनी[13] देवसेना[14] तथा सुरमा[15] का प्रणय या तो पुरुष की ओर से मुखरित हुआ है या दोनों के सम्बन्धों के क्रमिक विकास से। इससे प्रतीत होता है कि विवाह से पूर्व प्रेम के सम्बन्ध में पुरुष और स्त्री दोनों स्वतन्त्र थे। उन दिनों जाति-पांति और देश-काल से परे पारस्परिक प्रेम का ही अधिक महत्व प्रतीत होता है। चाहे स्त्रियां कुलीन राजकुमारियां हों चाहे वे साधारण मालिन दोनों ही उन्मुक्त और स्वतंत्र प्रेम का आश्रय लेती हैं और समाज इसमें किसी भी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं करता। इस समाज के नारी पुरुष के प्रणय का अन्त विवाह में ही हो यह आवश्यक नहीं वरन् प्रणय केवल प्रणय के लिए भी किया जाता है। प्रेम और प्रणय का कोई देश काल नहीं होता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में उसके स्वरूप में भिन्नता भले ही हो, परन्तु वह किया अवश्य

---

(१) अजात० ३।११४

(२) चंद्र० १।९६ (३) चंद्र० २।१५६ (४) स्कंद० ३।६७

(५) अजात १।११४ ११५ (६) ध्रुव २।१५, ३६ ३७

(७) स्कंद ५।१४१ १४२ १४३ (८) चंद्र. १।७२ (९) चंद्र ४।१६५, १६६

(१०) चंद्र. २।११४

(११) चंद्र २।११० ४।२४१

(१२) चन्द्र ३।१७९, ४।२०७ २।१११

(१३) ध्रुव १२६ ३१

(१४) स्कंद ५।१३६, १४० (१५) राज्यश्री १।२३ २४

जाता है। प्रसाद के नाटकों में विवाह से पूर्व प्रणय का कोई निश्चित स्वरूप नहीं मिलता। कहीं-कहीं तो प्रथम दर्शन में ही स्त्री पुरुषों में प्रणय अंकुरित हो जाता है और कालान्तर में परिस्थितियों के कारण घट बढ़ जाता है, कहीं बाल्यावस्था के परिचय से प्रेम का विकास होता चलता है, कहीं केवल सौन्दर्य और कहीं कला माध्यम रहे हैं। विजया और अलका का प्रेम प्रथम प्रकार का प्रेम है, सुवासिनी चन्द्रगुप्त कल्याणी चन्द्रगुप्त और कोमा शकराज का प्रेम दूसरे प्रकार का है देवसेना और शानसिया का प्रेम तीसरे प्रकार का है, मालविका का प्रेम सौन्दर्यासक्ति है और सुवासिनी तथा राक्षस का प्रेम अन्तिम प्रकार का है। प्रेम के इन प्रकारों का इतिहास साक्षी नहीं हो सकता। हाँ विवाह से पूर्व के प्रणय के महत्त्व का साक्षी आपस्तम्ब गृह्य सूत्र[1] का यह वाक्य है जिससे मन और चक्षु आबद्ध हो जाय उससे ही विवाह करना वांछनीय है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास में अनुराग और प्रणय के स्वरूप उपलब्ध नहीं होते। नाटक ग्रन्थों नाटकों काव्य ग्रन्थों एवं सांस्कृतिक इतिहास की अन्य सभी उपलब्ध सामग्री में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी नारी और पुरुष के इस स्वाभाविक आकर्षण की मधुरता यथावत् थी। ऊपर 'आपस्तम्ब गृह्य सूत्र' का जो वाक्य उद्धृत किया गया है वह तो केवल उस आकर्षण को नैतिकता और सामाजिक स्वीकृति भर प्रदान करता है। प्रसाद का यह वाक्य इसका समर्थन करता है कि प्रणयार्थी को कन्या के रूप और गुण का ग्राहक अथवा ग्राहक होना चाहिए।[2]

विवाह

प्रत्येक देश जाति और समाज में विवाह के स्वरूपों में भिन्नता होती है और यह भिन्नता भी काल क्रम के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में विवाह-पद्धति सादा स्वरूप्या सरल थी। स्मृतियों के काल तक आते-आते उसमें पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित हो गए और विवाह के कई प्रकार भी बन गये। स्मृति के इन नियमों का प्रभाव कालान्तर के इतिहास में दूर तक चलता रहा इनकी पद्धतियों में भी कभी शिथिलता आती रही और कभी संकोच किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नामों के न रहने पर भी विवाह की पद्धतियों और प्रकारों में बहुत बाद तक भी अन्तर नहीं हुआ।

प्रसाद के अनुसार 'विवाह एक सामाजिक नियम का बन्धन है'[3] परन्तु साथ ही 'स्त्री और पुरुष में योग्य परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग

---

(१) आपस्तम्ब गृह्य सूत्र १।३।२० 'यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यां ऋद्धिर्नेतरामाद्रियेतेत्येके'।

(२) चंद्र. ३।१६७

(३) वही ३।१९७

होना आवश्यक है।[1] यदि ऐसा न हो तो धर्म-भीरु विवाह एक खेल है।[2] इसी उद्देश्य को सामने रखकर संभवतः प्राचीन धर्म ग्रन्थों में धर्म पत्नी और 'सहधर्मचर्या'[3] जैसे प्रयोगों का महत्व होगा। 'सहोभौचरतां धर्ममिति वाचानुभाष्यच'[4] में भी 'सहोभौ' जैसे प्रयोग इस दृष्टि से अत्यन्त सार्थक जान पड़ते हैं।

प्रसाद के नाटकों में विवाह के विभिन्न प्रकारों का स्वतंत्र रूप से उल्लेख नहीं हुआ है केवल एक स्थान पर 'राक्षस विवाह'[5] का नामोल्लेख अवश्य किया गया है। उक्त विवाह के विषय में यह ज्ञात होता है कि कन्या विजयोपहार के स्वरूप कुल में आई है,[6] और अग्नि की वेदी के सामने दुःख-सुख में साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा[7] और कुल पुरोहित द्वारा पढ़े गये मन्त्रों से यह विवाह सम्पन्न[8] हुआ है। मनुस्मृति में राक्षस विवाह की परिभाषा इस प्रकार है 'रोती चिल्लाती हुई कन्या का उसकी और उसके माता-पिता की इच्छा के विपरीत बलपूर्वक हरण कर ले जाना राक्षस विवाह है।[9] उक्त परिभाषा की कसौटी पर कसने पर ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का यह विवाह राक्षस विवाह नहीं ठहर पाता। ध्रुवस्वामिनी का बलात् अपहरण नहीं किया गया था किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि कन्या प्रणय के कारण गुप्त कुल में नहीं आई थी। अन्य की वाग्दत्ता[10] होने के कारण इस विवाह में उसकी अनिच्छा ही रही होगी। इस विवाह में उसके माता-पिता की इच्छा भी नहीं जान पड़ती क्योंकि नाटक में इस विवाह को माता-पिता के प्रमाणों से विहीन कहा गया है।[11]

विवाह के प्रकार
राक्षस

राक्षस विवाह का उल्लेख करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं 'अन्य ग्राम अथवा उद्यान से आती हुई कन्या के सहायकों और रक्षकों को डराकर अथवा मारकर कन्या का बलात् अपहरण करना राक्षस विवाह है'।[12] ध्रुवस्वामिनी बलात् अपहृत तो नहीं है किन्तु प्रसाद ने उसके गुप्त कुल में आने का कारण यह माना है कि समुद्रगुप्त

---

(१) ध्रु० ३।५२
(२) ध्रु० ३।५२
(३) कौटिल्य अर्थशास्त्र ३।३
(४) मनुस्मृति ३।३०
(५) ध्रु० ३।५२
(६) ध्रु० १।२१
(७) वही १।२४
(८) वही ३।५१
(९) मनुस्मृति ३।३३ 'हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।
(१०) ध्रु० ३/५५
(११) ध्रु० ३/६२
(१२) 'ग्रामान्तरमुद्यानं वा गच्छन्तीं विदित्वा सुसंभृतसहायो नायकस्तदा रक्षिणो वित्रास्य हत्वा वा कन्यामपहरेदिति विवाहयोगाः'
'कामसूत्र' पृ० १२२ (बनारस संस्करण दामोदरलाल गोस्वामी)

को विनिमय में वह उपहार स्वरूप दी गई थी।[1] अतः वह अपहृता अवश्य है इस अपहृता कन्या का अग्नि की साक्षी में विधिपूर्वक जो विवाह संस्कार कराया गया है वह भी शास्त्र-सम्मत है। बौधायन[2] और वशिष्ठ[3] दोनों का मत है कि बलात्कार हरी हुई कन्या का यदि विधिपूर्वक मंत्रोच्चार से विवाह न किया गया हो तो वह कुमारी के समान मानी जायगी। देवल भी गान्धर्व पैशाच और राक्षस तीनों प्रकार के विवाहों में अग्नि साक्षी द्वारा वैवाहिक विधि आवश्यक मानते हैं।[4] इस द्वितीय संस्कार के उपरान्त फिर कन्या कुमारी नहीं मानी जाती।[5] अतः प्रसाद ने जिसे राक्षस विवाह बतलाया है उसमें विवाह की पूर्ण संपन्नता के लिये अग्नि की साक्षी तथा मंत्रोच्चार आवश्यक है। इन दोनों का उल्लेख नाटक में किया गया है।

प्रसाद ने अन्य प्रकार की विवाह पद्धतियों का नाम नहीं लिया है परन्तु शास्त्रोक्त लक्षणों से मिलते-जुलते पैशाच और गांधर्व विवाह का संकेत अवश्य किया है।

मनु के अनुसार सोती हुई उन्मत्त कन्या के साथ एकान्त में बलात्कार पैशाच विवाह कहलाता है और यह सबसे निकृष्ट विवाह है।[6] इस प्रकार पैशाच विवाह प्रसाद के नाटकों में वस्तुतः कहीं हुआ नहीं है "(पर्वतेश्वर)

पैशाच

मुझे भ्रष्ट करके अपनी संगिनी बनाकर पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को वह था चन्द्रगुप्त'[7] कल्याणी के इस कथन से पैशाच विवाह की ध्वनि अवश्य निकलती है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कल्याणी न तो सुप्ता थी न मत्ता और न प्रमत्ता अतः पैशाच विवाह की चर्चा असंगत है किन्तु वह असहाय और बन्दी थी।[8] अरक्षिता कुमारी से बलात्कार करके संगिनी बनाने का प्रयत्न पैशाच विवाह के अन्तर्गत ही आ सकता है।

---

(१) प्र.च० १/२९

(२) बौधायन धर्म सूत्र ४/१/१५ बलाच्चेत् प्रहृता कन्या मंत्रैर्यदि न संस्कृता।

(३) वशिष्ठ १७/७३ अन्यस्मै विधिवद् देया यथा कन्या तथैव सा।

(४) गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः (कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः) समयेनाग्निसाक्षिक देवल (कुल्लूकभट्ट मनुस्मृति में) ८/२२६

५) मनुस्मृति ८/२२६

(६) 'सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहोयत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधम मनुस्मृति ३/३४

(७) चंद्र० ४/१९५

(८) चंद्र० ४/१९४

यद्यपि प्रसाद ने गान्धर्व विवाह का भी उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके नाटकों में कुछ विवाह गान्धर्व विधि से हुए प्राप्त होते हैं। गान्धर्व विवाह का लक्षण

गान्धर्व

मनु ने इस प्रकार दिया है 'कन्या और वर दोनों की इच्छा से होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं और यह विवाह कामनामूलक होता है'।[१] इस विवाह का स्पष्ट रूप माधविका और प्रबोध का एक दूसरे को माला और अंगूठी पहिनाने में दीख पड़ता है। गांधर्व विवाह की पारस्परिक प्रतिज्ञा का स्वरूप इन वाक्यों मे स्पष्ट झलकता है "अब प्राणनाथ मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पित करती हूँ।" "मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ। प्रिये हम तुम अभिन्न हैं। यह जंगली हिरन इस स्वर्गीय संगीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है। अब यह तुम्हारे प्रेमपाश में पूर्ण रूप से आबद्ध है।"[२] यह संवाद तुरन्त ही हमारा ध्यान कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल की ओर आकृष्ट करता है जहाँ कण्व ऋषि की अनुपस्थिति में शकुन्तला और दुष्यन्त का इसी प्रकार गांधर्व विवाह हुआ है। कन्या आत्मसमर्पण कर चुकी है अतः एक प्रकार से यह विवाह वहीं हो चुका है। कालान्तर में माता पिता की आज्ञा से वर वधू का वेष'[३] धारण करना भी गांधर्व विवाह का एक अंग है। इस प्रकार के विवाह के सम्बन्ध में वात्स्यायन का कथन है 'अपनी अभीष्ट कन्या को किसी प्रकार बुलाकर नायक किसी श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाए और कुशासन में बैठकर अग्नि में आहुति देकर तीन बार दोनों उसकी परिक्रमा करें। तदुपरांत माता पिता को इसकी सूचना दे दें।'[४] प्रसाद ने अग्नि की तीन परिक्रमाएं न कराकर अंगूठी और माला पहिना दी है। इस प्रकार इसमें आधुनिक संस्कारों की भी कुछ छाया प्रतीत होती है।

और भी कई विवाहों का वर्णन प्रसाद के नाटकों मे आया है पर न तो उनके नाम प्रसाद ने ही दिये हैं और न उसके विषय में स्पष्ट संकेत ही मिलते हैं। इतना स्पष्ट है कि अन्य सभी विवाह या तो कन्या के माता-पिता की आज्ञा

---

(१) इच्छयान्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गांधर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः
मनुस्मृति ३/३२

(२) ध्रुवा० १/११९

(३) ध्रुवा० १/१२८

(४) अभिपन्नामभिप्रेतामकार्यतिनीं नायकः श्रोत्रियागाराद्ग्निमानाय्य कुशानास्तीर्य यथास्मृति हुत्वा च त्रिः परिक्रमेत्। 'ततो मातरि पितरि च प्रकाशयेत्'।
कामसूत्र। वात्स्यायन पृ० २१६,२२०

से अथवा भाई की इच्छा से ही संपादित हुए। अलका के विवाह में आम्भीक के पास से स्वयं निमंत्रित होकर, परिणय संपादन कराने उस दल के साथ सिकन्दर भी आवेगा'[1] इस वाक्य से ज्ञात होता है कि आम्भीक ही अलका के विवाह का संपादन कर रहा है। सुवासिनी का राक्षस से प्रणय होते हुए भी वह विवाह के लिये पिता की अनुमति आवश्यक मानती है।[2] इसी प्रकार कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह में भी सिल्यूकस अपनी प्रसन्नता प्रकट कर दोनों का हाथ मिलाता है।[3] कहना न होगा कि 'हाथ मिलाना' पाणिग्रहण का अर्थ देता है किसी विशेष ग्रीक पद्धति से इसका सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाह मनु द्वारा प्रशंसित ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों में से किसी एक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। ऐसा समझने के कई कारण हैं। एक तो इनके विषय में विधिवत विवाह से पूर्व अन्य किसी भी प्रकार के सांकेतिक विवाह अथवा वन प्रयोग इत्यादि का उल्लेख नहीं मिलता, दूसरे ये विवाह गुरुजनों की अनुमति से हुए हैं और तीसरे पिता के द्वारा कन्या संप्रदान[4] तथा परिणय में आचार्य[5] का उल्लेख भी इनमें से कुछ विवाहों के प्रसंग में हुआ है। एक और प्रकार का विवाह 'आसुर विवाह' कहलाता है जिसमें कन्या के माता पिता को धन देकर विवाह किया जाता है। प्रसाद ने स्पष्टतः किसी आसुर विवाह का उल्लेख नहीं किया है किन्तु यदि प्रसाद सुरमा तथा देवगुप्त और मागंधी तथा उदयन के विवाहों का उल्लेख करते तो ये विवाह आसुर विवाह कहे जा सकते। देवगुप्त और उदयन दोनों राजा हैं, सुरमा मालिन है[6] और मागंधी स्वयं अपने आप को दरिद्र[7] कन्या बतलाती है। कन्या अथवा कन्या के ज्ञातियों में महत्त्वाकांक्षा और वैभव की इच्छा इस प्रकार के विवाह में सहायक होते हैं।[8]

'स्कंदगुप्त' नाटक में एक विचित्र प्रकार की विवाह पद्धति का निर्देश हुआ है। विजया अनपेक्षित ही राजसभा में कह देती है 'मैंने भटार्क को वरण किया है'।[9] इतने मात्र से यह विवाह मान लिया गया है। इसीलिये महादेवी देवकी की समाधि पर भटार्क स्पष्ट ही अपने को उसका पति बतलाता है।[10] इस वरण को

---

(१) चंद्र० ४/११७ (२) चंद्र ४/२५१ (३) चंद्र० ३/१५६
(४) चंद्र० ३/१५९ (५) वही ४/२१५
(६) राज्यश्री १/१२ (७) अजात० १/४४
(८) 'ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते । मनुस्मृति ३/३१
९) स्कंद० २/८२
(१०) वही

घोषित करने के पूर्व न तो विजया और भटार्क के प्रेम की सूचना कहीं मिलती है न कहीं उन दोनों के प्रेमालाप की। वीरत्व व्यंजक मनोहर मूर्ति[1] पर वह आकृष्ट हुई है यहीं पर यह आकर्षण एक पक्षीय है। गोविन्दगुप्त द्वारा भटार्क के बन्दी[2] किये जाने के कारण उन दोनों में इससे पूर्व विवाह सम्बन्धी किसी चर्चा का होना भी संभव नहीं। 'मैंने भटार्क को वरण किया है' से कामसूत्र की स्वयं प्रार्थिता कन्या[3] का स्मरण हो आता है जिसके अनुसार यदि मातृ पितृ-हीन कुलीन गुणवती किन्तु धनहीन यौवन प्राप्त कन्या का वरण समान कुलशील का व्यक्ति नहीं करता तो कन्या स्वयं अपना वर चुन लेती है। स्वयं प्रार्थिता होने पर भी विजया का यह कार्य प्रतिहिंसा के आवेश में हुआ है[4] धनहीना होने के कारण नहीं।

प्रायः सभी विवाहों की पृष्ठभूमि में प्रणय का उल्लेख है। केवल दो विवाह इस प्रकार के हैं जिनमें प्रणय के लिए विशेष स्थान नहीं। एक तो ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त का और दूसरे विजया भटार्क का इन दोनों की परिणति असफलता में रही है। इसका अर्थ यह है कि प्रसाद विवाह के पूर्व प्रणय को महत्वपूर्ण मानते हैं। यह उनकी व्यक्तिगत मान्यता है इतिहास से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ भी विवाह से पूर्व स्वतंत्र प्रणय की चर्चा हुई है वहाँ प्रसाद ने प्रायः सभी स्थलों पर स्वीकार करने या अस्वीकार करने का पूरा अधिकार स्त्री को दिया है। कन्या के द्वारा प्रणय प्रस्ताव ठुकराये भी जा सकते थे। यूनान की कन्या ने फिलिप्स के प्रेम प्रस्ताव को ठुकरा दिया[5] और अलका[6] ने भी पर्वतेश्वर की कई रानियों में से एक बनना अस्वीकार कर दिया। अतः यह निश्चय है कि प्रसाद के अनुसार प्राचीन भारत में विवाह के सम्बन्ध में कन्या की सम्मति भी आवश्यक होती थी। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के विवाह में सिल्यूकस राजकुमारी की सम्मति भी आवश्यक समझता है।[7]

---

(१) स्कंद० २/७५
(२) वही २/७५
(३) अन्यापेक्षा गुणवत्यपि कन्या धनहीना कुलीनापि समानैरयाच्यमाना माता पितृ वियुक्ता वा ज्ञातिकुलवर्तिनी वा प्राप्तयौवना पाणिग्रहणं स्वयमभीप्सेत्।
कामसूत्र पृ० २११

(४) स्कंद० २/८१ (५) चन्द्र० २/१०६
(६) वही २/१३१
(७) चन्द्र ४/२४१

अध्ययन समाप्त कर गुरुदक्षिणा चुकाने पर ही गुरु की आज्ञा से स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। चाणक्य को उसके कुलपति ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी थी।[१] सिंहरण और चन्द्रगुप्त के विवाह भी स्नातक होने के बाद ही हुए हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं वेद और व्रत दोनों में अथवा एक में पारंगत होकर ही ब्रह्मचारी सुलक्षणा स्त्री से विवाह करे।[२] मनु ने भी स्नातक को गुरु की आज्ञा से ही सवर्ण और सुलक्षणा स्त्री से विवाह करने का विधान किया है।[३] कामसूत्र का 'श्रुतमाल धीमवेत्'[४] भी इसी ओर संकेत करता है। अतः वर्णाश्रम धर्म के क्रम को स्वीकार कर लेने पर विवाह के लिए पच्चीस वर्ष की वय ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

वय

प्रसाद के नाटकों में एक ओर उच्च कुल से विवाह सम्बन्ध के महत्व का निर्देश किया गया है, दूसरी ओर हीन और असमान कुल से भी अनेक विवाह हुए हैं। इनमें से कुछ विवाहों के पीछे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है और कुछ प्रसाद की स्वच्छन्द मान्यताएं हैं। ये मान्यताएं प्राचीन सामाजिक परम्पराओं के अनुकूल तो हैं पर कहीं इनमें ऐतिहासिक सत्य का अंश है और कहीं नहीं। अजातशत्रु और वाजिरा दोनों ही कुलशील और सामाजिक स्थिति में समान हैं।[५] किन्तु पर्वतेश्वर अपने 'शील व कुल'[६] की कुमारी का विवाह कायर आम्भीक से नहीं करना चाहता और वह स्वयं भी बौद्ध और शूद्र राजा नन्द की कन्या कल्याणी से अपना विवाह करने को तैयार नहीं।[७] ये घटनाएं विवाह सम्बन्धों में कुल गौरव की महत्ता की ओर निर्देश करती हैं। इनमें पहली घटना तो स्पष्ट ही ऐतिहासिक है और तीसरी काल्पनिक। दूसरी घटना आम्भीक और पर्वतेश्वर के कुलों में विवाह सम्बन्ध तो ऐतिहासिक है पर कुलप्रतिष्ठा के नाम पर पर्वतेश्वर की इस सम्बन्ध में असहमति प्रसाद की अपनी कल्पना है जो तत्कालीन समाज की व्यवस्था से मेल खाती है। हारानचन्द्र के अनुसार वात्स्यायन भी सभी प्रकार के असम विवाहों को अनुचित समझते हैं और केवल अनुरूप सवर्णा कन्या से ही विवाह का विधान करते हैं।[८]

विवाह और कुल परम्परा

---

(१) चन्द्र० १/११
(२) याज्ञवल्क्य संहिता १/५१ ५२
(३) मनुस्मृति ३/४
(४) कामसूत्र पृ० १४४
(५) अजात० १/११६
(६) चन्द्र० १/९४
(७) चन्द्र० २।७१
(८) स्टडीज इन कामसूत्र हारानचन्द्र पृ० १२०

इससे बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से विवाह न करने का समर्थन तो अवश्य होता है किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि बौद्ध-काल से हर्ष के काल तक असम विवाहों में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई।

दासी पुत्री मालिन यवन कन्या तथा दरिद्र कन्या आदि हीन कुलों की कन्याओं से भी कुलीन राजपुत्रों के विवाह सम्बन्धों के अनेक उल्लेख प्रसाद के नाटकों में हैं। प्रसेनजित का दासी पुत्री से विवाह ऐतिहासिक घटना है। क्षत्रिय दासी पुत्री से विवाह कर उसे राज महिषी का सा सम्मान भी दे सकता था।[1] देवगुप्त का नीच कुल की कन्या सुरमा मालिन से विवाह नाटककार की कल्पना है[2] पर तत्कालीन सामाजिक वातावरण के विपरीत नहीं। क्षत्रिय भटार्क और श्रेष्ठि कन्या विजया का भी इसी प्रकार असमान कुल विवाह है[3] साथ ही कल्पना प्रसूत भी। क्षत्रिय सम्राट स्कंदगुप्त तक अपने से हीन कुल की श्रेष्ठि कन्या से विवाह कर उसे महादेवी बनाने को प्रस्तुत थे[4] इससे ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध में प्रसाद की मान्यता असम विवाहों को वैध मानने की है। वस्तुतः स्मृति ग्रन्थों से इसके लिये आवश्यक नियम भी खोजे जा सकते हैं। मनु स्मृति के अनुसार क्षत्रिय का विवाह क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की कन्या से हो सकता था।[5] शुक्राचार्य बल संधि की शर्तों में एक यह शर्त भी मानते हैं कि विजित राजा विजेता को अपनी कन्या ब्याह दे[6] तो स्पष्ट ही वे राजाओं को देश और जाति की सीमाओं से परे असम कुल कन्याओं से भी विवाह की अनुमति प्रदान कर देते हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक में जिस कन्या का शकराज से विवाह सम्बन्ध स्थिर हो चुका था वह गुप्त कुल वधू थी।[7] शक वस्तुतः म्लेच्छ थे।[8] अतः स्पष्ट ही राजा के लिए कन्या का ग्रहण कहीं से भी संभव था।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता होते हुए भी ध्रुवस्वामिनी का विवाह उसके बड़े भाई रामगुप्त से हो जाता है।[9] प्राचीन भारत में वाग्दान विवाह से पूर्व किया जाता था और बहुत कम ही वाग्दान

वाग्दत्ता पत्नी

देकर उस संकल्प को तोड़ा जाता था। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के बीच वाग्दान होने की घटना 'मुद्रामुद्र उपारीक' के आधार पर है। एक सीमा तक उक्त घटना को ऐतिहासिक मान सकते हैं। मनु स्मृति के अनुसार वाग्दत्ता के अपने देवर से विवाह का विधान तो है किन्तु जिसके लिए वाग्दान हुआ

---

(१) अजात० १।५२ (२) राज्यश्री २।४१ (३) स्कंद० ३।८२
(४) स्कंद० ५।१११ (५) मनुस्मृति ३।१३ (६) शुक्रनीति ४।७४
(७) ध्रु० १।२३ (८) मनु १०।११४
(९) ध्रु० १।२६

है उसकी मृत्यु हो जाने के उपरान्त ही यह संभव है।[1] किन्तु अपने नाटक में प्रसाद ने रामगुप्त की जीवितावस्था में ही चन्द्रगुप्त के सर्वस्व होकर ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त की पत्नी बना दिया है। यह कहना कठिन है कि यह कभी एक प्रथा के रूप में प्रचलित थी अथवा नहीं क्योंकि इतिहास में इस प्रकार की घटनाएं कम ही देखने को मिलती हैं।

दहेज की प्रथा

दहेज शब्द का प्रसाद के नाटकों में कहीं भी प्रयोग नहीं है किन्तु काशी का राज्य 'यौतक में मिला है'[2] 'दहेज में मिला है'[3] और 'रक्षित धन'[4] है' अजातशत्रु नाटक में इन शब्दों द्वारा स्त्री धन की ओर अवश्य संकेत किया गया है। कोशल ने काशी का प्रांत पहले मगध को दहेज रूप में दिया था उसका काशी प्रांत पर अधिकार उसका और उसके पति का प्राप्य था।[5] कालान्तर में काशी के लिए कई संघर्ष हुए और अन्त में वही प्रान्त पुनः कोशल की राजकुमारी वाजिरा को स्त्री धन के रूप में प्रदान किया गया। वस्तुतः ये दोनों घटनाएं जातकों से ली गई हैं।[6] अतः इन दोनों को इतिहास का समर्थन प्राप्त है। 'स्कंदगुप्त' नाटक में देवसेना के एक कथन में दहेज की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का विवाह किया जा रहा है'।[7] इस वाक्य में वस्तुतः यौतुक की ही चर्चा आ जाती है। स्त्री धन के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र का मत स्पष्ट है साथ ही उसमें स्त्री धन के उपयोगों की भी चर्चा हुई है। कौटिल्य लिखते हैं वृत्ति "कहीं पर सुरक्षित रखा हुआ धन" और आबध्य "आभूषण इत्यादि" स्त्री धन है। परिवार पर आई हुई किसी विपत्ति इत्यादि के अवसर में पति या पत्नी इस धन को खर्च कर सकते हैं।[8] अजातशत्रु नाटक में वासवी ने स्त्री धन की मांग इसीलिए की है कि उसे और बिम्बसार को अपने पुत्र के विभाग पर जीवन निर्वाह न करना पड़े।[9] शान्तिदास ने भी धन

---

(१) यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः

मनुस्मृति ९।६९

(२) अजात० १।३७
(३) वही १।३६
(४) वही २।६६
(५) वही २।३६
(६) जातक २।२३७ ४।१४२
(७) स्कंद० १।८६
(८) अर्थशास्त्र ३।१६,२०
(९) अजात० १।५३

और इन्दुमति के विवाह में यथासामर्थ्य यौतुक का उल्लेख किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि यौतुक प्रथा का प्रचलन भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से है और प्रसाद के संकेत प्रामाणिक हैं।

बहुविवाह

प्रायः सभी नाटकों से ज्ञात होता है कि उन दिनों बहु-विवाह प्रथा का प्रचलन रहा होगा। नाटकों में पटरानी[2] छोटी रानी[3] तथा सपत्नी[4] जैसे प्रयोग इसके साक्षी हैं। राजा दो-दो तीन-तीन ही नहीं कई विवाह एक साथ कर सकते थे। बिंबसार ने दो ब्याह किये तो उसके जामाता उदयन ने तीन।[5] पर्वतेश्वर की कई रानियाँ थीं।[6] नये-नये राज्य विजय करने के समान ही नये-नये विवाह की भी एक प्रथा सी चल पड़ी।[7] बहुविवाहों का उल्लेख प्रायः क्षत्रिय राजाओं के ही प्रसंग में है। ये बहु विवाह राजनीतिक कारणों से भी हुए हैं और विलास वासना के निमित्त भी। बिंबसार[8] और उदयन[9] के दोनों विवाहों का राजनीतिक महत्व इतिहास में भी स्वीकार किया है। बौद्ध इतिहास से ही इस बात की पुष्टि हो जाती है कि उदयन का मागंधी से जो तीसरा विवाह हुआ है वह विलास-वासना के निमित्त है अन्यथा संभवतः दरिद्र ब्राह्मण की कन्या से विवाह न होता।[10] राखालदास बनर्जी के अनुसार कुमारगुप्त का अनन्ता से विवाह भी केवल विलास वासना के निमित्त हुआ था। उनकी मान्यता है कि वह नट की कन्या थी।[11] स्कंदगुप्त नाटक में अनन्तदेवी का चित्रण विलास की सहचरी के रूप में हुआ है। बहुविवाह प्रसाद की कल्पना मात्र न होकर इतिहास और तत्कालीन साहित्य से पुष्ट होते हैं।

क्षत्रियों के लिए बहुविवाह तो शास्त्र-सम्मत है ही साथ ही इसका राजनीतिक महत्व भी स्वीकार करना ही पड़ता है। ब्राह्मण के लिए चारों वर्णों की कन्याओं

---

(१) रघुवंश ७।३२ (२) ध्रुवा० १।२९
(३) वही १।२१ (४) वही ३।१४०
(५) वही १।५०
(६) चन्द्र० २।१११
(७) राज्यश्री २।४०
(८) सैक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट आक्सफोर्ड १/१२ १५ २२ पृ० १९१ २५६
(९) कथासरित्सागर (सोमदेव) २ परिच्छेद ८, वासवदत्ता ११५ के बाद
(१०) डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स पृ० ५९६ ५९७ धम्मपद १।१९९ २ १९१ व ४।१
(११) करुणा (उपन्यास) राखालदास बनर्जी

से विवाह का विधान है।[1] प्रसाद के नाटकों में ब्राह्मण पात्रों के बहुविवाह कहीं नहीं हुए हैं केवल एक स्थान पर चाणक्य कात्यायन से एक ब्याह और सही कहकर उपहास मात्र करता है।[2] जहाँ तक स्मृतियों और शास्त्रों का प्रश्न है ब्राह्मण को बहुविवाह के सम्बन्ध में और वर्णों से भी अधिक सुविधा दी गई है। पर यहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि शास्त्र विहित होते हुए भी ब्राह्मण के लिए एक पत्नीव्रत ही प्रशस्त है। प्रसाद ने ब्राह्मण का जो उच्चादर्श उपस्थित किया है उसके अनुसार यही प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी ब्राह्मण के लिए बहुविवाह उपयुक्त नहीं मानते हैं। चाणक्य तो आजन्म ब्रह्मचारी ही रहा है। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार भी उस समय के दार्शनिक कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।[3]

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद ने विवाह सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण समस्या विवाह मोक्ष को उठाया है और उसका उचित समाधान भी किया है। शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रमाणों से प्रसाद ने यह प्रतिपादित किया है।

विवाह मोक्ष

कि प्राचीन भारतीय समाज में विवाह मोक्ष की प्रथा प्रचलित थी।[4] क्या प्राचीन क्या आधुनिक समाज में इस प्रकार की समस्या बनी ही रही। यदि विवाह से परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग का महत्त्व माना जाय तो उसके अभाव में मोक्ष का अधिकार होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। यदि प्रभाव के अभाव में कन्या की इच्छा या अनिच्छा पर विचार किये बिना ही उसका विवाह कर दिया जाय तो मोक्ष के अधिकार का महत्त्व और भी बढ़ जाता है विशेषकर आसुर राक्षस और पैशाच विवाहों में। ध्रुवस्वामिनी में विवाह मोक्ष के समर्थन के लिए परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं। ध्रुवस्वामिनी विजयोपहार के रूप में कुल में आई[5] और चन्द्रगुप्त से उसका वाग्दान हो गया। रामगुप्त ने छल और बल से उससे विवाह किया।[6] उस विवाह में अग्नि को साक्षी कर मन्त्र भी पढ़े गए[7] और पति ने सुख-दुख में साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा भी

---

(१) मनुस्मृति ३।१२ ११

(२) चन्द्र० ५।२१४

(३) मेगास्थनीज फ्रैगमेन्ट ४० नियार्कस एवं स्ट्राबो १५ सी ७१८

(४) ध्रु० (भूमिका)

(५) ध्रु० १।२१

(६) वही ३।५५

(७) वही ३।६१

(८) वही १।२४

की।[1] पति रामगुप्त अपनी भार्या का संरक्षण करने में असमर्थ रहा और उसने उसे कापुरुष की तरह शकराज की शय्या के लिए भेंट दासी बनाकर भेज दिया।[2] अपनी इस कायरता को ढकने के लिए रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी पर चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी होने का दोषारोपण किया।[3] इस प्रकार तिरस्कृता, अपमानिता और लांछिता ध्रुवस्वामिनी ने 'धर्मशास्त्र के मुख'[4] पुरोहित से अपना निर्णय मांगा कि वह वास्तव में रामगुप्त की सहधर्मिणी है या नहीं। पुरोहित ने अपना निर्णय इस प्रकार दिया विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बांध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस प्रकार पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाद के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते। परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है। और भी यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है।[5] वह 'क्लीव' की व्याख्या इन शब्दों में करता है अपनी स्त्री को दूसरे की अंकशायिनी बनने के लिए भेजने में जिसे कुछ संकोच नहीं वह क्लीव नहीं तो और क्या है'।[6] इस प्रकार धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।[7] विवाह मोक्ष के इस निर्णय के साथ ही नाटक की समाप्ति हो जाती है। चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न का अन्त में उन दोनों की जय जयकार कर संकेत भर दे दिया गया है।[8]

इतिहासकारों ने ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की घटना को ऐतिहासिक मान लिया है अत सामाजिक दृष्टि से उक्त प्रथा के प्रचलन को भी संभाव्य मान लेना पड़ा था। प्राचीन काल में विवाह मोक्ष शास्त्र-सम्मत था या नहीं इस प्रश्न पर प्रसाद ने नाटक की भूमिका में यथेष्ट विवेचन किया है। नारद और पाराशर के जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें पुनर्विवाह का विधान स्पष्ट मिलता है किन्तु विवाह मोक्ष का केवल अनुमान भर किया जा सकता है। प्रसाद का यह तर्क समीचीन है कि इन प्रमाणों पर केवल मृत स्थिति में ही पुनर्लग्न के लिए विवाह मोक्ष की आवश्यकता नहीं होगी। पति के नष्ट प्रव्रजित क्लीव तथा पतित होने पर तो बिना विवाह मोक्ष के पुनर्लग्न सम्भव ही नहीं।[9] परन्तु कौटिल्य[1] के श्लोक में 'नाशे' का उल्लेख

---

(१) ध्रु स्वा ३।५७

(२) वही ३।६१ (३) वही ३।६१

(४) वही ३।६२ (५) वही ३।६२

(६) वही ३।६२ (७) वही ३।६२

(८) ध्रु स्वा० (भूमिका

(९) वही (भूमिका)

ही नहीं' और 'त्याज्य' शब्द के द्वारा उपयुक्त परिस्थितियों में उन्होंने विवाह मोक्ष' का स्पष्ट विधान कर दिया है। पाराशर और कौटिल्य की गिनाई हुई शर्तों में से प्रसाद ने पाराशर की तीन—नष्ट, क्लीव और पतित—और कौटिल्य की चार—नीच क्लीव राजकिल्बिषी और पतित शर्तों को विवाह मोक्ष का आधार बनाया है और इन शब्दों की अपनी स्वतन्त्र व्याख्याएं भी दी हैं। पति 'मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर पौरुष से नष्ट आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्बिषी क्लीव' है। गुप्त कुल के विधान को तोड़ने के कारण रामगुप्त को राजकिल्बिषी कहा गया है। अपनी स्त्री को दूसरे की 'अङ्कशायिनी' के लिये भेजने में जिसे संकोच नहीं वह क्लीव नहीं तो और क्या है' यहां क्लीव' शब्द का उसी व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है जिसमें गीता के 'क्लैब्य' शब्द का हुआ है। नष्ट पतित और राजकिल्बिषी की यह व्याख्या तो स्वीकार की भी जा सकती है पर क्लीव शब्द का जो अर्थ प्रसाद ने माना है वह पाराशर और कौटिल्य के अर्थ से मेल नहीं खाता। वस्तुतः 'क्लीव' शब्द से इन दोनों का अभिप्राय नपुंसक से है और इसका समर्थन नारद के 'क्षेत्र बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति' तथा विज्ञानेश्वर के 'षण्ढः क्लीव' वर्णोचितेन चरितेन, मज्जा कोप विकार बीजस्पर्शिभिः' पीड़ीकृता तथा रम्भा नारदविचारिणी' से हो जाता है।[1]

अर्थशास्त्र के 'धर्मस्थीय प्रकरण' में जहां 'भर्म (पति द्वारा पत्नी के भरण) पोषण का प्रसङ्ग आता है वहां कौटिल्य कहते हैं यदि श्वसुरकुल में प्रवेश करने पर जो पत्नी पति से स्वतन्त्र रहना चाहे (विभक्तायां) उसे भरण-पोषण देना पति के लिए आवश्यक नहीं।[2] यहां इस स्थल पर मोक्ष का उल्लेख तो नहीं है पर इसमें संदेह नहीं कि उक्त परिस्थिति मोक्ष की पहली सीढ़ी है। इसी प्रसङ्ग में आगे चल कर कौटिल्य ने मोक्ष का कारण 'परस्पर द्वेष' बताया है।[3] मोक्ष के लिए दोनों पक्षों में परस्पर द्वेष भाव होना आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि एक ही ओर से द्वेष होने पर दूसरे की इच्छा के अभाव में मोक्ष की सम्भावना कौटिल्य भी नहीं मानते[4] परन्तु यदि एक का द्वेष भाव से हो और दूसरा मोक्ष के लिए प्रस्तुत हो जाय तो ऐसी स्थिति में यदि स्त्री के द्वेष भाव से पुरुष मोक्ष की इच्छा करे तो जो कुछ स्त्री से प्राप्त हुआ वह उसे लौटाकर मोक्ष पा सकता है और यदि पुरुष के प्रति द्वेष से स्त्री मोक्ष की इच्छा करे तो जो कुछ स्त्री को प्राप्त हुआ है उसे लौटाना पुरुष को आवश्यक नहीं।[5] इन दोनों सूत्रों में 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है और सम्भवतः प्रसाद भी इस शब्द के लिए कौटिल्य के ही ऋणी हैं।

---

(१) वही (भूमिका)
(२) 'श्वसुरकुल प्रविष्टायां विभक्तायां वा नाभियोक्तव्य (पति) अर्थशास्त्र ३।३
(३) 'परस्परं द्वेषान्मोक्षः अर्थशास्त्र ३।१९
(४) वही ३।१८ (५) वही ३।२० २१

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार धर्म विवाहों में साधारण द्वेष विवाह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।[1] प्रसाद ने सम्भवतः इसीलिये ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के विवाह को माता पिता के प्रमाणों से विहीन और छल-बल से किया हुआ 'राक्षस विवाह' सिद्ध किया है।[2] नाटक में द्वेष दोनों पक्षों में है। पत्नी पति को 'क्लीब' कापुरुष और स्त्री की मर्यादा लूटने वाला दस्यु कहती है और पति उसे 'पर पुरुष में अनुरक्त' कालसर्पिणी सी स्त्री कहता है। द्वेष का कारण भी स्पष्ट है। पहला कारण योग्य है कि ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी और उसी से प्रेम करती थी। दूसरा कारण यह है कि शकराज ने ध्रुवस्वामिनी की मांग की और अपनी कायरता के कारण रामगुप्त ने अपने बचाव के लिये विवाहिता पत्नी को क्रीतदासी की तरह दूसरे की अङ्कशायिनी बनाने के लिये भेजना स्वीकार कर लिया। तीसरा कारण जिसे प्रसाद स्पष्ट बतलाना नहीं चाहते वह है रामगुप्त का नपुंसकत्व। नाटक में कई स्थलों पर इसका स्पष्ट संकेत है पर इसे स्पष्ट शब्दों में कहते हुये प्रसाद झिझकते हैं। वस्तुतः द्वेष का और इसी कारण विवाह मोक्ष का भी यही प्रबलतम कारण है और पाराशर, कौटिल्य के मत के पूर्ण-अनुकूल भी है। नाटक में जो संघर्ष हुआ है वह परस्पर द्वेषजन्य है यद्यपि यहाँ केवल एक पक्ष ध्रुवस्वामिनी ही मोक्ष के लिये उत्सुक है। रामगुप्त तो अन्त तक अपने न्यायपूर्ण अधिकार[4] को नहीं छोड़ना चाहता और पत्नी को धर्म का भय[5] दिखाता है। इस प्रकार यहाँ कौटिल्य का 'परस्पर द्वेषान्मोक्ष' वाला नियम लागू नहीं हो पाता। इसीलिये प्रसाद के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे रामगुप्त को नष्ट पतित क्लीब और राजकिल्बिषी सिद्ध कर मोक्ष का कारण उपस्थित करें।

मनु, वात्स्यायन तथा कालिदास सभी मोक्ष की प्रथा के सम्बन्ध में मौन हैं। सम्भवतः प्रसाद के स्वयं के शब्दों में ही इसका उत्तर भी सन्निहित है। जिस प्रथा के लिये विधि और निषेध दोनों तरह की सूचनाएं मिलें तो इतिहास की दृष्टि में वह उस काल में सम्भाव्य मानी जायगी[6]।

उक्त प्रसङ्ग में प्रसाद ने एक और महत्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है। मैं स्वीकार करती हूं कि आजतक तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई[7] मुझे राजा

---

(१) अर्थशास्त्र ३/२२ (२) ध्रु० स्वा० ३/६२ (३) वही ३/६१
(४) ध्रु० स्वा० ३/६२ (५) वही ३/५८
(६) ध्रु० स्वा० (भूमिका) पृ० ४
(७) ध्रु० स्वा० १/२६

से कभी सरल सम्भाषण करने का अवसर ही नहीं मिला'[१] ध्रुवस्वामिनी के ये दो कथन साभिप्राय हैं और कुछ विचार संकेत करते जान पड़ते हैं। 'धर्मनष्टात् देव कन्या प्रतिगृह्यताम्'[२] इस पाणिग्रहण मंत्र में 'अक्षतयोनि' कन्या को जो महत्व दिया गया है प्रसाद संभवतः उसी को प्रतिपादित करने के लिए ध्रुवस्वामिनी को अक्षत योनि' सिद्ध करना चाहते हैं। यह भी सम्भव है कि 'सतीत्व' धर्म को महत्व देने के लिए इसका प्रयोग किया गया हो अथवा नाटक के अन्त में पुनर्विवाह के उद्देश्य से (जो ऐतिहासिक घटना है) प्रसाद ने कन्या के महत्व को बढ़ाने के लिए उसे 'अक्षत योनि' रखा हो।

मनु विधवा विवाह को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार करते हैं[३] किन्तु यदि विधवा अक्षत योनि हो तो उसके विवाह संस्कार का विधान उन्होंने भी किया है[४]। ध्रुवस्वामिनी को अक्षत योनि मानकर उसके पुनर्लग्न को प्रसाद ने मनु विहित सिद्ध कर दिया है। कौटिल्य ने पति के मरने के उपरान्त देवर से विवाह मान्य ठहराया है[५]। इसका समर्थन प्रवर्ग वेद बौधायन धर्मसूत्र पाराशर नारद और आपस्तंब धर्मसूत्र ने भी किया है। इस कारण से भी चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रसाद के नाटकों में कहीं-कहीं सती प्रथा का उल्लेख हुआ है। कोमा ध्रुव स्वामिनी से शकराज के शव के लिए प्रार्थना करती है। इस पर ध्रुवस्वामिनी कहती है जाओ प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम शव को ले जाकर जलो।[६]

राज्यश्री का सती होने को प्रस्तुत होना हर्ष चरित के अनुसार एक सती की प्रथा ऐतिहासिक घटना है।[७] उक्त घटना का उल्लेख करते हुए प्रसाद 'सती होना स्त्रियों' का पवित्र कर्तव्य 'पालन करना मानते हैं[८] प्रसाद ने तो गुप्त काल और उत्तर गुप्तकाल में ही इस प्रथा का उल्लेख किया है। सती प्रथा भारत की अत्यन्त प्राचीन प्रथा है। कालिदास के 'कुमारसंभव'[९] तथा

---

(१) ध्रु० स्वा० १/५१
(२) मनु० ८/२६ कुल्लूकभट्ट की टीका में उद्धृत
(३) न विवाहविधावुक्तं पुनः मनुस्मृति ९।६५
(४) सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेनभर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति मनु० ९।१७६
(५) तत्र पति सोदर्यं गच्छेत् अर्थशास्त्र ५।१८५
(६) ध्रु० स्वा० १।८१
(७) हर्षचरित अष्टम उच्छ्वास शंकर टीका पृ० २४१
(८) राज्यश्री १।१२
(९) कुमार संभव कालिदास ४।३३

'स्वामनुयाथि'[1] जैसे उल्लेखों से यह अनुमान करना आसान है कि गुप्तकाल में तो अवश्य ही सती प्रथा प्रचलित रही होगी। सती के महत्व का उल्लेख कालिदास ने इस प्रकार किया है जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ कौमुदी चली जाती है मेघ के विलीन होने के साथ ही विद्युत् भी विलीन हो जाती है, उसी प्रकार स्त्री को पति के मार्ग की अनुगामिनी होना चाहिए[2]।

प्रसाद के नाटकों की नारी पुरुष के समान ही स्वतन्त्र है। शक्तिमती सेनापति को आदेश देती है[3]। छलना मगध का शासन करती है।[4] मौर्य पत्नी भरे राजदरबार में अपने पति और पुत्र की मुक्ति के लिए प्रार्थना करती है[5] अलका तक्षशिला के नागरिकों को उत्तेजित करती है[6] और मंदाकिनी सामन्त कुमारों को उत्साहित करती है।[7] परन्तु अन्तःपुर के लिए अवरोध शब्द का प्रयोग कुछ और ही कहानी कहता है 'अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथवा फूल से कोमल होती थी और उसकी रक्षा महत्त्व का विषय समझा जाता था'।[8] अजातशत्रु नाटक में केवल झरोखे (गवाक्ष) से झाँकने के कारण पद्मावती पर सन्देह किया जाता है।[9] इस विरोधाभास का समर्थन जातक तथा अन्य सभी प्राचीन ग्रन्थों से हो जाता है। जातकों में जहाँ एक ओर स्त्रियाँ उत्सवों तक में पुरुषों के साथ नृत्य कर सकती हैं केसर के रंग के वस्त्र पहिन कर पतियों के गले से लगकर कार्तिक मास की रात्रि के उत्सव में विचरण कर सकती हैं[10] वहीं दूसरी ओर गवाक्षों से झाँकने के अपराध में दण्ड भी प्राप्त करती हैं।[11] इतिहास से ज्ञात होता है कि नारियाँ अन्तःपुर में रहती थीं फिर भी उन पर कोई विशेष सामाजिक बंधन नहीं थे। कालिदास कालीन स्त्री समाज का चित्र इसका समर्थन करता है। भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं—कालिदास के युग में स्त्रियाँ अन्तःपुर में अवरुद्ध नहीं रहती थीं। नदियों में सबके सामने स्त्रियों के स्नान करने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियों पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं होता था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्हें सबके सामने

अन्तःपुर

---

(१) कुमार संभव कालीदास ४।२१
(२) शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडिल्लीयते प्रमदाः
पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि। कुमार संभव ४।३३
(३) अजात ३।१२३
(४) वही ३।१११
(५) चन्द्र ३।१७८
(६) वही ४।२१८
(७) ध्रुव० १।३३
(८) स्कंद० १।२७
(९) अजात० १।५९
(१०) पुष्फरत्त जातक ७।१४०
(११) धम्मपद अट्ठकथा १।१९६ ३।१९३ ४।१

घरोपटोक निकलने की स्वतन्त्रता थी। अन्था उसका एक अनिवार्य गुण माना जाता था। कभी-कभी 'अवगुण्ठनवती' और 'असूर्यम्पश्या' जैसे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।[1] प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' नाटक में केवल एक स्थान पर ही 'अवगुण्ठन' की चर्चा की है। मालिनी ध्यायाधिकरण में अवगुण्ठन धारण किए हुए आती है।[2] यहाँ यह अवगुण्ठन प्रथारूप न होकर विशिष्ट प्रयोजन मात्र से है। कुछ भी हो यह तो कहना ही पड़ेगा कि स्त्रियों के जीवन के जिस विरोधाभास को प्रसाद ने अपने नाटकों में चित्रित किया है, वह भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही है।

प्रसाद के नाटकों में पिता और पुत्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। राम और दशरथ को वे पुत्र और पिता का आदर्श मानते हैं। पुत्र के व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने के लिए पिता और माता दोनों की शिक्षा को वे आवश्यक समझते हैं।[3] आर्य पद्धति में पुत्र की गणना पिता से होती थी।[4] इतना होते हुए भी दासी पुत्र त्याज्य माना जाता था और साधारणतया राजसिंहासन का अधिकारी नहीं होता था।[5] मनु भी पुत्र की गणना पिता से ही मानते हैं।[6] वे एक ओर तो कहते हैं कि शूद्रा पुत्र को पिता की सम्पत्ति के दसवें भाग से अधिक नहीं मिल सकता[7] दूसरी ओर यह भी कह देते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न शूद्रा पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता। यदि उसका पिता उसे कुछ दे दे तो वह उतने का ही अधिकारी होता है[8] मनु ने ही सम्पन्न द्विजाति से दास का कार्य कराने वाले ब्राह्मण को छः सौ पण दण्ड देने का विधान किया है।[9] अतः द्विजाति को दास नहीं माना जा सकता। शूद्र के दासत्व को उन्होंने स्वाभाविक बतलाया है।[10] अतः उत्तराधिकार के लिए गौतम की दासी पुत्री और मनु की शूद्रा समानार्थ मानी जा सकती है और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धर्मशास्त्र के अनुसार दासी पुत्री से उत्पन्न औरस पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता चाहे उक्त दासी पुत्री परिणीता पत्नी ही क्यों न हो। 'अजातशत्रु' नाटक में गौतम ने पिता की गणना पुत्र से होती है इस सिद्धान्त के आधार पर विरुद्धक को राज्याधिकार दिला दिया है। यह एक अपवाद कहा जा सकता है।

अन्य सर्वेक्ष

---

(१) इंडिया इन कालिदास बी० ऐस उपाध्याय पृ० १६०
(२) स्कन्द० ४।१११ (३) प्रभात १५२
(४) अजात० ३।१४१ (५) वही ३।१११
(६) 'मनु' पुत्रं पितामहि एषु ९।१२
(७) मनु ९।१५४
(८) 'यदस्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत्' मनु० ९।१५५
(९) मनु० ८।१२
(१०) 'निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति' मनुस्मृति ८।१४

'मातुः पुत्रं पिताभवति' मानना मनु का सिद्धांत दोनों ओर लागू होता है। महापद्मादि शूद्रागर्भोद्भव होने पर भी नन्द वंशी कहलाये'।[1] महापद्मानन्द की रानी से नापित (शूद्र) द्वारा उत्पन्न पुत्र भी महापद्म का 'आत्मज पुत्र' माना गया।[2] इस प्रकार मनु ने दोनों स्थितियों में पुत्र की गणना पिता से ही मानी है और उसके लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है 'अपने उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट क्षेत्र में स्वयं बीज बोने पर फल का अधिकारी क्षेत्र स्वामी ही होगा और दूसरे के क्षेत्र में किसी अन्य के द्वारा बीज बोये जाने पर भी फल का अधिकारी क्षेत्र स्वामी ही होगा'।[3]

पिता पुत्र के सम्बन्धों के अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों में भाई-बहन देवर भाभी भाभी-ननद, सौतेला पुत्र सौतेली माँ भतीजा भागिनेय और मातुल इत्यादि का भी उल्लेख हुआ है।

---

(१) चन्द्र० (भूमिका) पृ० २२

(२) चन्द्र० १।६६ १।१८५ १।१७८

(३) 'तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्र प्रवापिणः
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम्।

मनु० ५।११

खान-पान

प्रसाद के नाटकों में खान-पान सम्बन्धी विवरण बहुत ही कम आए हैं। कुछ तो इसलिए कि प्रधान घटनाएं राजनीतिक कुचक्रों और संघर्षों को लेकर चली हैं और कुछ इस कारण कि प्रसाद ने जीवन के साधारण दृश्यों से इतिवृत्तों को न ग्रहण कर असाधारण परिस्थितियों के सृजन की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त नाटक में ये सब विवरण आ भी नहीं सकते थे। भरत ने जिन दृश्यों की रंगमंच पर वर्जना की है उनमें से एक खान-पान भी है। प्रसाद ने यद्यपि युद्ध और मृत्यु जैसे दृश्यों की योजना तो की है किन्तु खान-पान का निषेध उन्होंने अवश्य स्वीकार कर लिया है फिर भी सुरापान के दृश्य प्रायः उनके सभी नाटकों में मिलते हैं। कुछ खान-पान सम्बन्धी उल्लेख कथाओं में आ गये हैं कुछ विवरण कथानक के साथ अभिनय के अंग बनकर आये हैं और कुछ का संकेत मात्र है।

सुरा

सुरा के लिये प्रसाद ने निम्नलिखित नामों का प्रयोग किया है—आसव[1] मदिरा[2] हाला[3] सुरा[4] कादम्ब[5] द्राक्षासव[6] पारसीक मदिरा[7] या पारस्य देश की गुलमबान मद्य[8] इन समस्त नामों में से मदिरा सुरा आसव और मद्य जैसे कुछ नाम तो आज भी अत्यन्त प्रचलित हैं। कादम्ब का प्रयोग अप्रचलित है। इतना तो स्पष्ट है कि ये सारे शब्द प्राचीन काल में सुरा के लिये प्रयोग में लाये जाते थे। पाणिनी ने मद्य और सुरा का उल्लेख तो किया ही है साथ ही सुरा के विशेष प्रकारों में मैरेय और कापिशायिनी का भी उल्लेख किया है।[9] कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में छः प्रकार की सुरा का उल्लेख किया है[10] साथ ही मैरेय बनाने की पूरी विधि भी बतलाई है।[11] ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब नाम सुरा के विभिन्न प्रकारों को सूचित करते

---

(१) अजात० १।८१
(२) वही १।७४ चन्द्र० १।११ स्कंद० ५।५६ ध्रुव० १।११ राज्यश्री ३।५६
(३) अजात० १।७४
(४) वही २।६७
(५) चन्द्र० १।११ स्कंद० १।३० पृ० ११५
(६) चन्द्र० ३।१११ ; ध्रुव० १।२४
(७) स्कंद० १।६८
(८) स्कंद० ४।१२१
(९) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल)पृ० ११५
(१०) अर्थशास्त्र २।२५
(११) अर्थशास्त्र २।२५

थे। आगे चलकर ये सुरा के पर्याय समझे जाने लगे। अमरकोश में मदिरा हाला मद्य सुरा और कादंब (कादंबरी) ये सुरा के (१३) तेरह पर्यायों से हैं। आसव एक विशेष प्रकार की मदिरा का नाम है।[१] प्रसाद ने इन शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में ही किया है। कालिदास के नाटकों में वारुणी कादम्बरी और सीधु के अतिरिक्त अन्य आसवों का उल्लेख भी मिलता है।[२] मेघदूत में 'हाला' का भी प्रयोग हुआ है।[३] पारस्य देश की मूल्यवान मदिरा से प्रसाद का अभिप्राय मदिरा विशेष से है जो सम्भवतः फारस या ईरान से मंगायी जाती होगी। पाणिनी की कापिशायिनी को इसके समकक्ष रखा जा सकता है। प्राचीन काल में कपिशा में अत्यन्त मूल्यवान अंगूरी सुरा बनाई जाती थी और दूर-दूर तक उसका निर्यात होता था। ई० पू० तीसरी शताब्दी में बिन्दुसार ने सम्राट एन्टियोकस से अंगूरी सुरा मंगवाई थी।[४] जातकों से भी यह ज्ञात होता है कि उस काल में अधिकांश मनुष्य सुरा पीते थे और 'सुरा उत्सव' भी मनाये जाते थे।[५]

सुरा पात्रों में प्रसाद ने पान पात्र[६] मदिराकलश[७] चषक[८] सुराही[९] तथा प्याला[१०] का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि सुराही और प्याला अत्यन्त आधुनिक प्रयोग हैं। जिस काल के नाटक प्रसाद ने लिखे हैं उस काल में

सुरा पात्र

सुराही और प्याला दोनों अप्रचलित थे। ये दोनों ही मुगलकालीन नाम हैं। चषक का उल्लेख कालिदास ने भी किया है[११]। अमरकोष में 'पान-पात्र' को 'चषक' कहा गया है[१२]। मदिरा पात्र को प्रसाद ने एक स्थान पर 'स्वर्ण कलश'[१३] भी कहा है। स्पष्ट है कि राजदरबारों के वैभव को ध्वनित करने के लिए ही स्वर्ण कलश का उल्लेख हुआ है।

प्रसाद के चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सुरापान की कोई रोक टोक न थी। प्रसाद के सम्राट उनके सामंत अनुचर दस्यु तथा उनकी नारियाँ यहाँ तक कि बौद्ध भिक्षु भी सुरापान करते हैं। राजा रामगुप्त 'मदिरा में

---

(१) अमरकोश २।१०।३९ ४०

(२) इण्डिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० १६७ (३) पूर्वमेघ ५२

(४) फ्रैगमैंटा हिस्टोरिकोरम ग्रिकोरम मूलर वोल्यूम ४ पृ० ४२१

(५) सिगाल जातक २।१४२ (६) अजात १।४२ व चन्द्र० ३।१९९

(७) चन्द्र १।६३ व ध्रुव० २।३९ (८) चन्द्र० १।६३

(९) स्क० २।६४ (१०) ध्रुव २।३०

(११) इण्डिया इन कालिदास उपाध्याय पृ १९६ (१२) अमरकोश २।१०।४३

(१३) ध्रु व० २।३८

न्मत्त"¹ रहता है। शकराज को स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए।²
सबै सामन्तों को भटकियां "आनुरोध पान" कराती है।³ राज्यवर्द्धन के अनुचर
सब मदविह्वल थे।⁴ विरुद्धक को लगता है कि सुरमा के
पान प्रथा हाथों से आकर कड़वी मदिरा भी मीठी और हल्की हो जाती
है"।⁵ नाटकों में रामगुप्त शकराज राज्यवर्द्धन उदयन और
देवगुप्त ये सभी सुरापान करते हैं। यह ठीक है कि अधिकांश ये ही नाटक सुरापान
करते हैं जो विलासी प्रकृति के हैं या क्रूर हैं परन्तु इससे यह तो स्पष्ट ही है कि
राजप्रासादों से लेकर साधारण मनुष्य तक को सुरापान करने की स्वतन्त्रता थी।

प्रसाद की नारियाँ भी खुलकर सुरापान करती हैं। उदयन की रानी मागन्धी को दासी नवीना पान कराती है।[6] वेश्या श्यामा का पान करना तो स्वाभाविक ही है।[7] सुवासिनी "न अभाव अभय" तक पीती है।[8] विलासी युवक और युवतियां वसंतोत्सव में मान के रहे हैं "परन्तु मदिरा का तो तुम्हारे अधरों का अभाव है फिर आमोद कैसा"?[9] यहाँ इन शब्दों द्वारा इस ओर स्पष्ट संकेत किया गया है कि उत्सवों में स्त्री पुरुष साथ-साथ पान भी करते थे।

प्रसाद ने सैनिकों के सुरापान करने की ओर भी संकेत किया है। शर्वनाग मदिरोन्मत्त अवस्था में नारायण कामिनी और कंचन का उल्लेख करता है।[10] बौद्ध कापालिक प्रपंचबुद्धि शर्वनाग के साथ मदिरा पान करता है और उससे महादेवी देवकी की हत्या का कुकर्म करवाने के लिये सुरापान का आश्रय लेता है।[11] यहाँ मदिरा के लिए 'लाल मदिरा'[12] का प्रयोग केवल भ्रममात्र है। मदिरा का रंग सदा ही लाल नहीं होता।

मदिरापान के विषय में सम्भवतः और भी तो एक विशेष प्रथा की ओर प्रसाद का ध्यान गया है। अधिकांश स्थलों पर जहाँ पुरुष और नारियां साथ हों वहाँ नारियाँ ही पान पात्र भरकर पुरुषों को देती हैं। उदयन को मागन्धी मदिरा पिलाती है। समुद्रगुप्त श्यामा से तीव्र मादक पिला देने की आज्ञा करता है। राक्षस को जाने के मूल्य के रूप में एक पात्र मादक चाहिये और सुवासिनी उसे पात्र भरकर देती है। नन्द को भी सुवासिनी पात्र भर भर देती है। शकराज के

---

(१) ध्रुव० १।६३ (२) वही २।६७
(३) वही २।६६ (४) राज्यश्री १।११
(५) वही १।२६
(६) अजात० १।४२
(९) वही १।६३ (७) अजात० २।६७ (८) चन्द्र० १।६४
(११) वही २।३८ (१०) स्कन्द० २।६२
(१२) वही २।६७

लिये कौशा स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर आती है। सामन्तों को नर्तकियाँ पान कराती हैं। अनन्तदेवी के संकेत पर विजया ही पुरगुप्त को मदिरा पिलाती है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि तब कोई ऐसी प्रथा रही होगी जिसकी ओर प्रसाद ने संकेत किया है तथापि यह सम्भव है कि दासियों एवं नर्तकियों की स्थिति नहीं वरन पत्नी, प्रियतमा और मित्र की स्थिति में नारी ही इस कार्य को करने में अधिक शोभनीय लगती हो।

कालिदास के नाटकों में मदिरापान का उल्लेख करते हुए उपाध्याय लिखते हैं[1]। सुरापान अत्यन्त प्रचलित जान पड़ता है कालिदास में सुरापान के उल्लेख प्रचुर संख्या में हुए हैं। पुरुष ही नहीं वरन स्त्रियाँ भी सुरापान करती थीं। कुमार सम्भव में शिव सुरापान करते हैं और अपनी पत्नी को भी कराते हैं। यह कहा जा सकता है कि विवाहित दम्पति नित्यप्रति सुरापान करते थे। अभिज्ञान शाकुन्तल में नागरिक और उसके सैनिक सुरापान करते हैं। रघुवंश के अनुसार रघु की समस्त सेना 'नारिकेलासव' पीती है अन्यत्र वे लिखते हैं 'यह सम्भव है कि क्षत्रिय सुरापान करते थे पर ब्राह्मण नहीं' कुछ भी हो कवि के उल्लेखों से इस आसव की स्पष्ट और पर्याप्त साक्षी मिल जाती है कि साधारण व्यक्तियों में भी सुरापान का अत्यन्त ही प्रचलन रहा होगा।[2]

युवानच्वांग के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भिक्षु भी सुरापान किया करते थे।[3] विक्रमशील के विहार में मैत्री नामक एक तांत्रिक भिक्षु के पास मद्य पाई गई थी। उसका कहना था कि वह उक्त मद्य को बौद्ध औषधियों के लिये लाया है।[4]

प्रसाद ने आपानक शब्द का प्रयोग भी किया है। 'आपानक'[5] 'और' आपानकों का समारोह[6] दोनों ही पीने वालों के व्यवस्थित समूह का अर्थ देते हैं। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में जिस तरह की कॉकटेल पार्टीज हुआ करती हैं आपानक कुछ-कुछ इसी तरह का अर्थ देता है। 'समापानकम्'[7] का उल्लेख वात्स

---

(१) इण्डिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० १६९
(२) इण्डिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० १६८
(३) लाइफ ऑफ हुएनत्सांग वोल्यूम १ पृ० २१५
(४) इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड ऑफ स्नो पृ० ११ १२
देखिये दास हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी
(५) स्कंद १।१८ (६) वही ३।१४
(७) कामसूत्र सूत्र २९ पृ० ४९

सन्दर्भ में कामसूत्र में भी उपलब्ध है। अमरकोश में आपानक के लिये पानगोष्ठी[1] शब्द इस अर्थ का समर्थन करता है।

इन नाटकों में भोजन के विविध पदार्थों का उल्लेख नहीं के बराबर ही हुआ है, जो दो एक नाम आए हैं वे भी किसी विशेष अर्थ को ध्यान में रखकर नहीं लाये गये हैं। वसन्तक के द्वारा वैवाहिक उपहारों के सम्बन्ध में मधु[2]

भोजन

का उल्लेख हुआ है पर वह विदूषक के पेटू स्वभाव के प्रदर्शन मात्र के लिये है अन्यथा वह व्यर्थ ही है। ऐसा ही एक उल्लेख स्वप्नवासवदत्त में भी मिलता है परन्तु वह भी महत्वहीन सा ही है। स्वप्नवासवदत्त में 'शूल पर के मांस'[3] का और रोटियों[4] का उल्लेख दोनों निरर्थक से हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य अर्थ की दृष्टि से किसी भोजन विशेष की ओर संकेत करना नहीं है। 'अमरकोश'[5] में शूल पर सिका हुआ मांस भी खाद्य पदार्थों में गिनाया गया है और इसके तीन प्रकार 'शूलाकृत' 'भटित्र' और 'शूल्य' माने गए हैं। रोटियों के स्थान पर कोई अन्य प्राचीन शब्द उपयुक्त होता।

भोजन के सम्बन्ध में भिक्षा[6] का उल्लेख कुछ महत्व रखता है। भक्तिमान शारिपुत्र और चाणक्य के पैर धुलाती है। दोनों बैठते हैं और भोजन करते हैं।[7] यह परम्परा से चली आई हुई भारतीय भोजन-पद्धति का विवरण है और बौद्ध आचार का यह एक अंग था।[8] यहीं भोजन के लिए स्वर्णपात्र का उल्लेख भी प्रभाव कर गये हैं।

वात्स्यायन के कथन में तपस्वियों के भोजन फल मूल का उल्लेख हुआ है।[9] इसी प्रकार बंदियों के भोजन का संकेत भी चाणक्य और शकटार के कथनों में हुआ है।[10] चाणक्य एक मुट्ठी चने और शकटार पानी से मिले सत्तू का उल्लेख करते हैं। परन्तु ये भी निकृष्ट आहार के प्रतीकमात्र जान पड़ते हैं।

पाकशाला[11] और पानशाला[12] के नाम भी प्रसाद के दो नाटकों में मिले हैं। पानशाला का प्रतीकात्मक उल्लेख अलका द्वारा हुआ है और पाकशाला का नाम विदूषक लेता है।

---

(१) अमरकोश २।१०।४२
(२) मचात० ३।१३५ (३) स्वप्न० ५।१२९
(४) वही० ५।१३६ (५) अमरकोश २।९५
(६) मत्मा० २।८३ (७) वही० २।८३ ८४
(८) ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन : इटसिंग पृ ४०
(९) चन्द्र० १।१ ३
(१०) वही १।८७
(११) स्कंद० १।१८
(१२) चन्द्र० १।९९

'ध्रुवस्वामिनी' में 'पान' और 'पान के डिब्बे'[1] का उल्लेख हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि पान भारतीय संस्कृति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा है। देवताओं के पूजन में भी इसके बिना काम नहीं चलता। वात्स्यायन कहते हैं कि प्रातःकाल नागरिक पान खाकर अपने कार्य में लग जाय।[2] कालिदास ने तांबूलवल्ली का उल्लेख किया है।[3] फ्लीट के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के काल में प्रसाधन और सौंदर्य वृद्धि के लिए तांबूल चर्वण किया जाता था।[4] बाण ने कादंबरी में 'तांबूल करंक वाहिनी' का प्रयोग कई बार किया है।[5] किन्तु इन सभी स्थलों पर तांबूल का ही प्रयोग हुआ है पान का नहीं। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि प्रसाद देश (बनारसी पान) काल से प्रभावित होकर ही तांबूल शब्द को भूलकर गुप्तकाल में भी 'पान' शब्द का प्रयोग कर बैठे हैं। यही बात 'पान के डिब्बे' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, क्योंकि प्राचीन काल में 'तांबूल करंक' और 'पटलाधार' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः तांबूल की चर्चा हमें 'प्रसाधन' के अन्तर्गत करनी चाहिए थी किन्तु चर्वण के उपरांत ही तांबूल प्रसाधक होता है अतः इसकी चर्चा इसी प्रसंग में करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

(१) ध्रुव० १।१६ २०

(२) गृहीत मुखवास ताम्बूल कार्याण्यनुतिष्ठेत् कामसूत्र सूत्र

(३) रघुवंश ६।६४

(४) कौर्पस इ. इन्स्क्रिप्शनम् इ. इण्डिकारम ३ १८ पृ ८२

(५) कादम्बरी बाण

वस्त्र और आभूषण

प्रसाद के नाटकों में वस्त्र और आभूषणों के नाम भी बहुत कम आए हैं। कहीं-कहीं प्रसाद ने ऐसे संकेत अवश्य दिए हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल की नारी भी वेष-भूषा और बनावट-सजावट से अपने पतियों को प्रसन्न करती थी।[1] सहज सुन्दर रूप होते हुए भी वेष भूषा की ओर विशेष ध्यान रखा जाता था।[2] विभिन्न अवसरों के उपयुक्त वेष-भूषा की ओर प्रसाद ने कोई संकेत नहीं किया है केवल एक दो स्थानों पर वर वधू के वेष[3] का उल्लेख मात्र कर दिया है। वैवाहिक वस्त्र प्राचीन काल में भी विशेष प्रकार के होते थे। मालविका विवाह के समय विशेष प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित की गई थी। वह सिर पर एक छोटी सी ओढ़नी ओढ़े हुए थी और नीचे से ऊपर तक अनेक प्रकार के अलंकारों से सजी हुई थी।[4] उपाध्याय के अनुसार वर वधू दोनों के वैवाहिक वस्त्र रेशम के होते थे और उनमें हंस बने हुए होते थे।[5] हर्षचरित में राज्यश्री के विवाह के अवसर पर कई प्रकार के वैवाहिक वस्त्रों का विस्तृत विवरण मिलता है।[6] भारत में न जाने किस काल से नारी के अलंकारों को महत्त्व प्रदान किया गया है। वात्स्यायन तो कहते हैं कि एकान्त में भी पत्नी पति के पास अलंकार रहित होकर न जावे।

'नायकस्य च न विमुक्ता भूषणं विजने संदर्शने तिष्ठेत्' ॥

इस पर टिप्पणी करते हुए चकलेदार लिखते हैं कि यह विचारधारा वैदिक युग में भी प्रचलित थी।[8]

प्रसाद के नाटकों में जिन वस्त्रों का उल्लेख मिलता है वे हैं : उत्तरीय कंचुक उष्णीष परिच्छद, कमरबंद।

ध्रुवस्वामिनी स्वर्णखचित उत्तरीय में अंग अंग छिपाए हुए आती है।[9] इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तरीय पर्याप्त लम्बा चौड़ा होता था

उत्तरीय

और उससे समस्त अंग ढके जा सकते थे। उसका स्वर्णखचित होना उसके कलात्मक सौन्दर्य और उसकी बहुमूल्यता को सूचित करता है। प्राचीनकाल में सामान्यतः दो वस्त्र काम में लाए जाते थे। कटि के नीचे के अंगों के ढकने के लिए जो वस्त्र प्रयोग में आता था उस

---

(१) अजात० १।४२ (२) वही १।४२ (३) अजात० ३।१२८ चन्द्र० ३।१५६
(४) मालविका ५।७ (५) इंडिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० १६६
(६) हर्षचरित बाण समय वासुदेवशरण (७) कामसूत्र वात्स्यायन सूत्र ११ पृ० २२१
(८) स्टडीज इन कामसूत्र हारानचन्द्र पृ० १७४ (९) ध्रुव० २।३६

अधोवस्त्र (धोती) कहते थे और कटि के ऊपरी भाग के लिए उत्तरीय काम में लाया जाता था। कालिदास के 'दुकूलयुग्म' में एक उत्तरीय है[1] जिसे आधुनिक 'शाल' का पूर्वज कह सकते हैं।[2] बाण ने भी उत्तरीय का उल्लेख किया है। 'कुंकुमराग कोमलोत्तरीयाम्बरितोत्तमांगेन'[3] इससे पता चलता है कि उत्तरीय से उत्तमांग (सिर) भी ढका जाता था। हर्षचरित की शांकरी टीका में 'आच्छादनमुत्तरीयम्' से यह भी पता चलता है कि शरीर के ऊपरी भाग में कंचुकादि वस्त्रों के ऊपर भी इसे ओढ़ा जाता था।[4] उत्तरीय पुरुष और स्त्री दोनों ही धारण करते थे। प्रसाद ने केवल स्त्रियों के ही उत्तरीय का उल्लेख किया है। स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर उत्तरीय से अवगुण्ठन का भी काम लेती थीं।[5] बौद्ध ग्रन्थों में इसे उत्तरासंग[6] कहा गया है। वात्स्यायन ने नागरिक के दो परिधान गिनाये हैं वासस् (वस्त्र) तथा उत्तरीय। उस महार्हवस्त्र उत्तरीय से ज्ञात पड़ता है कि यह उत्तरीय महार्ह (मूल्यवान) एवं गंधयुक्त होता था।[7]

कंचुक

गांधार राजकुमारी अलका अपने कंचुक से मालाचित्र छिपा लेती है।[8] इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कंचुक नाम का कोई वस्त्र पहनती थीं। सालटोर महत्वपूर्ण व्यक्तियों के वस्त्रों में 'कंचुक' का उल्लेख करते हैं।[9] कंचुक का उल्लेख मालती के वस्त्रों के वर्णन में बाण ने किया है। हर्षचरित से ज्ञात पड़ता है कि मालती ने एक अत्यन्त निर्मल श्वेत कंचुक से भी पतला कंचुक पहिन रखा था जिससे उसका सारा शरीर आच्छादित था। उसके भीतर उसका चन्दन चर्चित शरीर स्पष्ट दिखाई पड़ता था।[10] बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात पड़ता है कि स्त्रियाँ और पुरुष दोनों कंचुक पहिनते थे। शायद यह कुरता जैसा कोई वस्त्र रहा हो लेकिन यह कहना कठिन है कि यह वस्त्र आगे से खुला रहता था। अथवा बंद।[11] बाण के आधार पर ही सालटोर लिखते हैं कि यह आगे से बाँधा जाता था।[12] सम्भवतः कंचुक का रूप आजकल की बगलबन्दी के समान रहा हो। पुरुषों के कंचुक का उल्लेख भी बाण ने किया है।[13] संस्कृत नाटकों की कंचुकी

---

(१) इंडिया इन कालिदास उपाध्याय पृ १६६
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज सालटोर पृ ३६९
(३) हर्षचरित बाण सप्तम उच्छ्वास पृ० २०७
(४) वही : शंकर टीका : पृ २०७ (५) शाकुन्तल ५।२१
(६) महावग्ग ८।१३ ४५ (७) कामसूत्र २१ पृ० २११ (८) ध्रुव १।८२
(९) लाइफ इन दि गुप्ता एज सालटोर पृ० ४०७
(१०) हर्षचरित बाण प्रथम उच्छ्वास
(११) प्राचीन भारतीय वेष भूषा डा० मोतीचन्द्र पृ० ३७
(१२) लाइफ इन दि गुप्ता एज सालटोर पृ० १११
(१३) हर्षचरित सप्तम उच्छ्वास पृ० २०६

अथवा-कोंचुकीय का नामकरण ही 'कंचुक' के आधार पर किया गया है। कंचुकी एक लम्बा कंचुक धारण किया करता था।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में "उष्णीष का पूला बनाया"[1] जैसे वाक्य में उष्णीष शब्द पगड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में पुरुष कभी-कभी स्त्रियाँ भी सिर पर उष्णीष बाँधती थीं। उष्णीष के सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द लिखते हैं।

उष्णीष उष्णीष शब्द का पगड़ी के अर्थ में प्रयोग सबसे पहिले अथर्ववेद (१५ २ १) और पञ्चविंश ब्राह्मण (१७ १ १४) के व्रात्य प्रकरण में आया है। ऐतरेय (६ १) और शतपथ (३ ३ २ ३) में इस शब्द का प्रयोग राजाओं और यज्ञों के यजमानों के सम्बन्ध में आया है। राजा लोग वाजपेय (श० ब्रा० ५. ३ ५ २३) और राजसूय (मैत्रायणी संहिता ४ ४ ३) के अवसरों पर उष्णीष धारण करते थे। इन्द्राणी सावित्री की हैसियत से उष्णीष पहनती थी (श० ब्रा० ५ ३-५ २३) व्रात्यों का उष्णीष सफेद होता था। सूत्रों के अनुसार उष्णीष में कई फेंटे होते थे और वह सिरा एक तरफ झुका कर बाँधा जाता था (कात्यायन श्री सू २१ ३) यज्ञ के अवसर पर उष्णीष के दोनों छोर आगे लाकर उसकी तहों में खोंस दिए जाते थे (श० ब्रा० ३ ५ २०) लगता है कि राजाओं के उष्णीष के छोर बाहर लटके रहते थे।[2] कालांतर में उष्णीष का व्यवहार सम्भवतः पुरुषों तक ही सीमित रह गया होगा क्योंकि भरहुत और मथुरा की मूर्तियों में स्त्रियाँ सिर पर फूल मालाएं अथवा मुक्ता मालाएं पहनी हुई दिखाई देती हैं।[3]

मालविका बहुमूल्य था परिच्छद पहन कर "उसी की शय्या पर लेटी थी।[4] यहाँ परिच्छद से शयन के समय पहने जाने वाले वस्त्रों का बोध होता है। आप्टे महोदय ने परिच्छद के कई अर्थों में एक अर्थ परिधान या वस्त्र भी

परिच्छद दिया है।[5] इस अर्थ के प्रमाण के लिए उन्होंने किरातार्जुनीय (७ ४०) का उद्धरण दिया है। पहनने वाले वस्त्रों के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है।

वस्त्रों के कमरबंद के बंधन'[6] का उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तलम् में हुआ है। परन्तु अभी यहाँ तक कटि के लिए कमर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। इसमें सन्देह नहीं

(१) अभि० १।५६
(२) प्राचीन भारतीय वेशभूषा डा० मोतीचन्द्र पृ० ११,१०
(३) लाइफ इन दि गुप्ता एज साल्टोर पृ० ३६५ ६६
(४) मेघ० ४।२११
(५) संस्कृत इं इं डी कोष आप्टे पृ० ५६३
(६) अभि० २।०५

[8-

कमरबन्द

कि योद्धा कटिबंध बांधते थे। इसका प्रमाण बौद्ध ग्रन्थों में ढूंढ़ा जा सकता है। मौर्यकाल में भिन्न भिन्न स्त्रियों के 'कायबंध' का उल्लेख मिलता है जो सामान्य कटिबंध से भिन्न होता था। "ये कायबंध सादी और फेरदार बनावट की पट्टियों से बनते थे। इन कायबन्धों के किनारे फटने के डर से उलट कर सी दिए जाते थे। कायबन्धों में हुक भी लगते थे। पर ये बीच (हुक) सदा हड्डी दाम और डोरे के बने होते थे भिक्षुओं के लिए सोने चांदी के बीच वर्जित थे।"[1]

आभूषण

प्रसाद के नाटकों में बहुत ही कम आभूषणों का उल्लेख हुआ है और वे भारत में आज भी प्रायः उसी रूप में व्यवहृत होते हैं। ऐसा एक भी आभूषण प्रसाद ने नहीं गिनाया है जो केवल प्राचीन काल में ही व्यवहार में लाया जाता होगा। आभूषणों में प्रसाद ने केवल कुण्डल अंगूठी कंकण और नूपुर का उल्लेख किया है।

कुण्डल

प्रसाद ने मोतियों के कुण्डल' का उल्लेख किया है। वणिक लोग इन कुण्डल को अपने कानों में पहिना करते थे।[2] कालिदास के समय में भी विविध प्रकार के आभूषणों से कानों को सजाया जाता था जिन्हें 'कर्णाभूषण' 'कर्णपूर' 'कुण्डल' तथा 'मणिकुण्डल' कहा गया।[3] हर्षचरित के 'प्रिय कथा एव सुभगा कर्णावतंसरा आडम्बर' कुण्डलादि'[4] में भी कुण्डल का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में कुण्डलों का प्रयोग पुरुष और स्त्री दोनों ही किया करते थे। अजन्ता के भित्ति चित्रों में पुरुष और स्त्री दोनों ही कुण्डल धारण किए हुए हैं।

अंगूठी

'अजातशत्रु' में बंदी अजातशत्रु वाजिरा को अपनी अंगूठी पहिनाता है।[5] चन्द्रगुप्त में चाणक्य राक्षस को अंगुलीय मुद्रा' से मलय के हृदय में राक्षस के प्रति सन्देह का बीजारोपण किया जाता है।[6] अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला से विदा होते समय दुष्यन्त ने स्वनामांकित जो अंगूठी पहिनाई थी उसके लिए 'अंगुलीयक'[7] और 'मुद्रा'[8] का प्रयोग हुआ है। अंगूठी प्राचीन काल में नागरिक का अत्यन्त प्रचलित आभूषण रहा है।

---

(१) प्राचीन भारतीय वेष भूषा (मोतीचन्द) पृ० ३५ ३६
(२) राज्यश्री २।१७
(३) रघु० ७।२७ कुमा० ३।६६ कुमा० २।२०
(४) हर्षचरित बाण तृतीय उच्छ्वास ६४
(५) अजात० ३।१६३ चन्द्र० २।८३
(६) चन्द्र० ३।१९३ (७) शाकुन्तल ६।११५
(८) शाकुन्तल ६।११२

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में इसका अवश्य उल्लेख किया है।[1] ललित विस्तर के अनेक 'पद सहस्र मुक्तामंगुलीयकम्'[2] से अंगुलीयक की महत्ता की सूचना भी मिलती है। अंगुलीय मुद्रा और उसके राजनीतिक उपयोग की चर्चा 'मुद्राराक्षस' में हुई है। अन्यत्र भी नामांकित अंगुलीयक या मुद्रा के राजकार्यों में विशेष अवसरों पर काम में लाए जाने के दृष्टान्त मिलते हैं।[3]

कंकण

'मेघदूत' में मालवी अपना कंकण उतार कर दान दे देती है।[4] यह कंकण हाथों में पहिना जाने वाला अत्यन्त प्राचीन आभूषण है और बाण ने इसका उल्लेख किया है।[5] शंकर टीका में इसका एक और पर्याय 'प्रतिसर' भी मिलता है।[6]

नूपुर

'स्कंदगुप्त' में 'नूपुरों की झंकार'[7] के द्वारा विलास और कलाओं की ओर संकेत किया गया है। नूपुर और उनकी झंकार का विशद वर्णन प्राचीनसाहित्य में मिलता है। 'हर्षचरित' में राज्यवर्द्धन के जन्म के समय नृत्य करती हुई नर्तकियों के मणिनूपुरों की झंकार से दिशाएँ मुखरित हो उठी थीं। ये कोमल मणि से जड़े हुए सुन्दर नूपुर पैरों में पहिने जाते थे।[8]

शृंगार और रत्न मंजूषा

'शृंगार मंजूषा'[9] और 'रत्न मंजूषा'[10] के उल्लेख भी प्रसाद ने किए हैं। दोनों नामों से स्पष्ट है कि इन दोनों पिटारियों में से प्रथम तो शृंगार सामग्री रखने के लिए काम में आती थी और दूसरी रत्नों को सुरक्षित रखने के लिए। प्राचीन काल में इस प्रकार की पेटियाँ शृंगार इत्यादि के लिए व्यवहार में लाई जाती थीं। बौद्ध जातकों में इस प्रकार की 'मंजूषा' का उल्लेख हुआ है। वात्स्यायन ने इसी प्रकार की एक अन्य पेटिका 'सौगन्धि पुटिका' का उल्लेख किया है।[11] उक्त पेटी में भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव रहा करते थे। कालिदास ने भी 'शृंगार पेटिका'[12] का उल्लेख किया है 'रत्न मंजूषा'[13] का वर्णन भी 'मालविकाग्निमित्र' में हुआ है।

---

(१) कामसूत्र सूत्र २० पृ० २८२
(२) ललित विस्तर लैफमैन १३।१४२
(३) पादुकतम ६।१२ मालविका ४ पृ० ३२२ ३
(४) मेघदूत० १५०
(५) हर्षचरित चतुर्थ उच्छ्वास पृ० १४१
(६) कंकण प्रतिसर' शंकर टीका पृ० १४१
(७) स्कंद० ३।६४
(८) हर्षचरित चतुर्थ पृ० ११०
(९) प्रसाद०
(१०) स्कंद०
(११) कामसूत्र सूत्र ७ पृ० ४४
(१२) विक्रमोर्वशीय ६।१२१
(१३) मालविका ३।७३

पुष्पाभरणों का उल्लेख प्रसाद के नाटकों में कई स्थलों पर हुआ है। मालविका चन्द्रगुप्त को पुष्पमाला पहिनाती है।[1] सुरमा मालिन 'राज्यश्री विलास मालिका'[2] मल्लिका का बाल व्यजन[3] बनाने तथा अन्य प्रकार की पुष्प रचना[4] के कार्यों में अत्यन्त पटु है। देवगुप्त उसकी 'शिल्प कुशलता' की प्रशंसा भी करता है।[5]

पुष्पाभरण

पुष्प और पुष्प मालाओं से शृंगार करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है और साहित्य में इसका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। जातकग्रन्थों में पुष्पमालाओं एवं पुष्पाभरणों का उल्लेख मिलता है।[6] कानों में कर्णिकार और कमल के फूल स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष भी लटकाया करते थे। कालिदास ने आपीड़ (जूड़े) में चम्पा के फूलों की माला लपेटने[7] या कुरबक के फूल खोंसने या अलकों में अशोक के फूल गूंथने[8] और नव मल्लिका की माला धारण करने की चर्चा की है।[9] वात्स्यायन ने नागरिक के वास गृह में अन्य सामग्रियों के साथ माल्यम् तथा कुरंटक मालायें का भी उल्लेख किया है।[10] पुष्परचना अनेक प्रकार से की जाती थी। जिनमें से वेष्टित वितत संघात्य ग्रन्थिम आलम्बित मुकुट मंजरी और स्तबक ये आठ प्रकार प्रधान थे।[11] अपने निर्मल श्वेत वर्ण और भीनी भीनी सुगन्ध के कारण मल्लिका का पुष्प पुष्परचना के लिए अधिक काम में लाया जाता था।[12]

"मैं वही हूं जो मगधेश्वर पराक्रम कुमारगुप्त के बालों को सुगन्धित करने के लिए गंध चूर्ण जलाती थी"।[13] अनन्तदेवी के इस वाक्य द्वारा प्रसाद ने स्त्रियों के शृंगार की एक प्राचीन पद्धति का निर्देश किया है।

अन्य प्रसाधन

केशों को अगर चन्दन इत्यादि से सुगन्धित किए जाने का उल्लेख कालिदास में भी हुआ है।[14] इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि स्नान के उपरान्त बालों को सुखाने एवं उन्हें सुगन्धित करने के लिए स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की गंधों के धूप का उपयोग करती थी। पति पत्नी या प्रिय प्रियतमा के बीच स्नेहातिरेक

---

(१) चन्द्र०
(२) राज्यश्री १।११
(३) राज्य० १।११, १।१४ ११७
(४) वही १।११ १।१४
(५) वही १।१४
(६) सुत्तिम जातक २।१०।१४१
(७) ऋतुसंहार ६।१
(८) वही ६।५
(९) हर्षचरित
(१०) कामसूत्र सूत्र ५।१२ पृ० ४१ ४५
(११) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० ७१
(१२) कामसूत्र सूत्र० ७
(१३) स्कंद० ५।१०९
(१४) ऋतु० २।२१, कुमारसंभव ७।१४

अथवा क्रीड़ा विलास की भावना की अभिव्यक्ति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के इस कथन में हुई है :

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः
संचारयामि नलिनीदल तालवृन्तम
अंके निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते[1]

अनन्त देवी की उपर्युक्त अर्थोक्ति में कुमारगुप्त के क्रीड़ा विलास का ही संकेत है किसी विशेष प्रथा का नहीं। विलास सामग्री में कालागरु के गंध धूप[2] की भी चर्चा स्कंद गुप्त में हुई है। प्राचीन काल में कालागुरु की धूप से केश ही सुगन्धित नहीं किए जाते थे वरन् स्त्रियाँ अपने वस्त्रों को भी इससे सुवासित करती थी।[3]

---

(१) शाकुन्तल अंक ३ (२) वही
(३) लाइफ इन गुप्ता एज सालेतोर पृ० ४१४

उत्सव

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में उत्सवों का बड़ा महत्व था। संस्कृत वाङ्-मय में उत्सव सम्बन्धी जितने भी उल्लेख हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि आज के भारतीय समाज में प्राचीन उत्सवों का एक फीका सा अवशिष्ट स्वरूप रह गया है। तब ऐसा न था। लोग उत्साह तथा आनन्द के रस में डुबकियाँ लेते हुए अपने उत्सवों को मनाया करते थे। शिशुओं से लेकर वृद्ध तक उन उत्सवों के रंग में रंग जाया करते थे।

प्रसाद ने साधारणतया नागरिकों के मनोविनोद के लिए समय-समय पर किए जाने वाले उत्सवों की सभा को समाज[1] कहा है। ऋतु सम्बन्धी उत्सव प्राचीन भारत की अपनी विशेषता रहे हैं और होली दीपावली इत्यादि के रूप में आज भी प्रचलित है। प्रसाद ने 'वसन्तोत्सव'[2] तथा 'मदनोत्सव'[3] के उल्लेख किए हैं। उक्त उत्सवों में केवल वसन्तोत्सव के स्वरूप की थोड़ी सी अस्पष्ट झाँकी प्रसाद ने प्रस्तुत की है अन्य उत्सवों का नामोल्लेख मात्र कर दिया है। अन्य साधारण उत्सवों में से वैवाहिक महोत्सव'[4] विजयोत्सव[5] तथा 'युवराज्याभिषेकोत्सव'[6] जैसे उत्सवों का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है। किन्तु इनके सम्बन्ध में इन नाटकों से अधिक नहीं जाना जा सकता।

प्रसाद के नाटकों से केवल इतना ज्ञात होता है कि कभी-कभी 'सरस्वती मंदिर में समाज' होते थे। इन समाजों के सम्बन्ध में वात्स्यायन लिखते हैं ये

समाज — समाज प्रत्येक पक्ष अथवा मास में निश्चित तिथि को सरस्वती के मन्दिर में हुआ करते थे।[7] जिस प्रकार आधुनिक काल में संगीत और नृत्य मंडलियाँ या अन्य कलाकार नगरों के केन्द्र स्थान अथवा 'रंगशाला' इत्यादि में जनता में अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में सरस्वती मंदिर में विद्या की देवी के चरणों में इस प्रकार के

---

(१) चन्द्र० १।७३
(२) वही १।६३
(३) राज्यश्री १।१६
(४) ध्रुवा० ३।१३५ चन्द्र० ३।१५५
(५) चन्द्र ४।२० २०१ ध्रुव० २।३८
(६) प्रभात० १।२६
(७) 'पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञाते ऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाज

प्रदर्शन हुआ करते थे। गणों का यह कर्तव्य होता था कि वे आगन्तुकों के स्वागत सत्कार का उचित प्रबन्ध करें। इस प्रकार के उत्सवों का सम्बन्ध केवल सरस्वती पूजन से ही नहीं था वरन् अन्य देवी देवताओं के सम्मान में भी इस तरह के उत्सवों का आयोजन किया जाता था। नियमित रूप से जो समाज होते थे उनमें नागरिक तथा सरस्वती पूजन के लिए नियुक्त नर्तक गायक इत्यादि भी भाग लेते थे।[1]

राजकुमारी कल्याणी समाज के सम्बन्ध में जानने के लिए उत्सुक है। संभव है प्रसाद इससे यह प्रकट करना चाहते हों कि प्राचीन काल में सरस्वती मंदिर में होने वाले समाजों में स्त्रियाँ भी यथेष्ट अभिरुचि रखती थीं। कल्याणी का नीला को भेजना इस ओर थोड़ा सा संकेत अवश्य करता है। कामसूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में नायक के आकर्षण और प्रेम की सफलता समाजों और गोष्ठियों में उसकी सफलता पर निर्भर करती थी।[2] इससे यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि चाहे स्त्रियाँ उन समाजों में स्वतंत्र रूप से भाग नहीं भी लेती हों परन्तु उनके लिए, विशेषकर कुमारियों के लिए उन समाजों का आकर्षण प्रबल होता होगा। गोष्ठी कलाभिया चैति नायिक पुंसा[3] इन शब्दों से वात्स्यायन यह स्पष्ट कर देते हैं कि नायिका गोष्ठी में तो भाग लेती ही थी चाहे समाज में अनिवार्य रूप से न लेती हों। कामसूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि सरस्वती मंदिर अथवा अन्य मन्दिरों में होने वाले समाजों के साथ ही कभी-कभी उन देवी देवताओं की यात्राएं भी निकाली जाती थीं। संभव है कि उन यात्राओं में स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते हों क्योंकि देवता सम्बन्धी यात्रा अथवा उद्यान क्रीड़ा के अवसरों पर नायक अपनी प्रियतमाओं से मिल

---

(१) कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः।
द्वितीये हनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्।
ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा।
व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता।
आगन्तूनां च कृतसमवायानां पूजनमभ्युपपत्तिश्चेति गणधर्मः।
एतेन तं तं देवताविशेषमुद्दिश्य संभावितस्थितयो घटा व्याख्याता।
कामसूत्र, सूत्र २८,३१

(२) "ए नागरक वाज एक्सपेक्टेड टु बी लिबरल इन स्पेंडिंग ऑन फीस्टीज ऐंड हिज सक्सेस इन कोर्टशिप एज वल डिपेंडेड इन नो स्मॉल मेजर ऑन हिज पावर टु शाइन इन दि सोर्टीज ऐंड फेस्टिविटीज इन्क्लूडिंग दि फीस्टीज ऐंड समाज।
स्टडीज इन कामसूत्र चकलादार पृ० १६०

(३) कामसूत्र सूत्र ३३

सकते थे।[1] अत 'सरस्वती मंदिर' के सम्बन्ध में राजकुमारी का उत्सुकता प्रकट करना अत्यन्त स्वाभाविक है।

चन्द्रगुप्त नाटक में प्रसाद ने 'वसन्तोत्सव' का जो स्वरूप रखा है वह इस प्रकार है "कुसुमपुर के नागरिक मगध सम्राट के विलास-कानन में वसन्तोत्सव मनाते थे। उक्त उत्सव में राजा भी भाग लिया करता था और उत्सव के बीच राजा अपने को उन लोगों का सहचर मात्र समझता था। कुञ्जों में चषक

वसन्तोत्सव

और मदिरा कलश रखे होते थे और सभी नागरिक मद में उन्मत्त हो जाते थे। यहाँ तक कि स्त्रियाँ तक अपने को न सम्भाल पाती थी। उनकी आँखों में काम का सुकुमार संकेत और अनुराग की लाली ही प्रमोद के प्रधान लक्षण समझे जाते थे। उत्सव के साथ संगीत और देवदासी जैसे प्रसिद्ध आख्यानों पर अभिनय होते थे। वसन्तोत्सव की रानी जैसे उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि किसी कला कुशल और सुन्दर सुवासिनी' जैसी स्त्रियों में से किसी को उक्त उत्सव में रानी का पद दिया जाता था और उसकी आज्ञा सबको शिरोधार्य होती थी। इस प्रकार आमोद-प्रमोद से उत्सव सम्पूर्ण होता था।"[2]

संस्कृत वाङ्मय के आधार पर आचार्य द्विवेदी वसन्त के कई उल्लेख मानते हैं। इनमें सुवसंतक और मदनोत्सव का वर्णन सबसे अधिक आता है। सुवसंतक और मदनोत्सव को उन्होंने अलग-अलग उत्सव नहीं माना है। वसंतोत्सव के ही अन्तर्गत मदनोत्सव सुवसंतक बकुल और अशोक के वृक्षों के पास विहार शाल्मली मूल खनन इत्यादि कई उत्सव आ जाते थे जिनमें वह मदनोत्सव प्रधान होता था।[3] राज्यश्री में प्रसाद ने मदनोत्सव का उल्लेख किया है। परन्तु किसी प्रकार के विवरण के अभाव में इस सम्बन्ध में उनके स्वयं के दृष्टिकोण का अनुमान नहीं किया जा सकता। 'रत्नावली' में मदनोत्सव का विवरण इस प्रकार मिलता है' दोपहर के बाद सारा नगर मदनोत्सव के दिन पुरवासियों की करतल ध्वनि मधुर संगीत और मृदम के मधुर घोष से मुखरित हो उठता था। नगर के लोग पौरजन मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊंचे प्रासाद की सबसे ऊपर वाली चन्द्रशाला में बैठकर नगर वासियों के आमोद प्रमोद को देखा करता था। नगर की कामिनियां मधुपान करके ऐसी मतवाली हो जाती थी कि सामने जो कोई पुरुष पड़ जाता उस पर पिचकारी (शृ मक) के जल की बौछार करने लगती थी। बड़े-बड़े रास्तों के चौराहे मर्दल' नामक बाजे के गम्भीर रोष और चर्चरी' की ध्वनि से सम्पादन हो उठते थे। देर

(१) सातु (समापम) (देवताभिगमने यात्रायामुधानगोष्ठ्यां अभावतरणे विवाहे वसन्तमदनोत्सवेषु सम्मेलनात् पौरविभ्रमे जनपदस्य पदारोहणे प्रेक्षाप्यापारेषु तेव च कार्येभिरत वाभ्रकीया) कामसूत्र-सूत्र ४१

(२) चंद्र १/१३ १४ १५, १६ १७ (३) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ ११०

का ढेर सुगंधित अबीर वर्णों दिशाओं में इतना उड़ता रहता था कि दिशाएं रंगीन हो उठती थीं। जब नगरवासियों का आमोद पूरे चढ़ाव पर आ जाता तो नगरी के सारे राजपथ केसर मिश्रित अबीर से इस प्रकार भर उठते थे मानों उषा की छाया पड़ रही हो। लोगों के शरीर पर शोभायमान अलंकार और सिर पर पहिने हुए अशोक के लाल फूल इस लाल-पीले सौन्दर्य को और भी बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि नगरी के सभी लोग सुनहले रंग में डूबो दिए गए हों।[1] प्रसाद के 'वसंतोत्सव' के वर्णन करने पर समानता केवल इतनी ही है कि दोनों में मधुपान से मतवाली नगर कामिनियों की चर्चा है। भवभूति के मालती माधव[2] से मदन महोत्सव का जो विवरण प्राप्त होता है वह प्रसाद के वसंतोत्सव के विवरण से यत्किंचित् मिलता है। प्रसाद का 'विलास कानन' भवभूति का मदनोद्यान है। दोनों में नगर के स्त्री पुरुष उत्सव मनाने के लिए एकत्र हुए हैं। और दोनों में ही नृत्य गीत का उल्लेख है और कोई समानता इन दोनों विवरणों में नहीं है। मदनोत्सव कंदर्प पूजा से विदित होता है। पर प्रसाद में इस कंदर्प पूजा की चर्चा भी नहीं हुई है। भवभूति में फूल चुनने माला बनाने और अबीर कुंकुम से क्रीड़ा करने का उल्लेख है पर प्रसाद में नहीं। प्रसाद ने 'अभिनय' और 'नृत्यों' में मदिरापान का उल्लेख किया है जो भवभूति में नहीं मिलता।

वसन्त में उत्सवों का एक क्रम सा चलता रहता था और सुवसंतक के दिन कामदेव की पहली पूजा होती थी। उस युग की विलासिनियाँ कंठ में कुरबक की माला और कानों में दुष्प्राप्य आम्रमंजरी धारण करके काम को चमत्कृत कर देती थीं।[3] वसंतोत्सव के अवसर पर ही नाटक भी खेले जाते थे। कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र'[4] और श्रीहर्ष की 'रत्नावली'[5] दोनों वसंतोत्सव पर ही खेले गये थे। इसी आधार पर प्रसाद ने संभवतः वसंतोत्सव के अवसर पर 'कच देवयानी' के अभिनय का संकेत किया है। नाटक कामना में नागरिक उत्सव की अत्यन्त चर्चा हुई है। उसमें पुरुष और स्त्रियाँ केसर से रंगे [illegible] रेशमी दुकूल धारण कर नृत्य किया करते थे।[6] प्रसाद ने इस प्रकार के सामूहिक नृत्य एवं उत्सव समायोजन का स्वरूप ही अपने नाटक के वसंतोत्सव में ग्रहण किया प्रतीत होता है।

---

(१) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ १००(२) मालतीमाधव (भवभूति) अङ्क १
(३) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ १११
(४) 'अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदास ग्रथित वस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसंतोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।'
मालविका अङ्क १ श्लो १
(५) रत्नावली श्रीहर्ष : अङ्क १ पृ. १
(६) कामना २/१२१ ३/१४७ ६/११८

इस प्रकार प्रसाद का वसंतोत्सव बहुत कुछ अंशों में उनकी निजि कल्पना है। और एक विलासी राजा का आपानक मात्र प्रतीत होता है। वसंतोत्सव का उल्लास भी इसमें नहीं मिलता।

वसंतोत्सव की रानी[1] का विवरण प्रसाद ने संभव है बौद्ध ग्रन्थों से लिया है। उक्त ग्रन्थों में कदाचित जनपद कल्याणी के सम्मान की यत्र तत्र चर्चा हुई है।[2] वैशाली की जनपद कल्याणी अम्बपाली के सम्मान को देखते हुए[3] सुवासिनी को 'वसंतोत्सव की रानी' कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता। प्रसाद ने ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अपनी कहानी 'सालवती' में भी किया है।

'अजातशत्रु' के विवाहोत्सव में नागरिक घूम-घूम कर नगर में आलोकमालाओं का आनन्द लेते हुए बताए गए हैं। इससे अधिक विवाहोत्सव के सम्बन्ध में प्रसाद के नाटकों से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। यहां पर यह ध्यान देने की बात है कि आलोकमाला का प्राचीन विवाहोत्सव में कोई विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता। कालिदास ने पार्वती के विवाह[4] का और बाण ने राज्यश्री के विवाह[5] का इतना विस्तृत विवरण दिया है पर आलोकमाला का कहीं उल्लेख नहीं। इसके अतिरिक्त नृत्य गीत को प्राचीन विवाहोत्सव की महत्वपूर्ण विशेषता मानी जाती थी उसका उपयुक्त विवाहोत्सव में नाम भी नहीं। विवाहोत्सव के अन्य विवरणों को छोड़कर केवल आलोकमाला को महत्व देने में प्रसाद अपने युग से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं।

वैवाहिक महोत्सव

विजयोत्सव का उल्लेख दो स्थानों पर हुआ है। एक तो चन्द्रगुप्त मौर्य की दक्षिण विजय के उपलक्ष में[6] और दूसरे ध्रुवस्वामिनी नाटक में शकराज की विजय के उपलक्ष्य में।[7] प्रथम तो मनाया ही नहीं गया था। अतः उसका कोई विवरण संभव नहीं था। दूसरे में 'सोने की झांझ वाली नाव'[8] तथा प्यालियां भर भर कर पीने का'[9] उल्लेखमात्र है। प्राचीन भारत में विजयोत्सव का स्वरूप जातकों से लेकर कालिदास के ग्रन्थों तक में मिलता है। कालिदास के रघुवंश के अनुसार जब राम लंका को जीतकर अयोध्या

विजयोत्सव

(१) चन्द्र
(२) जातक २/१२८
(३) दीर्घनिकाय २/१ पृ १२७
(४) कुमारसंभव
(५) हर्षचरित
(६) चंद्र ४/२ ०
(७) ध्रु.च २ ३८
(८) वही २/३८
(९) वही २/३९

लौटे तो उनके स्वागत के लिए अयोध्या वन्दनवारों से सुसज्जित की गई थी। वहाँ के श्वेत प्रासादों के झरोखों से पौर वनिताएँ खीलें बरसा रही थीं। और नगर तुरही आदि बाजों के घोष से मुखर हो रहा था।[1] प्राचीन काल के इस विजयोत्सव में हर्ष और उल्लास का कलात्मक स्वरूप दिखाई पड़ता है। 'सोने की मोम बाती नाच तथा प्याले भर-भर कर पीने पिलाने' में मुगल कालीन भारत की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है।

यौवराज्याभिषेक को भी प्रसाद ने उत्सव कहा है पर उत्सव के स्वरूप का का पता उनके नाटकों से नहीं चल पाता। जातकों में अभिषेकोत्सव का सुन्दर स्वरूप मिलता है।[2]

रघुवंश १४/१०　　(२) महापिंगल जातक २/१ पृ २४०

क्रीड़ा विनोद

इनके नाटकों में प्रसाद ने प्राचीन काल के क्रीड़ा विनोदों की एक झांकी
का प्रयास किया है, परन्तु विस्तार किसी एक का भी विस्तार से नहीं मिलता।

मृगया का उल्लेख प्रायः सभी नाटकों में मिलता है। मृगया और राजकुमारों
का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध जान पड़ता है। छोटे-छोटे राजकुमार भी शिकारी सेवकों
साथ जाते थे। अजातशत्रु में मृगया सिखाने वाले शिकारी का 'लुब्धक'[1] नाम सार्थ
जान पड़ता है। पाणिनी ने मृगया को 'मृग मोक्ष' कहा है[3] और कौटिल्य ने 'मृग
मृगया

अरण्य'[4]। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में शिकारी पक्ष
वालों के अर्थ में मृगवी मृग शब्द का प्रयोग किया है[5]
राज्यश्री संगीत और नृत्य की अपेक्षा 'मृगया' को क्षत्रियों के लि
उपयुक्त विनोद बतलाता है[6]। 'व्यसनाधिकारिक' प्रकरण में कौटिल्य अन्य व्यस
के साथ-साथ मृगया को भी राजाओं का एक व्यसन मानते हैं परन्तु द्यूत, संगीत
नृत्य और सुरापान की अपेक्षा इसे अच्छा समझते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने मृगया
अनेक लाभ गिनाये हैं[7]।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में मेगास्थनीज कृत चन्द्रगुप्त की अहे
यात्रा का वर्णन इस प्रकार किया है "मृगया खेलने के समय कुचर पर सवा
निकलती। उस समय चन्द्रगुप्त स्त्रीगण से घिरा रहता था जो धनुष बाण धा
लिए उसके शरीर की रक्षा करती थी। उस समय राजमार्ग डोरी से घिरा रहत
था और कोई भी उसके भीतर नहीं जाने पाता था"[8]। नाटक में चन्द्रगुप्त व
अहेर यात्रा का प्रसंग कहीं नहीं आया किन्तु नन्द की अहेर यात्रा का उल्लेख मौर
काल की इसी प्रसिद्ध अहेर यात्रा की ओर संकेत करता है। प्रायः राजा लोग मृगय
प्रसंग में पकड़े हुए हिंस्र पशुओं के शावकों को पकड़ पालतू बना लेते थे और उनसे
शिकार में सहायता लेते थे। चन्द्रगुप्त नाटक में इस प्रकार के एक 'अहेरी चीते'[9] क
उल्लेख हुआ है। कभी कभी पिंजड़े में बन्द चित्रक (चीता) भी राजकुमारों
मनोविनोद का साधन बनता था। उनके पिंजड़ों में कभी-कभी मृगशावक को छो

---

(१) अजातशत्रु २/७० (२) वही १/२४
(३) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि वासुदेवशरण अग्रवाल पृ १६०
(४) अर्थशास्त्र ११ ३/५२ उदयवीर शास्त्री पृ ५६५
(५) अभिज्ञान शाकुन्तलम् पृ ५६ (६) राज्यश्री १/१५
(७) अर्थशास्त्र ८/३/५० (८) चन्द्रगुप्त : भूमिका पृ ४२
(९) चन्द्रगुप्त १/७५

किया जाता था और राजकुमार इस क्रूर खेल का आनन्द लेते थे[1]। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राजपरिवारियों के मनोविनोद के साधनों में राजसभा के बाहर राजा के विलास प्रासाद के एक पार्श्व में अन्य वस्तुओं का विवरण देते हुए सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं के पिंजड़ों का उल्लेख किया है[2]। शुक्राचार्य कहते हैं कि मृगया में गुण तो इतने ही हैं पर हिंसा दोष उससे कहीं अधिक है[3]। बौद्ध धर्म के प्रभाव से अजातशत्रु में भी मृगया के इस हिंसा दोष की ओर संकेत किया गया है। मृगशावक को पकड़ते ही लुब्धक तक को मृगी की करुणामयी दृष्टि विचलित कर देती है[4]। वासवी मृगया को आवश्यक मानते हुए भी विरुद्धक और मृगशावक की क्रूर क्रीड़ा के द्वारा अजातशत्रु को निर्दयता सिखाने का विरोध करती है[5]

वनविहार

प्रसाद ने नाटकों में मनोविनोद का दूसरा साधन वनविहार है। नारी के संकीर्ण भवन में छिपकर रहते-रहते चित्त घबरा जाने के कारण मन बहलाने के निमित्त श्यामा और दीर्घ मालवती के एक उपवन में चले जाते हैं[6]। वहां संगीत के साथ सौन्दर्य और सुरा ने शैलेन्द्र को अभिभूत कर लिया है[7]। इस प्रकार के मनोविनोद को प्रसाद ने 'वनविहार' ही कहा है[8]। वनविहार के उपयुक्त उद्यान केवल राजकीय ही नहीं होते थे सामूहिक और सार्वजनिक भी होते थे जिनमें पुरुष और स्त्रियां बेरोक टोक जा सकती थीं। राजकुमारी कल्याणी अपनी सखियों के साथ जिस उद्यान में जाती है वहां 'स्वेत बिछाए हैं अशोक की मनोहर छाया है और सुन्दर माधवी लता फैल रही है। ऐसी हरी भरी लताएं महाराज के उद्यान में भी नहीं हैं[9]। चन्द्रगुप्त नाटक में तो प्रसाद ने रंग संकेत द्वारा 'मगध सम्राट के विलास कानन में विलासी युवक और युवतियों के विहार का स्पष्ट उल्लेख किया है[10]। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रसाद का 'वनविहार' वात्स्यायन की 'उद्यान यात्रा' का समानार्थक है। कामसूत्र के अनुसार ये उपवन नगर के बाहर होते थे। प्रातःकाल ही सजे सजाए नागरिकों की टोली घोड़ों पर चढ़ कर गणिकाओं और भृत्यों को साथ लेकर नगर से चल पड़ती थी। वहीं इधर-उधर भ्रमण करते भोजन का प्रबंध करते मुर्गे बटेर अथवा मेढ़े की लड़ाई अथवा अन्य रुचिकर खेल खेलने में उनका सारा दिन व्यतीत हो जाता

---

(१) अजात०	१।२१	(२) प्राचीन भारत का कला-विलास पृ० ११५	
(३) शुक्रनीति	१।११	(४) अजात०	१।२३
(५) वही	१।२४	(६) वही	२।६६
(७) वही	२।६७	(८) वही	२।६८
(९) चन्द्र०	१।७१	(१०) वही	१।६१

था'[१]। इन यात्राओं में संभवतः स्त्रियाँ भी अपनी अपनी टोलियों में जाती थीं। वात्स्यायन के अनुसार ये उद्यान यात्राएं अपने प्रेमियों से मिलने और प्रेम प्रदर्शित करने के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान करती थीं[२]। इनका रूप बहुत कुछ आधुनिक पिकनिक पार्टी से मिलता जुलता है। प्रसाद के वनविहारों में सम्मिलित और स्वतंत्र टोलियों का उल्लेख हुआ है[३]। साथ ही प्रेमी युगल के साथ मिलन संगीत सुरापान गणिका की भी चर्चा यथास्थान हुई है।[४]

एक विचित्र प्रकार के मनोविनोद के साधन का उल्लेख ध्रुवस्वामिनी में हुआ है। विकृत वेषभूषा तथा उनके हाव-भाव आदि सदा ही हास्य के आलंबन होते आये हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि विकलांग भी लोगों के हास्य के आलंबन हुआ करते थे। रामगुप्त के अन्तःपुर में कुबड़े बौने और हिजड़े मनोरंजन के उद्देश्य से रखे गये थे।[५] वे अपनी कुरूपता और व्यंग्यात्मक एवं विनोदात्मक उक्तियों से लोगों का मन बहलाते थे। रामगुप्त के 'ठठाकर हंसने'[६] और ताली पीटकर हंसने'[७] से इस बात की पुष्टि होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्राचीन काल में कुबड़े बौने नपुंसक गूंगे और बहरे व्यक्तियों को राजाओं और दरबारियों के मनोरंजन का साधन सिद्ध किया है।[८] मालविकाग्नि' में एक कुबड़ा अन्तःपुर का सेवक है[९] और हर्षचरित' में भी राज्यश्री गूंगे कुबड़े और बहरे सेवकों से घिरी हुई दिखाई गई है।[१०] इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से अन्तःपुर की रक्षा और मनोरंजन दोनों उद्देश्यों से विकलांग और आकर्षणहीन पुरुष काम में लाए जाते रहे हैं।

कुबड़े बौने और हिजड़े

चन्द्रगुप्त नाटक में स्वांग भरने का उल्लेख प्रसाद ने किया है।[११] सिंहरण और मालविका नट और नटी बनते हैं, चन्द्रगुप्त संपेरा बनता है और चाणक्य ब्रह्मचारी और वे सब पर्वतेश्वर की सेना के सामने अपना यह स्वांग दिखाते हैं। स्वांग भरने की यह क्रीड़ा अत्यन्त प्राचीन रही होगी। प्रो० पंत ने स्वांग को आहार्य अभिनय (किसी भी वेष रूपा के

स्वांग

(१) स्टडीज इन दि कामसूत्र हारानचन्द्र पृ० १९८
(२) वही पृ० १९९
(३) चन्द्र १।९१ (४) अजात ३।११९
(५) ध्रुवस्वामिनी १।२० (६) वही १।२
(७) वही १।२२ (८) प्राचीन भारत में कला-विलास पृ० ११५
(९) मालविकाग्नि पृ० ७।८९
(१०) हर्षचरित बाण अष्टम उच्छ्वास पृ० २४२
(११) चन्द्र २।११७

अनुकरणों) के अन्तर्गत माना है।[1] 'गांवों में आज भी होली आदि के अवसरों पर 'स्वांग' के रूप में नाट्यकला का यह पूर्व रूप वर्तमान है।" इस कथन में 'गांवों म शब्द यह बतलाता है कि 'स्वांग जनसाधारण के मनोरंजन का साधन था। उपर्युक्त उदाहरण में भी चाणक्य आदि साधारण सैनिकों के मनोरंजन के लिए स्वांग रखते हैं। वात्स्यायन ने स्वांग भरना एक कला माना है और इसको छलित योग कहा है।[2] वेष वाणी आदि के परिवर्तन से दूसरों को छलना या अनेक रूप धारण करना ही छलित योग' है किन्तु उक्त प्रसंग में 'स्वांग रखने' का प्रधान उद्देश्य गुप्तचर बनकर कार्य साधन है सैनिकों का मनोरंजन तो गौण है।

नट नटी

ऊपर सिंहरण और मालविका के नट नटी का स्वांग भरने की चर्चा हमने की है। यहां नट नटी का प्रयोग भरत के अनुसार अभिनेता और अभिनेत्री रूप में न होकर रस्सी और तलवार पर नाचते हुए शारीरिक वैचित्र्य के खेल दिखाकर लोगों को रिझाने वालों से है। इन्हें आज भी 'नट' ही कहा जाता है। प्रसाद ने सपेरे का वेष धारण किये हुए चन्द्रगुप्त के लिये भी 'नट' शब्द का प्रयोग किया है।[3] अर्थशास्त्र के निशान्ताधिकारिक प्रकरण में नटों के खेलों का उल्लेख हुआ है। यहां 'नट' के लिये कुशीलव शब्द का प्रयोग हुआ है नटों के खेल हथियार चलाना आग विष आदि के खेल खेलना भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे बजाना वर्जित थ। उनके खेलों में घोड़े रथ हाथी तथा नाना प्रकार के अलंकार भी काम में लाये जाते थे।[4]

सपेरा

ऊपर चन्द्रगुप्त के सपेरा बनने की चर्चा हुई है। वह सैनिकों के पास जाकर सपेरों की सी चेष्टा करता है और पिनाकी से बात चीतकर सैनिकों से नाग दर्शन की याचना करता है। ये सपेरे कुटिल विषधरों को भी मणोषधि के प्रभाव से वश में कर लिया करते थे।[5] आज भी भारत के गांवों और नगरों में सपेरे घूमते-फिरते बीन बजाते हुए लोगों का मनोरंजन करते दीख पड़ते हैं। निश्चय ही मनोरंजन का यह स्वरूप अत्यन्त प्राचीन रहा होगा। इसीलिए मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने भी सांपों की पिटारी लेकर

---

(१) भारतीय नाट्य-शास्त्र और रंगमंच पृ० ३

(२) प्राचीन भारत में कला-विलास पृ० १५५

(३) चन्द्र० २/१२०

(४) कुशीलवाः शस्त्राग्निरसवर्जं नर्मयेयुः । आतोद्यानि चैषामन्तस्तिष्ठेयुः अश्वरथद्विपालंकाराश्च । अर्थशास्त्र १/२१/३१ ३४ टीका उदयवीर शास्त्री पृ ८६

(५) चन्द्र० २/११६

साँपों के खेल दिखाने वाले जीर्ण विष नामक सपेरे का उल्लेख किया है।[1] तक्षशिला विद्यापीठ के शिक्षाक्रम में अन्य कौशलों के साथ साँप को वश में करने की विद्या और जादू के खेल का भी नाम आया है।[2]

कभी-कभी हमने तक्षशिला में जादू के खेल या इन्द्रजाल का उल्लेख किया है। चन्द्रगुप्त नाटक में इस प्रकार जादू के खेल या इन्द्रजाल की चर्चा हुई है।[3] चन्द्रगुप्त ऐन्द्रजालिक का वेष धारण करता है। इन्द्रजालियों का जादू के खेल या वेष लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए साधारण वेष से विकृत कुछ अटपटा सा रहता होगा और अपने अद्भुत खेलों से जनता का मनोरंजन करते होंगे। प्रसाद ने इस प्रकार के खेलों की विस्तृत जानकारी नहीं दी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'दत्तात्रेय तंत्र और इन्द्रजाल तंत्र संग्रह' के आधार पर इन्द्रजाल के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है।[4] मनुष्य को पशु या पक्षी बना देना हिंस्र जन्तुओं को स्तम्भित एवं निश्चेष्ट करना आग बाँध देना आग लगने का भ्रम पैदा करना मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण आदि करना ये सब इन्द्रजाल के अन्तर्गत आते हैं। आज की भाषा में हम इन सब आश्चर्यजनक कृत्यों को 'जादू' कह सकते हैं।

इन्द्रजाल

भारतवर्ष के इन्द्रजाल की अद्भुत आश्चर्यजनक लीला की सारे संसार में प्रसिद्ध थी। और इन इन्द्रजालियों को राजदरबारों में उच्च स्थान प्राप्त था। 'रत्नावली' से ज्ञात होता है कि इन्द्र और शम्बर इस विद्या के आचार्य हैं। राजाओं के मनोरंजन के सम्बन्ध [illegible]चार्य ने भी इन्द्रजालियों का उल्लेख किया है।[5]

विदूषक और हँसोड़

प्रसाद के केवल दो नाटकों में विदूषक आया है। अजातशत्रु में वसंतक[6] और स्कन्दगुप्त में मुद्गल।[7] दोनों स्थलों पर विदूषक का उद्देश्य राजाओं का मनोरंजन करना है। संस्कृत के प्राचीन नाटकों में बीच बीच में हँसाने के लिए विदूषकों का प्रयोग हुआ है। विदूषक राजा का मित्र और सलाहकारी होने के साथ-साथ अपनी वेष-भूषा क्रिया-कलाप भाषा आदि से राजा का मनोरंजन करता था। दुष्यन्त का विदूषक उसका मित्र सलाहकार और सहायक भी है।[8] कामसूत्र में भी नागरिक के मित्र

---

(१) मुद्राराक्षस विशाखदत्त अंक ९
(२) इण्डियन ऐम्यूज़मेण्ट्स इन एन्शियण्ट ऐण्ड लेटर टाइम्स के। पृ १४२
(३) चन्द्र० १/१२७ व १११
(४) प्राचीन भारत में कला-विलास पृ० १११
(५) शुक्रनीति १ म २४
(६) अजात०
(७) स्कन्द०
(८) अभिज्ञान शाकुन्तलम्

रूप में विदूषक की भी गणना की गई है। स्कन्दगुप्त नाटक में विदूषक मुद्गल के अतिरिक्त एक और विदेशी हँसोड़ धातुसेन आया है। इस प्रकार के व्यक्तियों को भी स्वच्छन्दता थी।[1]

नर्तकी

मनोरंजन का एक और साधन है नर्तकियाँ। प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में समय-समय पर नृत्य की योजना की गई है। मनोरंजन के लिए राजमंदिरों[2] में शिविर में[3] विजयसमारोहों[4] में तथा अन्य उपयुक्त स्थलों से नर्तकियों के नृत्यों की योजना की गई है। स्कन्दगुप्त में 'पारसीक नर्तकियाँ बुलाई गई हैं।[5] संभवतः सौंदर्य अथवा कला-कुशलता के कारण उनका विशेष मान रहा हो। पारसीक दासियाँ को क्रय करके भारत लाने की प्रथा का उल्लेख 'पेरिप्लस आफ एरीथ्रियन्स'[7] (एक यूनानी ईस्वी) में मिलता है। गुप्तकालीन एवं उससे भी पूर्व के बौद्ध साहित्य के अनुसार भी राजकुमार गौतम के मनोविनोद के लिए पारसी या पारसोही दासियाँ नियुक्त की गई थीं।[8] मनोरंजन के लिए नर्तकियों का उल्लेख प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है। कालिदास ने रघुवंश में नर्तकियों को विलासिनी के रूप में उपस्थित किया है।[9]

गणिका
और
वेश्या

गणिका का उल्लेख एकमात्र अजातशत्रु में हुआ है। मागन्धी ने स्वयं अपने को 'निस्संग गणिका' कहा है।[10] प्रसाद ने इसके तीन नाम रखे हैं। मागन्धी, श्यामा और आम्रपाली। मागंधी के रूप में वह उदयन की रानी थी। रूपवती होने के कारण ही उदयन का तीसरा विवाह इस दरिद्र कन्या से हुआ था। श्यामा के रूप में उसके सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर समुद्रगुप्त उसके पास उसके रूप की ज्वाला में पतंग बनने को आता है।[11] वह सुन्दरियों की महारानी है और वह रानियों की तरह ही रहती भी है।[12] यहाँ गणिका के सौन्दर्य और वैभव दोनों की ओर संकेत

---

(१) 'घोषमास्तर पुष्पवाटिका प्रसाधन व्यापार नायक कुक्कुटमेष युद्धानि वाक्शास्त्र कला-क्रीड़ा पीठमर्द विट विदूषकायत्ता व्यापारा विवाहयाव कामसूत्र
(२) स्कं० १/११ वात्स्यायन सूत्र २१
(३) प्रजा० १/४३ (४) स्कं० ४/१११
(५) म० ५० २/१८१६ (६) स्कं० १/१८
(७) प्राचीन भारतीय वेशभूषा मोतीचन्द्र पृ० १४१
(८) वही पृ० १४१ (९) रघुवंश १६/१८ १५ १६
(१०) प्रजात० ३/११६ (११) प्रजात० ४/७३
(१२) प्रजात० २/७८
(१३) प्रजात० २/७१ ७

है। बड़े-बड़े राजपुरुष और मंत्री श्यामा के चरण छूकर अपने को धन्य समझते हैं धन की कमी नहीं मान का कुछ ठिकाना नहीं।[1] दण्डनायक तक उसकी आज्ञा मानना अपना कर्त्तव्य समझता है।[2] वह संगीत में निपुण है[3] उसका कंठ सुरीला है।[4] रंग संकेत में गान और नृत्य मिलकर प्रसाद ने गणिका की नृत्य निपुणता की ओर भी निर्देश किया है।[5] श्यामा में दो उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। वह शिष्टाचार परायणा है और यह शिष्टता उसके समस्त वार्तालाप में अभिव्यक्त होती है।[6] दूसरे वह वेश बदलने की क्रिया में विशेष निपुण है।[7] मगध के 'गप्त प्राणिधि समुद्रदत्त का वेश बदलकर इस प्रकार काया पलट कर देती है कि काशी का दण्डनायक उसे पहचान ही नहीं पाता और शैलेन्द्र के स्थान पर उसे सूली पर चढ़ा देता है।

ऊपर प्रसाद के नाटक के आधार पर हमने गणिका का जो चित्र खींचा है वह भारत की शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त गणिका के स्वरूप से मिलता जुलता है। प्राचीन भारत में गणिका का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। कामसूत्र से ज्ञात होता है कि सभी वेश्याओं को गणिका की उपाधि से विभूषित नहीं किया जाता था। जो वेश्याएं सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होने के साथ-साथ चौंसठ कलाओं में पारंगत विदुषी एवं शील रूप गुणान्वित होती थी उन्हीं को गणिका की उपाधि' प्रदान की जाती थी और राजा एवं गुणीजनों के द्वारा उसका सदा सम्मान किया जाता था और वह सबके लिये सुरुचि और आदर्श की वस्तु बन जाती थी।[8] गणिका सबको अपनी कला आदि से आनन्दित करती थी इसलिए समाजों में उसका अत्यन्त मान था।[9] चारुदत्त के रथ में गणिका वसंतसेना बैठी हुई है यह जानकर राजकर्मचारी सम्मान से उस रथ को बेरोक टोक जाने देते हैं।[9] चारुदत्त ऐसा महान् व्यक्ति भी

---

(१) वही	२/७८	(२) वही	२/७८
(३) वही	२/७९	(४) वही	२/७९
(५) वही	२/७८		
(६) वही	२/८१		

(७) आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शील रूप गुणान्विता। लभते गणिका शब्दं स्थानं च जनसंसदि। पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता। प्रार्थनीयाऽभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते। कामसूत्र सू० २०/२१
पूजिता गणिकासर्वैर्मिली को न पूजयेत्। कामसूत्र सू० ५२

(८) 'पूजिता गणिकासर्वैर्गिरगी को न पूजयेत् कामसूत्र सू० ५२

(९) मृच्छकटिक

अपनी स्नेहमयी पत्नी के प्रति आदर और प्रेम होते हुए भी गणिका वसंतसेना से परिणय की आकांक्षा करता है।[१] इससे उस काल में गणिका की सम्माननीय स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। राजा शुद्धोधन सिद्धार्थ के लिए शास्त्रविधि को जानने वाली कुशल गणिका के समान वधू की कामना करते हैं।[२] कथासरित्सागर की मदनमाला[३] और देवदत्ता[४] के विवरणों से भी उनकी तत्कालीन उच्च सामाजिक स्थिति का पता चलता है। बौद्ध ग्रन्थों में गणिका को नगर शोभिनी कहा है। पद्मावती ऐसी ही एक नगर शोभिनी थी जिसको एक बार उज्जयिनी से राजगृह की शोभा बढ़ाने के लिए लाया था।[५] दीघनिकाय[६] के विवरण से भी लिच्छवि गणतन्त्र की गणिका अम्बपाली के वैभव ऐश्वर्य एवं आदर-सम्मान का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। वह बड़े ठाठ-बाट के साथ भगवान बुद्ध को निमंत्रित करने जाती है। उसके पास इतना विशाल ऐश्वर्य है कि वह भगवान को संघ सहित निमन्त्रण दे सकती है। और किसी भी मूल्य पर समस्त लिच्छविगणतन्त्र के प्रमुख के कहने पर भी पर इस 'महान भात' को छोड़ने को तैयार नहीं। भगवान को निमन्त्रण देने का और लिच्छवि युवकों के रथों के 'धुरी से धुरा' टकराने वाली इस गणिका की आदरणीय स्थिति के सम्बन्ध में सन्देह का स्थान नहीं रह जाता। भरत के अनुसार जहाँ तक गणिका के रूप गुण शील यौवन माधुर्यशक्ति संपन्नो और चतुष्षष्ठि कलान्विता' होने का प्रश्न है वह कामसूत्र से मिलता जुलता है। पर भरत उसके प्रियभाषित्व विनय और शिष्टाचार को विशेष महत्त्व देते हैं।[७]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में गणिका की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का जैसा चित्र उपलब्ध होता है प्रसाद ने उसका बहुत कुछ ग्रन्थों में वैसा ही चित्र उपस्थित किया है। वह रूप गुण शील यौवन माधुर्य सम्पन्ना है वह वैभव शाली है वह संगीत नृत्य आहार्य (वेशपरिवर्तन) आदि कलाओं में निपुण है वह अत्यंत मधुरभाषिणी एवं विनयशील है। और बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठी उसका सम्मान करते हैं। उचित शिष्टाचार एक ओर तो कला का अंग है और दूसरी ओर स्वभाव का। गणिका में दोनों अपेक्षित हैं और प्रसाद के इंगित दोनों ओर स्पष्ट हैं। उक्त गणिका में बुद्धि की स्थिरता और भावना की

---

(१) चारुदत्त १/११
(२) धात्मे विविध कुशला गणिका पवीण ललितविस्तर १२/१३६
(३) कथासरित्सागर १८
(४) वही २४
(५) डिक्शनरी ऑफ पाली प्रॉपर नेम्स पृ० २८५,८६
(६) दीघनिकाय १२७
(७) नाट्यशास्त्र भरत २५/६० ६२

मधुरता दोनों उपलब्ध हैं। समुद्रदत्त के आते ही अपने प्रिय शैलेन्द्र के स्थान पर उसको भेज देने का योजना-कौशल कितनी शीघ्रता से उनके मस्तिष्क में कौंध जाता है।[1] परन्तु गणिका के शास्त्रज्ञान के सम्बन्ध में प्रसाद मौन हैं।

इतना सब होते हुए भी प्रसाद की कतिपय उक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे गणिका की उच्च एवं सम्माननीय स्थिति को पूर्णतया नहीं निभा पाये हैं। डाकू शैलेन्द्र तक श्यामा जैसी गणिकाओं को डाकुओं से भी भयानक समझता है।[2] और उसके लिए पापरी[3] नागिन[4] जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। श्यामा अपने को स्वयं वार विलासिनी[5] कहती है। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद के सामने प्राचीन गणिका का कोई निश्चित रूप नहीं होगा। अजातशत्रु की भूमिका में वे लिखते हैं इस मागधी को और बौद्धों के साहित्य में वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को हमने कल्पना द्वारा एक में मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अन्तिम काल में पवित्र की गई[6] इस कथन में 'वेश्या' और 'पतिता' दोनों शब्द प्रसाद के अपने हैं। बौद्ध साहित्य में आम्रपाली के लिए कहीं भी अपमानजनक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'श्यामा' का चित्रण करते समय प्रसाद के ध्यान में कणवेर जातक की नायिका श्यामा रही होगी। यह श्यामा डाकू के रूप में अवतरित बोधिसत्व से प्रेम करने लगती है और उसको बचाने के लिए अपने एक नवयुवक प्रेमी को सहस्र मुद्राएं देकर दण्डनायक के पास भेज देती है और वह सूली पर चढ़ा दिया जाता है। उसके इस विश्वासघात के कारण बोधिसत्व विरक्त होकर उसे सदा के लिये त्यागकर चले जाते हैं।[7] दोनों कथानकों की एकता यह सिद्ध करती है कि गणिका के आदर्श चित्रण की अपेक्षा प्रसाद का ध्यान कथानक की ओर विशेष रहा है। वास्तव में प्रसाद की सुवासिनी का स्वरूप बहुत कुछ आदर्श गणिका से मिलता जुलता है। यों तो वह राज मंत्री शकटार की कन्या होने से अभिजात कुल की कन्या है और प्रसाद ने कहीं भी उसके लिये गणिका शब्द का प्रयोग नहीं किया। पर जिस रूप में वह नाटक में चित्रित है वह गणिका का ही रूप है कुल-कन्या का नहीं। जिस जीवन में वह रही है उसे वह मलिनता का कीचड़ कहती हैं जहाँ से उसके पिता ने कमल की तरह पवित्र मानकर उसका उद्धार किया।[8] परंतु वह वेश्या भी नहीं है वह स्वयं अपने को 'रूपाजीवा' मानने को

---

(१) अजात० २।७८ (२) वही २।७२
(३) वही २।६७ (४) वही २।६६
(५) वही २।७२ (६) वही भूमिका पृ० २०
(७) कणवेर जातक (८) चंद्र० ४।१६७ १६८

तैयार नहीं ।[1] किन्तु नाटक में उसके लिये 'सुन्दरियों की रानी'[2] 'अभिनेत्री'[3] 'वसंतोत्सव की रानी'[4] 'अभिनय-शाला की रानी'[5] 'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम'[6] 'महाराज से वेतन पाने वाली'[7] आदि शब्दों का प्रयोग और नंद एवं राक्षस के साथ उत्सव में सुरापान तथा मृत्युपर्यंत उसका अभिका होना सिद्ध करते हैं । राक्षस ने उसे 'वेश्या'[8] अवश्य कहा है पर क्रोध होने के कारण इस कथन को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता ।

जैसे पहिले कहा जा चुका है कि गणिका में सामान्य वेश्या से कुछ विशिष्टता होती थी । किन्तु गणराज्यों की समाप्ति के उपरांत इतिहास की दृष्टि से भी गणिका के पूर्व सम्मान में कमी आ गई । बौद्ध-काल में गणिका का जो सम्मान था वह कौटिल्य तक आते-आते क्षीण हो गया । इसीलिए अर्थशास्त्र में गणिका और साधारण वेश्या में बहुत कम अन्तर रह गया है । गणिका राजाज्ञा से रूप का व्यापार भी करती थी ।[9] परंतु रूपाजीवा के स्वतंत्र उल्लेख से ज्ञात पड़ता है कि गणिका और वेश्या में कुछ न कुछ अन्तर फिर भी रह गया है । गणिका राजा की आज्ञा विशेष से ही रूप का व्यवसाय कर सकती थी और रूपाजीवा से उसका मूल्य भी अधिक होता था ।[10] श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी गणिका और वेश्या के इस अन्तर को विशेष महत्व नहीं देते और इनकी सामाजिक मर्यादा का निर्धारण करने के लिए नाटक काव्य और कामशास्त्र के ग्रन्थों की अपेक्षा स्मृति-ग्रन्थों की साक्षी को कहीं अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय मानते हैं ।[11] परन्तु यह कथन अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होता । एक तो नाटककाव्य और कामशास्त्र के ग्रन्थ समाज की यथार्थ रुचि के परिचायक होते हैं और दूसरे स्मृति ग्रन्थों के समान ये ग्रन्थ नियम और विधान से बँधे हुए नहीं होते । इनमें तत्कालीन सामाजिक मनोविज्ञान का चित्रण मिलता है ।

---

(१) वही ५।१६७
(२) वही १।६४
(३) वही १।६६
(४) चंद्र० १।६६
(५) वही १।६७
(६) वही १।७२
(७) वही ३।१००
(८) चन्द्रगुप्त २।७१
(९) राजाज्ञया पुरुषमनभिगच्छन्ती गणिका शिफा सहस्रं लभेत् अर्थशास्त्र २।२७।११
(१०) रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः अर्थशास्त्र २।२७।४०
(११) प्रा० भा० का कला-विलास पृ० ९१

मनुस्मृति में गणिका के साथ ही गणान्न को भी हेय बताया गया है।[1] पर स्मृति ग विधान तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति का यथार्थ परिचय नहीं देता क्योंकि बौ काल में और उसके पश्चात् भी कई सदियों तक 'गणराज्यों' का बहुत सम्मान र है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में गणिकाओं की मर्यादा के प्रचुर संकेत मिलते हैं। उस काल में भी गणिका के अतिरिक्त सामान्य वेश्याओं का समाज में ऊँचा स्था नहीं था। मनुस्मृति में गणिका के अतिरिक्त वेश्या का अलग से उल्लेख हुआ है अ उसको इतना हेय समझा है कि उसकी साक्षी तक को वे प्रामाणिक नहीं मानते। धर्मशास्त्र में नटों के लिए[3] 'जायाजीव' 'स्त्र्याजीव' आदि के शब्दों के प्रयोग से य ज्ञात होता है कि ये अपनी पत्नियों के रूप का व्यापार करते थे।

श्यामा को परिणीता मानकर भी प्रसाद उसके प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण र रख सके हैं। गणिका के उच्च भावों के साथ-साथ वेश्या की कुण्ठाएँ भी उभ आ गई हैं। श्यामा अपने को स्वयं 'वार विलासिनी' कहती है और अपने 'मित्रों आमोद' का उल्लेख करती है। अन्यत्र भी प्रसाद ने वेश्या की सामाजिक हीनत का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है और उसे 'कामुक की वासना पूर्ण करने वाली' और 'वारवनिता'[5] कहा है। वेश्या का सम्पर्क कीर्ति से वंचित करने वाला समझ गया है।[6]

---

(१) गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् मनुस्मृति ४।२०९
(२) मनुस्मृति ८।६५ (३) अजात० ३।११६
(४) राज्यश्री ३।५० (५) अजात० २।८०
(६) राज्यश्री ३।५२

द्वन्द्व युद्ध

एक ओर गौतम बुद्ध दूसरी ओर हर्ष ये दोनों प्रसाद के नाटकों की दो ऐतिहासिक सीमाएं हैं। प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों से ऐसा ज्ञात होता है कि इस सुदूर ऐतिहासिक काल में भारतवर्ष में द्वन्द्व युद्ध की प्रथा प्रचलित थी। द्वन्द्व युद्ध का साधारण अर्थ है दो व्यक्तियों में युद्ध। किन्तु पाश्चात्य संसार के मध्य युग में इस प्रकार के युद्ध एक स्वतन्त्र प्रथा के रूप में निश्चित नियमों के अनुसार लड़े जाते रहे हैं। प्रश्न यह है कि किन्हीं दो व्यक्तियों में लड़े गए युद्ध को ही प्रसाद 'द्वन्द्व युद्ध की उन्होंने विशेष अर्थ में लिया है तो फिर यह प्रश्न होता है क्या इस तरह के द्वन्द्व युद्ध भारत में उपर्युक्त काल में अथवा इससे पहिले प्रचलित थे ?

इन नाटकों में द्वन्द्व युद्ध सम्बन्धी उल्लेख जहाँ कहीं भी हुए हैं उनसे निम्न लिखित बातें ज्ञात होती हैं

१ द्वन्द्व युद्ध का आह्वान किया जाता था अर्थात्-एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को युद्ध के लिए निमंत्रित करता था और उसके स्वीकार करने पर यह युद्ध लड़ा जाता था। [१]

२ यह कोई आवश्यक नहीं था कि द्वन्द्व युद्ध तुरन्त ही लड़ा जाय। उसके लिए कालान्तर में कोई समय व स्थान निश्चित किया जा सकता था। [२]

३ इन द्वन्द्व युद्धों का कारण प्रायः आत्म-सम्मान अथवा प्रतिष्ठा की भावना पर आघात प्रतीत होता है चाहे वह किसी प्रेयसी के कारण हो अथवा अपनी पुत्री या माता के सम्मान की रक्षा के लिये। वाजिरा [३] कार्नेलिया [४] और अलका [५] के निमित्त जिन द्वन्द्व युद्धों का आह्वान हुआ है, वे प्रथम कोटि के द्वन्द्व युद्ध हैं। गांधारराज द्वारा अलका के निमित्त आम्भीक को दी गई चुनौती [६] और अपनी माता की रक्षा के लिए स्कन्दगुप्त द्वारा भटार्क से लड़ा गया द्वन्द्व [७] दूसरी कोटि के द्वन्द्व युद्ध हैं। राक्षस और चाणक्य में यदि राक्षस के कथानुकूल सुवासिनी

---

(१) चन्द्रगुप्त को फिलिप्स द्वारा दिया गया द्वन्द्व का आह्वान चंद्र०
(२) वही (३) अजात० ३/१११
(४) चंद्र० ३/१११
(५) चन्द्र० ४/१११
(६) चंद्र० १/९५
(७) स्कंद १/९९

के लिए समर्थ होता [१] तो यह भी प्रथम प्रकार का द्वन्द्व कहा जाता।

४ दो विरोधी राष्ट्रों के सैनिक अधिकारियों में यदि द्वन्द्व युद्ध होता है तो उसका राष्ट्रों से कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। यह उनकी व्यक्तिगत बात मानी जाती थी। चन्द्रगुप्त मालव क्षुद्रकों की सेना का महाबलाधिकृत है और फिलिप्स भारत में सिकन्दर का क्षत्रप। फिलिप्स के स्वयं के एक कथन के अनुसार हम दोनों का द्वन्द्व युद्ध व्यक्तिगत है राष्ट्रों के संधि विग्रह से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।[२]

५ द्वन्द्व युद्ध समान शस्त्रों से लड़े जाते थे। प्रसाद के नाटकों में केवल दो ही द्वन्द्व युद्ध लड़े गए हैं। प्रथम में खड्ग परीक्षा [३] का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरे में भी यह स्पष्ट संकेत [४] मिल जाता है कि दोनों स्थलों पर प्रतिद्वन्द्वी तलवारों से ही लड़े थे।

६ द्वन्द्व युद्ध सुरक्षित रंगशालाओं में भी लड़े जाते थे। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध प्रमुख यवन और आर्यगण की उपस्थिति में रंगशाला में हुआ था। सिंहरण उस रंगशाला की रक्षा में नियुक्त था [५] अन्यथा स्कंद व भटार्क के द्वन्द्व की तरह यह कहीं भी लड़ा जा सकता था।

उपर्युक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसाद ने 'द्वन्द्व' को साधारण युद्ध के अर्थ में न लेकर एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। देखना यह है कि प्राचीन भारत में क्या इस विशिष्ट अर्थ में द्वन्द्व युद्ध लड़े जाते थे। महाभारत[६] में भीम और दुर्योधन के द्वन्द्व युद्ध का उल्लेख मिलता है। इस युद्ध के कुछ नियम थे। सरस्वती के तट पर यह युद्ध गदाओं से लड़ा गया था। दोनों पक्षों के योद्धा इसके दर्शक थे और निर्णायक थे बलराम जिन्होंने इन दोनों को गदा युद्ध की शिक्षा दी थी। कटि प्रदेश से नीचे गदा का आघात करना अधर्म युद्ध समझा जाता था। भीम ने इस नियम का उल्लंघन किया था और इसके लिए उसकी भर्त्सना की गई थी। इस

---

(१) चंद्र० २/१४८
(२) चंद्र० ३/१९१
(३) वही ३/१८९
(४) भटार्क की एक हाथ चलाकर घायल होकर गिर पड़ता है' स्कंद २/६६
(५) चंद्र० ३/१८२
(६) महाभारत शल्य पर्व अध्याय ६१

द्वन्द्व के प्रारम्भ में ही यह शर्त करली गई था कि द्वन्द्व युद्ध के परिणाम पर ही महाभारत युद्ध की जय पराजय का निर्णय हो जायगा। द्वन्द्व युद्ध का यह स्वरूप बहुत कुछ यूनान और रोम के इतिहास में आए हुए हैक्टर और एकिलस एनियस और टर्नस होरेटी और क्यूरेटी के द्वन्द्व युद्धों के स्वरूप से मिलता है। दो राष्ट्रों के परस्पर संघर्ष में सामूहिक जनसंहार को रोकने के लिए प्राय इस प्रकार के व्यक्ति युद्ध (सिंगिल कौम्बैट्स) लड़े जाते थे। फिरदौसी के 'शाहनामा' में सोहराब और रुस्तम के बीच जिस द्वन्द्व का चित्रण हुआ है उसका उद्देश्य भी दो सेनाओं के संघर्ष को बचाकर जय पराजय का निर्णय सेनानायकों पर छोड़ देना है। महाभारत यूनान और रोम के द्वन्द्वों में यही भावना रही है। द्वन्द्व युद्ध का एक और स्वरूप प्राचीन 'मल्ल युद्धों' में मिलता है। श्रीमद्भागवत[1] में श्रीकृष्ण को रङ्गशाला में कंस के मल्लों ने ललकारा। कृष्ण ने उनसे 'मल्ल युद्ध' किया और मल्लों का संहार कर उन्होंने विजय प्राप्त की। वस्तुतः ये मल्ल युद्ध क्रीड़ा विनोद की वस्तु हैं और शारीरिक शक्ति परीक्षा ही इनका उद्देश्य है।

प्रसाद के नाटकों में वर्णित द्वन्द्व युद्ध न तो राष्ट्रीय युद्ध ही कहे जा सकते हैं और न मल्ल युद्ध ही। वे वैयक्तिक युद्ध हैं जो आत्म-सम्मान और प्रणय को लेकर लड़े गये हैं साथ ही ये द्वन्द्व सामाजिक प्रथा के रूप में आये प्रतीत होते हैं और उनका जन्म सैनिकों एवं मल्ल योद्धाओं के बीच न होकर सामान्य समाज में हुआ। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का युद्ध दो सैनिकों का द्वन्द्व न होकर दो प्रणयियों का द्वन्द्व है। विलसन के अनुसार इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध किसी भी प्राचीन सभ्यता के इतिहास में नहीं पाये जाते।[2] अतएव प्रसाद के इन द्वन्द्व युद्धों का स्वरूप हमें मध्यकालीन पाश्चात्य सभ्यता में ही ढूंढना होगा।

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका[3] में लिखा है द्वन्द्व युद्ध (डयूएल) दो व्यक्तियों के उस युद्ध को कहते हैं जो वैयक्तिक वैमनस्य अथवा आत्म-सम्मान के प्रश्न का निर्णय करने के लिए घातक अस्त्रों द्वारा किसी निश्चित प्रथा के अनुसार लड़ा जाय और जिस के लिए स्थान और समय पहिले ही निश्चित कर लिया जाय।

---

(१) श्रीमद्भागवत १ /४४

(२) 'डिफ्यूज़न प्रीवेल्स इन मोस्ट फार्म्स ऑफ द एन्शियेन्ट ... द ऐ एन्ड द सिविलिज़ेशन्स' इ नाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐंड ईथिक्स विलसन वौल्यूम ५ पृ० २९९

(३) 'ए प्रिअरेंज्ड इनकाउन्टर बिटवीन टु परसन्स विद डेडली वेपन्स इन ऐकौर्डेन्स विद प्रीसक्राइब्ड ऑर कौन्वेन्शनल रूल्स फॉर द परपस ऑफ सैटलिंग ए परसनल क्वैरल ऑर ऑफ डिमान्स्ट्रेटिंग ए पौइंट ऑफ औनर।' इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका वौल्यूम ७ पृ० ७११

इस आधुनिक अर्थ में द्वन्द्व युद्ध प्राचीन संसार में कहीं भी नहीं लड़े जाते थे। इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध की चर्चा १६११ ई० में प्रकाशित कोरियेटस के 'क्रूडिटीज' ग्रन्थ में पहले पहल हुई है। इस द्वन्द्व का पूर्व रूप 'ट्यूटॉनिक जाति के न्याय युद्ध (जुडीशियल कोम्बैट्स) में पाया जाता है। मानवीय न्याय से असन्तुष्ट होने पर ईश्वरीय न्याय की आकांक्षा से दो व्यक्ति युद्ध के देवता को साक्षी कर युद्ध करते थे और यह मान लिया जाता था कि न्याय विजयी की ओर है।[१] किन्तु यह भी आधुनिक द्वन्द्व युद्ध का सही स्वरूप नहीं है।

इस द्वन्द्व युद्ध का दूसरा रूप आत्म-सम्मान के द्वन्द्वों में (ड्यू ऐल्स आफ ऑनर) में पाया जाता है, जिसका विकास १६ वीं शती या उससे कुछ पूर्व फ्रांस में हुआ था।[२] इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध कहीं भी और कभी भी लड़े जा सकते थे। इसका कारण वैमनस्य न होकर आत्म-सम्मान पर चोट लगना था। किसी प्रकार का कटु व्यङ्ग्य कोई भ्रान्ति अथवा प्रेयसी के रिबन' के रङ्ग या उसके पंख के सम्बन्ध में पूछा गया कोई अवांछित प्रश्न भी इस प्रकार के युद्ध के लिये पर्याप्त कारण होते थे[३]। द्वन्द्व युद्ध के इस आधुनिक स्वरूप को समझने पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के द्वन्द्वों का कारण वैमनस्य न होकर आत्म-सम्मान की भावना और प्रणय रहे हैं। अजातशत्रु और दीर्घकारायण के द्वन्द्व का प्रसङ्ग प्रणय से सम्बन्धित है और चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व का भी यही कारण है। कालान्तर में फ्रांस और इंग्लैंड में जो द्वन्द्व युद्ध लड़े गये उनमें प्रतिद्वन्द्वी के प्राण न लेकर उसे घायल मात्र कर देना (कभी-कभी केवल खरोंच मात्र लगा देना) पर्याप्त समझा जाता था। प्रसाद ने जिन द्वन्द्वों की आयोजना की है उनमें से एक में तो प्रतिद्वन्द्वी के प्राण ले लिये जाते हैं किन्तु दूसरे से उसे घायल भर कर दिया गया है।

इतिहास बतलाता है कि फ्रांस के राजा ग्यारहवें लुई तथा फ्रांसिस प्रथम के शासन काल में द्वन्द्व युद्ध बड़ी धूम धाम से लड़े जाते थे। इस प्रकार के द्वन्द्वों के कुछ निश्चित नियम होते थे। इन युद्धों के दर्शकों में स्वयं सम्राट् उनके दरबारी और सम्भ्रान्त नागरिक हुआ करते थे। ये युद्ध सुसज्जित और रक्षित रङ्गशालाओं में

६

---

(१) जर्मेनिया टैसीटस' इ० ब्रिटानिका वौल्यूम ७ पृ० ७११

(२) इ० ब्रिटानिका वौल्यूम ७/७११

(३) वे फौट बाइ डाइट ऐंड बाइ नाइट बाइ मूनलाइट ऐंड बाइ टॉर्च लाइट इन दि पब्लिक स्ट्रीट्स ऐंड स्क्वायर्स ए हैस्टी वर्ड, ए मिसकन्सीव्ड जैस्चर, ए स्नीयरिंग ऐपीथेट दि कलर आफ ए रिबेन और ऐन इम्प्रोपर्ली वर्डेड लैटर वर दि कौमनेस्ट प्रिटैक्स्ट्स फौर ए ड्यूऐल्स इ० ब्रिटानिका वौ० ७ पृ० १११

लड़े जाते थे।[1] द्वन्द्व वास्तव में दो व्यक्तियों में हुआ करता था किन्तु प्रत्येक के साथ एक या उससे अधिक सहकारी (सेकिण्ड्स) भी होते थे।[2] प्रसाद ने १६ वीं शती के आरंभ में प्रचलित उक्त प्रथा का सम्बन्ध भारतीय और यूनानी वीर पुरुषों से जोड़ने का प्रयास किया है। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व युद्ध इसी प्रकार का एक ऐसा द्वन्द्व युद्ध है जो एक विशाल रङ्गशाला में आर्यों और यूनानियों के प्रमुख लोगों के समक्ष लड़ा गया था। युद्ध की घटना के बीच एकाएक फिलिप्स के सहकारी यूडेमस का उल्लेख हमारा ध्यान उपर्युक्त प्रकार के सहकारी (सेकिण्ड्स) की ओर आकृष्ट करता है।

कुछ भी हो इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध भारतीय इतिहास के किसी भी काल में नहीं लड़े गये अतः इन्हें ऐतिहासिक और अभारतीय कहने में हमें संकोच नहीं होता।

---

(१) मगर भुई टॉमसन ऐंड फ्रांसिस कर्न्स बी कास्ट द सिविलिटी ऑफ ट्रिब्यूनल्स ऑफ ऑनर। दि लास्ट इस्टैम्प ऑफ ए ब्रूटल मेथोडोलॉजी बाइ दि मैजिस्ट्रेट्स ऐंड कम्पलीट ड्राफ्टिंग टु दि फॉर्म्स ऑफ दी बाय फि... [illegible] ... ए मार्ग ऐमैस्सी ऑफ कोर्टियर्स। इ० ब्रिटानिका वोल्यूम ७ पृ० ७११

(२) इ० ऑफ रीलिजन ऐंड ईथिक्स 'हिस्ट्री टी० मालिस' वोल्यूम ५ पृ० २९९

शिक्षा और कला

प्रसाद के नाटकों से प्राचीन इतिहास और संस्कृति के साथ-साथ प्राचीन भारत की शिक्षा के वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान होता है। प्राचीन भारत में शिक्षा किस प्रकार की होती थी उसका स्वरूप क्या था क्या-क्या विषय पढ़ाये जाते थे और गुरु शिष्य का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का होता था इन सब का विवरण हमको मुख्यतः चन्द्रगुप्त नाटक से मिलता है। यों तो शिक्षा सम्बन्धी कुछ न कुछ जानकारी उनके प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों से मिलती है।

चन्द्रगुप्त नाटक का प्रारम्भ ही तक्षशिला के गुरुकुल से हुआ है। तक्षशिला गुरुकुल विश्व प्रसिद्ध था और दूर-दूर के छात्र यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। सिंहरण मालव था और चाणक्य और चन्द्रगुप्त मागध।[1] भिन्न भिन्न प्रदेशों के होते हुए भी छात्रों को अपने गुरुकुल की शिक्षा का समान रूप से गर्व होता था। सिंहरण को तक्षशिला की शिक्षा का गर्व था[2] और वररुचि अपने ही गुरुकुल के स्नातक की परीक्षा करना गुरुकुल का अपमान समझता था।[3] गुरुकुल की शिक्षा का इतना महत्व होता था कि यहां शिक्षा पाये हुए छात्र अपने-अपने विषयों में विष्णात मान लिये जाते थे। गुरुकुल राजाज्ञा से परे होते थे। गुरुकुल के अधिकारी आचार्य की आज्ञा वहां सर्वोपरि मानी जाती थी।[4]

गुरुकुलों की परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। *पाणिनि के कुछ सूत्रों में भी गुरुकुल का उल्लेख मिलता है।*[5] जातकों में तो इस सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है।[6] उनसे ज्ञात होता है कि भारत में गुरुकुलों और पाठशालाओं का जाल सा बिछा था। बनारस राजगृह मिथिला उज्जैन कोशल मध्यप्रदेश शिविराज्य कुरु उत्तरी राज्य इत्यादि विभिन्न प्रदेशों राज्यों और जनपदों के अनेक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। इन विद्यालयों में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाया करते थे।[7] *तक्षशिला भारतवर्ष की उच्चशिक्षा का केन्द्र था। यहां अनेक शास्त्रों*

---

(१) चन्द्र०	११५६	(२) वही	११५७
(३) वही	११७७	(४) वही	११५७

(५) पाणिनि २।१।४१ भाष्य ११११

(६) जातक ४।३८६ ५।१४० ४।१९२ ११६६ ३।११५, ३।१२८, ५।१७७

(७) *तक्षशिला वाज ए सीट मीट ऑफ ऐलिमेंट्री बट हायर ऐज्यूकेशन*
ऐंशिएन्ट इण्डियन एज्यूकेशन — मुखर्जी पृ० ४७९

और विद्यार्थों में पारंगत अपने अपने विषयों में विशेषज्ञ और विश्वविख्यात विद्वान आचार्य होते थे। वस्तुतः इन अध्यापकों की कीर्ति के कारण ही तक्षशिला की प्रसिद्धि थी और उनकी कीर्ति सुनकर देश के कोने-कोने से प्रत्येक जाति और वर्ग के छात्र अपनी शिक्षा को पूर्ण करने के लिए तक्षशिला आया करते थे।[१] जातक में एक ऐसे आचार्य का उल्लेख है जिससे शिक्षा प्राप्त करने के लिए सारे भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आया करते थे।[२] चाणक्य भी तक्षशिला गुरुकुल के आचार्य थे[३] और चाणक्य अपने आप को सब विद्याओं का आचार्य कहता है।[४] ऐसे ही आचार्य तक्षशिला के महत्व को बढ़ाते होंगे और उनके महत्व से उस राज्य का महत्व बढ़ता होगा। चाणक्य को उस गुरुकुल में अध्यापन का गौरव है और उसने मगध का सिर ऊँचा किया है।[५] गुरुकुल में वहां के अधिकारी आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि होती थी[६] और चाहे किसी वर्ग का हो प्रत्येक छात्र के साथ समान व्यवहार किया जाता था। भावी भोजाधिपति नरेश और निस्सहाय छात्र दोनों के प्रति तक्षशिला में समान व्यवहार किया गया है। तक्षशिला में चाण्डालों के अतिरिक्त अन्य सभी जातियों के विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। अधिकतर विद्यार्थी ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे परन्तु वणिकपुत्र दर्जी और कभी-कभी मछुवे तक वहां शिक्षा पाते थे।[७]

प्रसाद ने गुरुकुल के केवल दो अधिकारियों का उल्लेख किया है एक कुलपति और दूसरे आचार्य। चन्द्रगुप्त के गुरुदेव चाणक्य तक्षशिला के एक आचार्य थे।

गुरुकुल के अधिकारी

कुलपति ने उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी थी फिर भी भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए वे रुक गये। इससे स्पष्ट है कि कुलपति ही समस्त गुरुकुल का प्रधान अधिकारी होता था। भगवत शरण उपाध्याय ने भी शिक्षा संस्था के प्रधान अधिकारी को कुलपति कहा है[८] पाणिनी ने तीन प्रकार के शिक्षक बतलाए

---

(१) 'इट वज दि प्रजेन्स ऑफ स्कालर्स ऑफ सच ऐक्नौलेज्ड औथोरिटी एण्ड वाइड वर्ल्ड रेप्यूटेशन दैट मेड तक्षशिला दि इण्टैलैक्चुअल कैपिटल ऑफ दि इण्डियन कौंटिनेंट फ्रौम दि डिफरेंट एण्ड डिस्टेंट पार्टस् ऑफ व्हिच देयर वाज ए स्टैडी मूवेंट ऑफ अस्पायरिंग स्टूडेंट्स फ्रौम औल क्लासेज एण्ड रैंक ऑफ सोसायटी टुवर्डस तक्षशिला टु कम्प्लीट दि ऐजूकेशन के हैज एन स्पेस ऑफ देयर मैट्रिक वर्क। ऐंशिएंट इण्डियन ऐजूकेशन : मुकर्जी पृ० ४७८

(२) जातक १।१५८ (३) चन्द्र० १।७८

(४) चन्द्र० १।१०५ (५) वही १।७८

(६) चन्द्र० १।५७

(७) ऐंशिएंट इण्डियन ऐजूकेशन मुकर्जी : पृ० ४८१।४८२

(८) इंडिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० २७८

हैं आचार्य प्रवक्ता और श्रोत्रिय। इनमें आचार्य की पदमर्यादा सबसे ऊँची थी।[1] वात्स्यायन के शब्दों में चाणक्य 'सब विद्याओं के आचार्य थे।

तक्षशिला वशिष्ठ[2] कण्व[3] आदि ऋषियों के प्राचीन गुरुकुलों की अपेक्षा विशाल विश्वविद्यालयों के अधिक समीप जान पड़ता है। उसको हम नाटकों में वर्णित 'महाशाला' या स्नातकशाला के समकक्ष रख सकते हैं[4]। प्राचीन गुरुकुलों की परंपरा में वाल्मीकि का आश्रम लिया जा सकता है। वहाँ उनका कोई रहस्य नहीं निभृत मन्दिर नहीं और वहाँ उनका 'प्रत्येक क्षण स्वागत है'। यह नाटकों में वर्णित 'आरण्यक' के समकक्ष है[5]। इसी आश्रम में विश्ववृक्ष की कन्या भारतीय दर्शन और संगीत की शिक्षा पाती है[6]। कालिदास ने वशिष्ठाश्रम[7] का जो विवरण दिया है वह बहुत कुछ वाल्मीकि के आश्रम से मिलता जुलता है।

प्रसाद के नाटकों में पठन-पाठन के जिन विषयों के नाम आये हैं वे हैं अर्थ शास्त्र[8] दण्डनीति[9] राजनीति[10] व्याकरण[11], युद्धनीति[12] और धर्मशास्त्र।[13] इन शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन तक्षशिला में अवश्य होता होगा। अध्ययन के विषय अर्थशास्त्र का अध्ययन तो आचार्य चाणक्य कुलपति की आज्ञा से स्वयं कराते थे। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त पाणिनी व्याकरण और दण्डनीति का उल्लेख भी चाणक्य ने स्वयं किया है। चन्द्रगुप्त युद्धनीति सीखने के लिए तक्षशिला भेजा गया था। उसका कणिक के राजनीतिशास्त्र के नामोल्लेख मात्र है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार विद्याएँ चार हैं। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्डनीति। मनु के अनुसार त्रयी वार्ता और दण्डनीति ये तीन ही विद्याएं हैं और वे आन्वीक्षिकी को त्रयी का ही एक अंग मानते हैं।[14] बृहस्पति मतानुयायी

---

(१) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि अग्रवाल
(२) रघुवंश १।९५ (३) शाकुन्तल १।२१ १२ ८४
(४) कल्चरल साइड्स ऑफ दि गुप्तिष्ट नाटक्स डा० बी० सी० लो० जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री दिसम्बर १९५४
(५) कल्चरल साइड्स ऑफ दि गुप्तिष्ट नाटक्स डा० बी० सी० लो जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री दिसम्बर १९५४
(६) चन्द्र० २।११२ (७) रघुवंश १
(८) चन्द्र १।५९८८ (९) वही १।८८
(१०) चंद्र ४।२२५ स्कंद १।११ (११) चंद्र ४।२२५
(१२) वही १।८८,८९ ४।२२५ (१३) वही १।८
(१४) अर्थशास्त्र १।२ १ २ १

वार्ता और दण्डनीति को ही विद्याएँ मानते हैं[1] और शुक्र के अनुयायी मात्र दण्डनीति को ही विद्या मानकर अन्य विद्याओं को उसके ही अन्तर्गत रख लेते हैं[2]। कौटिल्य के अनुसार विद्या का लक्षण है धर्म और अर्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध कराना। इस लक्षण के अनुसार विद्याएँ चार हैं। जिस विद्या से धर्म और अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है उसे 'त्रयी' कहते हैं जिससे अर्थ या अनर्थ का बोध हो उसे 'वार्ता' और जिसमें न्याय और अन्याय का विवेचन हो उसे 'दण्डनीति' कहते हैं। जो विद्या तर्क के द्वारा इन सब विद्याओं के महत्व का स्पष्टीकरण कर बुद्धि को स्थिर करती है और बुद्धि वाणी और क्रिया में निपुणता लाती है उसे 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं[3]।

कौटिल्य की चार विद्याओं में से दण्डनीति का तो प्रसाद ने स्पष्ट नाम से ही उल्लेख किया है और इसमें अर्थशास्त्र राजनीति तथा युद्धनीति का समावेश किया जा सकता है। शेष त्रयी विद्या के अन्तर्गत धर्मशास्त्र, वार्ता के अन्तर्गत व्याकरण और आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत तर्कशास्त्र का उल्लेख किया गया है।

मनु ने चार वेद छः वेद के अंग मीमांसा न्याय पुराण और धर्मशास्त्र ये १४ विद्याएँ बतलाई हैं। शुक्राचार्य ने त्रयी के अन्तर्गत इन्हीं १४ विद्याओं को गिना दिया है[4]। प्रसाद के नाटकों में जिन विषयों की चर्चा हुई है वे सब इन्हीं विद्याओं के अन्तर्गत आजाती हैं। उनमें यथास्थान वेद[5] सामवेद[6] उपनिषद[7] रामायण[8] गीता[9] वेदान्त[10] और दर्शन[11] का नामोल्लेख हुआ है। उपवेदों में से धनुर्वेद के अन्तर्गत बाणविद्या[12] की चर्चा हुई है। आयुर्वेद के विशेषज्ञों के रूप में धन्वन्तरि[13] और अग्निवेश[14] का नाम आया है और अस्त्रविद्या[15] की ओर भी संकेत मिलता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में बृहस्पति[16] और शुक्राचार्य[17] के नीतिशास्त्रों और 'चन्द्रगुप्त' में उशना[18] और कणिक[19] के राजनीति-शास्त्रों का उल्लेख हुआ है। इन भारतीय विद्याओं के अतिरिक्त यूनान के दार्शनिक सुकरात[20] और डिमोस्थनीज[21] के तर्क

(१) धर्मशास्त्र १।२८९।१० (२) वही
(३) अर्थशास्त्र १।२,८।१२
(४) शुक्रनीति १।१५४ (५) स्कन्द ४।१२४ (६) वही ३।६६
(७) वही ४।१२२ (८) चन्द्र ४।१२५ (९) स्कन्द १।४
(१०) ध्रुव ३।५१ (११) चन्द्र २।१०७ (१२) अजात २।७५
(१३) अजात १।५०-५१ (१४) वही १।५० (१५) वही २।७५
(१६) ध्रुव १।२५ (१७) वही १।२५ (१८) चन्द्र ४।२२५
(१९) वही ४।२२५ (२०) चन्द्र ४।२२५
(२१) चन्द्र ४।२२६

एवं अरस्तू की राजनीति की ओर भी निर्देश हुआ है। चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के युद्ध को एक ही काल में विकसित दो विभिन्न राष्ट्रों की विभिन्न विचारधाराओं की टक्कर बताकर चाणक्य और अरस्तू के राजनीतिक विचारों के संघर्ष की ओर भी संकेत किया गया है।[1]

कलाओं का उल्लेख स्वतंत्र रूप से वात्स्यायन ने किया है। उनके अनुसार चौसठ विशुद्ध कलाएं और चौसठ ही पांचालिका कलाएँ होती हैं। ललित कलाएँ पांचालिका कलाओं के अन्तर्गत आती हैं।[2] प्रसाद के नाटकों में संगीत और नृत्य का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। प्राचीन रागों में यामीश्वरी[3] भैरव[4] और आनन्द भैरवी[5] का तथा नृत्यों में तांडव[6] का नाम आया है। इसके अतिरिक्त अभिनय[7] का भी उल्लेख हुआ है।

तक्षशिला में उच्चशिक्षा प्राप्ति में साधारण आठ वर्ष लग जाते थे और सोलह सत्रह वर्ष से पच्चीस वर्ष तक विद्यार्थी वहां अध्ययन करते थे।[8]

विद्यार्थी

चन्द्रगुप्त नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त को वहां केवल पांच वर्ष लगे थे।[9] यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद ने पांच वर्ष का अनुमान किस आधार पर लगाया है। चन्द्रगुप्त केवल युद्धनीति की शिक्षा के लिये गया था इतने से भी इसका समर्थन नहीं किया जा सकता कि पांच वर्ष का काल उच्च शिक्षा के लिये पर्याप्त होता था।[10] तक्षशिला में तो विशिष्ट शिक्षा प्राप्ति के लिये ही विद्यार्थी जाते थे अतः उसका पाठ्यक्रम भी नियत समय में ही पूरा होना चाहिये। तक्षशिला से पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर लौटने वाले विद्यार्थियों को स्नातक कहा जाता था और उसके प्रति राजा से लेकर साधारण प्रजा तक सम्मान प्रदर्शित करते थे। स्नातक को निमन्त्रण देना गौरव की बात समझी जाती थी। नन्द जैसे व्यक्ति भी स्नातक का स्वागत करना नहीं भूलते।[11] स्नातक के प्रति आदर भावना का परिचय मनुस्मृति में इस प्रकार दिया गया है उन सबके एकत्र होने पर स्नातक और राजा दो ही हों तो स्नातक राजा से मान प्राप्ति का अधिकारी है।[12]

---

(१) चन्द्र ३।१६१
(२) स्टडीज इन काम सूत्र हारानचन्द्र चकलदार पृ १८६
(३) स्कंद ।५४ (४) वही ।४६ (५) वही
(६) वही ।४६ (७) वही १।२६ चंद्र १।६४ ६५
(८) इण्डियन ऐजूकेशन इन ऐंशिएण्ट एण्ड लेटर टाइम्स के पृ० १४२
(९) चंद्र० १/७५ (१०) वही १/१७४
(११) वही १/७१ (१२) मनुस्मृति २/४५/१३९

जातकों से पता चलता है कि तक्षशिला गुरुकुल में प्रवेश के समय एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएं शुल्क के रूप में ली जाती थी।[1] 'मिलिन्द पन्ह' से यह भी ज्ञात होता है कि यदि कोई विद्यार्थी शुल्क न दे सके तो उसे गुरु सेवा करके

गुरु दक्षिणा

शुल्क चुकाना पड़ता था।[2] अधिकांश विद्यार्थी इसी वर्ग के होते थे जो दिन में गुरु सेवा कर रात को शिक्षा प्राप्त करते थे।[3] ऐसे एक गुरुकुल का उल्लेख जातकों में मिलता है जिसमें पांच सौ ब्राह्मण शिष्य शिक्षा पाते थे और वे गुरु सेवा के रूप में अन्य कार्यों के साथ जंगल से लकड़ियां एकत्र करके लाते थे। कभी-कभी कोई विद्यार्थी अपना सम्पूर्ण समय अध्ययन में लगाता था। वह न शुल्क दे सकता था और न गुरु के लिए कोई विशेष कार्य ही करता था। ऐसे छात्र शिक्षा समाप्त करने पर गुरु की अभिलिषित वस्तु गुरु दक्षिणा के रूप में चुका देते थे। बनारस में एक विद्यार्थी का उल्लेख हुआ है जिसने शिक्षा प्राप्त कर गुरु दक्षिणा चुकाई थी।[4] योग्य और अनुभवी विद्यार्थी को उसी गुरुकुल में अध्यापन कार्य (मिल जाता) करता था और कभी-कभी गुरु दक्षिणा चुकाने का एक यह भी उपाय माना जाता था।[5] प्रयाग के नाटकों में शुल्क का उल्लेख कहीं नहीं है किन्तु भास्वर जैसे ब्राह्मण ने एक वय तक गुरुकुल के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर गुरु दक्षिणा चुकाई थी।[6] प्रयाग के अनुसार गुरुकुलों को स्नातकों की छात्रवृत्ति के रूप में राजकोष से भी धन दिया जाता था। राजकोष से कभी-कभी कोई छात्रवृत्तियां एक साथ दी जाती थी। दो प्रकार की छात्रवृत्तियों का मुकर्जी ने उल्लेख किया है। एक तो वे छात्रवृत्तियां होती थीं जो राजकुमारों के साथ जाने वाले राजकर्मचारियों के पुत्रों को शिक्षा करती थीं दूसरी जो अतीमधान छात्रों को राज्य स्वतन्त्र रूप से देता था। कई स्नातकों का उल्लेख कर छात्र वृत्तियों की चर्चा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ अन्य साधारण प्रतिभाशाली स्नातकों को भी छात्रवृत्तियां दी जाती थी।[7]

---

(१) जातक १/२७२ ४/५० (२) मिलिन्द पन्ह ६ मुकर्जी पृ० ४७१
(३) ऐंशियन्ट इंडियन एजूकेशन मुकर्जी पृ० ४७१ (४) वही पृ० ४८४
(५) जम्म० १/५६ (६) जम्म० १/७६ ७७
(७) "दी रीड ऑफ सम ऑफ दि लीडिंग मेम्बर्स ऑफ दि कोर्ट ऑफ बनारस एंड राजगृह ऐक्जामिनीज न देयर रैस्पैक्टिव रिलेशन्स टु तक्षशिला एंड देयर ऐजूकेशन कवेस हाउऐवर, प्रार मीट वार्टिंग ऑफ स्टूडेन्ट्स बोर्न इन दीन देयर होम ऐकाउन्ट ऑरदमर स्टडीज टु तक्षशिला ऐट स्टेट एक्सपेंस। सम वी रीड ऑफ ए ब्राह्मण यीथ ऑफ बनारस वीइन सैंड बाई दि किंग एट हिज एक्सपेंस टु तक्षशिला फोर दि पर्पस ऑफ सीधसाइवैशन इन दि आर्ट्स ऑफ पार्चरी।"
ऐंशियन्ट इंडियन एजूकेशन मुकर्जी पृ० ४८०

नाटकों में गुरु के लिए गुरु[1] गुरुदेव[2] आचार्य[3] शिक्षक[4] और आर्य[5] शब्द आये हैं। इनमें आर्य शब्द किसी भी पूज्य या सम्माननीय व्यक्ति के लिए आ सकता है, इसीलिए 'आर्य समुद्रगुप्त'[6] आर्य चन्द्रगुप्त[7] आर्य पर्णदत्त[8] जैसे संबोधन प्रायः नाटकों में देखने में आते हैं। गुरु शिष्य को संबोधन करते हुए सौम्य[9], शिष्य[10] और वत्स[11] का प्रयोग करता है। मनु के अनुसार भी अभिवादन करते हुए शिष्य को गुरु 'आयुष्मान भव सौम्य'[12] इन शब्दों में आशीर्वाद देता है। शिष्य के लिए गुरु की आज्ञा अनुल्लंघनीय है और वह उनकी आज्ञा से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है।[13] मनु ने भी गुरु की आज्ञा पाकर ही सुलक्षणा और सवर्णा भार्या से विवाह करने का विधान किया है।[14] चाणक्य ने इस बात का उल्लेख किया है कि कुलपति ने उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है। राजा तक को गुरु की मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है।[15]

गुरु शिष्य सम्बन्ध

प्रसाद के अनुसार गुरु का स्थान माता-पिता के समकक्ष ही है उनसे अधिक नहीं। चन्द्रगुप्त गुरु की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भी गुरु के द्वारा अपने माता-पिता के अपमान का विरोध करता है।[16] वैसे प्रसाद ने माता पिता को भी पुत्र की शिक्षा के लिये उत्तरदायी बतलाया है विशेषतः युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना तो महाराज का ही कर्त्तव्य है।[17] कालिदास के अनुसार अज को अस्त्र शिक्षा रघु ने स्वयं ही दी थी।[18]

---

(१) चन्द्र० १/१००
(२) वही १/१८ ४/१६९
(३) वही १/५५
(४) वही १/१ ०
(५) वही १/५५
(६) स्कंद १/१५
(७) वही ११६
(८) वही ११६
(९) चन्द्र० ११५५
(१०) वही २/९० (११) चन्द्र० १६०
(१२) मनु० २/४१/१२५ (१३) चन्द्र० १/५१
(१४) 'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् मनु० ३/६३/४
(१५) चन्द्र० ४/२१० (१६) वही ४/२१०
(१७) प्रसाद १/५१
(१८) 'अपि शिक्षितास्त्र पितुरेव'—रघुवंश ३/३१

प्रसाद के नाटकों के अनुसार प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का पूर्ण विकास दीख पड़ता है। छलना अपने को अजात को शिक्षा देने की पूर्ण अधिकारिणी समझती है।[1] उसकी ही देखरेख में परिषद् का काम चलता है।[2] अतः वह अवश्य ही सुशिक्षिता रही होगी। कार्नेलिया 'दाण्ड्यायन' के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है। भारतीय संगीत सीखती है।[3] वह 'सुकरात के तर्क' पर विचार करती है।[4] उशना और कणिक की राजनीति[5] और रामायण[6] भी पढ़ती है। कोमा आचार्य मिहिरदेव की शिक्षा में पली है।[7] उक्त सब उल्लेख इस ओर संकेत करते हैं कि स्त्री शिक्षा की पूरी स्वतंत्रता थी। इसके अतिरिक्त ललित कलाओं में तो प्रायः सभी स्त्रियाँ निष्णात् प्रतीत होती हैं। देवसेना संगीत में दक्ष है।[8] मालविका को नृत्य कला का ज्ञान है।[9] सुवासिनी अभिनय कला की रानी है।[10] पद्मावती वीणा बजाना जानती है।[11] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद के विचार से स्त्रियों को राजनीति से लेकर ललित कलाओं तक का ज्ञान दिया जाता था। राजकुमारी कल्याणी पर्वतेश्वर की सहायता के लिये पंचनद के युद्ध में भाग लेती है।[12] अलका धनुष बाण लेकर मालव दुर्ग की रक्षा करती है।[13] मालविका रणक्षेत्र में घायलों की चिकित्सा और भोजन की व्यवस्था करती है।[14] इस प्रकार प्रसाद ने प्राचीन काल में कई क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा की संभावना को स्वीकार किया है।

स्त्री शिक्षा

कामसूत्र के आधार पर प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में चकलादार[15] लिखते हैं कि साधारण स्त्रियाँ भी प्रेम पत्र लिख पढ़ सकती थीं। सामान्य स्त्रियाँ न उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं और न शस्त्र ग्रहण ही। परन्तु राजकुमारियाँ तथा सम्भ्रान्त कुल की कन्याएँ युद्ध में भी भाग लेती थीं। गणिकाएँ शास्त्रों में पारंगत होती थीं। कामसूत्र में स्त्रियों के लिये जिन चौसठ कलाओं का ज्ञान आवश्यक

---

(१) अजा० १/१० (२) वही २/१७
(३) चन्द्र० २/११९ (४) वही ४।२२५
(५) चन्द्र० ४/१२५ (६) वही ४/२२५
(७) ध्रु०स्वा० १/४१ (८) स्कंद० १/४९
(९) चन्द्र० १/१७२
(१०) वही १/६७
(११) अजा०
(१२) चन्द्र० २/११७ ११८
(१३) वही २/१५०
(१४) चन्द्र २/१४०
(१५) स्टडीज इन कामसूत्र चकलादार पृ १८० १८१

बतलाया गया है वह सामान्य प्राथमिक ज्ञान से कहीं ऊँचा होता था। जिस शिल्पकला के ज्ञान की सहायता से प्रोषित भर्तृका को अपना जीवन-यापन करना पड़ता होगा वह निश्चय ही उच्च कोटि का ज्ञान होता होगा। शुद्धोदन सिद्धार्थ के लिये अनेक शास्त्रों में निपुण वधू चाहते हैं। मायादेवी के लिये बहुश्रुता पंडिता और 'कला विचक्षणा' आदि विशेषण भी प्राचीन काल में उच्च शिक्षा के साक्षी हैं। मुकर्जी की मान्यता है कि वैदिक काल से ही स्त्री शिक्षा का प्रचार चला आ रहा है।[1] गुरुकुलों तक में छात्राएं अध्ययन के लिये जाती थीं।[2] चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी युद्धक्षेत्र में सैनिकों को उत्तेजित करने उनके खान पान की व्यवस्था करने तथा आहतों की चिकित्सा करने के लिए स्त्रियों को विशेष रूप से शिक्षित करने का आदेश दिया गया है।[3] सिकन्दर से लड़े गये युद्धों में स्त्रियों ने भी यत्र-तत्र भाग लिया था।[4]

---

(१) हिन्दू सभ्यता राधाकुमुद पृ ११३
(२) इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि वासुदेवशरण अग्रवाल
(३) अर्थशास्त्र १०३/६२
(४) दि सिविलिजेशन इन ऐंशिएंट इंडिया लुई रेनु पृष्ठ ७१

संगीत, कला और साहित्य

प्रसाद ने संगीत, कला और साहित्य सम्बन्धी उल्लेख प्रायः सभी नाटकों में किये हैं। संगीत में केवल कुछ रागों के नाम, कुछ गायन की परिपाटी और कुछ विशेष वाद्य-यन्त्रों के उल्लेख मात्र हुए हैं। इन सभी उल्लेखों को सामने रखने पर भी संगीत और नृत्य की किसी विशेष प्राचीन पद्धति या परम्परा का चित्र प्रसाद नहीं खींच सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने नाटकों में संगीत और नाच के साधारण दृश्यों का सृजन करने मात्र के उद्देश्य से प्रसाद ने संगीत और नृत्य की योजना की है। नृत्य से सम्बन्ध रखने वाले उल्लेख जैसे मालविका के नृत्य के वर्णन में कालिदास ने किये हैं[1] अथवा नूपुर-ध्वनि इत्यादि के सौन्दर्य को जिस प्रकार बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में उभारा है[2] वैसा प्रसाद नहीं कर सके हैं। इसका कारण संभवतः प्रसाद की वह दृष्टि थी जो कथा के वातावरण में संगीत और नृत्य को बारातों अथवा नर्तकियों के माध्यम से देखा करती थी। इसलिए प्रसाद के नाटकों में अधिकतर नर्तकियाँ किसी भी अवसर पर मशीन की तरह आकर नृत्य और संगीत प्रस्तुत करती हैं। कला और चित्रकारी इत्यादि का तो प्रसाद ने उल्लेख ही नहीं किया है। यद्यपि प्राचीन भारत के जन-पुरुषों से सम्राटों तक का मनोरंजन इसके माध्यम से होता था। कालिदास के शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र में चित्रशाला और चित्रकला के उल्लेख किये हैं।[3] गुप्त काल में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उसको काव्य-कला और संगीत में निपुण बतलाती है।[4] प्रसाद के इन नाटकों में मातृगुप्ताचार्य जैसे कवियों के होते फिर भी काव्य-क्रीड़ा इत्यादि का उल्लेख नहीं हुआ है। अभिनय सम्बन्धी एक दो सम्भाषण अवश्य हुए हैं। पर उनमें भी अभिनय के विशेष नियम की ओर ध्यान न देकर संकेत मात्र कर दिया गया है। अतः कोई सजीव वातावरण उभरता नहीं जान पड़ता।

कार्नेलिया दाण्ड्यायन के आश्रम में भारतीय संगीत सीखती है[5] और सिल्यूकस का कथन है कि उसने भारतीय संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया।[6] इसमें भारतीय

---

(१) माल० २/२४ (२) हर्षचरित ४/१११ (३) शाकुन्तल ६/१८
(४) ०० ०० ०० निशित-विदग्धमति-गान्धर्व-ललितैर्व्रीडित-त्रिदशपतिगुरु-तुम्बुरुनारदादेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेक---काव्यक्रियाभिः ००० ००० ००
———समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति : संकेत : हिस्ट्री
(५) चन्द्र० २/१०३
(६) वही २/१०७

संगीत संगीत की विशिष्ट शैली की ओर संकेत किया गया जान पड़ता है। किन्तु उक्त स्थलों पर यह स्पष्ट नहीं है कि प्रसाद भारतीय संगीत के स्वरूप का कैसा चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। देवसेना ने स्कन्द के जिस भैरव संगीत की चर्चा की है[1] उसका वर्तमान भैरव राग से कोई संबन्ध नहीं है। यहाँ भैरव संगीत एक रूपक के अर्थ में आता है और इस प्रसंग में प्रसाद ने देवसेना के शब्दों में संगीत के तीन अंग गीत नृत्य और वाद्य का एक साथ विवरण दे दिया है—रुद्र का शृंगीनाद भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य इससे भैरव संगीत की सृष्टि होती है। [2]राजाओं और नागरिकों के मनोविनोदों के साधनों में गीतवाद्य और नृत्य का उल्लेख अर्थशास्त्र[3] और जातकों[4] में भी हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट है कि प्राचीन काल में संगीत का प्रचुर प्रचार रहा होगा तथा संगीत के अन्तर्गत गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों आ जाते होंगे। प्रसाद ने भैरव संगीत का उल्लेख केवल युद्ध और विनाश की ध्वनि देने के लिये किया है संगीत की किसी विशेष पद्धति को सूचित करने के लिये नहीं। अन्यत्र देवसेना ने बागेश्वरी की करुण कोमल तान का भी नाम लिया है। बागेश्वरी अथवा बागेश्री अवश्य एक प्राचीन और प्रसिद्ध राग है। इसमें गांधार और निषाद कोमल आते हैं। आरोह में रिषभ और पंचम अल्पप्रमाण में लिये जाते हैं। इस में वादी मध्यम होता है और संवादी षड्ज। इसकी प्रकृति गम्भीर है तथा शृंगार और शान्त रस इसमें खुलते हैं। प्रसाद ने पुरुष को आकर्षित करने के उद्देश्य से शृंगार में ही इस राग का निर्देश किया है।[5] बागेश्वरी के गाने का समय रात्रि है।[6]

शास्त्रीय-संगीत के आधुनिक आचार्यों की मुद्राओं पर भी प्रसाद ने एक व्यंग किया है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि जिस प्रकार कई आधुनिक संगीतज्ञ "हाथ को ऊँचे नीचे हिलाकर मुँह बना कर एक भाव प्रकट करते हैं और फिर सिर को इस ओर से हिला देते हैं जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई हो " ठीक उसी प्रकार सुदूर अतीत के गायक भी करते होंगे। परन्तु स्पष्ट है कि उक्त व्यंग भारतीय संगीत के कतिपय गायनाचार्यों पर किया गया है जो गाते हुए मुँह बिगाड़ते हैं और उछलकूद करते हैं। वस्तुतः प्राचीन संगीताचार्यों ने इस प्रकार मुद्रा दोष को

---

(१) स्कंद० ३/१४९
(२) स्कंद० १/५४
(३) अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय २७/श्लोक ४१ पृ० १८४
(४) जातक० ५/४०   (५) स्कंद०   २/५४
(६) प्राथमिक संगीत—शंकर गणेश व्यास पृ० ११   (७) स्कंद०
(८) 'स्कंदगुप्त' प्रो० पन्त का लेख 'महाराणा मैगजीन' पृ० १

संगीत में सदा वर्ज्य माना है क्योंकि यह संगीत के रस में विघातक होता है। 'प्राचीन काल के संगीत का प्रयोग दर्शकों की मनोरंजन वृत्ति की तुष्टि के लिये होता आ रहा है। प्रसाद ने अपने नाटकों में जो गीत दिये हैं वे किसी 'विशेष' तर्ज पर से नहीं। इनका प्रयोग एक तो काव्य प्रवृत्तिवश है दूसरे अनुकरण मात्र और तीसरे निरर्थक और मात्र चमत्कार हुआ है।[1] श्यामा के 'बहुत छिपाया उफन पड़ा'[2] और 'निर्जन गोधूली प्रान्तर में'[3] बिम्बसार का 'चल बसन्त बाला अंचल से'[4], मल्लिका का 'प्रथम यौवन मदिरा से मत्त'[5] और 'निकली किरण बसन्त व्याकुल हो'[6] कल्याणी का 'सुधा सीकर से नहला दो'[7] मालविका का 'यो मेरी जीवन की स्मृति'[8] मंदाकिनी का 'यह कसक अरे आँसू सह जा'[9] कोमा का 'यौवन तेरी चंचल छाया' मातृगुप्त का 'संसृति के वे सुन्दरतम क्षण'[10] देवसेना का 'भरे प्रेम सब तजे'[11] और विजया का 'अगर धूम की श्याम लहरियाँ'[12] — ये सब गीत केवल काव्य प्रवृत्तिवश लिखे गये हैं। 'अनुकरण मात्र' से पन्त जी का क्या अभिप्राय है यह नहीं कहा जा सकता। प्रसाद के नाटकों में यत्र-तत्र ऐसे गीत पर्याप्त हैं जिनमें 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनी' के गीत और तर्जों का अनुकरण है। यदि यही अर्थ स्वीकार किया जाय तो वासवी का 'बच्चे बच्चों से खेलें'[13] गौतम का 'गोधूली के राग पटल में'[14] और 'चंचल चन्द्र सूर्य है चंचल'[15] उदयन का 'हमारे वक्ष में बसकर'[16] पद्मावती का 'हमारा प्रेमनिधि'[17] श्यामा का 'तुम्हारी मोहनी छवि'[18] और 'अमृत हो जायगा विष'[19] पुरुष और स्त्रियों का गान 'हमारे निर्बलों के बल'[20] और स्कंदगुप्त का 'बजा दे वेणु मनमोहन'[21] — ये इसी कोटि में आते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें कई गीतों की तर्ज ही थियेट्रिकल है और स्कंदगुप्त जैसे चरित्र भी गा उठते हैं। इस प्रकार के गीत 'ऐतिहासिक वातावरण' की सृष्टि में सबसे बड़ा व्याघात उपस्थित करते हैं। तीसरे प्रकार के गीतों में नर्तकियों के गीत लिये जा सकते हैं जिन्हें गीत की दृष्टि से तो निरर्थक ही मानना पड़ेगा।

प्रायः प्रसाद के सभी नाटकों में कुछ पात्र गाने वाले होते ही हैं परन्तु उनका सम्बन्ध संगीत के शास्त्रीय ज्ञान से न होकर अपने भावावेग की अभिव्यक्ति से ही

---

(१) अजात० २/७१ (२) वही २/६६
(३) वही २/१४१ (४) चन्द्र० २/११४
(५) वही २/१४९ (६) वही ४/११४
(७) वही ४/२० (८) ध्रुव १/१६ (९) ध्रुव० २/१५
(१०) स्कन्द० १/२१ (११) वही २/५५ (१२) वही ५/१४१
(१३) अजात० १/४५ (१४) वही १/३० (१५) वही १/४१
(१६) वही १/४५ (१७) अजात० १/५६ (१८) वही २/८१
(१९) वही २/९८ (२०) स्कंद १/४१ (२१) वही ४/१२८

जान पड़ता है। श्यामा कार्नेलिया और देवसेना ही ऐसे पात्र हैं जिनका सम्बन्ध संगीत के शास्त्रीय पक्ष से जोड़ा जा सकता है। श्यामा गणिका है अतः उसके संगीत में निष्णात होने पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता। कार्नेलिया भारतीय संगीत का पाठ पढ़ रही है और देवसेना को तो गाने का रोग है संगीतसभा में संगीत के तीन अंग गान वाद्य और नृत्य [१] की ओर भी प्रसाद ने संकेत किया है। शास्त्रीय संगीत से सम्बन्ध रखने वाले 'आलाप' [२] 'मूर्च्छना' [३] 'मींड़' [४] जैसे शब्दों का प्रयोग भी प्रसाद ने किया है।

विकटघोष अपने आपको 'गायक' बतलाता है। [५] नरेन्द्र उससे कहता है—"गायक नहीं हो तुम्हारे मुख पर तो कला की एक भी रेखा नहीं है। [६] यहाँ गायक और उसकी कला की एक विशेषता की ओर संकेत है। गायक का साधारण अर्थ गाने वाला है परन्तु कौटिल्य ने गायक को मनोरंजन करने के उद्देश्य से अपनी कला दिखलाने वाले नट-नर्तक इत्यादि के साथ ही रखा है। [७] इनको 'स्त्री व्यवहारिणो' कहकर वे अत्यन्त निम्न श्रेणी में रखते हैं। प्रसाद ने भी 'राज्यश्री' में विकटघोष और सुरमा के ठीक इसी स्वरूप का चित्रण किया है। स्पष्ट है कि यहाँ गायक शब्द का प्रयोग पूर्णतया कौटलीय अर्थ में किया गया है।

प्रसाद के नाटकों में वीणा की ही अधिकतर चर्चा हुई है। उदयन की वीणा का नाम हस्तिस्कंध' था और वह वीणा बजाने में प्रवीण था। वह वीणा उदयन को बाल्यकाल में एक ऋषि से प्राप्त हुई थी। इसके द्वारा उदयन हाथियों को वश में कर

वाद्य-यन्त्र

लिया करता था। कथा सरित्सागर में इसका उल्लेख मिलता है। [९]

पद्मावती के स्वामी (उदयन) उससे असंतुष्ट हैं। ऐसे समय में वह पति को भुलाने के लिए वीणा बजाना चाहती है। पर कई बार प्रयास करने पर भी फल नहीं होती। बार-बार वीणा उठाती है और रख देती है। [१०] प्रसाद का यह चित्रण परम्परागत है। विरहिणी नायिका को अपने मन-बहलाव के लिए वीणा बजाते हुए और वहाँ असफल होते हुए अनेक कवियों ने चित्रित किया है। मेघदूत की विरहिणी यक्षिणी की मुद्रा का चित्रण कालिदास ने बहुत सुन्दर किया है। वहाँ

---

(१) अजात० २।७८ (२) वही २।७९
(३) चन्द्र० १/६४ (४) वही २/७९
(५) अजात० १/६० (६) राज्यश्री ३/५२ (७) वही ३/५३
(८) एतेन नट नर्तक गायक वादक वाग्जीवन कुशीलव प्लवक सौभिक चारणानां
—अर्थशास्त्र २/२७/१८
(९) कथासरित्सागर बुक २/ परिच्छेद ५
(१०) अजात १/५८

भी वह बार बार वीणा बजाने का प्रयास करती है परन्तु उससे वह मूर्च्छना भी नहीं निकल पाती जिसका उसे पूर्ण अभ्यास है।[१] देवसेना भी वीणा के स्वर में स्वर मिलाकर गाने में अभ्यस्त है।[२] प्रज्ञातयन्त्रु से यह भी ज्ञात होता है कि वीणा के स्वरों के द्वारा वैतालिक राजदरबार में सम्राट के आगमन की सूचना भी दिया करते थे।[३] कालिदास के आधार पर केवल इतना ही पता चलता है कि वैतालिक सम्राटों को समय की सूचना दिया करते थे जिनसे भिन्न-भिन्न कालों मे करणीय कर्तव्य समय पर कर सकें। सम्भव है वे वीणा बजाकर भी यह सूचना देते हों[४] अन्यथा 'जयकार' से ही यह सूचना दी जाती थी।[५]

वीणा प्राचीन भारत का अत्यन्त प्रिय वाद्य-यंत्र रहा है। भरहुत और सांची की मूर्तिकला में वीणा का बहुत प्रयोग हुआ है। जातकों में भी वीणापाणीनि तुरयानी[६] जैसे वाक्यों में वीणा को अन्य वाद्य यन्त्रों के समूह में प्रथम स्थान दिया गया है। पाणिनि के सूत्रों में भी वीणा के प्रचुर उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[७] वीणा का प्राचीन काल के नागरिक के जीवन से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध था। वात्स्यायन के नागरिक के वासगृह में 'नागदन्तावसक्ता वीणा' की उपस्थिति आवश्यक थी।[८] बलाकस्टर तो वीणा को भारत का राष्ट्रीय वाद्य मानते हैं।[९] सम्राट समुद्रगुप्त को वीणा-वादन का इतना अनुराग था कि उनकी मुद्राओं में भी उसे वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया है।

अन्य वाद्य-यंत्रों में तूर्य[१०] तथा मृदंग[११] का उल्लेख हुआ है। तूर्य का उपयोग सेना को एकत्रित करने तथा युद्ध आरम्भ होने की सूचना देने के लिए हुआ है संगीत के लिये नहीं किन्तु प्राचीन काल में ये दोनों संगीत में भी प्रयुक्त होते थे। पाणिनि में 'तूर्य का प्रयोग वाद्य-वर्ग' (बैंड) के लिए हुआ है[१२] परन्तु कालिदास में तूर्य मुँह से फूँका जाने वाला बाजा है[१३] जिसे आजकल सीटी कहा जाता है।

---

(१) मेघदूत – उत्तरमेघ/२६
(२) स्कंद. १/४६ (३) प्रज्ञात ३/१२७
(४) इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ १६५
(५) मालविकाग्निमित्र ५/१११ (६) जातक /४०
(७) अष्टाध्यायी ३/१/६५ (८) कामसूत्र-सूत्र ५–२३
(९) 'म्यूजिकल इन्स्ट्रुमेंट आफ म्यूजिक इन ऐंशिएंट इण्डिया'
– स्टडीज इन कामसूत्र पृ १५५
(१०) मू.क २/४० (११) स्कंद १/४६
(१२) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ १६७
(१३) रघुवंश ३/१९

एक स्थान पर प्रसाद ने 'सोने की झांझ'[1] का उल्लेख भी किया है। शंकर ने वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्। चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम् में कांस्य-ताल का उल्लेख किया है।[2] कांस्य-ताल ही झांझ है किन्तु प्रसाद की 'सोने वाली झांझ' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

नृत्य

नृत्य के शास्त्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसाद ने कोई उल्लेख नहीं किया है हाँ नृत्य को कला अवश्य कहा है।[3] कामसूत्र में वर्णित चौसठ कलाओं में नृत्यकला का स्थान महत्वपूर्ण था। संगीत में वस्तुतः गीत और वाद्य के साथ नृत्य का होना अनिवार्य है।[4]

नृत्य के विभिन्न प्रकारों में 'ताण्डव' का एक चलता सा उल्लेख प्रसाद ने किया है। ताण्डव और लास्य नृत्य के ये दो स्वरूप अत्यन्त प्राचीन हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र से ज्ञात होता है कि 'त्रिपुरदाह' नाटक खेलने पर शिवजी ने तण्डु की सहायता से भरत को नृत्य की अनेक मुद्राएं सिखाईं। नृत्य पौरुषेय एवं उद्धत था।[5] शृङ्गारादि रसों के लिए पार्वती की अभिलाषा से पीछे 'लास्य' भी नाट्य-प्रयोगों में सम्मिलित किया गया।[6]

नृत्य सम्बन्धी अन्य जितने भी उल्लेख प्रसाद ने किये हैं वे सब नर्तकियों से सम्बन्ध रखते हैं। उनसे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रसाद प्राचीन भारत में भी नृत्य का सम्बन्ध अधिकतर रूपाजीवाओं से ही जोड़ना चाहते हैं। आधुनिक काल तक आते आते नृत्यकला के साथ वेश्याओं का ही मुख्यतः सम्बन्ध रह गया था। यह सत्य है कि प्राचीन भारत में भी व्यवसाय के रूप में नृत्य करने वाली नर्तकियाँ होती थीं। वे ब्याह शादियों तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर बुलाई जाती थीं। बाण के उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। प्रसाद ने अपने नाटकों में सभी स्थलों पर नर्तकियों द्वारा नृत्य की आयोजना की है किन्तु नृत्य कलासंबंधी इतने उल्लेख करने पर भी वे प्राचीन भारत की नृत्य-कला के गौरवपूर्ण स्वरूप का चित्रण नहीं कर सके हैं। यह उन पर स्पष्ट ही आधुनिक प्रभाव है।

---

(१) ध्रु.स २/१८

(२) हर्षचरित (शंकर टीका) ४/१११

(३) चन्द्र. १/१७२ (४) कामसूत्र—सूत्र ११

(५) एभिर्विमिश्रितश्चायं मिश्रोमार्गं भविष्यति। इत्यादि.—नाट्य-शास्त्र ४/१४/१६ तथा ४/२५७-५८

(६) भारतीय नाट्य-शास्त्र और रंग मंच (पं०) पृ २२

प्रसाद ने अभिनय का उल्लेख वसन्तोत्सव के प्रसङ्ग में किया है। 'उक्त अवसर पर कच और देवयानी की कथा का अभिनय किया गया है। कुछ 'मूक अभिनय हुआ और सुवासिनी ने भाव-सहित गान गाया। सुवासिनी का कौशल ऐसा था कि उसका अभिनय अभिनय न रह कर वास्तविक घटना सा प्रतीत होने लगा।[1]

अभिनय

अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक आहार्य और सात्विक। कच और देवयानी की भूमिका क्रमशः राक्षस और सुवासिनी ने ली है। इसस आहार्य अभिनय की ओर संकेत होता है। सुवासिनी गान का मूक अभिनय करती है। यहाँ आंगिक और सात्विक दोनों प्रकार के अभिनयों की ओर स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत है। केवल आंगिक से वह अभिनय 'वास्तविक घटना, जैसी देखने में आवे वैसी ही' होना सम्भव नहीं था संवाद के रूप में वाचिक अभिनय का यहाँ उल्लेख नहीं किन्तु 'आर्य राक्षस का अभिनयपूर्ण गान' में वाचिक अभिनय की ओर भी संकेत कर दिया गया है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद अभिनय का कलात्मक स्वरूप चित्रण करने में सफल हुए हैं। यहां तो 'कच देवयानी के अभिनय के नाम पर दो स्वतन्त्र कविताओं का भावपूर्ण गान' मात्र है जिसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका मालविका भी नाटक में गीत के साथ भावपूर्ण अभिनय करती है। वहां भी किसी कथा की चर्चा नहीं। नाटककार ने इसे 'छलिक अभिनय' कहा है।[2] यदि कच और देवयानी की कथा का उल्लेख नहीं होता अथवा इन गीतों का कच और देवयानी की कथा से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध होता तो हम इसे भी भाव-नाट्य की कोटि में रख सकते।

प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि ऐसे अभिनय उत्सवों के अवसर पर प्रेक्षागृहों या नाट्यशालाओं में प्रदर्शित किये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के नृत्यगीत प्रधान अभिनय नाटकों के अधिक समीप न होकर नृत्य कला के ही अधिक समीप थे। भारत नाट्य में गीत और नृत्य का जो स्वरूप सामने आता है वह इस प्रकार के अभिनय के अधिक समीप है। कालिदास का मालविका का अभिनय ठीक इसी प्रकार का है। प्रसाद की सुवासिनी के अभिनय में न नृत्य ही है और न अभिनय ही।

---

(१) चन्द्र १/१४६६
(२) अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्तौ
भावोभावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव
—मालविका० २/२८

साहित्य

साहित्य सम्बन्धी उल्लेख प्रसाद ने बहुत कम किये हैं। मातृगुप्त के द्वारा कविता सम्बन्धी जो विचार स्पष्ट किये गए हैं वे प्राचीन संस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्व के नहीं हैं। मुद्गल मातृगुप्त से कहता है— 'युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने सब सामग्री है स्वीकार।[1] तथा तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिये समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक बड़ धारणा होती है कि अभी टकराने दो। ऐसे बहुत आया जाया करते हैं।[2] इन वाक्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कवि राज्याश्रय प्राप्त करने को लालायित रहते थे किन्तु राज्याश्रय प्राप्त करना आसान कार्य न था। राजदरबार में कवियों को आश्रय मिलता था इसके कई प्रमाण मिलते हैं। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति से ज्ञात पड़ता है कि वह सुकवियों को आश्रय देता था और उनका सम्मान करता था।[3] कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि मातृगुप्त नामक कवि राज्याश्रय पाने की आशा में शीत और धूप सहता हुआ उज्जयिनी के सम्राट् हर्ष विक्रमादित्य के दरबार के चक्कर काटता था और उसे सर्वथा उपेक्षा ही मिलती रही।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्कन्दगुप्त' में राज्याश्रय पाने के लिए टक्कर खाते हुए मातृगुप्त का चित्र प्रसाद ने उक्त घटना से ही लिया है।

कार्नेलिया की उक्ति 'आह सखी! तुम तो कवि हो'[5] यद्यपि वास्तविक अर्थ में कही गई प्रतीत होती है तथापि इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी काव्य कला में अधिकार रखती थीं विशेषतः अभिनय द्वारा आजीविका प्राप्त करने वाली सुवासिनी सदृश स्त्रियाँ। ललित-विस्तर में कहा है—'शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव।'[6] इस प्रकार सर्व-शास्त्रों में प्रवीण स्त्रियाँ काव्य-कला से अपरिचित रही होंगी यह नहीं माना जा सकता।

---

(१) स्कन्द० १/२२ (२) स्कन्द० १/२२

(३) सत्काव्यश्री विरोधान्बुध-गुणित-गुणाज्ञाहतानेव कृत्वा।
विद्वल्लोके विनाशि-स्फुट बहु-कविता कीर्ति-राज्यं भुनक्ति।
—इलाहाबाद पिलर स्टोन इन्स्क्रिप्शन।

(४) शातेनोद्धूपितस्य माषशिमिव चिन्ताग्नौ मग्नतः।
शान्तं शीत स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकंठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरंगता।
सत्पात्र प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

(५) चंद्र० ४/२३१ —राजतरंगिणी-तृतीय तरङ्ग पृ १८१

(६) ललित विस्तर १२/११९

काव्य रचना इत्यादि के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं है परन्तु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में कालिदास और विक्रमादित्य जैसे कवि और उनके आश्रयदाताओं के साथ जिस प्रकार के वातावरण का चित्रण प्राचीन काव्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है अथवा इतिहास से जिस प्रकार के वातावरण का ज्ञान होता है वैसा प्रसाद अपने नाटकों में नहीं ला पाये हैं। कालिदास के काव्य तथा प्रसाद द्वारा वर्णित मातृगुप्त के गीतों में न तो वातावरण की दृष्टि से समानता है और न काव्य-कला की दृष्टि से ही। इस सम्बन्ध में प्रसाद प्राचीन वातावरण की रक्षा नहीं कर पाये हैं।

राजनीति और शासन-प्रबन्ध

राजा और उसके विशिष्ट संबोधन

राजनीतिक घटनाओं की प्रचुरता के कारण प्रसाद के नाटकों में प्राचीन वातावरण की सृष्टि के लिए शासक वर्ग के विविध प्रकार के संबोधन तथा उनके शासन-प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाले कई विशेषार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है। शासक वर्ग में से राजा रानी तथा राजकुमारों इत्यादि के लिये जिन सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है वे ऐतिहासिक पात्रों के क्रमानुसार इस प्रकार हैं

बिम्बसार के लिये —राजा महाराज राजन्, सम्राट् मगध-नरेश तथा राजाधिराज।

उदयन के लिये —राजा महाराज पृथ्वीनाथ सम्राट्, तथा कौशाम्बी नरेश।

प्रसेनजित् के लिये —राजा महाराज सम्राट् राजाधिराज पृथ्वीनाथ राजन् तथा कौशल-नरेश।

अजातशत्रु के लिये —सम्राट् राजन् तथा मगध-राज।
नन्द के लिये —सम्राट् राजा महाराज।
तक्षशिलाधीश के लिये —महाराज गान्धार-नरेश एवं तक्षशिलाधीश।
पर्वतेश्वर के लिये —महाराज पंचनद-नरेश राजन् तथा भूपाल।
सिकन्दर और सिल्यूकस के लिये —सम्राट् यवन-सम्राट्।
चन्द्रगुप्त के लिये —सम्राट्।
रामगुप्त के लिये —राजाधिराज राजा भट्टारक परमभट्टारक महाराज तथा सम्राट्।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये —राजाधिराज।
कुमारगुप्त के लिये —परमभट्टारक, महाराजाधिराज पराक्रम-पराक्रम महेन्द्रादित्य तथा महामान्य परमेश्वर परमभट्टारक।
स्कंदगुप्त के लिये —परमेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज।
पुरगुप्त के लिये —परमभट्टारक राजाधिराज प्रकाशादित्य।
विश्ववर्मा तथा बन्धुवर्मा के लिये —महाराज तथा नरेश।
शकराज के लिये —शकराज महाराज तथा राजा।

देवगुप्त के लिये —मालव-नरेश महाराज राजा, मालवेश्वर तथा मालवेश।
ग्रहवर्मा के लिये —महाराज तथा राजा।
नरेन्द्रगुप्त के लिये —गौड़ेश्वर।
मगध के हर्षकालीन शासकों के लिए —परमभट्टारक।
चालुक्य के लिये —दक्षिणापथेश्वर।
हर्ष के लिये —सम्राट्, उत्तरापथेश्वर राजा राजाधिराज तथा महाराज।

उक्त संबोधनों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास सम्मत गुप्तकालीन उपाधियों के अतिरिक्त अन्य सम्बोधन केवल राजा के पर्यायवाची हैं परन्तु अजातशत्रु की भूमिका में प्रसाद अजातशत्रु को उत्तरी भारत में इतिहास काल का प्रथम सम्राट्[1] कहकर सम्राट् शब्द को एक विशेष अर्थ में ग्रहण करते से प्रतीत होते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में पर्वतेश्वर का यह वाक्य— मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूं कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है[2] अजातशत्रु वाले अर्थ विशेष की पुष्टि करता है। प्रसाद ने राजा महाराज नरेश जैसे सम्बोधनों का प्रयोग प्रायः सभी शासकों व सामन्तों के लिये किया है परन्तु सम्राट् के अधिकारी बिम्बसार उदयन प्रसेनजित् और अपने अभिषेक के बाद अजातशत्रु, मन्द सिल्यूकस सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त सिल्यूकस चन्द्रगुप्त मौर्य रामगुप्त कुमार गुप्त की मृत्यु के ठीक बाद पुरगुप्त और स्कंदगुप्त तथा हर्ष ही हुए हैं।

ऋग्वेद के सातवें मंडल के बयालीसवें सूक्त में सम्राट और स्वराट् दोनों का उल्लेख मिलता है।[3] जो भलीभांति अभिषिक्त करके राजा बनाया गया हो, उसे सम्राट् कहते हैं।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट का अधिकारी मूर्धाभिषिक्त एक छत्र तथा परम शक्तिशाली शासक ही होता होगा। इन्द्र को भारतवर्ष का प्रथम सम्राट् स्वीकार करते हुए भी[5] प्रसाद के सम्मुख सम्राट् का यही अर्थ रहा होगा क्योंकि वेदों में इन्द्र परम शक्तिशाली और परमैश्वर्य युक्त देवता है। संभव है कालान्तर में भी सम्राट् का यही अर्थ रहा हो यद्यपि शुक्रनीति में सम्राट् से भी ऊपर विराट् तथा सार्वभौम की कल्पना मिलती है। उसमें सामन्त से लेकर सार्वभौम तक का अन्तर इस प्रकार है— तीन लाख कार्षापण कर प्राप्त करने वाले शासक को सामन्त तीन लाख से दस लाख की आय प्राप्त करने वाले को मांडलिक दस से बीस लाख तक की आय वाले राजा बीस से पचास लाख तक की आय वाले को

---

(१) अजातशत्रु (भूमिका) पृ० २० (२) चन्द्र० ३/१५७
(३) ऋग्वेद मं० ७/सू०५/पृ० ८२ (४)"सम्यक राजत इति सम्राट-भाष्य पृ० १०२
(५) नागरी प्रचारिणी पत्रिका—प्रसाद का लेख भारत का प्रथम सम्राट् इन्द्र

महाराज पचास से एक करोड़ तक की आय वाले को स्वराट् एक करोड़ से दस करोड़ तक की आय वाले को सम्राट दस से पचास कोटि पर्यन्त आय वाले को विराट और पचास कोटि से अधिक आय वाले को सार्वभौम कहा जाता है। उसके वश में सप्तद्वीपा पृथ्वी सदा सर्वदा रहती है।[१]

शुक्रनीति में राजा महाराज तथा सम्राट् शब्दों का जो सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसको देखते हुए यह कहना पड़ता है कि प्रसाद ने इन शब्दों का प्रयोग करने में निश्चित् स्तरव सम्मत आधार नहीं अपनाया है। मौर्य गुप्त तथा वर्धन समस्त भारत के न सही भारतवर्ष के विशाल भू-भाग के अधिपति थे और उनके अतुल ऐश्वर्य का साक्षी इतिहास है। अतः इनके लिये सम्राट् शब्द के प्रयोग में औचित्य का समर्थन किसी प्रकार किया भी जा सकता है किन्तु इनकी तुलना में बिम्बसार और प्रसेनजित छोटे-छोटे प्रदेशों के स्वामी रहे हैं अतः इनके लिये सम्राट् की उपाधि उचित नहीं प्रतीत होती। अजातशत्रु ने बिम्बसार के छोटे से राज्य में मगध और लिच्छवि गणतन्त्र को मिला लिया था। पर क्या इतने से ही उसे इतिहास काल का प्रथम सम्राट्[२] मान लेना ठीक होगा—यह विचारणीय है।

सम्राट् सम्बोधन के लिए चाहे प्रसाद ने किसी आधार की कल्पना भी करली हो पर अन्य सम्बोधनों के सम्बन्ध में तो इतना भी किया गया है—ऐसा प्रतीत नहीं होता। हां गुप्तकालीन मालव-शासकों के लिये महाराज[३] सम्बोधन ऐतिहासिक है और मन्दसौर के कुमारगुप्त के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है।[४]

अर्थशास्त्र में राजा के लिये सर्वत्र महाराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुप्तकाल में महाराजाधिराज तथा परमभट्टारक[५] की उपाधियों का प्रचार था। गुप्तकाल के घटोत्कचगुप्त अथवा श्रीगुप्त अपने आपको महाराज[६] लिखते हैं। सामन्त मातृविष्णु की उपाधि भी महाराज ही है[७] और सम्राट् कुमारगुप्त भी कभी कभी अपने को केवल महाराज लिखते हैं।[८] इनसे उक्त उपाधियों के अनिश्चित प्रयोगों की झलक मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में पूर्व दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर के राजाओं

---

(१)-शुक्रनीति १८२-८९
(२) अजात० (भूमिका) पृ० १० (३) स्कन्द० १/११
(४) सलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स (सरकार) नं० २१—कुमारगुप्त प्रथम और बंधुवर्मा मालव का मन्दसौर का शिलालेख।
(५) "जो सर्वाधिक और सबसे ऊपर भक्ता का अधिकारी हो"
—कौर्पस इंस्क्रिप्शनोटनम इ डिकारम (फ्ली) ३(१) प १० १७ ३(३) पृ० २५
(६) वही, (१३) पृ० ५४
(७) वही, (११) पृ० ८८ (८) वही (११) पृ० ४७

की अमरा सम्राट्, नृराज स्वराज तथा विराज की उपाधियाँ दी गई हैं।[1] वैदिक काल से ही इन उपाधियों के स्वरूपों में अन्तर होता गया और छोटे बड़े सभी शासकों के नाम के आगे समय-समय पर ये उपाधियाँ जुड़ती चली गई। यहां तक कि गुप्तकाल में वल्लभी के धारसेन चतुर्थ जैसे साधारण शासक ने गुप्त सम्राटों की तरह महाराजाधिराज परमभट्टारक परमेश्वर तथा चक्रवर्ती उपाधियाँ धारण की थीं।[2] अतः प्रसाद के नाटकों में इन शब्दों के प्रयोग में यह अव्यवस्था अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती—चाहे इनके औचित्य का समर्थन न किया जा सके। जहाँ तक इतिहास सम्मत उपाधियों का प्रश्न है प्रसाद ने उनका प्रयोग सही सही किया है। उदाहरणार्थ कुमारगुप्त स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त के लिए क्रमशः महेन्द्रादित्य विक्रमादित्य और प्रकाशादित्य उपाधियाँ इतिहास सम्मत ही हैं। राजा महाराज देव इत्यादि उपाधियों का प्रशस्तियों में अधिक कोई महत्व नहीं और साधारण से साधारण राजा के चारण भाट आश्रय दाता को बड़े-बड़े नामों एवं बड़ी-बड़ी उपाधियों से संबोधित करते रहे हैं ऐसा इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

इतिहासकार "रेप्सन" के अनुसार "विनय-पिटक" में राजा "देव" कहलाया गया है।[3] कुषाण शासकों ने तो अपने आपको देव-पुत्र तक कहा है। कालिदास[4] ने राजा के लिए "देव" संबोधन का प्रयोग किया है। तदनुसार ही "प्रसाद" के नाटकों में भी राजा के लिए उक्त संबोधन अत्यन्त प्रचलित मिलता है। कुषाण-शासकों की ऐतिहासिक उपाधि क्रमशः महाराजस्य देवपुत्र शाही एवं शाहानुशाही है[5] महाराज की उपाधि भी उनके सिक्कों में मिलती है।[6] हर्षचरित में देवगुप्त को मालवराज तथा नरेन्द्रगुप्त को गौडाधिपति कहा गया है। ग्रहवर्मा के लिए उसमें किसी उपाधि का उल्लेख नहीं है। हर्ष के लिए हर्षचरित में मुद्राओं में और उसके ताम्रपत्रों में भी महाराजाधिराज की उपाधि प्राप्त होती है। अतः इनके संदर्भ में प्रसाद के नाटकों में आई हुई उपाधियाँ इतिहास के अनुरूप हैं।

प्रसाद ने रानी के लिए अधिक उपाधियों का उल्लेख नहीं किया है। प्रधान रानी को वे महादेवी तथा साम्राज्ञी कहते हैं और सामान्य रानी को राजरानी

---

(१) दी सिविलिजेशन ऑफ इंडिया—पृ० ९१ (२) (फ्लीट) III १(३९) पृ०१८२
(३) दी सिविलिजेशन ऑफ इंडिया—पृ० ६० (४) शाकुन्तल—अंक ५/११-१९
(५) समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।
(६) रैप्सन भगवानलाल तथा विहुल्फ के लेख—जे आर ए एस १८९० पृ० ११६
१८९९ पृ० ३५७

रानी — राजमहिषी, महिषी। भारतीय राजनीति में रानी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह राजा के साथ ही अभिषिक्त की जाती थी। पाणिनि प्रधान रानी को "महिषी" लिखते हैं तथा अन्य रानियों को प्रजावती।[1] कौटिल्य महिषी तथा कुमार मातृ का उल्लेख करते हैं।[2] जातक ग्रन्थों में भी प्रधान रानी के लिये "अग्र-महिषी" तथा अन्य रानियों के लिये "पजापती" (सं–प्रजापती)[3] शब्दों का प्रयोग हुआ है। "साम्राज्ञी" प्राचीन उपाधि है और इसका संबंध सम्राट और साम्राज्य से स्पष्ट है। प्रधान रानी के लिये "महादेवी" का प्रयोग गुप्तकाल में ही विशेष रूप से प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। गुप्तकालीन शिलालेखों में महादेवी कुमारदेवी महादेवी अनन्तदेवी तथा महादेवी ध्रुवदेवी के नामों का उल्लेख हुआ है। प्रसाद ने बौद्ध काल मौर्य-काल तथा अन्य सभी कालों में "महादेवी" संबोधन ही रखा है यद्यपि पाणिनि जातक तथा कौटिल्य की साक्षी के अनुसार अन्य महिषी संबोधन ही उचित प्रतीत होता है।

प्रसाद ने शासन प्रबन्ध तथा अन्य विषयों में भी रानियों को काफी अधिकार प्रदान किये हैं। सम्मान की दृष्टि से महादेवी का स्थान सबसे ऊँचा प्रतीत होता है और यह स्वाभाविक ही है। राजनीति में राजमाता की स्थिति का एक विशेष महत्व है। "मैं राजमाता हूँ। कुणीक को शिक्षा देने का अधिकार मेरा है"[4] छलना की उक्त गर्वोक्ति से ज्ञात होता है कि राजमाता को ही राजकुमार की शिक्षा इत्यादि के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार रहता था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि महादेवी ही राजमाता हो यह आवश्यक नहीं क्योंकि महादेवी वासवी थी और छलना राजमाता। जैसा ऊपर बताया गया है 'महिषी' राजा के साथ ही अभिषिक्त की जाती थी और उसी को राजा के साथ सिंहासन में बैठने का अधिकार भी दिया जाता था। यही कारण है कि उसकी पूर्ण उपाधि पट्ट-महिषी अथवा पट्टमहादेवी थी। पट्ट का सम्बन्ध शासन से था। सम्भवतः साम्राज्ञी के मस्तक पर एक विशेष पट्ट भी महादेवी पद को सूचित करने के लिए बांधा जाता था। इतिहास से ज्ञात होता है कि प्रसाद के नाटकों के किसी भी काल में रानी स्वतन्त्र रूप से शासन करने की अधिकारिणी नहीं समझी गई क्योंकि राजनीति के आचार्यों तथा अन्य विचारकों के मत से स्त्रियाँ

---

(१) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) पृ० ४०४–५
(२) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
(३) जातक २/६१२
(४) अजात० १/९

में अपनी प्राकृतिक सीमाओं के कारण अच्छे शासक बनने की क्षमता नहीं होती।[1] परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि रानी कुमारदेवी के साथ सम्मिलित रूप से शासन किया था।[2] वाकाटक रानी प्रभावती गुप्त ने अपने पुत्र दिवाकरसेन तथा प्रवरसेन द्वितीय के वयस्क होने तक लगभग बीस वर्ष तक शासन किया था।[3] इन अपवादों के ही आधार पर ही सम्भवतः प्रसाद के नाटकों में छलना और अनन्तदेवी दोनों ने अपने पुत्रों के लिए शासन सूत्र संभाला है। छलना एक बार परिषद की नेत्री के रूप में[4] दूसरी बार अजातशत्रु के बन्दी होने पर मगध की शासिका के रूप से राज्य की देखभाल करती है,[5] और अनन्तदेवी पुरगुप्त के निर्वीर्य और विलासी होने के कारण स्वयं उसके अधिकार अपने हाथ में ले लेती है।[6] ये दोनों वस्तुतः महादेवी नहीं हैं पर विकट परिस्थितियों में प्रसाद ने इनको महादेवी कहला दिया है। महादेवी वासवी के बिम्बसार के साथ बन्दीगृह में होने के कारण देवदत्त छलना 'को महारानी' सम्बोधन करता है[7] और भटार्क एवं सैनिक अनन्तदेवी को महादेवी स्वीकार करते हैं।[8]

अपने राजमन्दिर की सीमा में प्रसाद की महादेवी एकच्छत्र स्वामिनी है और यहाँ स्वयं सम्राट का भी अधिकार नहीं। वासवदत्ता का कथन—"आपको मेरे इस राजमन्दिर की सीमा के भीतर इस तरह हत्या करने का अधिकार नहीं है। मैं इसका विचार करूँगी——"[9] महादेवी के इस अधिकार की ओर स्पष्ट संकेत करता है। कादम्बरी में विलासवती को महादेवी की उपाधि प्रदान करने के साथ स्वयं सिंहासन प्रदान करता है जिसमें छत्र चंवर और दण्ड तीनों संयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त उसे समस्त अन्तःपुर पर एकच्छत्र अधिकार भी प्रदान किया जाता है।[10] इस प्रकार बाण के अनुसार भी महादेवी का अन्तःपुर पर निर्बाध अधिकार स्थापित किया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों से स्पष्ट है कि राज्यशक्ति पिता से पुत्र के हाथों में आती थी।[11] राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था।[12] उनको योग्य शासक बनाना राजा का कर्तव्य होता था।[13] राजकुमारों की विशेष शिक्षा

---

(१) मज्झिम निकाय ३/५५-६६ अर्थशास्त्र ४/१
(२) नाइक इन गुप्ता एज (अल्तेकर) पृ० २३२
(३) वही (अल्तेकर) पृ० २१२
(४) अजात० १/६६ (५) वही ३/१११
(६) स्कन्द० १/६१-६२
(७) अजात० २/६४ (८) स्कंद ३/६४ (९) अजात० १/६०
(१०) (कादम्बरी बाण) पृ० १४० (कालेज-पामर)
(११) अजात० १/५१ ५२ (१२) वही १/५१
(१३) वही १/५१ →

राजकुमार और युवराज

के लिए पाँच वर्ष तक तक्षशिला जैसे विद्यापीठों में अध्ययन करना पड़ता था।[१] बचपन में राजकुमार की शिक्षा दीक्षा का अधिकार राजमाता को होता था।[२] साधारण "नीति सिद्धांत के आधार पर ज्येष्ठपुत्र' को ही राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार मिलता था [३] यद्यपि गुप्तकुल में उत्तराधिकार का यह नियम कुछ 'अव्यवस्थित' हो चला था। सम्राट उत्तराधिकार की व्यवस्था कर लिया करते थे और गुप्त-कला के अधिकारी और प्रजा वर्ग उस व्यवस्था का सम्मान करता था। यह राजा की इच्छा पर था कि वह अपने अमर्यादित और नीच पुत्र को 'त्याज्य-पुत्र' घोषित कर उसे युवराज पद से वंचित करदे। यदि वह विवाह ही न करे अथवा पुत्रहीन रहे तो उसके उपरान्त छोटे भाई को शासनाधिकार मिल सकता था।

वानप्रस्थाश्रम में लेने से पूर्व राजा परिषद का आह्वान करके पुत्र का यौव-राज्याभिषेक कर देता था। युवराज मंत्री परिषद की सहायता से राज्य का कार्य चलाता था। सम्भवतः युवराज के विवाह के सम्बन्ध में राजा की स्वीकृति आवश्यक होती थी।[४] अपराध करने पर युवराज भी दण्ड व्यवस्था से ऊपर नहीं समझा जाता था।

प्रसाद ने उत्तराधिकारी कुमार के लिये युवराज तथा अन्य स्थिति में केवल राजकुमार शब्द का प्रयोग किया है।[५] स्मृति तथा जातक-ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि राजा के उपरांत उसका पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होता था।[६] शतपथ ब्राह्मण से भी पैतृक राज्याधिकार सम्बन्धी उल्लेख दृष्ट हो सकते हैं।[७] रामायण महाभारत काल के सभी उल्लेख इस परम्परा का समर्थन करते हैं। प्रसाद के सभी ऐतिहासिक कथानक इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक सत्य को मानकर ही चले हैं।

जातक ग्रन्थों में राजकुमारों की शिक्षा सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। उनके लिए उग्गहितसिप्पो[८] तथा सब्बसिप्पेसु निप्फत्तिं पत्तो[९] जैसे प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि वे सब शिल्पों में निष्णात होते थे। शिक्षा के सम्बन्ध में विचार

---

(१) अर्थ १/७५
(२) अजात० १/२७ (३) ध्रु० च० १/१७
(४) स्कंद० १/१२ (५) वही १/१५ १/१६ १/३७
(६) जातक ४/१० (७) शतपथ ब्राह्मण ९-६/३/१
(८) सिवि जातक—४९९ (९) पञ्चावुध जातक—५२१

कहते हुए बताया जा चुका है कि विशिष्ट शिक्षा प्राप्ति के लिये तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध गुरुकुलों में अध्ययन करना होता था। कौटिल्य की आज्ञा भी है कि राजकुमार को समर्थ विद्वान और विनय से युक्त होना चाहिये।[1] पति एवं सम्राट की उपस्थिति में भी राजमाता को ही राजकुमार की शिक्षा दीक्षा का अधिकार होता था या नहीं इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना इतिहास से नहीं दी जा सकती। पति की मृत्यु के समय राजकुमार के अल्पवयस्क होने की स्थिति में जो महादेवी राजमाता के रूप में शासन करने की क्षमता रखती थी वह अवश्य ही युवराज की शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध भी करती होगी परन्तु अन्य स्थितियों में भी ऐसा ही होता था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कालिदास के अनुसार तो पुत्र की शिक्षा दीक्षा का उत्तरदायित्व पिता पर ही होता था।[2]

रामायण से ज्ञात होता है कि दशरथ ने राम को युवराज पद देने का निर्णय केवल ज्येष्ठ होने के नाते ही नहीं किया था अपितु पौर-जानपद की इच्छा और प्रार्थना पर ही उन्हें युवराज घोषित किया गया[3] राम की योग्यता ही इस चुनाव का कारण थी।[4] बुद्ध-काल में पिता द्वारा युवराज के चुनाव में योग्यता ही कसौटी थी। जातकों के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को युवराज अथवा "उपराजा" की तथा दूसरे पुत्र को 'सेनापति" की उपाधि दी जाती थी। राजा के उपरान्त उपराजा राजा बना दिया जाता था और सेनापति उपराजा बन जाता था।[5] पाणिनि के अनुसार भी राज महिषी (प्रधान-महादेवी) के पुत्र को युवराज घोषित करता था। पाणिनि उसे 'पार्षकुमार' की उपाधि से अभिहित करते हैं।[6] कौटिल्य भी 'अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठ भागि तु पूज्यते' की आज्ञा देते हैं।[7] कालिदास के अनुसार तो राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज होता था।[8]

जातकों के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र के राजा बनने के उपरांत कनिष्ठ पुत्र को उपराजा की उपाधि दिये जाने से भाई के युवराज बनाये जा सकने की सम्भावना स्पष्ट है। शुक्रनीति की "स्व कनिष्ठं पितृव्यं वानुजमग्रज सम्भवम्" यह युक्ति भी अनुज को युवराज बनाने का समर्थन करती है।[9] 'स्कंदगुप्त' नाटक में स्कंदगुप्त का

---

(१) अर्थशास्त्र १/११/२८
(२) अधिगतराज्यः पितुरत्ये—रघुवंश ३/११ (३) 'अहोऽस्मि परम प्रीतः प्रभावश्चातुलो मम यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ।"—रामायण २/२
(४) हिन्दू पोलिटी पृ २८१
(५) जातक ४/१०
(६) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि पृ ४०५
(७) अर्थशास्त्र १/१८/५४
(८) रघुवंश ३/१५
(९) शुक्रनीति २/१७/१८

शासन करना इतिहास सम्मत है। राज्यवर्धन की मृत्यु होने पर हर्ष का सिंहासनासीन होना भी ऐतिहासिक घटना है।

प्रसाद ने गुप्तकाल के 'अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' का भी उल्लेख किया है और स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त एवं चन्द्रगुप्त व रामगुप्त के उत्तराधिकार सम्बन्धी संघर्ष इसके प्रमाण स्वरूप रखे गये हैं। पिता द्वारा उत्तराधिकार के निर्णय सम्बन्धी कई उल्लेख शिला लेखों में पाये हैं, कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो ।।[1]
आर्यो हीत्युपगुह्य भाव पिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य कुलज म्लानाननोद्वीक्षित
स्नेह व्यालुलितेन बाष्प गुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति । [2]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से ज्ञात है कि किस प्रकार युवराज पद के लिए योग्य राजकुमार का ही चुनाव किया जाता था। इसमें ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ का प्रश्न सम्भवतः स्वतः ही नहीं उठता होगा। इसी आधार पर इतिहासकारों ने राम गुप्त की समस्या को हल करने का प्रयास किया है। और प्रसाद ने भी इसी परम्परा एवं प्रवृत्ति को गुप्तकाल में स्थान दिया है। इसी को उन्होंने 'अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' कहा है।

उक्त उदाहरण में "सभ्येषूच्छ्वसितेषु" से ज्ञात होता है कि उक्त चुनाव सभा में होता था एवं सभ्यों को (जिसके अन्तर्गत मंत्री एवं अन्य प्रमुख नागरिक भी होते थे) गुप्त सम्राट की घोषणा शिरोधार्य ही होती होगी। संभव है कि राम के चुनाव की तरह गुप्तकालीन युवराज के चुनाव में मंत्रियों एवं अन्य प्रमुख व्यक्तियों अथवा जनपदों का भी हाथ रहता हो।

रामायण से ज्ञात होता है कि पौर-जानपदों की आज्ञा यौवराज्याभिषेक के लिए आवश्यक थी।[3] इस तरह का कोई स्पष्ट उल्लेख न करने पर भी प्रसाद ने अजातशत्रु के यौवराज्याभिषेक के सम्बन्ध में 'परिषद् का आह्वान' अवश्य करवाया है। इतिहास से ज्ञात होता है कि परिषद् युवराज के पद के लिए स्वीकृति देने से लेकर यौवराज्याभिषेक के उत्सव तक का कार्य करती थी।

---

(१) सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस (सरकार) नं० २८ (स्कंद का भिटारी का लेख)।
(२) वही (सरकार) नं० २५४ (समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति)।
(३) हिन्दू पोलिटी २१०

यौवराज्याभिषेक के समारोह की विधि के सम्बन्ध में प्रसाद मौन हैं। कालिदास ने यौवराज्याभिषेक का विवरण दिया है।[1] उपाध्याय के अनुसार उक्त अभिषेक के उपरान्त प्रभुसत्ता अथवा युवराज को प्राप्त हो जाती थी।[2] प्रसाद के नाटकों में प्रभुसत्ता युवराज को प्रदत्त मिलने के स्थान पर या तो अजातशत्रु की तरह पूर्णतः प्राप्त हो गई है[3] या पुरगुप्त की तरह बिल्कुल ही नहीं प्राप्त हुई[4]। बौद्ध जातकों के अनुसार अजातशत्रु ने बिम्बसार को बन्दी कर राज्य ले लिया था। "अजातशत्रु" नाटक में अजात को युवराज पद देते ही बिम्बसार ने स्वयं संपूर्ण प्रभुसत्ता उसे सौंप दी। स्कंदगुप्त" नाटक में पुरगुप्त को युवराज बनाना 'भावी साम्राज्य की नीति की घोषणा' मात्र है। अतः प्रभुसत्ता के स्थानान्तरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

शुक्रनीति "मंत्रमयेनाभयुक्तान्" की आज्ञा द्वारा राजपुत्रों की उचित रक्षा की ओर संकेत मात्र करती है।[5] कालिदास ने भी युवराज के साथ उसकी सहायता एवं सेवा के लिए सूत-पुत्र मंत्रिपुत्र एवं सामन्तपुत्रों के रहने का उल्लेख मिलता है।[6] राज्यवर्धन और हर्ष के साथ रहने के लिए अनुचर के रूप में मालव राजकुमार कुमार गुप्त और माधवगुप्त नियुक्त किये गये थे।[7] 'अजातशत्रु'-नाटक में सेनापति दीर्घ कारायण का युवराज विरुद्धक से—'राजकुमार आप अकेले क्यों हैं?" यह प्रश्न उक्त संदर्भ के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है। प्रसाद ने अजातशत्रु नाटक में प्रसेनजित के मुख से युवराज विरुद्धक के लिए कहलवाया है— क्या भेड़िये की तरह भयानक ऐसी दुराचारी सन्तान अपने माता पिता का ही वध नहीं करेगा।"[8] इसी प्रकार की एक उक्ति स्कन्दगुप्त नाटक में भी कहलाई गई है—'राजपुत्र भक्षिय हैं। इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।[9] यहाँ इसे कौटिल्य की उक्ति बतलाया गया है इसमें सन्देह नहीं कि कौटिल्य और शुक्र दोनों ही राजा को राजपुत्रों से सजग रहने की सलाह देते हैं—विशेषतः जब पुत्र को पिता से विराग हो[10] अथवा राजा

---

(१) विक्रमोर्वशीय ११६-११८ रघुवंश ३/३५
(२) इण्डिया इन कालिदास पृ ६३
(३) अजात २/६२-६३
(४) स्कंद ५/१५२
(५) शुक्रनीति २/१७
(६) रघुवंश ५/३५-७५ ३/२८ ३/१८
(७) हर्षचरित ४/११७
(८) अजात० १/५२
(९) स्कन्द० १/१८
(१०) अर्थशास्त्र १/१७/४२

अपने योग्य पुत्रों को छोड़कर इतर की यत्न से रक्षा करे।[1] यही नहीं भारद्वाज का उल्लेख कर कौटिल्य ने राजपुत्रों को 'जनक-भक्षाः' और 'कर्कटक सधर्माणः' भी कहा है।[2] शुक्र भी उन्हें *'सिंहशावक इव'* कहते हैं।[3] परन्तु राजपुत्रों की तुलना भेड़िये से इन दोनों में से किसी ने भी नहीं की है। अतः इस प्रकार की उक्ति को एक तो कौटिल्य की उक्ति बतलाना ही भ्रमपूर्ण है और यदि भारद्वाज और शुक्र के कथन के अनुरूप ही इस उक्ति को किसी प्रकार कौटिल्य की मान भी लें तो मेगस्थनीज की उक्ति को भी कौटिल्य के कथन के समकक्ष रखना पड़ेगा और ऐसा करने में ऐतिहासिक प्रमाद हो जाने की आशंका है।



(१) शुक्रनीति २/१७-१८ (२) अर्थशास्त्र १/१७/५
(३) शुक्रनीति २/१९ ८

राज्याभिषेक

प्रसाद के नाटकों में राज्याभिषेक सम्बन्धी विवरण केवल एक दो ही स्थलों पर प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त में नन्द के वध के उपरान्त चाणक्य राक्षस से कहता है "सिंहासन शून्य नहीं रह सकता। अमात्य राक्षस सम्राट का अभिषेक कीजिए।" राक्षस चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बैठाता है और सम्राट की जयजयकार के उपरान्त चाणक्य चन्द्रगुप्त को उपदेश देता है "स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता वहीं तक दी जा सकती है जहां तक दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है। वत्स चन्द्रगुप्त लोकहित शासन का परित्याग तुमने स्वयं देख लिया है। अब मंत्रि परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण में लगो।"[1] स्कंदगुप्त का अभिषेक उज्जयनी की राज सभा में होता है। गोविन्दगुप्त और बंधुवर्मा हाथ पकड़कर स्कंदगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं भीम छत्र लेकर बैठता है देवसेना चमर करती है मकरध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते हैं देवकी राजतिलक करती है गोविन्दगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं चक्रपालित राजदण्ड देता है 'परमभट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त की जय' बोली जाती है। इसके उपरान्त भरी सभा में सब के सम्मुख गोविन्दगुप्त को सम्बोधन कर स्कन्दगुप्त आकांक्षा प्रकट करता है "आर्य! एक युक्ति उत्तराधिकार का सत्य से पालन कर सकूँ और आर्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ — —— और अपने कर्तव्य से स्वदेश सेवा से कभी विचलित न होऊँ।"[2]

भारत में राज्याभिषेक का प्रचलन वैदिक काल से चला आ रहा है और ब्राह्मण-ग्रंथों और पुराणों में राज्याभिषेक सम्बन्धी पर्याप्त विवरण मिलते हैं। वैदिक और ब्राह्मण कालों में राज्याभिषेक का स्वरूप इस प्रकार था "राज्याभिषेक का प्रधान रूप ऐन्द्रमहाभिषेक कहलाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐन्द्रमहाभिषेक के पूर्व क्षत्रिय को श्रद्धापूर्वक शपथ लेनी पड़ती थी 'यदि मैं तुम से द्रोह करूँ तो मेरे सारे पुण्य मेरा स्वर्ग मेरी आयु और मेरी प्रजाएँ मुझसे में वंचित कर दिया जाऊँ।[3]

---

(१) चन्द्र० १/२१२ (२) स्कंद० २/७९

(३) 'एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया याञ्च रात्रीमजायेऽहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति

ऐतरेय ब्राह्मण ८/२५

तब वह ऐन्द्रमहाभिषेक के लिए एक सोने के थाल पर खड़ा होता था और पुरोहित पवित्र मन्त्रोच्चार के साथ सौ अथवा सौ छिद्रों वाले पात्र सुवर्ण पात्र द्वारा समस्त तीर्थों समुद्रों एवं नदियों के पावन जल से उसका अभिषेक करता था। अभिषेक के उपरांत जब वह तीन पग चलकर काष्ठ सिंहासन (आसंदी) पर आरूढ़ होता तब पुरोहित उससे कहता 'तुमको यह राज्य दिया गया है। तू इसका संचालक और नियामक है। तू ध्रुव है और (इस राज्य का) धारण करने वाला है तुमको यह राज्य कृषि के लिए कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए और पोषण के लिए दिया गया है।'[1] इसके पश्चात् अभिषिक्त सम्राट नगर यात्रा करता। वहाँ से लौटने पर उसकी पीठ पर राजदण्ड से आघात किया जाता जिसका अभिप्राय यह होता था कि राजा भी दण्ड से बाहर नहीं है। अन्त में पुरोहित राजा को समुचित व पवित्र खड्ग देता था।[2] वैदिक काल से चले आते हुए इस अभिषेक का स्वरूप थोड़े से परिवर्तनों के साथ छत्रपति शिवाजी के समय तक चलता रहा।[3] वस्तुतः भारतीय प्रथा से मूर्धाभिषिक्त सम्राट के राज्याभिषेक को विशेष महत्व दिया गया है। राजतिलक अथवा राज्यारोहण को नहीं। अभिषेक में वर्णों के द्वारा सिंचन आवश्यक है। अग्नि पुराण में राज्याभिषेक का विस्तृत विवरण है। उसके अनुसार चार विभिन्न वर्णों के अमात्य घटों से राजा को स्नान कराते थे।[4] प्रसाद के नाटकों में उक्त दोनों अवसरों पर 'अभिषेक' का उल्लेख होते हुए भी अभिषेक संस्कार का पता तक नहीं। अभिषेक करने वाले चार अमात्यों में से एक ब्राह्मण होता था।[5] चाणक्य चन्द्रगुप्त का अभिषेक करने के लिए राक्षस को आदेश देता है। राक्षस अमात्य भी है और ब्राह्मण भी। ('यद्यपि प्रसाद ने उसे विचारों में ब्राह्मण द्रोही और बौद्ध चित्रित किया है तथापि स्वयं राक्षस के अनुसार वह बौद्ध धर्म को उसकी सामाजिक सीमा तक ही स्वीकार करता है।[6]) अतः यहाँ कहा जा सकता है कि ब्राह्मण अमात्य को ही अभिषेक का आदेश देना शास्त्रानुमोदित है। (भले ही अभिषेक किया न हो)

---

(१) इयं ते राट् । कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा यजुर्वेद ९/२२
इयं ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।
शतपथ ५/२ १/२५

(२) हिन्दू पौलिटी 'जायसवाल' २११
(३) हिन्दू पौलिटी २५१
(४) अग्निपुराण २२ २१८ व १८ देखिये हिन्दू सभ्यता। मुकर्जी पृ १०३
'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य केवल तीन अभिषेक करते थे।
(५) चन्द्र १/७१ (६) स्कन्द २/६९

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि घटना क्रम के अनुसार ही राज्य को उपर्युक्त आदेश दिया गया है किसी शास्त्रीय-परम्परा को ध्यान में रखकर नहीं। स्कंदगुप्त में अभिषेक का आदेश भी नहीं है वहाँ राजमाता देवकी स्कंद का 'राजतिलक' करती है वस्तुतः राज्याभिषेक या राजतिलक पारिवारिक कार्य नहीं राष्ट्रीय कार्य था। राजतिलक यदि किया भी जाता था तो राजपुरोहित द्वारा ही। रामायण युग में राजपुरोहित ही राजतिलक करता था 'बाण' के अनुसार चन्द्रापीड के यौवराज्याभिषेक के समय रानी विलासवती ने शुभवचन से युवराज का अनुलेपन किया।[१] अनुलेपन को तिलक का स्वरूप मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त को हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बैठाने में राज्यारोहण का संकेत मिलता है[२] पर यह प्रथा भी इस रूप में प्राचीन नहीं कही जा सकती। अभिषेक के प्रसंग में इस प्रकार की प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन काल में राजा स्वयं ही 'आसन्दी' में आरोहण करता था। केवल 'विक्रमोर्वशीय' में युवराज आयु को भद्रपीठ में बैठाने का उल्लेख अवश्य मिलता है पर यह उत्सव यौवराज्याभिषेक का है।

भारतीय परम्परा के अनुसार 'प्रतिज्ञा' अभिषेक के पूर्व करनी होती थी। प्रसाद के नाटकों में प्रतिज्ञा का कहीं उल्लेख नहीं है परन्तु स्कंदगुप्त में प्रतिज्ञा का स्वरूप अवश्य मिलता है और वह भी अभिषेक के पश्चात्। स्कंदगुप्त अपने अभिषेक के उपरांत गुरुजन, उत्तराधिकार का सत्य से पालन करने और आर्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण करने आदि की कामना करता है। यह कामना ही ऐतरेय ब्राह्मण की शपथ के समकक्ष रखी जा सकती है जिसे कालान्तर में प्रतिज्ञा कहा जाने लगा।[४] किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उक्त कामना की योजना करते समय उनके मानस में 'ऐतरेय ब्राह्मण' की शपथ रही होगी। सम्भव है कि स्कंदगुप्त की चारित्रिक विशेषता ही उसकी 'कामना' का कारण हो। स्कंदगुप्त नाटक में इस प्रकार की प्रतिज्ञा तो नहीं है किन्तु चाणक्य के [illegible] 'पापाम' के अत्यन्त समीप है। यह ध्यान में रखने की बात है कि यहाँ चाणक्य का कथन प्रजातंत्र के आधुनिक सिद्धान्तों का पालन करता प्रतीत होता है। 'स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है परन्तु व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े ठीक इसी

---

(१) कादम्बरी 'बाण'
(२) चन्द्र १, १६२ स्कंद २/७६
(४) हिन्दू पोलिटी जायसवाल पृ १२४

बात को इस आधुनिक युग में प्रकार कहा गया है—'सब व्यक्ति जन्म से स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं किन्तु सर्वत्र बन्धन में रहते हैं।' 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक स्वतन्त्रता की चर्चा आधुनिक प्रजातन्त्र में 'अधिकार और कर्त्तव्य' के सिद्धांतों के पूर्णतः अनुकूल है।[२] नाटक के घटना क्रम को देखते हुए तो चाणक्य की यह उक्ति उचित प्रतीत होती है किन्तु यह न तो एक विशाल साम्राज्य की नीति के पोषक चाणक्य के लिए और न भारत के एकच्छत्र सम्राट चंद्रगुप्त के लिए ही शोभनीय है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यहां भी अभिषेक की 'प्रतिज्ञा' का स्वरूप नहीं मिलता।

राजकीय वैभव के प्रदर्शन एवं अभिषेक के लिए 'छत्र चंवर'[३] इत्यादि का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त अग्निपुराण[४] जातकग्रन्थ[५] अर्थशास्त्र[६] एवं हर्षचरित[७] में भी हुआ है। गुप्तकाल में आगे चलकर हर्षकाल में और उसके भी बाद राजपूत काल में छत्र और चंवर राजकीय चिन्ह माने जाते रहे हैं। 'हर्षचरित' से तो यह भी ज्ञात होता है कि आधीनता स्वीकार कर लेने वाले राजा हर्ष की 'चामर सेवा' स्वीकार करने में अपना गौरव समझते थे। 'स्कंदगुप्त' नाटक में भी स्कंदगुप्त के अधीनस्थ मालवाधिपति बंधुवर्मा इत्यादि सम्राट के अभिषेक के अवसर पर चामर ग्राहि सेवा करते हैं।

राजा को 'दण्डधर' भी कहा गया है। क्योंकि चारों वर्णों और आश्रम के लोगों का शासन दण्ड से ही करता है।[८] पर राज्याभिषेक के समय यह दण्ड धर्म-पालित जैसे साधारण पदाधिकारी द्वारा राजा को दिलाया जाता होगा यह बात अधिक विश्वसनीय नहीं। राज्याभिषेक के उपरांत बंदियों को मुक्त करने की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन है।[९] प्रसाद का स्कंदगुप्त राजदण्ड धारण करने के पश्चात् तुरंत ही न्यायाधिकरण में दण्डशक्ति का उपयोग करता है। वस्तुतः बंदियों का मुक्त करना इसी का सूचक भी है। यह राजा के दण्ड धारण करने की प्रथम हर्षपूर्ण सूचना है। नाटक में देवकी स्कंद से अनुरोध करती है वत्स आज तुम्हारे अभिषेक में एक बूंद

---

(१) 'मैन इज बोर्न फ्री बट इज एवरीव्हेयर इन चेन्स
(२) सिविल लिबर्टी ऐंड इण्डिव्युअल राइट्स ।
(३) प्रसाद १/१२९ स्कंद २/१७
(४) गीत वाद्यादि निर्घोषैश्चामर व्यजनादिभिः अग्निपुराण २१/२८/२७
(५) पदकुसल जातक २/१३५ पृ ८० निदान कथा 'जातक कौमुदी' १ पृ ५६
(६) देवी चाहृ(?)चामरं छत्र शृंगार व्यजन पादुकासन यान वाहनोपग्राहिम अर्थशास्त्र १/१२/९
(७) सेवाचामरग्राहिणीभिरिव्(?) हर्षचरित उच्छ्वास २ पृ ६
(८) चतुर्वर्णाश्रमो लोको राजा दण्डेन पालितः अर्थशास्त्र १/४/१६
(९) 'अपूर्वदेशाधिगमे च युवराजाभिषेचने च पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते ।' पुण्यशीला समयानुबद्धा वा दोष निष्क्रयं दद्युः अर्थशास्त्र २/३६/५७/४८

रक्त भी न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन सभा के संकेत पर चला करे।[1] स्कंद सभी बंदियों को क्षमा कर देता है।

'परिषद्' के प्रकरण में इस बात पर विचार किया गया है कि भारतवर्ष में एकतंत्र शासन भी प्रजातन्त्रात्मक था। सम्राट के निधन के उपरांत सिंहासन उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि सिंहासन एक क्षण के लिए भी खाली न रहता हो। अयोग्य की स्थिति में कोई भी सिंहासनासीन नहीं हो सकता था। इस बीच शासन कार्य आमात्यों की सम्मति से परिषद् ही चलाया करती थी। गुप्तकाल में उत्तराधिकार के नियमों में कुछ परिवर्तन आ गया था। उत्तराधिकार की योग्यता ही उसके अधिकार का निर्णय करती थी। वहां भी नवीन सम्राट के सिंहासनासीन होने तक राज्य के समस्त प्रबन्ध एवं परिषद् ही शासन का कार्य भार चलाते थे। अतः 'स्कन्दगुप्त' में सिंहासन शून्य नहीं रह सकता[1] पाराशर का यह कथन निश्चय ही प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं है।

---

(1) चन्द्र ३/१६२

परिषद्

राज्यश्री[1] के अतिरिक्त प्रसाद के अन्य सभी नाटकों में परिषद् की चर्चा हुई है और उसे मंत्रिपरिषद्[1] राज्यपरिषद्[2], अथवा परिषद्[3] के नाम से अभिहित किया गया है। अजातशत्रु में ऐसी परिषद् का उल्लेख है जिसका संगठन पहले से ही हो गया है।[4] अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस परिषद् में कितने सदस्य थे और किस प्रकार इसका निर्णय हुआ था। 'चन्द्रगुप्त' में परिषद् का चुनाव जनतान्त्रिक ढंग से हुआ है। नन्द की मृत्यु के उपरान्त नागरिक जन चन्द्रगुप्त चाणक्य राक्षस वररुचि और शकटार की सम्मिलित परिषद् की घोषणा करते हैं।[5] इससे यह प्रतीत होता है कि यह परिषद् केवल अमात्यों की परिषद् नहीं है। राक्षस और वररुचि तो नन्द के अमात्य थे ही शकटार भी पहले अमात्य रह चुका था किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य का नन्द के शासन कार्य में कोई स्थान नहीं था। अतः यह दोनों साधारण नागरिक मात्र थे। इस परिषद् में सदस्यों की संख्या केवल पांच है। 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुव स्वामिनी को लेकर उठे हुए रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के विवाद का निर्णय करने के लिए परिषद् का आह्वान किया जाता है।[6] इस परिषद् के सदस्यों की संख्या के बारे में प्रसाद मौन हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि यह परिषद् गुप्तकुल के विधान के अनुकूल थी और इसके सदस्यों में कुलवृद्ध और सामान्य भी थे। कुमार गुप्त की परिषद्[7] के विस्तृत स्वरूप की जानकारी प्रसाद ने नहीं दी है। इस परिषद् की बैठक किसी महत्वपूर्ण समस्या के सुलझाने के लिए नहीं हो रही है। कुछ व्यंग्य विनोद के पश्चात् कुमारामात्य पृथ्वीसेन युद्ध सम्बन्धी सूचना मात्र सम्राट को देते हैं। इस परिषद् में सम्राट के अतिरिक्त केवल चार व्यक्ति हैं जिनमें धातुसेन विदेशी है और मुद्गल विदूषक। अतः इनको परिषद् का सदस्य न मानना ही ठीक है। केवल साम्राज्य के महाबलाधिकृत भटार्क एवं कुमारामात्य सन्धिविग्रहक पृथ्वीसेन ही इसके सदस्य हैं[8]

नाटकों में परिषद्

---

(१) अजात १/३१ चन्द्र ३/१८२ (२) अजात १/६२
(३) वही १/३२, चन्द्र ४/२० स्कंद १/१५ ध्रुव ३/१६
(४) अजात १/३१ (५) चन्द्र ३/१८१
(६) ध्रुव ३/५६ (७) स्कंद १/१५
(८) स्कंद १/१५ १६

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्रसाद के नाटकों में परिषद् के दो स्वरूप मिलते हैं।

(१) केवल मन्त्रियों एवं प्रधान राज्यकर्मचारियों की परिषद्।

(२) मन्त्रियों के अतिरिक्त नागरिकों और कुलवृद्धों के प्रतिनिधियों की परिषद्।

अजातशत्रु और कुमारगुप्त की परिषद् कुछ कुछ प्रथम प्रकार की है। इस प्रकार की परिषद् का कार्य राजा को मंत्रणा देना है। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की परिषद् दूसरे कोटि की है अर्थात् जन परिषदें हैं। प्रसाद के अनुसार इनका कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। राज्य संबंधित के अवसरों पर शासन चलाने से लेकर राज परिवर्तन तक के सभी निर्णयों का अधिकार इसी परिषद को दिया गया है।

इतिहास में परिषद

बौद्ध ग्रन्थों में राज्य के प्रधान पुरुषों को राजकत्तारो कहकर अभिहित किया गया है,[१] इन्हीं राजकर्त्ताओं को ब्राह्मण ग्रन्थों में 'रत्निन्' कहा गया है जिन को अपने अनुकूल करना राजा के लिए आवश्यक कहा गया है।[२] परिषद का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं है। वहाँ केवल 'सभा'[३] और 'समिति' है।[४] इन दोनों का शासन कार्य में इतना महत्व था कि 'प्रजापति' भी इनके बिना अपना कार्य नहीं कर सकते थे।[५] पाणिनि ने 'परिषद' को राजा कहकर राजा और परिषद के चिरसमन्वय की ओर संकेत किया है।[६] 'महाउम्मग जातक' में 'पञ्चामात्य परिषद' का भी उल्लेख मिलता है जो राजा के साथ राजकार्य में सहयोग देती है।[७] कौटिल्य के अनुसार (१) मन्त्रधर (राजा के अन्तरंग मन्त्री) (२) अन्य विभागों के मन्त्री (३) विभागाधीन मन्त्री और (४) अन्य अमात्य। ये परिषद के सदस्य होते थे।[८] अर्थशास्त्र में एक बार तो 'इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रं। तच्चक्षुः तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः'[९] कहकर मन्त्रिपरिषद् की विशालता की ओर संकेत किया गया है। दूसरी बार 'यथासामर्थ्य मिति कौटिल्यः'[१०] कहकर उसकी सीमा भी बाँध दी गई है। महाभारत में मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या ३७ बताई गई है।[११] किन्तु मनु में यह संख्या २०[१२] और बृहस्पति ने १६ मानी है।[१३] शुक्र के अनुसार परिषद में तीन प्रकार के सभासद होते हैं।

---

(१) महापरिनिब्बान सुत्तन्त १२ दीघनिकाय २, २३१
(२) शतपथ ब्राह्मण ५/३/१/१ (३) वही ३/३/५/१४ अथर्ववेद ७/१२
(४) अथर्ववेद ७/१२ (५) छान्दोग्य उपनिषद ८/१४/१
(६) इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (अग्रवाल) ("परिषद") (७) जातक ६/२६४
(८) हिन्दू पोलिटी जायसवाल २/११० (९) अर्थशास्त्र कौटिल्य १।१५।६०
(१०) वही "कौटिल्य" १/१५/६१ (११) हिन्दू पोलिटी जायसवाल २/११०
(१२) अर्थशास्त्र कौटिल्य १/१५/११ (१३) वही १/१५/११

१—सभ्य। २—अधिकारी एवं। ३—प्रकृति।[१]

जायसवाल गोविन्दराज के आधार पर कौटिलीय मंत्रिपरिषद या मंत्री परिषद के सभापति को 'सभ्य' तथा अधिकरण अथवा विभागों के प्रधानों को 'अधिकारी' अथवा मंत्री मानते हैं। 'प्रकृति' का अर्थ वे प्रजा के प्रतिनिधि अर्थात पौर और जनपद के प्रधान लेते हैं।[२] रामायण में प्रजा के प्रतिनिधि तथा मन्त्री सम्मिलित रूप से प्रायः सभा में बैठक 'आत्ययिक' (विशेष महत्वपूर्ण) प्रश्नों पर विचार करते हैं 'मंत्रिपरिषद'[३] अथवा अमात्य परिषद[४] का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। सालटोर का विचार है कि गुप्तकाल में परिषद' का व्यवहार मंत्रियों की समिति के लिए होता था और सभा' का प्रयोग मंत्रियों तथा सामन्तों इत्यादि की मिश्रित सम्मिलित समिति के अर्थ में किया जाता था।[५] वैदिक काल में इसके ठीक विपरीत सभा' छोटी और समिति बड़ी है (हिन्दू सभ्यता' मुकर्जी पृ० १०८)। इस अर्थ के अनुसार स्कंदगुप्त की परिषद को मंत्रि परिषद और ध्रुवस्वामिनी की परिषद को सभा कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में अनायास दो प्रश्न उठते हैं एक तो यह कि प्रसाद ने अजात शत्रु' में 'महामात्य परिषद के सभ्य'[६] शब्द का प्रयोग क्या ठीक उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ में ऊपर शुक्र और कौटिल्य ने किया है। दूसरे यह कि परिषद में मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य नागरिकों का क्या स्थान होता था। अजातशत्रु कहता है 'परिषद' के सभ्यों को बुला लाओ।[७] दौवारिक सूचना देता है कि महामात्य परिषद के सभ्यगण आये हैं।[८] इन दोनों स्थलों पर सभ्य शब्द का प्रयोग 'सदस्य के अर्थ में हुआ है अथवा और कौटिल्य के अनुसार 'सभापति' के अर्थ में नहीं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में लिखा है कि जब चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को युवराज पद के लिए चुना तो सभ्य उच्छ्वसित हो गए।[९] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में 'सभ्य' शब्द का अर्थ 'परिषद के सदस्य' था। सम्भव है इसी अर्थ को ध्यान में रखकर 'अजातशत्रु' में 'सभ्य' का प्रयोग किया गया हो।

---

(१) शुक्रनीति २/३ (२) हिन्दू पौलिटी जायसवाल' २/१३१
(३) मालविका (४) विक्रमोर्वशीयम् ४/११
(५) लाइफ इन दि गुप्ता एज पृ० २४३
(६) अजात० २/१४ (७) अजात० २/६३ (८) वही २/६४
(९) सलेक्ट इंस्क्रिप्शंस' सरकार पृ० २५३ c

परिषद में मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य नागरिक सदस्यों का प्रश्न केवल 'चन्द्रगुप्त' एवं ध्रुवस्वामिनी की परिषद के सम्बन्ध में ही उठता है। हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि परिषद में मंत्री के अतिरिक्त प्रकृति (शुक्र के अनुसार) और 'मन्त्र परिषद्' (कौटिल्य के अनुसार) भी होते थे। प्रसाद ने कहीं भी परिषद के सदस्यों की संख्या नहीं बतलाई है। केवल 'चन्द्रगुप्त' में स्पष्टतः पाँच सदस्यों की परिषद की योजना की गई है। पाँच की निश्चित संख्या का अनुमोदन मनु, बृहस्पति, शुक्र और कौटिल्य कोई भी नहीं करता। किन्तु यह परिषद नन्द की हत्या के उपरान्त सहसा चुनी गई है और उस समय तक की सभा में एकत्र सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इसमें आ गए हैं। अतः स्थिति की यह विवशता देखते हुए 'यथासामर्थ्यमिति' कौटिल्य के आधार पर इसका भी अनुमोदन किया जा सकता है।

परिषद् का कार्य

प्रसाद के नाटकों से ज्ञात होता है कि 'मंत्रि परिषद्' अथवा 'परिषद्' राजा या राजकुमार को शासन कार्य चलाने में सहायता करती थी।[1] यदि युद्ध इत्यादि में जाने पर राजा अथवा राजकुमार कोई भी उपस्थित न हो तो परिषद् स्वयं राज्यभार अपने सिर पर ले लेती थी।[2] राष्ट्रीय संकट अथवा ऐसे ही बड़े विकट समय की स्थितियों पर नीति निर्धारित करने का अन्तिम अधिकार परिषद् को ही था।[3] प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में पूर्व परिषद् की सम्मति आवश्यक होती थी। राजा ऐसे अवसरों पर स्वयं परिषद का आह्वान करता था।[4] परिषद् की बिना आज्ञा के औपराज्याभिषेक भी सम्भव न था।[5] राजा की मृत्यु होते ही परिषद की आयोजना आवश्यक होती थी और वहाँ सब सम्मति से नवीन राजा को चुनकर राज सिंहासन पर बैठने का अधिकार देती थी।[6] राजा एक मन्त्री की सम्मति को टाल ही सकता है[7] किन्तु परिषद की आज्ञा के बिना वह एक भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता था। 'स्कन्दगुप्त' से यह भी ज्ञात होता है कि कभी-कभी परिषद स्वेच्छा से अपना समस्त अधिकार राजा को अथवा किसी अन्य व्यक्ति को दे सकती थी।[8] परिषद का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकना था। चाणक्य के एक वाक्य से ही इसकी पुष्टि हो जाती है 'स्वेच्छाचारी शासन का परिणाम तुमने स्वयं देख लिया है अब मंत्रि परिषद की सम्मति से मगध और आर्यावर्त के कल्याण में लगो।'[9] राज्या

---

(१) चन्द्र० १/११ (२) वही २/११
(३) वही २/११ स्कन्द० १/१५ (४) वही १/१२
(५) वही १/१२ (६) स्कं० ११/८१
(७) ध्रु० १/५३ (८) वही २/११
(९) चन्द्र० ४/११२

विकार सम्बन्धी प्रश्नों में परिषद का निर्णय ही सर्वमान्य प्रतीत होता है और मृच्छ काल में भी परिषद की उक्त शक्ति का दिग्दर्शन कराने का प्रयास प्रसाद ने किया है। विधान के अनुकूल परिषद ही इसकी अन्तिम निर्णायिका होती थी। परिषद का विचार राजा अमात्य अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति को मानना पड़ता था यहाँ तक कि शासक पर लगाये गए आरोपों को सुनने का अधिकार भी परिषद को ही था और दोषी समझने पर परिषद सम्राट् को राजसिंहासन से हटा भी सकती थी।[1] प्राचीन भारत में परिषद का जो औचित्य स्वरूप मिलता है उसके आधार पर प्रसाद द्वारा चित्रित स्वरूप की तुलना आवश्यक है। जायसवाल कहते हैं कि हिन्दू विधान के अनुसार राजा बिना मंत्रि परिषद की आज्ञा तथा सहयोग के कोई भी कार्य करने में असमर्थ है।[2] प्राचीन स्मृतिकारों के विचार इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं। मनु राजा को स्वेच्छा से शासन करने की आज्ञा नहीं देते। उनकी आज्ञा है कि वह सामान्य विषयों के सम्बन्ध में नित्य परिषद से मंत्रणा करे।[3] याज्ञवल्क्य हैं सार्धं चिंतयेद्राज्यं के द्वारा परिषद की सम्मति से ही राज्य कार्य करने का विधान करते हैं।[4] कात्यायन के अनुसार 'राजा स्वेच्छा से एवं न्यायकर्ता मंत्री पुरोहित इत्यादि से परामर्श किये बिना न्याय भी नहीं कर सकता।[5] कौटिल्य महत्त्व पूर्ण कार्यों में (आत्यायिक कार्य) मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद के बहुमत को मानने की आज्ञा देते हैं।[6] शुक्रनीति की आज्ञा है कि सब विद्याओं में निपुण एवं मंत्रविद होते हुए भी राजा मंत्रियों से परामर्श किए बिना एक भी काम न करे।[7]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परिषद का प्रधान कार्य शासक की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना होता था। शुक्र ने स्पष्ट ही कह दिया

---

(१) ध्रुवस्वामिनी ३/१०-११
(२) हिन्दू पौलिटी २/११५
(३) तै सार्धं चिंतयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहं।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च। मनुस्मृति ७/५६
(४) याज्ञवल्क्य १/३११
(५) सप्राड्विवाक सामात्य सब्राह्मण पुरोहित
ससभ्यः प्रपश्यो राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मत कात्यायन हिंदू पोलिटी में २/११०
(६) आत्यायिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषद् च आहूय ब्रूयात्
तत्र यद्भूयिष्ठा कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात् अर्थशास्त्र 1/15
(७) सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोर्थं चिंतयेत्क्वचित्। c शुक्रनीति २/२

कि राजा के उच्छृङ्खल होने पर राज्य का विनाश हो जाता है।[1] 'चंद्रगुप्त' में नन्दवंश उसकी स्वेच्छाचारिता के कारण हुआ है और इसीलिए चाणक्य चंद्रगुप्त को मंत्रि परिषद की सम्मति से ही प्रजा का कल्याण करने का आदेश देता है। परिषद का दूसरा कार्य है आत्यायिक कार्यों में राजा को सम्मति देना। 'चन्द्रगुप्त' की परिषद मालवी प्रान्त में विप्लव, फिलिप्स से युद्ध और सिन्धुपार पर सैनिक नियंत्रण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों पर परामर्श देती है। ध्रुवस्वामिनी में भी परिषद राजा के विरोध में अपना निर्णय देती है। परिषद का तीसरा कार्य राजा की अनुपस्थिति या मृत्यु में शासन का कार्य भार संभालना होता था। प्रकाशादित्य जब प्रसेनजित से युद्ध करने के लिए चला जाता है तब इसकी देखरेख में परिषद ही सारा शासन चलाती है। रघुवंश[2], शाकुन्तलम्[3] तथा विक्रमोर्वशीय[4] से ज्ञात होता है कि राजा के बाहर चले जाने पर मंत्री ही शासन का कार्य चलाया करते थे। नन्द की मृत्यु के उपरान्त तुरन्त ही परिषद का आह्वान किया जाता है और तत्काल ही परिषद चन्द्रगुप्त को सम्राट घोषित करती है। इससे परिषद के एक और कार्य की ओर ध्यान जाता है और वह है राजा का चुनाव। रघुवंश के अनुसार राजा की मृत्यु होने पर मंत्रियों का यह कर्तव्य होता था कि युवराज के शासन ग्रहण करने तक राज्य में उत्पात अथवा विद्रोह न हो।[5] जातकों में भी इसी प्रकार की एक घटना का विवरण मिलता है।[6] अर्थशास्त्र के 'योगवृत्त प्रकरण' में लिखा है कि राजा की मृत्यु होने पर अमात्य तब महामात्रों (और जानपद के प्रतिनिधियों) को बुलाकर उनसे कहता था कि अब इस राजा-हीन साम्राज्य के आप ही शासक हैं[7] अतः आप बतलाइये कि हमें क्या करना चाहिए। तब उनके आदेश से राजा का चुनाव होता है। परिषद द्वारा राजा के चुनाव की उपर्युक्त प्रथा केवल मौर्य और गुप्त कालों में ही नहीं थी सातवीं शती में राजपद के लिए हर्ष का चुनाव भी 'मंत्रिपरिषद' में ही हुआ था। युवानच्वांग ने लिखा है 'प्रभाकरवर्धन एवं राज्यवर्धन की मृत्यु के उपरान्त राज्य के शासकविहीन होने पर परमयशस्वी महामात्य प्रधानामात्य भण्डि ने मंत्रि परिषद से कहा 'आज राष्ट्र के भाग्य का निर्णय करना है। कुमार राज्यवर्धन की मृत्यु हो चुकी है और उनका भाई हर्षवर्धन मानवोचित गुणों

---

(१) प्रभु स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्न प्रकृतिरेव च — शुक्रनीति २,४
(२) रघुवंश (३) शाकुन्तलम्०
(४) विक्रमो० (५) रघुवंश
(६) पदीस चित्त जातक २/१/१५५
(७) 'महामात्रापसिराज्य प्रयात अमात्यो यथं भवन्त एवं स्वामिन इत्यर्थं वा क्रियानिर्दिष्ट'

से पूर्ण और सहृदय होने के साथ कर्त्तव्यपरायण और आज्ञाकारी भी है अतः प्रजा उसका विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि राज्याधिकार हर्षवर्धन को सौंपा जाय। इस सम्बन्ध में प्रत्येक अपना स्वतन्त्र विचार उपस्थित करें। इस पर सभी मंत्रियों ने उसके गुणों को स्वीकार करते हुए इस प्रस्ताव का समर्थन किया। तब महामात्य और अन्य अधिकारियों ने राजकुमार से निवेदन किया कि प्रजा की इस अभिलाषा की पूर्ति कर राज्यशासन कर यशस्वी बनें।[1] प्रसाद के नाटकों से ज्ञात होता है कि युवराज पद की घोषणा के लिए और यौवराज्याभिषेक एवं राज्याभिषेक के पूर्व भी परिषद् की सम्मति लेने के लिए उसका आह्वान किया जाता था। विक्रमोर्वशीय नाटक में भी पुरु अमात्य परिषद् को ही राजकुमार आयु के राज्याभिषेक की सूचना देते हैं।[2]

जायसवाल के अनुसार 'पौर जानपद' सम्मिलित रूप से युवराज की नियुक्ति करते थे।[3] वे उत्तराधिकार के सम्बन्ध में राजा की घोषणा का विरोध कर सकते थे अयोग्य उत्तराधिकारी को युवराज पद से वंचित कर सकते थे और अभिषेक में प्रमुख भाग लेते थे।[4] वस्तुतः इन अवसरों पर पौर जानपद का प्रतिनिधित्व वृद्ध ही किया करते थे।[5] प्रसाद ने पौर जानपद का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनका उल्लेख न करते हुए भी उनके समस्त अधिकार परिषद् को दे दिए हैं। जायसवाल के ही उल्लेखों से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल मौर्यकाल तथा गुप्तकाल सभी में पौर जानपद की शक्ति पर्याप्त थी। पौर वर्ग के महत्व का उल्लेख स्कंदगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख में भी हुआ है।[6] इससे यह प्रतीत होता है कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने के कारण परिषद के पीछे पौर जानपद की शक्ति रहती थी।[7] फलतः शासक तथा परिषद् के बीच किसी प्रकार का संघर्ष होने पर परिषद् की विजय निश्चित होती थी क्योंकि यह वस्तुतः पौर जानपद की विजय होती थी। ऊपर पौर वृद्धों की चर्चा हम कर आए हैं। ध्रुवस्वामिनी में महामात्य शिखरस्वामी उत्तराधिकार सम्बन्धी निर्णय के लिए 'कुछ वृद्धों एवं सामन्तों को बुलाता है।

---

(१) बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड बील १/२१०।११ और ह्वानच्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया वार्टर्स १/३४३

(२) विक्रमोर्वशीयम् ५/१७६

(३) हिन्दू पोलिटी जायसवाल ९८०

(४) वही जायसवाल २/८२

(५) पौरेषु अपुरस्सरे वही जायसवाल।

(६) यो जामयामास च पौरवर्गान् श्लोक २२ सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स में २५ पृ० २९९ ३००

(७) जानपद इफिशिएन्सी सपोर्टेड दि मिनिस्टर्स हिन्दू पोलिटी पृ० २१४५

परिषद् के सम्बन्धी में कुछ 'गृहों' का उल्लेख तुरन्त ही 'पौरेषु अपुरस्सरै' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।[१] पौरजानपद की इस शक्ति का परिचय साहित्य में भी मिलता है। 'मृच्छकटिक' में तत्कालीन शासक 'पालक' को उनकी आज्ञा से सिंहासनच्युत कर दिया जाता है।[२] महावंश[३] तथा 'दशकुमार चरित'[४] से भी इस अधिकार की पुष्टि होती है। संभवतः पौर जानपद एवं परिषद् की इसी शक्ति के कारण सम्राट तथा अन्य व्यक्ति उनके सदस्यों के लिए अत्यन्त विनम्र शब्दों का व्यवहार करते थे। अमात्यगण् में उनके लिए महामात्यपरिषद् के सम्बोधन का प्रयोग हुआ है और अपनी अनुभूतियों में अमात्य और देवगण दोनों ही उनके प्रति अन्य विनम्र वाणी बोलते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भी उनके लिए 'भवत् सर्वनाम एवं भवद्भिः संज्ञी' जैसे प्रयोग इस बात की पुष्टि करते हैं।[५]

प्रसाद ने 'परिषद् गृह'[६] का भी उल्लेख किया है। जातकों में तथा बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार के परिषद् गृहों की चर्चा हुई है।[७] कौटिल्य ने मंत्रणा के लिए इस प्रकार के परिषद् गृह का विधान किया है जो एकान्त के साथ ही चारों ओर से इस प्रकार आवृत होना चाहिए ताकि बातचीत का एक शब्द भी बाहर न सुनाई दे।[८]

मालवों की परिषद्

'चन्द्रगुप्त' नाटक में एक और महत्त्वपूर्ण परिषद् की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है वह है मालवों की परिषद्। मालव और क्षुद्रकों के गणराज्यों की परिषद् के स्वरूप और उनकी विचार विमर्श करने की पद्धति पर भी यहाँ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उक्त परिषद् सिकन्दर के आक्रमण पर विचार करने के लिए बुलाई गई है। सर्वप्रथम परिषद् का एक सदस्य नागदत्त परिषद् के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित करता है कि यवन युद्ध के लिए जो सन्धि मालव क्षुद्रकों में हुई है उसे सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि दोनों गणों की सम्मिलित सेना बनाई जाय और उसके सेनापति क्षुद्रकों के मनोनीत मागध चन्द्रगुप्त

---

(१) महाभारत (उद्योगपर्व) अ १४१/२२ २३
(२) मृच्छकटिक (दशक)
(३) महावंश ४/५६
(४) दशकुमार अध्याय ३
(५) हिन्दू पोलिटी २/६० ६२
(६) चन्द्र ४/२०० २०१
(७) हिन्दू सभ्यता (राधाकुमुद मुकर्जी) पृ २६१
(८) अर्थशास्त्र १/१५/१६

ही हों । उन्हीं की आज्ञा से सैन्य संचालन हो' ।[1] परिषद् का अन्य सदस्य नागदत्त इस विज्ञप्ति' का विरोध करता है 'मगध एक साम्राज्य है लिच्छवि और वृजि गणतन्त्र को कुचलने वाले मगध का निवासी हमारी सेना का संचालन करे, यह अन्याय है । मैं इसका विरोध करता हूँ ।'[2] इसके उपरान्त परिषद् द्वारा अधिकार प्राप्त बलाधिकृत सिंहरण की प्रार्थना पर गण-मुख्य 'उत्तरापथ के विशिष्ट राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य के गम्भीर राजनीतिक विचार सुनने' के लिए उन्हें व्यास पीठ पर आने का आदेश देता है ।[3] चाणक्य नाना तर्कों के द्वारा देवबल की 'विज्ञप्ति' को अनुमोदित करता है ।[4] नागदत्त फिर भी इसका विरोध करता है किन्तु अन्त में चाणक्य के तर्क को स्वीकार कर लेता है ।[5] अन्त में गणमुख्य घोषणा करता है अस्तु महाबलाधिकृत पद के लिए चन्द्रगुप्त का ही वरण करने की आज्ञा परिषद् देती है'[6] इस प्रधान कार्य के अतिरिक्त एक और भी अवान्तर कार्य परिषद् की स्वीकृति के लिए उपस्थित किया गया है । अस्पताल और भैषज्य सेवा करने वाली स्त्रियों ने मालविका को अपना प्रधान बनाने की अनुमति मांगी और परिषद् ने इसकी अनुमति देदी । इतिहास में क्षुद्रक मालवों के गण-राज्यों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है । पाणिनि ने गणपाठ में क्षुद्रक और मालवों की संयुक्त सेना के लिए क्षुद्रक मालवी का प्रयोग किया है ।[7] ग्रीक इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि मालवों (मल्लोई) और क्षुद्रकों (ओक्सीड्रकाए) के गणराज्यों (रिपब्लिक ट्राइब्स) ने मिलकर सिकन्दर का सामना किया । किन्तु इन उल्लेखों से यह ज्ञात नहीं होता कि उक्त गणतन्त्रों की शासन प्रणाली क्या थी । जायसवाल का अनुमान है कि बौद्ध संघों की पद्धति में राजनीतिक सभा पद्धति का अनुकरण किया गया था । अतः जिस प्रकार बौद्ध संघों में विचार विनिमय किया जाता था उसी प्रकार इन राज्यों में भी किया जाता होगा ।[8]

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अधिवेशन संथागार या उद्यान में होते थे । अधिवेशन में वे सभी सदस्य उपस्थित रहते थे जिन्हें उपस्थित रहने का अधिकार हो । निश्चित आसनों का निर्धारित एवं सूचित करने के लिये एक 'आसनप्रज्ञापक'[9] नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था । अधिवेशन के समय उपस्थिति की कम

---

(१) चन्द्र० २/१३८ (२) वही २/१३८
(३) वही २/१३८ (४) वही २/१३९
(५) वही २/१३९ (६) वही २/१४०
(७) पाणिनि ४/२/४५
(८) हिन्दू पोलिटी (जायसवाल) पृ० १०१ (९) चुल्लवग्ग १२/२७

से क्रम 'ऐसा का विचार था।[1] सघ का अध्यक्ष 'विनयधर' कहलाता था।[2] संघ की कार्य प्रणाली इस प्रकार होती थी।

(१) कर्त्तव्यता (किच्चयता) पहले इस बात पर विचार होता था कि संघ के कर्त्तव्य कर्मों का पालन किस प्रकार किया जाय।

(२) करणीयता फिर इस बात पर विचार होता था कि उसे और क्या-क्या काम करने चाहियें।

(३) अवलोकन कर्म तदनन्तर ऐसे विषयों पर निर्णय लिया जाता था जिनके लिए कार्य प्रारम्भ होने पर भी नियमानुसार आज्ञा लेना आवश्यक होता था। और

(४) ज्ञप्ति चतुर्थ अन्त में ज्ञप्ति अर्थात् प्रस्ताव पर विचार होता था। सघ में विचार विनिमय ज्ञप्ति कर्म से इस प्रकार प्रारम्भ होते थे "भंते" संघ मेरी बात सुने। 'ज्ञप्ति इस प्रकार है। इसके उपरांत ज्ञप्ति को प्रतिज्ञा के रूप में संघ के निर्णय के लिए रखा जाता। ज्ञप्ति के अनन्तर संघ से प्रश्न पूछा जाता था कि क्या वह ज्ञप्ति से सहमत है। "आयुष्मन्त भिक्षुओं में से सहमत हो वे मौन रहें और जो कोई उसके पक्ष में न हो वह भाषण करे (भाषेय)। इस प्रकार उस ज्ञप्ति की तीन बार पुनरावृत्ति की जाती और यदि तीनों बार संघ इसे मौन रहकर स्वीकार कर लेता तो ज्ञप्ति को संघ का आदेश मिल जाता था। किन्तु सदस्य ज्ञप्तियों को मौन या तूष्णीभाव से ही सदा ग्रहण न करते व प्रायः वादविवाद भी उठ खड़ा होता था। सदस्यों में भण्डन कलह और विवाद उठ खड़ा होता था।[3] अर्थहीन भाषण दिये जाते और एक भी बात का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता था।[4] ऐसी दशा में समझौते के कई उपाय थे।

(१) सम्मुख या समीप बैठके दोनों विरोधी पक्षों के नेता आपस में बैठकर जो निर्णय करते वह सब को मान्य हो जाता।

(२) किसी बड़े संघ से निर्णय की प्रार्थना की जाती।

(३) उब्बाहिका सभा (उद्वाहिका) —विवाद ग्रस्त विषय सारे संघ से हटाकर चुने हुए और योग्य सदस्यों की समिति (उब्बाहिका सभा) को अर्पित कर दिया जाता।

---

(१) महावग्ग १/३१/२ (२) महावग्ग ५/१३/१२

(३) हिन्दू सभ्यता मुकर्जी पृ० २०६

(४) चुल्लवग्ग ४/८/९

(४) बहुमत —इस पद्धति को 'येभ्युयसिकेन' (यद् भूयसिका क्रिया जो बहुत कहें-वैसी ही क्रिया करना) कहा जाता था। मागध संघ की सभा को कोसलराज विडूडभ के लिये नगर के द्वार खोलकर उसकी भाधीनता स्वीकार की जाय या नहीं इस प्रकार के जीवन मरण के प्रश्न भी बहुमत से तय करने पड़े थे। 'मत' के लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग होता था। मतदान शलाका ग्रहण से होता था। शलाकाएं लकड़ी की बनी होती थी। प्रत्येक सदस्य से कहा जाता था कि वह उस रंग की शलाका को चुने जो उसके मत के अनुरूप हो और यह निर्देश रहता था कि वह इसे किसी को दिखाये नहीं[1]।

अब इस संघ पद्धति से चन्द्रगुप्त में वर्णित मालवों की युद्ध परिषद् की पद्धति से तुलना करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(१) प्रसाद ने परिषद् में विचार विनिमय का प्रारम्भ देवबल द्वारा उपस्थित 'ज्ञप्ति' से तो किया है किन्तु प्रस्ताव के लिए 'ज्ञप्ति' शब्द न लिखकर 'विज्ञप्ति' लिख दिया है। ज्ञप्ति शब्द धर्म विषय का सूचक है अतः 'विज्ञप्ति' का प्रयोग अनुचित ही नहीं अर्थहीन भी है।

(२) ज्ञप्ति' के उपरान्त संघ से मौन रहकर स्वीकार करने अथवा भाषण देकर विरोध करने की प्रार्थना का यहां उल्लेख नहीं किया गया है।

(३) यहाँ परिषद् में चाणक्य भी उपस्थित है। वह परिषद् का सदस्य नहीं है। अतः सामान्यतः उसे वहाँ उपस्थित रहने का अधिकार नहीं हो सकता और परिषद् में भाषण देकर निर्णय को प्रभावित करने का तो निमन्त्रण ही नहीं।

(४) यहाँ भी एक सदस्य नागदत्त 'ज्ञप्ति' का विरोध कर करता है।

(५) अन्त में नागदत्त विरोध से हाथ खींच लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'ज्ञप्ति' को सर्वसम्मति से मान लिया गया है। गणमुख्य यहाँ घोषणा करता भी है किन्तु ज्ञप्ति एक ही बार कही गई है। नियमानुसार तीन बार नहीं।

(६) परिषद् का प्रधान गणमुख्य है विनयधर नहीं किन्तु नाटक में 'धर्म संघ' की बैठक नहीं गण परिषद् की बैठक है। अतः 'गणमुख्य' का प्रधान होना उचित ही है।

प्रसाद ने न तो 'पक्ष' का उल्लेख किया है और न 'शलाका ग्रहण' और 'छन्द' का। इससे सन्देह नहीं कि नाटक में उक्त दृश्य की योजना करते समय प्रसाद के सम्मुख संघ पद्धति का स्वरूप अवश्य रहा होगा किन्तु नाटक के लिए अनावश्यक मानकर अथवा दृश्य के विस्तार के डर से प्रसाद ने उक्त स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रसाद इस दृश्य के द्वारा पाठक या दर्शक के मन में तत्कालीन संस्कृति का जो स्वरूप चित्रित करना चाहते थे वह अपूर्ण ही रह गया है।

---

(१) चुल्लवग्ग महावग्ग देखिये हिन्दू पोलिटी जायसवाल १ १११

अन्य कर्मचारी

प्रधान मन्त्री

प्रसाद के सभी नाटकों में एक प्रधान मंत्री का उल्लेख हुआ है और उसे कहीं 'मन्त्री' कहीं महामन्त्री कहीं 'अमात्य' कहीं 'महामात्य' और कहीं 'कुमारामात्य' कहा गया है। अजातशत्रु में प्रसेनजित के मंत्री का उल्लेख हुआ है। उसे अमात्य भी कहा गया है।[1] चाणक्य को स्थान स्थान पर 'आर्यावर्त्त का महामन्त्री'[2] या 'महामात्य'[3] कहा गया है और वह अपना 'मन्त्रित्व'[4] राक्षस के लिए छोड़ देता है। राक्षस नन्द का 'अमात्य' है।[5] इतिहास के अनुसार शिखरस्वामी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मंत्री था।[6] उसे प्रसाद ने अपने नाटक में अमात्य[7] अथ अमात्य[8] कहकर अभिहित किया है। स्कन्दगुप्त नाटक में पृथ्वीसेन कुमारामात्य है।[9] 'राज्यश्री' में ग्रहवर्मा के 'मंत्री'[10] का उल्लेख है। उक्त सभी व्यक्ति अपने पद से चिपके हैं तथा राज्यकार्य की प्रमुख मंत्रणाओं में उनका हाथ है। राजकुमार विरुद्धक के सम्बन्ध में लिए गए प्रसेनजित के निर्णय का विरोध उनका मंत्री ही करता है। चाणक्य के लिए स्वयं नाटककार ने मन्त्री के साथ महामंत्री और महामात्य शब्दों का प्रयोग किया है और चाणक्य का प्रधानमंत्रित्व इतिहास सिद्ध भी है। नन्द का अमात्य राक्षस प्रधानमन्त्री है या नहीं इसमें सन्देह हो सकता है। नन्द उसे अपने अमात्यवर्ग में नियुक्त करता

---

(१) अजात० १।५१
(२) चन्द्र० ४।२४४
(३) चन्द्र० ४।२१५
(४) चन्द्र० ४।४३
(५) चन्द्र १।६७
(६) दि हिस्ट्री आफ नोर्थ ईस्टर्न इण्डिया (राधागोविन्द बसाक) पृ ५०५१
(७) ध्रुव० १।२४
(८) ध्रुव० १।२४
(९) स्कंद० १।११
(१०) राज्यश्री १।१२

है।[1] प्रस्तुत नाटक के मंत्री सेनापति और अमात्यों कहकर मंत्री से भिन्न कई अमात्यों की उपस्थिति की ओर भी संकेत किया गया है।[2] नन्द वररुचि को 'अमात्य' कहता है।[3] 'कथासरित्सागर' में राक्षस नामक किसी मंत्री का उल्लेख नहीं है और नन्द का प्रधानमंत्री वररुचि है।[4] वस्तुत चन्द्रगुप्त में राक्षस की अवतारणा का आधार 'मुद्राराक्षस नाटक है जहाँ वह नन्द का प्रधानमंत्री है।[5] 'चन्द्रगुप्त' में शकटार और वररुचि दोनों बन्दी हो चुके हैं और नन्द के जितने भी कार्य हैं उनका कर्ता वस्तुतः राक्षस ही है। अतः वररुचि के बन्द हो जाने के उपरान्त उसे ही नन्द का प्रधानमंत्री मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। स्कंदगुप्त में मंत्री का स्वतंत्र रूप से कहीं उल्लेख नहीं। परन्तु कुमारगुप्त की परिषद् में दो महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं कुमारामात्य पृथ्वीसेन और महाबलाधिकृत भटार्क। पृथ्वीसेन सन्धिविग्रह जैसे महत्वपूर्ण करता है। उसके ही कारण भटार्क को पुष्यमित्रों के युद्ध में सेनापति की पदवी नहीं मिली।[6] उसी ने भटार्क के महाबलाधिकृत बनाये जाने का भी विरोध किया था।[7] महाप्रतिहार भी उसी की आज्ञा से भटार्क पर आक्रमण नहीं करता और चरम प्रतिकार करने के लिए तैयार हो जाता है।[8] इन सबसे प्रतीत होता है कि कुमारामात्य पृथ्वीसेन के अधिकार प्रधानमंत्री से किसी प्रकार कम न रहे होंगे। राज्यश्री' में मंत्री एक ही है और उसके समकक्ष किसी अन्य पद का उल्लेख नहीं। अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटकों में ये सब नाम प्रधानमंत्री के लिए ही आए हैं। मनु प्रधानमंत्री या आमात्य को समस्त वर्गों का धारण करने वाला मानते हैं और राजा को आज्ञा देते हैं कि वह पूर्णतया उस पर निर्भर रहे इसलिए वे उसका विद्वान ब्राह्मण होना आवश्यक मानते हैं।[9]

कौटिल्य एवं शुक्र उसके लिए केवल मंत्री शब्द का प्रयोग करते हैं।[10] नाटकों में उसे अधिकतर 'अमात्य' (अमात्य) कहा गया है।[11] विम्बासवदत्ता में रावगुप्त अमात्य है।[12]मुद्राराक्षस म प्रधानमन्त्री के लिए अमात्य शब्द आता है।[13] यद्यपि

---

(१) चन्द्र० १।९७ (२) चन्द्र १।१८४
(३) चन्द्र० १।७१
(४) कथासरित्सागर (सोमदेव) १। तरंग ५ (५) मुद्राराक्षस
(६) स्कंद० १/२९ (७) वही १/२८
(८) वही १।७ (९) मनुस्मृति ७/५५
(१०) अर्थशास्त्र १/१/१/८/११ शुक्रनीति २/२१८,७१
(११) नाटक १/१५ ३/२/२७६
(१२) विम्बासवदत्ता (१३) मुद्राराक्षस प्र क के ७ पृ० १०२ के एच मुख

राक्षस के कथन में मंत्री शब्द भी अमात्य का ही अर्थ देता है।[1] यह ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त ग्रंथों में प्रसाद द्वारा प्रयुक्त महामंत्री या 'महामात्य' का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता। गुप्तकालीन अभिलेखों में महा विशेषण का प्रचुर प्रयोग मिलता है यथा महाप्रतिहार महादण्डनायक और महासन्धिविग्रहिक के समान ही प्रसाद ने महामात्य या महामंत्री शब्द भी बना लिये हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं फिर भी मौर्यकाल में और मौर्य काल में भी इस प्रकार के शब्द खटक ही जाते हैं। यह भी सम्भव है कि मनुस्मृति के मुख्यामात्य (७ ५८) के आधार पर इसका निर्माण हुआ हो। कालिदास ने मंत्री अमात्य और सचिव इनको समानार्थक माना है[2] गुप्तकाल में प्रधानमन्त्री के लिए सम्भवतः राजामात्य शब्द का प्रयोग किया जाता था।[3] यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऊपर हम अमात्यवर्ग की चर्चा कर आये हैं। कौटिल्य ने भी कई अमात्यों का उल्लेख किया है जिसमें सबसे प्रधान अमात्य को मंत्री कहा गया है।[4]

कुमारामात्य

गुप्तकाल में 'कुमारामात्य' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्रचलित जान पड़ता है। करमदण्डा के शिलालेख में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मंत्री शिखर स्वामी एवं कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीषेण को कुमारामात्य कहा गया है।[5] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।[6] १—संधि विग्रहिक २—कुमारामात्य और ३—महादण्डनायक। किन्तु इन सब उल्लेखों से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि वस्तुतः कुमारामात्य का पद क्या था। स्कन्दगुप्त के बिहार वाले शिलालेख में कुमारामात्य का उल्लेख हुआ है। इसमें यह सर्वोच्च अधिकारी नहीं है। उसके पूर्व उपरिक पदाधिकारी का नाम आता है।[7] कौमिगुप्त द्वितीय के दामोदरपुर लेख में भी कुमारामात्य से पूर्व उपरिक का उल्लेख हुआ है।[8] कुमारामात्य एक जिले का शासक जान पड़ता है।[9] उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कुमारामात्य की नियुक्ति उपरिक महाराज करता था। उपरिक की स्थिति प्रान्तीय राज्यपाल की सी होती थी और उसका

---

(१) मुद्राराक्षस ७/२०० (२) इण्डिया इन कालिदास उपाध्याय पृ० २२७
(३) स्टडी इन दि गुप्ता एज मास्टोर : पृ० २५२
(४) अर्थशास्त्र १/९/२ १/८/११
(५) दि हिस्ट्री आफ नोर्थ ईस्टर्न इण्डिया बसाक पृ० ५०/५२
(६) महादण्डनायक ध्रुवभूति पुत्रस्य सांधिविग्रहिक कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहित सुखायास्तु
सैलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स सरकार पृ० २५४
(७) सैलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स सरकार नं० २१
(८) कोर्पस इन्सक्रिप्शनम इन्डिकारम फ्लीट ३/४९ पृ० २१८
(९) एपीग्राफिया इंडिका भा० नं० ७ पृ० ११४

स्थान सम्राट के ठीक बाद में ही आता था।[१] इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी यदि उपरिक को प्रान्तीय राज्यपाल मान लिया जाय तो कुमारामात्य को जिले का शासक माना जा सकता है। डा० सहल ने अपने एक लेख में 'कुमारामात्य' को प्रान्तीय गवर्नर को सलाह देने वाला मंत्री माना है।[२] उपर्युक्त अर्थ के आधार पर यह अर्थ अधिक अनुपयुक्त नहीं है परन्तु उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करने में तीन आपत्तियां हैं —

१—कुमारामात्य पृथ्वीसेन यदि जिले का शासक था तो यह समझ में नहीं आता कि प्रसाद ने उसे सम्राट कुमारगुप्त की मंत्रिपरिषद में मंत्रणा का अधिकार किस आधार पर दिया है।

२—यह समझ में नहीं आता कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में संधिविग्रहक और महादण्डनायक जैसा महत्वपूर्ण एवं उच्च राजकीय पदाधिकारी हरिषेण कुमारामात्य जैसे साधारण पद से क्यों भूषित किया गया है।

३—प्रसाद के नाटक में केवल एक ही कुमारामात्य नहीं है। उसमें महासंधिविग्रहक पृथ्वीसेन के साथ साथ महाबलाधिकृत वीरसेन[३] एवं काश्मीर के शासक मातृगुप्त[४] भी कुमारामात्य हैं अतः यह प्रश्न उठता है कि वे विभिन्न पदाधिकारी जिले के शासक किस प्रकार माने जा सकते हैं।

डा० सहल के अर्थ से उपर्युक्त एक भी आपत्ति का निराकरण नहीं हो पाता। कुमारामात्य का डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इससे भिन्न एक नवीन अर्थ किया है। उनका कथन है कि अमात्य शब्द राजनीतिक क्षेत्र की एक विशेष पदवी का नाम न था। गुप्त अभिलेखों में प्रयुक्त कुमारामात्य पद के अर्थ पर विचार करने से इस अमात्य शब्द का अर्थ समझ में आ सकता है। अमात्य का एक अर्थ सखा या साथी भी था। परमभट्टारक सम्राट के साथ सखाभाव या बराबरी का पद किसी का भी नहीं हो सकता था। कुमार राज्यवर्द्धन के लिए कुमार गुप्त और माधवगुप्त सखा नियुक्त किए गए थे। ज्ञात होता है कि बहुत पहले से कुमारों के बराबर सम्मान के भावी उनके सखाओं की नियुक्ति होने लगी थी। पीछे चलकर वही गौरवपूर्ण पद कुमारामात्य के रूप में नियमित किया गया। कुमारामात्य पदवी मंत्रिपरिषद के मंत्री सेनापति आदि शासन के उच्चतम अधिकारियों को प्रदान की जाती थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ लेख में हरिषेण के नाम के पहले ठीक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। ....

---

(१) इपिग्राफिका इंडिका १५ नं० ७ पृ० ११४
(२) विवेचन—कन्हैयालाल सहल पृ० १६१
(३) स्कंद १/११
(४) स्कंद ४/११६

इनमें से महादण्डनायक सैनिक पद (मिलिट्री रैंक) का द्योतक था, सान्धिविग्रहिक शासन-तन्त्र के अधिकार पद (आफिस) का सूचक था और कुमारामात्य व्यक्तिगत सम्मानित पदवी (टाइटिल) का वाचक था।[1]

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि कुमारामात्य शासनाधिकार सूचक पद न होकर व्यक्तिगत सम्मान सूचित करने वाली पदवी है दूसरे यह कि गुप्तशासन में यह पदवी मन्त्रियों से लेकर विषयपति तक के लिए सुरक्षित थी।[2] प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त 'कुमारामात्य' शब्द का डा० अग्रवाल द्वारा निर्धारित अर्थ से पूर्ण साम्य है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद ने उक्त शब्द को गुप्तकालीन अर्थ देने में पूर्ण ऐतिहासिकता का आश्रय लिया है।

महादण्डनायक

'स्कन्दगुप्त' में महादण्डनायक का उल्लेख मात्र हुआ है।[3] उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि प्रसाद उसे किस कोटि का पद मानते हैं। इसी नाटक में अन्यत्र नंदीग्राम के दण्डनायक का भी उल्लेख

दण्डनायक

हुआ है।[4] यह काश्मीर के कुमारामात्य के अधीन सुरक्षा अधिकारी है। 'अजातशत्रु' में 'दण्डनायक' शब्द काशी के दण्डनायक' के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] जिसके कर्तव्यों का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है।

(१) वह काशी राज्य का प्रधान है।
(२) काशी का राजस्व भी वही ग्रहण करता है क्योंकि प्रजा के कर न देने पर अजातशत्रु काशी के दण्डनायक को ही दोषी ठहराता है।[6]
(३) काशी के न्याय एवं सुरक्षा अधिकार भी (पोलिस ऑथोरिटी) उसी के पास प्रतीत होते हैं क्योंकि वह श्यामा का प्रणयी होने के कारण उसकी इच्छा पर शैलेन्द्र जैसे डाकू को सूली से मुक्त कर देता है।[7]
(४) वह (दण्डनायक) इतना प्रभावशाली है कि कोशल का सेनापति भी उसकी प्रसन्नता की कामना करता है।[8]

महादण्डनायक का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हुआ है।[9] [illegible]

---

(१) हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन अग्रवाल पृ ११२
(२) कौन्सिलर्स के अधियुक्त कुमारामात्य देखिए दामोदरपुर ताम्रपत्र
(३) स्कंद० १/६६ (४) वही ४/११६
(५) अजात० ७/६२
(६) वही २/६६
(७) वही २/७८ (८) अजात० २/६९
(९) 'सैलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स (सरकार) पृ० २५४

गुप्त द्वितीय के देव बरगाँव लेख में भी महादण्डनायक का नाम आया है।[1] साल्टोर के मत से संभवतः महादण्डनायक सेना एवं न्यायविभाग दोनों का अधिकारी होता था।[2] दण्डनायक उसका अधीनस्थ अधिकारी होता था। उक्त अर्थ और प्रसाद के अर्थ में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। काशी के दण्डनायक के पास सेना और न्याय का अधिकार तो है ही इसके अतिरिक्त उसके पास सुरक्षा और राजस्व सम्बन्धी अधिकार भी हैं साथ ही वह एक राज्य का प्रधान भी है। अतः उसकी शक्ति को देखते हुए उसे महादण्ड-नायक मिलना समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ दण्डनायक शब्द के प्रयोग का आधार कण्वेर जातक होने से प्रसाद का ध्यान अर्थ भिन्नता की ओर नहीं जा सका है।[3]

नन्दिग्राम के दण्डनायक को सुरक्षाधिकार सौंपकर प्रसाद पुनः मूल अर्थ से भटक गए हैं। काशी और नंदीग्राम दोनों के दण्डनायकों की पदमर्यादा भी भिन्न भिन्न है। काशी एक राज्य है और नंदिग्राम काश्मीर राज्य का सम्भवतः एक ग्राम है। काशी के दण्डनायक से सामन्त तक डरते हैं और नंदीग्राम के दण्डनायक का साधारण आरक्षक सैनिक से अधिक महत्त्व नहीं। उसका काम चोर का पता लगाना अन्यथा दण्ड भोगना है।

दौवारिक

प्रसाद के नाटकों मे 'दौवारिक' का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। प्रसेनजित की राजसभा मे दौवारिक मगध से जीवक के आने की सूचना देता है और आज्ञा मिलने पर उसे लिवा लाता है।[4] 'अजातशत्रु' में सम्राट अजातशत्रु को आर्य देवदत्त के आने[5] और 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य को मालविका के आने की सूचना[6] दौवारिक ही देता है। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में अनन्तदेवी को पर के आने की सूचना देकर उसे लिवा लाने का कार्य भी यही करता है।[7] इन सभी स्थलों पर दौवारिक का अर्थ द्वारपाल ही है। प्राचीन काल में पुरुष और स्त्री द्वारपालों के लिये क्रमशः 'दौवारिक' और 'दौवारिकी' का प्रयोग पाया जाता है।[8] 'मुद्राराक्षस' में करभक राक्षस से मिलने आता है तो द्वार पर किसी को न पाकर पुकार उठता है 'को अत्र दौवारिकाणाम्।[9]' उसी में राक्षस को

---

(१) सी आइ आई (फ्लीट) ३ १ पृ० १६ १७
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज (साल्टोर) पृ० २६४
(३) कण्वेर जातक ४/२/११८
(४) अजात० १/५१
(५) वही २/६३ (६) चन्द्र० ४/२०२
(७) स्कन्द० ३/१२ (८) रघुवंश ६/५९
(९) मुद्राराक्षस अंक ४ पृ० ५०

आगमन के पहले की सूचना भी दौवारिक ही देता है।[१] प्रसाद के नाटकों में चार स्थलों पर दौवारिक के विविध सम्बोधन इस प्रकार हैं 'महाराज की जय हो'। 'जय हो देव' 'जय हो आर्य' और 'जय हो'। इन सम्मान सूचक शब्दों में 'मुद्राराक्षस' के 'जयतु जयतु' की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है।[२] 'रघुवंश' दौवारिक के लिए 'द्वाःस्थ'[३] और द्वार रक्षिका के लिए 'दौवारिकी'[४] शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्रुव[५] और शास्टोर[६] महोदय दौवारिक का अंग्रेजी पर्याय 'डोर कीपर' मानते हैं। अर्थशास्त्र में सम्राट के निजी भृत्यों में 'दौवारिक' का उल्लेख भी किया गया है।[७]

प्रतिहार प्रतिहारी

'प्रतिहार' का प्रयोग केवल चन्द्रगुप्त नाटक में एक ही स्थल पर हुआ है। चन्द्र-प्रतिहार को विद्रोही नागरिकों को बन्दी करने और राजसिंहासन को बचाने के लिए उनसे युद्ध करने का आदेश देता है।[८] 'चन्द्रगुप्त' में ही नेत्र को आज्ञा से प्रतिहार चाणक्य को लिवा पकड़कर सदैव लाता है।[९] ध्रुवस्वामिनी में प्रतिहारी महाराज का बोलती हुई ध्रुव स्वामिनी के आवास में आती है।[१०] 'राज्यश्री' में महादेवी को बन्दी का आगमन सूचित करने के लिए 'प्रतिहारी' का प्रवेश हुआ है।[११] 'प्रतिहार' शब्द के रूप से ही सिद्ध होता है कि प्रतिहार पुरुष ही होता था। 'प्रतिहारी' का प्रयोग अवश्य विचारणीय है। आप्टे कोष के अनुसार प्रतिहारी का अर्थ मुख्यत 'द्वारपालिका' है और सामान्यतः 'द्वारपाल' व्यक्ति के लिए उसका प्रयोग हुआ है।[१२] संस्कृत के नाटकों में प्रतिहारी प्राय सर्वत्र ही स्त्री है 'मुद्राराक्षस' में प्रतिहारी 'विजया' और 'शोणोत्तरा' है और उनका काम किसी के आगमन की सूचना देना और पथप्रदर्शन करना है।[१३] 'प्रतिमा' नाटक में प्रतिहारी का नाम विजया है और वह राजा की आज्ञा और संदेश को ले जाने का कार्य करती है।[१४] अभिज्ञान शाकुंतल में प्रतिहारी 'वेत्रवती' राजा दुष्यन्त का पथ प्रदर्शन करती है और आगन्तुकों के आगमन की सूचना देती है तथा बाहर से मन्त्रियों के सन्देश एवं अन्तःपुर से राजा

---

(१) मुद्राराक्षस अंक ४ पृ० ५० (२) वही ४/१२
(३) रघुवंश ६/८८ (४) वही ६ ५८
(५) मुद्राराक्षस ध्रुव अंग्रेजी अनुवाद
(६) नाटक इन मुद्रा ग्रथ (शास्टोर) पृ० २५४
(७) अर्थशास्त्र १/१२/८ (८) चन्द्र० २ १०६
(९) चन्द्र० १, ८१ (१०) ध्रु० स्वा० १, १५
(११) राज्यश्री १/२२
(१२) 'प्रतिहार (१) ए फीमेल डोरकीपर (२) ए डोरकीपर इन जनरल :— संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (वामन शिवराम आप्टे) पृ० ६५५
(१३) मुद्राराक्षस अंक ३ (१४) 'प्रतिमा नाटक' भास अंक १ पृ० ७

की आज्ञा ग्रहण करती है।[1] 'अमरकोष' में तो प्रतिहारी शब्द स्पष्ट ही स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है।[2] इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रतिहार पुरुष होता था और प्रतिहारी स्त्री होती थी। उनका कार्य द्वार पर खड़ा रहना अन्तःपुर में या राजप्रासाद में ही अन्यत्र आगंतुकों का सन्देश पहुँचाना, वहाँ से राजा का आदेश बाहर ले जाना और राजप्रासाद में में राजा एवं अभ्यागत का पथ प्रदर्शन करना होता था। इस निष्कर्ष के आधार पर पहले तो राज सभा में नंद के प्रतिहार की उपस्थिति ही अवांछनीय है फिर उसको विद्रोही नागरिकों को बंदी करने एवं राजसिंहासन की रक्षा के लिए युद्ध करने की आज्ञा का तो किसी प्रकार भी समर्थन नहीं किया जा सकता। यह आज्ञा किसी सैनिक अधिकारी के लिए अधिक उपयुक्त होती। अब रही प्रतिहारी। 'चन्द्रगुप्त' में प्रतिहारी पुरुष है 'राज्यश्री' में वह पुरुष है अथवा स्त्री यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता अन्यत्र वह स्पष्ट ही स्त्री है। नंद का प्रतिहारी राजसभा में उपस्थित है और वह चाणक्य जैसे पुरुष की शिखा पकड़कर घसीटने का पौरुषेय कार्य करता है। चाहे पुरुष हो या स्त्री प्रतिहारी के इस प्रकार के कार्य का कहीं भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' में प्रतिहारी को उसके उपयुक्त कार्य ही सौंपे गए हैं।

इसी प्रसंग में दौवारिक को ले लेना भी समीचीन होगा। जहाँ तक दौवारिक दौवारिकी और प्रतिहारी प्रतिहारी के व्युत्पत्त्यर्थ का प्रश्न है वहाँ तक ये पर्याय ही प्रतीत होते हैं। दौवारिक (की) 'द्वार' शब्द से व्युत्पन्न है और कालिदास ने इसके लिए 'द्वारस्थ' शब्द का प्रयोग भी किया है। उधर प्रतिहार शब्द भी द्वार का पर्याय है।[3] परन्तु व्यवहारतः दोनों के अर्थों में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है। दौवारिक सम्भवतः प्रधान द्वार का रक्षक होता[4] और उसका कार्य आगंतुक के आगमन की सूचना मात्र भेजना था। उसे अन्तःपुर तक जाने का अधिकार भी सम्भवतः नहीं था जिससे भीतर जाने वाले संदेश उसे प्रतिहारी के द्वारा ही भिजवाने पड़ते। ये प्रतिहारी या प्रतिहार प्रासाद के भीतरी कक्ष एवं अन्तःपुर के द्वार में उपस्थित रहकर निर्दिष्ट कार्य करते थे। सभी संस्कृत नाटकों में प्रतिहारी स्त्री की उपस्थिति हमारे उक्त अनुमान की पुष्टि करती है। (मुद्राराक्षस) में विजया (प्रतिहारी) मलयकेतु का सन्देश लेकर राक्षस के प्रासाद तक जाती है और उसको

---

(१) शाकुन्तल कालिदास ग्रन्थावली अंक ५ पृ० ८५ ८६
(२) अमरकोष ३/१/१७९ द्वारि द्वाःस्थे प्रतीहार प्रतीहार्यप्यनन्तरे
(३) 'स्त्रीद्वाद्वार प्रतीहार' अमरकोष २/२/१६
(४) मुद्राराक्षस अंक ४ रंग संकेत (मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रांत)

लेकर मलयकेतु के प्रासाद में आती है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि गोपनीय कार्यों के लिए वह मुख्यद्वार के बाहर भी आ जा सकती थी जबकि दौवारिक को अन्तःपुर से जाने का प्रतिबन्ध रहता था।

महाप्रतिहार

अकेले स्कन्दगुप्त' में महाप्रतिहार शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[1] उसके अनुसार वह अन्तःपुर का प्रधान अधिकारी और वहाँ 'सम्राट का भी उतना अधिकार नहीं होता जितना महाप्रतिहार का'[2] इस शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र अथवा संस्कृत के नाटकों में नहीं मिलता। निश्चय ही यह शब्द यहाँ अद्भुत उपाधियों के समान गुप्तकाल की ही विशेष उपाधि है। जीवितगुप्त द्वितीय के लेखों में इसका उल्लेख हुआ है[3] पर इसके काम का कोई विवरण नहीं मिलता। प्रसाद गुप्तकाल में महाप्रतिहार की पद मर्यादा कुमारामात्य और महासंधिविग्रहक के समकक्ष मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहार दौवारिक एवं अन्य सभी परिचारक उसके अधीन होते थे और अन्तःपुर की मर्यादा की रक्षा के लिए वहाँ उसका इतना अधिकार होता था कि सम्राट स्वयं भी उसकी आज्ञा के बिना अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर सकते थे। कम से कम प्रसाद की यही मान्यता है और महाप्रतिहार के अन्तःपुर संरक्षकों[4] का उल्लेख इस बात का समर्थन करता है। मास्टोर 'महाप्रतिहार' और कंचुकी दोनों को एक मानते हैं।[5] संस्कृत नाटकों के अनुसार एक सवर्ण सम्पन्न सर्व कार्यकुशल सत्य सम्पन्न काम दोष विवर्जित वृद्ध ब्राह्मण ही कंचुकी होता था। अन्तःपुर के समस्त अधिकारियों का प्रतीक एवं उसके महत्वपूर्ण पद का निदेश करता था।[6] जहाँ तक अन्तःपुर की मर्यादा की रक्षा का प्रश्न है वहाँ तक मास्टोर का कथन उचित जान पड़ता है। स्वयं मास्टोर ने अन्यत्र महादण्डनायक एवं महासंधिविग्रहक की श्रेणी में महाप्रतिहार को भी रखा है परन्तु संस्कृत नाटकों में कंचुकी की पर्याप्त मर्यादा होते हुए भी उसे उपयुक्त सम्मान नहीं मिला है। अतः कंचुकी को महाप्रतिहार के समकक्ष रखने से मास्टोर ने स्वयं अपना विरोध किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में केवल एक बार कंचुकी का प्रवेश अन्तःपुर को

---

(१) स्कन्द० १/१५
(२) वही १/१५
(३) सी० आई० आई० (फ्लीट) ३/४६ पृ० २१६
(४) स्कंद० १/१५
(५) नाटक इन दि गुप्त एज पृ० २५१
(६) 'नाट्यशास्त्र' [illegible] प २०१ [illegible] ५/८०

शयन के समय की सूचना देने के लिए हुआ है।[1] यहाँ केवल इतनी सी बात के लिए एक नए पात्र का प्रवेश कराकर प्रसाद ने कंचुकी की स्थिति और मर्यादा को और भी स्पष्ट कर दिया है। शास्त्री लिखते हैं कि 'प्रतिहारी के ऊपर महाप्रतिहार और उनका भी मुखिया उस काल में दौवारिक कहलाता था'[2] महाप्रतिहार को प्रतिहारों का मुखिया मानने में तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु दौवारिक को महाप्रतिहार के भी ऊपर किस प्रकार माना है यह चिन्त्य है। हम पहले कह चुके हैं कि 'प्रतिहारी या प्रतिहार' दौवारिक से अधिक विश्वसनीय अथवा पद मर्यादा में अधिक होता था। यदि महाप्रतिहार को कंचुकी के समकक्ष भी मानें तो भी वह दौवारिक के ऊपर ही होता होगा। 'प्रतिमा' नाटक में 'काञ्चुकीय' सभी द्वारों में स्थित 'दौवारिकों' और 'प्रतिहारों' को सावधान रहने का आदेश देता है।[3] निश्चय ही यहाँ वह इन सबका मुखिया है। अतः महाप्रतिहार को मन्त्रियों की कोटि में रखना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यही प्रसाद ने किया भी है।

पुरोहित

ध्रुवस्वामिनी' नाटक में पुरोहित उपायों के साथ शांति कर्म के लिए स्वस्त्ययन करने आता है।[4] मंदाकिनी उसे सम्मानसूचक 'आर्य' कहकर अभिहित करती है।[5] गुप्तसाम्राज्य के अमात्य को पुरोहित केवल 'शिखर' संबोधन देता है।[6] ये दोनों बातें पुरोहित की महत्त्वपूर्ण स्थिति की सूचक हैं। वह 'धर्मशास्त्र का मुख' माना गया है[7] धर्म के सम्बन्ध में उसका निर्णय समस्त गुप्तकालीन परिषद् को मान्य है।

पाणिनि 'पुरोहितादिगण' में राजा और सेनापति को भी सम्मिलित करते हैं और वे इस प्रकार पुरोहित के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके लिए वेद और दंडनीति दोनों में पारंगत होना आवश्यक मानते हैं।[8] अर्थशास्त्र में 'पुरोहित का पद महत्त्वपूर्ण है। ऋत्विक आचार्य मंत्री सेनापति युवराज राजमाता एवं राज महिषी के साथ ही उसका स्थान है एवं उसे भी इनके समान ही प्रतिवर्ष ४८००० पण वेतन देने का विधान है।[9] शुक्रनीति को डा० अग्रवाल गुप्तशासन का कौटिलीय अर्थशास्त्र मानते हैं। उसमें पुरोहित के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख महत्त्वपूर्ण है

"पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत्[1]

---

(१) चन्द्र० ४/२०७
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज पृ ३५४
(३) प्रतिमा नाटक भास अंक २ पृ० २४
(४) ध्रु० ३/५० (५) वही ३/५२
(६) वही ३/६१ (७) वही ३/६१
(८) इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि : अग्रवाल देखिए पुरोहित
(९) अर्थशास्त्र ५/३/४
(१०) शुक्रनीति २/७४

प्रसाद ने पुरोहित की चर्चा गुप्तकाल में ही की है अतः उनके पुरोहित में भी शुक्रनीति के पुरोहित का गौरव होना ही चाहिए था। कालिदास के रघुवंश से भी इसकी पुष्टि होती है कि धार्मिक कार्यों के संपादन में पुरोहित का प्रथम स्थान था।[1] पुरोहित को 'धर्मशास्त्र का मत' कहने में प्रसाद का यही अभिप्राय जान पड़ता है। स्वस्त्ययन एवं धर्म सम्बन्धी निर्णय में प्रसाद ने इसी कारण उसको सर्वोच्च स्थान दिया है।

---

१ १५/११

न्याय एव न्यायाधिकरण

प्रसाद के नाटकों में राजा को सर्वप्रथम न्यायाधीश के रूप में चित्रित किया गया है। कोशल में श्रावस्ती की राजसभा में प्रसेनजित पिता के रूप में नहीं न्यायाधीश के रूप में अपने पुत्र विरुद्धक और राजमहिषी शक्तिमती के विरुद्ध न्याय व्यवस्था देता है।[1] मगध की राजसभा में नन्द सम्राट वररुचि मौर्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त की माँ का न्याय कर उनको दंडित करता है।[2] चन्द्रगुप्त अपने पिता का न्याय करता है।[3] स्कंदगुप्त उज्जयिनी में अभिषिक्त होते ही बंदियों का न्याय करता है।[4] धर्म शास्त्रों में तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में दुष्ट दमन पूर्वक शांति से प्रजा पालन के निमित्त राजा के लिए दंड धारण करने की आवश्यकता बताई गई है। शुक्र के अनुसार दंडनीति ही राजा के समस्त उपधर्मों को पूर्ण करने वाली है और दण्ड ही समस्त धर्मों का उत्तम धरण है[5] मनु भी प्रजा की रक्षा के लिए दंड धारण आवश्यक समझते हैं।[6] इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रसाद ने स्थान-स्थान पर प्रजा के लिए न्याय एव दंड के महत्व का प्रतिपादन किया है। चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहता है सम्राट न्याय करना तो राजा का कर्तव्य है।[7] चन्द्रगुप्त स्वयं भी अपने पिता के अपराध को क्षमा न कर न्याय करना चाहता है।[8] गौतम बिम्बसार से कहते हैं विरक्तों को भी राजदर्शन की आवश्यकता इसलिए हो जाती है कि न्याय का पक्ष विजयी हो।[9]

न्याय

उक्त उक्तियों से पता चलता है कि राजा सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में होता था और उसका निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। स्कंदगुप्त नाटक में काश्मीर के एक न्यायाधिकरण का भी उल्लेख है जहाँ न्यायकर्ता एक कुमारामात्य है राजा नहीं।[10] इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य में प्रजा के लिए न्यायव्यवस्था सुलभ करने को न्यायाधिकरण होते थे और उनमें राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश होते थे जिन्हें कुमारामात्य कहा जाता था। राजा अथवा कुमारामात्य को न्याय पथ में प्रवृत्त करने के लिए राजदंड होता था। राज व्यवस्था करने वाला

---

(१) अजात १/६२
(२) चन्द्र १/११०
(३) वही ४/२४६
(४) स्कंद २/५३
(५) शुक्रनीति ४/४८
(६) मनुस्मृति
(७) चन्द्र ४/२४६
(८) वही ४/२४६
(९) अजात अंक १
(१०) स्कंद ५/११६

यह राजदंड धर्मशास्त्र और परंपरा के आधार पर होता था। धर्मशास्त्र के धर्मस्थीय प्रकरण में लिखा है कि "शास्त्र के आधार पर ही निर्णय देना चाहिए उसके विरोध में किया गया न्याय धर्म युक्त न्याय नहीं कहा जा सकता।[1] प्रसाद ने भी धर्माधिकारी[2] तथा पुरोहित[3] को दंड व्यवस्था देते हुए प्रदर्शित किया है और उनकी व्यवस्था मान्य समझी गई है। प्रसेनजित अपने पुत्र के लिए दंड की व्यवस्था स्वयं न कर धर्माधिकारी से व्यवस्था मांगता है। "किन्तु वह राष्ट्र का द्रोही है क्यों धर्माधिकारी उसका क्या दंड है।" पुरोहित धर्मशास्त्र के अनुसार ध्रुवस्वामिनी को सम्राट रामगुप्त के विरुद्ध विवाह मोक्ष का अधिकार दे देता है और समस्त परिषद् इस निर्णय को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लेती है। कोशल के राजदंड ने इससे पूर्व युवराज को अच्युत नहीं किया था परम्परा का विरोध होने के कारण कोशल का अमात्य प्रसेनजित के न्याय को न्याय नहीं मानता। धर्मशास्त्र के अनुसार राजा के काल का विभाजन कर एक विशेष विभाग न्याय व्यवस्था के लिए निश्चित होता था जिसमें वह न्यायाधिकरणों से आये हुए अभियोगों का अन्तिम निर्णय करता था। इस प्रकार वह राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायाधीश भी था। मेगस्थनीज से ज्ञात होता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त स्वयं अभियोग सुनकर दंड विधान करते थे और न्यायाधिकरणों से बाद हुए निर्णय के सम्बन्ध में भी अपना निर्णय देते थे।[4] अभिज्ञान शाकुन्तल से यह ज्ञात होता है कि राजा नित्य ही एक निश्चित समय पर न्यायासन पर बैठकर न्याय व्यवस्था किया करता था।[5]

धर्मशास्त्र के अनुसार न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता उसका दंड धारण करना व्यर्थ है।[6] और केवल राजदंड ही लोक और परलोक में रक्षा करता है।[7] इसलिए राजा को पुत्र और शत्रु का निष्पक्ष न्याय करना चाहिए। विरुद्धक अपने पिता से न्याय

---

(१) अनुशासनं धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
 यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् —१—
 शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
 न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति—२—
 धर्मशास्त्र कौटिल्य ३/१/५६ ५७
(२) अजात ३/१२६ (३) ध्रुव० अंक ३
(४) एंशिएंट इंडिया मैगिस्थनीज
(५) अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास अङ्क ५/५
(६) 'राज्ञः स्वधर्मः स्वर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा। धर्मशास्त्र ३/१/४१
(७) 'दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति धर्मशास्त्र ३/१/४२

चाहता है। प्रसेनजित कहता है कि मैं यहाँ पिता नहीं राजा हूँ। इसी प्रकार सम्राट चन्द्रगुप्त अपने गुरु की हत्या का प्रयत्न करने वाले पिता का न्याय करना चाहता है इन उदाहरणों में क्षमा से न्याय को महत्व दिया गया है परन्तु अन्यत्र प्रसाद ने क्षमा को इतना महत्व दे दिया है कि धर्मशास्त्र और दंडनीति दोनों उसके प्रभाव से शिथिल हो गये हैं। धर्माधिकारी विरुद्धक को राजद्रोह के लिए प्राण दंड की व्यवस्था देता है परन्तु प्रत्यक्ष रूप से मल्लिका एवं अपरोक्ष रूप से बुद्ध से प्रभावित प्रसेनजित कहता है, धर्माधिकारी पिता का हृदय कितना सदय होता है कि नियम उसे क्रूर नहीं बना सकता। मेरा पुत्र मुझसे क्षमा लिया चाहता है। धर्मशास्त्र के उस पत्र को उलट दो मैं एक बार अवश्य क्षमा कर दूँगा। उसे न करने से मैं पिता नहीं रह सकता मैं जीवित नहीं रह सकता'[1] इसी प्रकार स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय देवकी कहती है वत्स आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन दंड क्षमा के संकेत पर चला करे "[2] इन दोनों उदाहरणों में क्षमा को दंड व्यवस्था से ऊपर रख दिया गया है। पहले उदाहरण में तो क्षमा स्पष्ट ही बुद्ध के व्यक्तित्व एवं बौद्ध दर्शन से प्रभावित होने के कारण है किन्तु दूसरे उदाहरण में इस क्षमा' का समर्थन शुक्रनीति के आधार पर किया जा सकता है जहाँ दंडनीति में भी क्षमा के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।[3]

प्रसाद के केवल दो नाटकों में न्यायाधिकरण शब्द का प्रयोग हुआ है, एक चन्द्रगुप्त और दूसरे स्कन्दगुप्त में। चन्द्रगुप्त में केवल एक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक अर्थ में एक व्यक्ति (सम्राट) में केन्द्रित न्याय न्यायाधिकरण व्यवस्था की ओर संकेत करता है। अन्यत्र यह न्याय संस्थान का अर्थ घोषित करता है। स्कन्दगुप्त में भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है न्यायकर्ता सभी स्थलों में राजा ही है। काश्मीर के न्यायाधिकरण में मातृगुप्त न्यायाधीश है। वह भी वहाँ का शासक ही है पर वहाँ उसे कुमारामात्य कह कर सम्बोधन किया गया है। प्रसाद द्वारा चित्रित न्यायाधिकरण के चार अंग हैं

१ न्याय कर्ता राजा या कुमारामात्य

---

(१) अजात ३/१५९ (२) स्कंद० २/८५

(३) क्षमायामसत् पुष्प स्यात्तस्मिं दंड निपातनात्।
स्वप्रजादण्डनाच्च्यु य कर्म राज्ञो भविष्यति। शुक्रनीति ४/५२

२ अभियोक्ता शिशुपाल चाणक्य और कमला

३ अभियुक्त शकटार, मौर्य-सेनापति राक्षस भटार्क सर्वनाग और विजया

४ राजकर्मचारी दण्डनायक

मृच्छकटिक नाटक में न्यायालय और न्याय विधान की चर्चा अत्यन्त विस्तृत रूप से हुई है।[1] यहां न्यायकर्ता राजा से भिन्न है और 'अधिकरणिक' कहा गया है। अभियोक्ता और अभियुक्त क्रमशः अर्थी प्रत्यर्थी हैं। राजकर्मचारियों में श्रेष्ठी, कायस्थ नगर रक्षाधिकारी शकार और शोधनक को गिनाया जा सकता है। नाटकों से यह ज्ञात होता है कि राजा स्वयं न्यायकर्ता होता था।[2] अर्थशास्त्र में न्यायाधिकरण के स्थान पर धर्मस्थीय और न्यायाधीश के लिये धर्मस्थ शब्दों का प्रयोग हुआ है।[3] वैशाली की मुद्राओं में 'वैशाल्या धिष्ठानाधिकरण' का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन लेखों एवं मुद्राओं में भी परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य अधिकरण[4] प्रयोग पाया जाता है। यहां अधिकरण का अर्थ न्यायालय है।[5]

प्रसाद के अनुसार मातृगुप्त काश्मीर के शासक नियुक्त किये गये थे और राजतरंगिणी भी इसका समर्थन करती है। इतिहास मातृगुप्त की किसी उपाधि से परिचित नहीं। प्रसाद ने उसे कुमारामात्य की उपाधि दी है और वह भी केवल एक बार जब वह काश्मीर के अधिकरण में न्याय करने बैठा है। संभवतः प्रसाद ने गुप्तकालीन लेखों एवं मुद्राओं में अंकित 'कुमारामात्य अधिकरण' से प्रभावित होकर ऐसा किया हो।

'चन्द्रगुप्त' से ज्ञात होता है कि राजद्रोह के लिये मृत्युदंड दिया जाता था। प्रसाद इस दंड को शास्त्र सम्मत भी स्वीकार करते हैं।[6] नाटकों में राजद्रोही को सूली पर चढ़ने के कई प्रमाण मिलते हैं। 'चन्द्रगुप्त' के अनुसार

दंड व्यवस्था

नन्द की व्यवस्था में राजद्रोह का दंड प्राणान्त कारावास है। अंगभंग एवं देश से निष्कासन का दंड भी नन्द ने दिया। पर्वतेश्वर चाणक्य को सीमा से बाहर निकल जाने की आज्ञा देता है। यही नहीं वह राजद्रोही को हाथी से कुचलवाने की धमकी भी देता है। मगध की जनता शकटार के निरीह बालकों की हत्या के बदले नन्द के वध की मांग करती है।

---

(१) मृच्छकटिकः शूद्रक अंक ९ १०२/४२१ ओरियन्टल पब्लि॰ हाउस १९५२
(२) नाटक पै० ५/१२५ देखिये रघुवंश १/१०
(३) अर्थशास्त्र ३/१
(४) एपिग्राफिक इण्डिका प० ५९ मूल प० ५५
(५) संस्कृत इ गलिश डिक्शनरी आप्टे पृ० ४०
(६) चन्द्रग० ३/१२६

अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य की कामना अन्तःपुर में अव्यवस्था शत्रुओं को उभारना सेना को राजा से कुपित करा देना आदि राजद्रोह सम्बन्धी अपराधों के लिए स्पष्ट मृत्युदंड की आज्ञा दी गई है परन्तु ब्राह्मण को अन्धकूप में डालने का विधान है।[1] इसका कारण यह है कि मनु के अनुसार ब्राह्मण अवध्य है और बड़े से बड़े अपराध पर भी उसको केवल निष्कासन दंड दिया जा सकता है वध (हत्या) के लिये वध का विधान भी अर्थशास्त्र सम्मत है।[2] स्कन्दगुप्त के अनुसार गुप्त साम्राज्य के विधान में कर प्रजा की रक्षा के लिये लिया जाता था, यदि उसकी रक्षा कोई अधिकारी नहीं कर सकता तो उसकी भृति से काटकर पीड़ित को धन दिया जाता था और यदि वह धन अधिक होता तो राजकोष उसे देता और उक्त अधिकारी को उसका दण्ड भोगना पड़ता था। गुप्तकालीन दंड व्यवस्था का उक्त विवरण अक्षरशः फाह्यान के भारत भ्रमण से लिया गया है।[3]

---

(१) अर्थशास्त्र कौटिल्य ४/११/१७
(२) 'वधे वध' अर्थशास्त्र ४/११/१८
(३) ट्रैवल्स आफ फाहियान।

रणनीति

युद्ध और संधियों के द्वारा अपने राज्य का विस्तार करना प्रसाद के सभी नाटकों के नायकों की महत्त्वाकांक्षा रही है। अजातशत्रु को माँ की इच्छा उसे भरत-खंड का सम्राट देखने की है।[1] चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट होने के उपयुक्त है[2] और इसीलिए चाणक्य का उसे आदेश मिलता है कि महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। स्कन्दगुप्त अवश्य राज्य के प्रति उदासीन है परन्तु चक्रपालित और पर्णदत्त बार बार उसे उसके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करने को उत्तेजित करते रहते हैं।[4] रामगुप्त स्वयं दिग्विजय करने के उद्देश्य से निकलता है[5] और हर्ष के चरणों में उत्तरापथ के समस्त सम्राट नतशिर हैं।[6] इसके अतिरिक्त अगणित ऐसे वाक्यों की कमी नहीं है जिनमें युद्ध के महत्त्व का प्रदर्शन हुआ है। वैसे भी प्रसाद के कथानक भारत के इतिहास के उन युगों को समेटे चलते हैं जिनमें वीरता को भी एक सुन्दर कला माना जाता था[7] और वीरों में विजय-लिप्सा का होना स्वाभाविक समझा जाता था। दिग्विजय, अश्वमेध और चक्रवर्ती जैसे प्रचलित प्राचीन शब्द भी सम्राटों के राज्य विस्तार की भावना को प्रदर्शित करते हैं। भारतीय परम्परा में सम्राटों का आदर्श ही अश्वमेध था[8] और वे 'सागरपर्यन्ता मही' को विजय करना अपना धर्म समझते थे।

साम्राज्य लिप्सा और युद्ध

भारतीय रणनीति की उल्लेखनीय विशेषता है धर्मयुद्ध। यहाँ युद्ध का अर्थ हत्या नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध के समय भी किसान सैनिक शिविर के समीप निश्शंक होकर रह सकें ऐसी व्यवस्था आवश्यक है।[10] यूनानी इतिहासकारों को युद्ध के समीप ही कृषकों को निर्भय हल चलाते देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ था और उन्होंने इसकी बड़ी प्रशंसा की थी।[11] यही नहीं दक्षिण के एक लेख के अनुसार युद्ध में युद्ध

धर्मयुद्ध

---

(१) अजात० २/१०७	(२) चंद्र० १/१५७
(३) वही ४/११६	(४) स्कंद० २/५२
(५) ध्रु० १/१७	(६) शुक्रनीति १/१२
(७) चन्द्र० ९/११५	(८) महाभारत १२/८/१५
(९) शुक्रनीति १/९९	(१०) दि सिविलिजेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया —लुई रेनु—पृ० १२१
(११) वही—रेनू पृ० १२१	

विरोधी दलों के नेता ग्रामों पर आक्रमण न करने का निश्चय कर लेते थे।[1] प्रसाद के नाटकों में इस प्रकार के धर्म युद्धों के संकेत मिलते हैं—'ये हमीं लोगों के युद्ध हैं जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है।'[2] हम तो युद्ध करना जानते हैं—द्रोह नहीं।[3] कौटिल्य ने तीन प्रकार के विजयी राजा बतलाये हैं—'धर्मविजयी' 'लोभविजयी' और 'असुरविजयी'। धर्मविजयी विजित के आत्म समर्पण से ही संतुष्ट हो जाता है।[4] प्रसाद के अनुसार धर्मविजयी के उदाहरण हैं—चन्द्रगुप्त मौर्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य। चन्द्रगुप्त सिकन्दर के घायल होने पर सिकन्दर की हत्या नहीं करता और उसे जाने देता है।[5] स्कन्दगुप्त खिङ्गिल को परास्त करने पर भी उसे भारत की सीमा के उस पार जाने का आदेश देकर छोड़ देता है।[6] लोभ-विजयी के उदाहरण हैं—हूण जिन्हें जयमाला 'अर्थलोलुप शृगाल' कहती है। 'राज्यश्री' का देवगुप्त असुरविजयी का उदाहरण है जो एक तो ग्रहवर्मा के प्राण लेने का षड्यन्त्र करता है दूसरे कान्यकुब्ज के सिंहासन का अपहरण करता है और तीसरे राज्यश्री को भी अपनी कामनाओं का साधन बनाना चाहता है। धर्म युद्ध में विजित राजा की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी होते हुए भी उसकी रानियों पर विजेता राजा का कोई अधिकार नहीं होता था। युद्ध बंदियों को वह मुक्त समझता था।[8] ध्रुवस्वामिनी नाटक में शकराज को पराजित करने के उपरांत चन्द्रगुप्त अपने को शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी अवश्य समझता है[9] किन्तु वह कोमा इत्यादि के साथ किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं करता। युद्ध में बन्दी निरीह शकों का संहार[10] कर रामगुप्त ने धर्मयुद्ध के नियम की अवहेलना की थी जिसके परिणाम स्वरूप उसे अपने ही सामन्तों का कोप भाजन होना पड़ा था।

धर्मयुद्ध में प्राण देने के महत्त्व का गुण गान अत्यन्त प्राचीन काल से किया जाता रहा है। 'अप्सरायें सम्मुख युद्ध में मरने वाले को पति रूप में वरण करने के लिए दौड़ती हुई आती हैं'—और उसे सूर्य लोक प्राप्त होता है।[11] 'धर्मयुद्ध में मरने पर स्वर्ग और जीतने पर पृथ्वी भोग प्राप्त होगा'[12]—गीता के इस वाक्य ने तो न

---

(१) दि सिविलिजेशन इन ऐंशिएन्ट इण्डिया (सुर्द रेणु) पृ० १३२
(२) चन्द्र० २/१४५
(३) वही ३/१६५ (४) अर्थशास्त्र १२/१/११-११
(५) चन्द्र० ३/१५१ (६) स्कंद० ५/१५२
(७) स्कंद० १/४५
(८) पौलिटिकल थौट इन दि पुराणाज—(जगदीशलाल शास्त्री) पृ० २५
(९) ध्रु०स्वा० १/५६ (१०) ध्रु०स्वा० २/५९
(११) शुक्रनीति ४/४८, ४/४३-४४ (१२) गीता २/३७

जाने कितने वीरों को युद्ध के लिए अपना बलिदान करने को प्रेरित किया। प्रसाद के नाटकों में भी इस भावना को प्रश्रय मिला है। अलका गान्धार को मर मिटने का आदेश इसलिए देती है कि— स्वर्ग की अप्सरायें विजयमाला लेकर खड़ी हाथी सूम-मण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गान्धार राजकुल अमर हो जायगा।[1] बन्धुवर्मा अपने वीरों को हूणों से लड़ने के लिए यह कहकर उत्साहित करता है कि—'उनकी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुन्दरियों की वीणा के साथ मंद ध्वनि से नन्दन में गूंज उठेगी।[2]

प्रसाद ने अपने नाटकों में सेना के लिए वाहिनी[3] तथा 'सेना'[4] दोनों का प्रयोग किया है परन्तु सेना शब्द दो विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। मुख्यतः यह शब्द सम्पूर्ण सेना का अर्थ देता ज्ञात होता है जिसके अन्तर्गत सभी

सेना के प्रकार

प्रकार के बलों का समावेश हो जाता है। एक स्थल पर यह एक टुकड़ी का अर्थ देता जान पड़ता है।[5] कौटिल्य और उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने सैन्य (सेना) शब्द को सम्पूर्ण बल के अर्थ में लिया है टुकड़ी के अर्थ में नहीं।[6] हां गजसेना अश्व-सेना इत्यादि में सविशेषण सेना का प्रयोग सेना के एक अङ्ग विशेष के लिए हुआ है। प्रसाद के नाटकों में चतुरंगिणी का प्रयोग न होते हुए भी गजसेना[7] अश्वसेना[8] रथी[9] और पदाति सेना के इन चारों अङ्गों का उल्लेख हुआ है। पदाति शब्द का प्रयोग तो प्रसाद ने नहीं मिलता किन्तु जहां कहीं भी सैनिक शब्द का प्रयोग बिना किसी विशेषण के हुआ है वहां वह पदाति सैनिक का अर्थ देता है। चतुरंगिणी सेना में पदाति सैनिकों की संख्या सबसे अधिक होती थी इसका समर्थन शुक्रनीति से भी होता है।[10] ध्यान देने की बात यह है कि सेना के इन अंगों की चर्चा केवल चन्द्रगुप्त और 'राज्यश्री' नाटकों के सम्बन्ध में ही हुई है। इतिहास से ज्ञात होता है कि नन्द की सेना में २००००० पदाति सैनिक ८००० रथ ८०००० घुड़सवार ४६६ सैनिक तथा ६००० हाथी थे।[11] चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में ६००००० पदाति सैनिक १०००० घुड़सवार और ६००० हाथी थे[12] एवं हर्ष की सेना में प्रारम्भ में ५००० पदाति सैनिक २००० घुड़सवार एवं ५००० हाथी थे।[13]

---

(१) चन्द्र० ४२० (२) स्कंद० ३/१०१
(३) स्कं० १/४५ चन्द्र० १/७८ (४) अजात० २ ८७ राज्यश्री १/१६
(५) चन्द्र० १/७९ (६) अर्थशास्त्र ६/२/९
(७) चन्द्र० २/१२२ राज्यश्री ३/५८ (८) वही २/१२२ वही ३/५८
(९) वही २/१२२ (१०) पादातं स्वगम बाम्येऽग्रणावनवगंमिमा' शुक्रनीति
(११) म्युरार्ड ऐन्श ट्रांसलेटेड बाई मेक्रिंडल इन इन्वेजन पृ. ११०
(१२) म्क्टार्ड ऐन्श कोटेड बाइ शास्त्री इन 'एज आफ नन्दाज ऐण्ड मोर्याज पृ० १८८
(१३) रेकर्डस आफ ह्यानुसांग (बील) १/५

चतुरंगिणी सेना के अतिरिक्त जलसेना या 'नौ-बल' का भी प्रसाद ने उल्लेख किया है।[1] उनका उल्लेख केवल सिकन्दर के बेड़े और मालवों की जल-सेना के ही सम्बन्ध में हुआ है। प्लूटार्क ने सिकन्दर की जल-सेना के साथ मालवों के नौ-बल के युद्ध का विवरण किया है।[2] कौटिलीय अर्थशास्त्र के नावाध्यक्ष प्रकरण से ज्ञात होता है कि व्यापार कार्य से लेकर युद्ध तक प्रायः सभी कार्यों में नौकाएं काम में लाई जाती थीं।[3] साहित्य और इतिहास दोनों से इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि मौर्य काल के पश्चात् भी नौ सेना का प्रयोग किया जाता था। रघु ने अपने दिग्विजय में नौबल के कारण अजेय समझे जाने वाले बंग देश को भी जीत लिया था।[4] अजन्ता की सत्रहवीं नम्बर की गुफा के चित्र में लम्बे भाले लिए हुए पांच छः सैनिक एक नाव में नदी पार करते हुए दिखाये गये हैं।[5] आश्चर्य है कि चन्द्रगुप्त नाटक के अतिरिक्त गुप्तकाल के किसी भी नाटक में प्रसाद ने नौ-सेना की चर्चा नहीं की है—यद्यपि स्कंदगुप्त नाटक में इसके पर्याप्त अवसर थे।

युद्ध के लिए विशेष रूप से काम में लाई जाने वाली नौकाओं को प्रसाद ने 'हिंसिका' कहा है।[6] 'हिंसिका' शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने भी ठीक इसी अर्थ में किया है।[7] स्पष्ट है कि प्रसाद ने मालवों की हिंसिकाओं के वर्णन में कौटिल्य को आधार माना है।

सैनिक

शुक्र और कौटिल्य ने 'मौल सेना' 'भृत्य सेना' आदि के रूप में सैनिकों के भेदों का वर्णन किया है। प्रसाद ने नाटकों में इन सबकी तो चर्चा नहीं की किन्तु 'शान्ति रक्षकों एवं शरीर रक्षकों' की चर्चा अवश्य की है। शान्ति रक्षक सैनिकों को हम आधुनिक पुलिस का पूर्व रूप मान सकते हैं और शरीर रक्षक सैनिक तो अर्थशास्त्र में 'आत्मरक्षक' ही हैं जो सम्राट या किसी प्रमुख अधिकारी की रक्षा के लिए नियुक्त किये जाते थे।

शस्त्रास्त्र

शुक्रनीति के अनुसार जिन आयुधों का प्रयोग फेंककर किया जाता है उन्हें अस्त्र कहते हैं और अस्त्र से भिन्न शस्त्र कहलाते हैं।[8] बाण और चक्र अस्त्र हैं तथा खड्ग और परशु शस्त्र। प्रसाद ने अस्त्र और शस्त्र का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है यही नहीं उन्होंने शस्त्र तक को अस्त्रों में गिना दिया है।[9]

---

(१) चन्द्र० २/११६
(२) माहण्य (प्लुटार्क) पृ ११२ लाइफ आफ ऐलेक्जेंडर
(३) अर्थशास्त्र २/२८/२१
(४) रघुवंश ४/३६
(५) पेन्टिंग्स इन दि बुद्धिस्ट केव टैम्पल्स आफ अजन्ता (ग्रिफिथ्स) केव नं० १७/७२
(६) चन्द्र० २/१४१/
(७) बौद्धकालीन भारत (जनार्दन भट्ट) पृ० ६०
(८) शुक्रनीति ४/२४-२५
(९) स्कंद १/९

अस्त्रों में धनुष और बाण का उल्लेख अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त में मिलता है। 'अजातशत्रु' में प्रसाद ने अस्त्रों के विरुद्ध अद्भुत की अद्भुत बाण विद्या का उल्लेख किया है।[1] यह विवरण प्रकरण-

अस्त्र

जातकग्रन्थों से अनुभूत है। धनुर्विद्या का कौशल बुद्ध-काल में अत्यन्त प्रचलित था। तक्षशिला में धनुर्विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल तक भी धनुष बाण अत्यन्त महत्व पूर्ण अस्त्र समझे जाते थे। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार भारतीय धनुर्धर बड़े धनुष काम में लाते थे। धनुष की कोटि को पृथ्वी पर रखकर पैर से दबा दिया जाता था तब प्रत्यंचा चढ़ाई जाती थी। इन धनुषों द्वारा छोड़े गये बाण अचूक होते थे और मोटे से मोटे कवचों को भी पार कर जाते थे।[2] धनुष-बाणों का व्यवहार बहुत पीछे तक होता रहा है। प्रसाद ने गुप्तकालीन तथा परवर्ती नाटकों में इसका उल्लेख नहीं किया है।

शस्त्रों में खड्ग छुरी कटार और भाले का उल्लेख हुआ है। खड्ग अत्यन्त प्राचीन शस्त्र है और तक्षशिला में असि संचालन की शिक्षा भी दी जाती थी।

शस्त्र

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में खड्ग तीन प्रकार के बतलाए हैं[3] प्रसाद ने अधिकांश स्थलों पर खड्ग के लिए तलवार का प्रयोग किया है। इसके साथ ही "म्यान"[4] शब्द का प्रयोग भी किया गया है परन्तु तलवार और म्यान शब्द ग्यारहवीं शती के पश्चात् ही भारत में आये। अतः प्रसाद के नाटकों में इन शब्दों से कालव्यतिक्रम आ जाता है। प्रसाद ने 'छुरी'[5] शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया। कौटिल्य ने 'क्षुरिका' के साथ साथ 'क्षुरकल्प' (क्षुर के समान) शस्त्रों का वर्णन किया है और उनमें परशु कुठार, [illegible] आदि का निर्देश है। क्षुर के समान तीखा धार होने के कारण इसका यह नाम दिया गया है।[6] प्रसाद ने "कटार"[7] का भी प्रयोग कुछ स्थलों पर किया है परन्तु यह शब्द प्राचीन नहीं प्रतीत होता। यद्यपि "भाला" भारत का अत्यन्त प्राचीन शस्त्र रहा है तथापि प्रसाद ने इसका उल्लेख केवल यवनों के सम्बन्ध में ही किया है।[8] कौटिल्य ने भाले के लिए "कुन्त"[9]

---

(१) अजात० ५।७५

(२) इंडिका (ऐरियन) चैप्टर १६

(३) निस्त्रिंश मंडलाग्र या असियष्टि—अर्थशास्त्र २/१८/१२

(४) स्कंद० १/२४ (५) स्कंद १/३६ ध्रुव १/२६

(६) अर्थशास्त्र २/१८/१५ (७) ध्रुव० २/४८ (८) चन्द्र० २/१२०

(९) अर्थशास्त्र २/१८/८ ७

शल्य का और कालिदास ने भल्ला[1] का प्रयोग किया है। यूनानी तो युद्ध में भाले का प्रयोग करते ही थे।

उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त प्रसाद ने दुर्ग ध्वंस करने के यंत्रों का भी उल्लेख किया है।[2] ये सब युद्धनीति के शस्त्रों की श्रेणी में आते हैं, शस्त्रों में नहीं। अर्थशास्त्र में उन ऐसे यंत्रों का उल्लेख है जो धरती में गाड़ दिए जाते थे। इनमें 'सर्वतोभद्र' और 'जामदग्न्य' दुर्ग ध्वंस के बहुत उपयुक्त बतलाए गए हैं क्योंकि ये चारों ओर घूम घूम कर मार करते थे तथा बीच के छेद से बड़े-बड़े गोले फेंकते थे।[3] प्रसाद ने कौटिल्य के समान अस्त्र और शस्त्र दोनों के लिए "आयुध" शब्द का प्रयोग भी किया है।[4]

राजचिह्न और सैनिक चिह्नों के रूप में पताकाओं का उल्लेख बहुत प्राचीन है। रामायण और महाभारत काल में भी ध्वजा पताकाओं का उपयोग मिलता है।

पताका

कालिदास ने रघुवंश में सेना की ध्वजाओं का उल्लेख करते हुए 'मत्स्यध्वज' 'पवनर्वेद्रकेतो' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।[5]

युद्धों के अवसर पर किसी विशेष चिह्न से उपलक्षित ध्वजाओं का स्वपक्ष और परपक्ष दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त महत्व होता था अपनी ध्वजा को ऊँचा फहराकर अपने पक्ष के योद्धाओं का उत्साह बढ़ाया जाता था और शत्रुपक्ष को हतोत्साहित करने के लिए सबसे पहले उनकी ध्वजा को बाणों का लक्ष्य बनाया जाता था।[6] ये पताकाएं राजकीय भी होती थीं और व्यक्तिगत भी।[7] अजातशत्रु में कोशल की विजयिनी पताका"[8] 'चन्द्रगुप्त' में 'पौरव पर्वतेश्वर की पताका'[9] तथा मगध की पताका"[10] का उल्लेख है पर उनके ऐतिहासिक स्वरूप का कोई विवरण नहीं मिलता। गुप्त शासकों के गरुड़ध्वज" का उल्लेख 'स्कन्दगुप्त

---

(१) रघुवंश ४/६१ ७/५८ ९ ६६
(२) चन्द्र २/१४६ (३) अर्थशास्त्र २/१७/६
(४) चन्द्र० २/१४९ कौटिल्य 'आयुधागाराध्यक्ष प्रकरण'
(५) रघुवंश ३/५६।९ ४५।७ ४०/१८।३०
(६) दि स्टेंडर्ड ऑफ ए ग्रेट मास्टर इन वार स्पोकन ऑफ ऐज दि मस्तहोल्डर ऑफ दि होल आर्मी .... .. दि फॉलिंग पोल आफ ऑफन दि फर्स्ट प्रोमोनिटरी साइन ऑफ दि फोल डिफीट। और दि स्टैंडर्ड फॉल्स दि होल पार्टी फ्लीस इन डिस्मे एण्ड डिसऑर्डर—होप्किन्स जे० ए० ओ० एस १३ पृ० २४१
(७) दे (फ्लैग्स) आर नॉट हाउएवर नेसेसरिली ऑफ ए डिफिनिट शेप —वही पृ० २४१
(८) अजात १/१५४
(९) चन्द्र० १/१९
(१०) चन्द्र० २/१२१

में कई बार हुआ है।[1] गरुड़ध्वज गुप्त साम्राज्य की पताका है और पर्वतदत्त जैसे वीर सेनानी गरुड़ध्वज को आगे कर सेना का संचालन किया करते थे। पुरगुप्त गुप्त साम्राज्य की पताका" गरुड़ध्वज को रण के मैदान में फहराना चाहता था। युद्ध में पताका आगे आगे चलती थी और इसकी रक्षा के लिए पृथक सेना नियुक्त की जाती थी। सैनिक पताका के सम्मान की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देता था और साम्राज्य के ध्वज की छाया में मर मिटने की कामना क्षत्रिय का परम धर्म समझा जाता था। गुप्त शासकों के शिलालेखों और उनकी मुद्राओं में इस बात की पुष्टि होती है "गरुड़ध्वज उनका राज चिह्न था और उनके शासन काल में इस ध्वजा का अत्यन्त सम्मान था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों की मुद्राओं में इन राजाओं को ध्वज ध्वजा लिए हुए चित्रित किया गया है।[2]

प्रसाद के नाटकों में प्रायः सभी युद्धों में रणवाद्यों के बजने का उल्लेख हुआ है परन्तु अधिकतर स्थलों में "रण-वाद्य"[3] मात्र लिखकर वे मौन हो गए हैं। वे वाद्य क्या होते थे किस प्रकार के होते थे इस विषय में उनसे कुछ नहीं

रण-वाद्य

मिलता। कुछ ही स्थलों में स्पष्ट रूप से कुछ रण-वाद्यों का उल्लेख हुआ है जिनके द्वारा प्रसाद ने प्राचीन युद्ध परिपाटी की झलक दे दी है। प्रसाद ने युद्ध के प्रारम्भ होने से ठीक पूर्व "भारतीय और यवन रणवाद्य" का बजना सूचित किया है।[4] भारतीय युद्धों में रणवाद्यों का स्थान अत्यन्त प्रधान है। महाभारत में युद्ध के पूर्व बजाए जाने वाले अनेक रणवाद्यों का उल्लेख हुआ है।[5] कालांतर में कालिदास के युग में भी सेना के प्रयाण तथा युद्ध दोनों अवसरों पर रण-वाद्यों के बजाए जाने का उल्लेख मिलता है।[6] प्रसाद के नाटकों में निम्न रण-वाद्यों का उल्लेख हुआ है—शृंग[7] तुरही[8] रण भेरी[9] तथा तूर्य[10]। शृंग और तुरही समानार्थक हैं। ध्रुवस्वामिनी सामन्तकुमारों को संकेत देने के लिए शृंग-वादन करती है[11] तथा स्कंदगुप्त में नायक सैनिकों को एकत्र करने के लिए तुरही बजाता

---

(१) स्कंद० १/६ ३ ६२ ३/१०३ ३ ९५]
(२) समुद्रगुप्त की ध्वजवाली स्वर्ण मुद्रा चन्द्रगुप्त द्वितीय की धनुर्धर वाली मुद्रा
—कैटेलाग ऑफ द क्वायन्स ऑफ द गुप्त डाइनेस्टीज इन ब्रिटिश म्यूजियम
—(ऐलन)

(३) चन्द्र० ४/२३९–२३८
(४) चन्द्र ३ १६४
(५) महाभारत ७/१०९
(६) रघुवंश
(७) स्कंद २/५२
(८) वही १/१ ७
(९) चन्द्र० १/१२८
(१०) ध्रुव २/४०
(११) वही २/४०

है।[1] निश्चय ही प्रसाद के ध्यान में कौटिल्य का अर्थशास्त्र रहा होगा जिसके अनुसार सेनापति रण के लिए प्रस्तुत व्यूहबद्ध सेना को विशेष प्रकार के तुरही नाद आदि से संकेत करता था।[2] रणभेरी महाभारत काल से राजपूत काल तक के युद्धों में बराबर उपयोग में लाई जाती रही है।

शंखों का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में युद्ध के पूर्व बजाये जाने वाले अन्यान्य वाद्यों के साथ 'शंखों' का उल्लेख हुआ है।[3] संभवतः शंखनाद युद्ध के प्रारम्भ का प्रथम संकेत होता था। महाभारत में युद्ध के प्रारम्भ की सूचना भीष्मपितामह ने ही सर्वप्रथम शंख फूंककर दी थी।[4] कालिदास ने भी रण-वाद्यों में शंख को स्थान दिया है।[5] शंख युद्ध के प्रारम्भ तथा अन्त दोनों में बजाया जाता था पर अन्त में केवल विजेता ही बजाता था।[6] प्रसाद ने स्पष्टतः शंख को रणवाद्य नहीं लिखा है केवल चक्रपालित की युद्ध सम्बन्धी उक्ति से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे 'शंख' को रण-वाद्य मानते हैं।[7]

प्रसाद ने अपने नाटकों में स्थान-स्थान पर युद्ध से स्त्रियों का प्रत्यक्ष संबंध जोड़ा है। 'अजातशत्रु' के अतिरिक्त अन्य सभी नाटकों में स्त्रियाँ युद्ध-क्षेत्र में विभिन्न कार्य करती हुई प्रदर्शित की गई हैं। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय तथा अन्य ऐतिहासिक आधार प्रसाद के उक्त मत की पुष्टि करते ज्ञात होते हैं।

प्रसाद द्वारा चित्रित प्राचीन भारतीय समाज की स्त्रियाँ युद्ध में अन्नपान और भैषज्य सेवा' का सबसे महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।[8] प्रसाद के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों का दल एक नियमित सेवा विभाग युद्ध में स्त्रियों की भाँति युद्ध-क्षेत्र में सेनापति के अधीन कार्य करता था। अन्नपान और भैषज्य सेवा' करने वाली स्त्रियाँ मालविका को अपना प्रधान चुनती हैं और मालवों की युद्ध-परिषद् के गणमुख्य उनके इस निर्णय

---

(१) स्कंद० १/१०७
(२) अर्थशास्त्र १०/६/४६
(३) श्रीमद् भागवत १/१३
(४) वही १/१२
(५) रघु० ७/६३-६४
(६) वही ७/६३
(७) स्कंद० २/५२
(८) चन्द्र० २/१४०

को स्वीकृति देते हैं।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि वह दल स्वतन्त्र न होकर सेना का एक ग्रङ्ग होता था। मालविका चन्द्रगुप्त को सूचना देती है कि वह — स्कन्धावार के पृष्ठ भाग में अपने साधन रखती हैं तथा एक शुल्क भाण्डार उसके उपवन में भी रहेगा।[2] चन्द्रगुप्त विचार करने के उपरांत[3] ही उसे इसकी अनुमति देता है। चन्द्रगुप्त मालव-क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का महाबलाधिकृत[4] है और उसकी आज्ञा सैनिक नियन्त्रणों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर आवश्यक है। प्रसाद के नाटकों के अनुसार युद्ध काल में आहतों की सेवा का समस्त प्रबन्ध भी स्त्रियाँ ही किया करती थीं।[5] हर्ष के काल में भी स्त्रियाँ युद्धभूमि में हताहतों की सेवा इत्यादि का प्रबन्ध करती रही होंगी ऐसा राज्यश्री से ध्वनित होता है।[6]

उक्त विचारों के लिए प्रसाद कौटिल्य के ऋणी हैं। सेना के प्रयाण के स्वरूप और प्रकार का उल्लेख करते हुए कौटिल्य कहते हैं — स्कन्धावार के पृष्ठभाग में चिकित्सकों एवं चिकित्सा सम्बन्धी शस्त्र और औषधियों के साथ-साथ पुरुषों को अन्नपान आदि पहुँचाने तथा उनकी सेवा करने के लिए स्त्रियाँ भी होनी चाहिये।[7]

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि स्कन्धावार के पृष्ठभाग में ही मालविका अपना साधन रखती है। अन्नपान भैषज्य से सम्बन्धित होने के कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ये स्त्रियाँ उक्त कार्य में विशेष रूप से शिक्षित एवं दक्ष होती होंगी।

प्रसाद ने शिविर और स्कन्धावार दोनों में स्त्रियों की उपस्थिति चित्रित की है। मौर्यों के शिविर के सम्बन्ध में 'अन्तःपुर की महिलाओं'[8] का उल्लेख हुआ है। आगामी युद्धों से दूर रहने के लिए शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार से मालविका के साथ जा रही हैं।[9] कार्नेलिया स्कन्धावार में न जाकर अपने पिता के साथ वहाँ (शिविर) में रहने का निश्चय[10] करती है।

अर्थशास्त्र के अनुसार स्कन्धावार के पीछे वाले भाग में अन्तःपुर और उसके पीछे ही उसकी रक्षक सेना होनी चाहिए।[11] इससे यह स्पष्ट है कि स्कन्धावार में

---

(१) चन्द्र० २/१४० (२) वही २/१४४
(३) वही १/१४४ (४) चन्द्र० २/१४०
(५) वही १/१४६ (६) राज्यश्री ३/६७
(७) अर्थशास्त्र १०/१/६२ पृ० ४०४ (संपादित)
(८) चन्द्र० २/१४४ (६) वही २/१०८
(१०) वही २/१०८ (११) अर्थशास्त्र १०/१/ पृ ४१७

युद्ध स्थल के समीप या युद्ध तट पर ही राजाओं के अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी रहा करती थीं। बाण की साक्षी के अनुसार सेना के अभियान में एक शिविर के उठाते समय सोये हुए प्रेमियों को जगाती हुई 'वामचेटी' का उल्लेख हुआ है।[1] इससे भी उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त सिकन्दर की विजयों के विवरणों से स्पष्ट है कि भारत में भी उसके साथ स्कंधावारों में विजित राज्यों की स्त्रियाँ रही हैं।[2] प्लूटार्क ने लिखा है कि फारस में दारा की पत्नी व कन्याओं के अतिरिक्त कई ग्रीक स्त्रियाँ तक उसके सेनानिवेशों में थीं।[3]

प्रसाद ने कई स्थलों पर स्त्रियों का योद्धाओं को रण के लिए प्रेरित करना प्रदर्शित किया है। जयमाला के उत्साहवर्द्धक वाक्य, एक आदर्श भारतीय नारी के सामान्य उद्गार हैं। अलका आर्य पताका लिए हुए तक्षशिला के नागरिकों को युद्ध के लिए उत्तेजित करती है।[4] मन्दाकिनी राक्षस के विरुद्ध जाते हुए सामन्त कुमारों के आगे उत्साहवर्द्धक गीत गाती हुई चलती है। ये दोनों उदाहरण कौटिल्य के पूर्व उद्धृत विवेचन पुष्पाभ्युक्षणीया की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं।

प्रसाद ने युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेती हुई स्त्रियों का भी चित्रण किया है। कल्याणी का पुरुष वेश में गान्धार युद्ध में मगध की एक सेना का सेनापतित्व प्रसाद की कल्पना मात्र है[6] किन्तु उन दिनों स्त्रियों को भी युद्ध सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। इसका समर्थन ग्रीक इतिहासकारों ने किया है। कठ जाति की नारियों ने ग्रीक सैनिकों से सशस्त्र असमसाहस युद्ध किया था।[6] अलका ने मालव दुर्ग के परकोटे में बाण-वर्षा कर सिकन्दर के कई सैनिकों को मार गिराया था और उसी युद्ध में सिकन्दर भी घायल हो गया था।[7] इसका आधार भी ग्रीक इतिहासकारों का उल्लेख ही प्रतीत होता है।

युद्ध के पूर्व सेना के निवास स्थान के लिए प्रसाद ने स्कंधावार[8] शिविर[9] सेनानिवेश[10] तथा छावनी[11] का प्रयोग किया है। युद्धभूमि के समीप ही सेना के

---

(१) हर्षचरित-वासकिन्या (अ ४ पृ० ११७, पं० ५ मूल)
(२) लाईव्स-प्लूटार्क (लाईफ आफ एलक्जेंडर) (३) वही
(४) चंद्र० ४/२१७
(५) चंद्र २/११७
(६) दि सिविलिजेशन आफ ऐंशिएंट इण्डिया (लुई रेनु) पृ० १२१
(७) चंद्र० २/१५०
(८) चंद्र० ४/१११ राज्यश्री २/३५
(९) वही ४/२१५. ध्रु० १/२४
(१०) वही ४/२१६, राज्यश्री १/५६ (११) राज्यश्री १/५६

शिविर स्कन्धावार

प्रासाद के अर्थ में स्कन्धावार तथा शिविर दोनों का प्रयोग प्राचीन है।[१] अर्थशास्त्र के सांग्रामिक अधिकरण का पहिला अध्याय ही 'स्कन्धावार निवेश' का है क्रमशः सेना निवेश भी साक्षी भी उपलब्ध है। छावनी शब्द अवश्य आधुनिक है और संभवतः मुसलमानों के आक्रमण के उपरान्त ही इसका प्रयोग भारत में होने लगा होगा। स्कन्धावार तथा शिविर शब्दों के प्रयोग में प्रसाद विशेष स्पष्ट नहीं हैं। आगामी युद्धों से दूर रहने के लिए शिविर की सब स्त्रियां स्कन्धावार में छायाजी के साथ जा रही हैं[२]—इस कथन में शिविर और स्कन्धावार दो विभिन्न अर्थों का बोध करा रहे हैं परन्तु—'चन्द्रगुप्त को सिन्धु के उस पार जाना होगा—यवन स्कन्धावार पर आक्रमण करने'[३] तथा 'जब चन्द्रगुप्त की सेना सिन्धु के उस पार पहुंच जाय तब तुम्हें ग्रीकों के प्रधान शिविर की ओर आक्रमण को प्रेरित करना होगा'[४] चाणक्य के एक ही प्रसङ्ग में कहे हुए इन दो वाक्यों में शिविर और स्कन्धावार एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। 'शिविर आपका समीप' है[५] में शिविर शब्द तम्बू के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। 'यहाँ बड़े बड़े शिविर पड़े दिखाई दे रहे हैं'[६] से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयुक्त वाक्यों में प्रसाद ने स्कन्धावार शब्द का कौटिलीय अर्थ में तथा शिविर का साधारण तम्बू के अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु सभी स्थलों पर प्रसाद इस अन्तर को नहीं निभा सके हैं। 'मगध का शिविर'[७] जैसे प्रयोगों में यह अन्तर है परन्तु ग्रीकों का शिविर[८] शक शिविर[९] इत्यादि प्रयोगों में शिविर और स्कन्धावार में कोई अन्तर नहीं किया गया है। सेना-निवेश का प्रयोग भी छावनी या स्कन्धावार के अर्थ में ही किया गया प्रतीत होता है। ऊपर 'यवन स्कन्धावार और ग्रीकों के प्रधान शिविर' का उल्लेख हो चुका है। यवन सम्राट सिन्धु के इस पार अपने सेना निवेश में आप हैं मेरे बन्दी नहीं'[१०]—इस वाक्य में सेनानिवेश का प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है। एक अन्य वाक्य में युद्ध भूमि के समीप तथा उससे दूर विभिन्न स्थलों पर बने हुए कई सेनानिवेशों की ओर संकेत किया गया है।[११]

अर्थशास्त्र में स्कन्धावार के निर्माण की विधि विस्तृत रूप से दी गई है।[१२] प्रसाद के नाटकों से प्रतीत होता है कि स्कन्धावार में अलग अलग गुल्मों के लिए भिन्न भिन्न शिविर होते थे।[१३] सम्भवतः प्रधान शिविर से प्रसाद का अभिप्राय राजा

---

(१) दि सिविलिजेशन आफ ऐंशिएण्ट इण्डिया (लुई रेनु) पृ १२१
(२) चंद्र० २।१८ (३) चंद्र ४।२१५ (४) वही ४।२१५
(५) राज्यश्री ४ २१३ (६) वही ३।१४
(७) चन्द्र० २।११८ (८) वही ५।१२०
(९) ध्रु० १ २८ (१०) चंद्र० ३।१११
(११) वही ४।२३९ (१२) अर्थशास्त्र १०।१ सांग्रामिक प्रकरण
(१३) चंद्र० २।११८

के शिविर से था। स्कंदगुप्त में उज्जयिनी के गुप्त स्कंधावार में की गई मंत्रणाओं इत्यादि से प्रतीत होता है कि स्कंधावार में मंत्रणा, आवास इत्यादि के लिये विभिन्न स्थान होते थे। प्रसाद ने प्रायः सभी स्कंधावारों में ग्रीक अथवा भारतीय स्त्रियों को चित्रित किया है। अतः स्कंधावार एक ऐसा सुदृढ़ स्थान समझा जाता होगा जिसमें अन्तःपुर की महिलाएँ भी सुरक्षित रह सकती थीं। ये स्त्रियां दासियां अथवा पुरुषों को उत्साहित करने वाली मात्र नहीं हैं वरन् साम्राज्ञी सेनापति की पुत्री राजपुत्रियां (अलका) इत्यादि हैं। स्कंधावार के पृष्ठ भाग में श्मशान और अपराध विभाग का उल्लेख पहले हो चुका है।

स्कंधावार प्रयाण के सम्बन्ध में कौटिल्य लिखते हैं—आगे आगे नायक मध्य में कलत्र व स्वामी पार्श्व में अश्व सेना चक्रान्त में हाथी ... फिर भिन्न-भिन्न तदुपरान्त कलत्र का स्थान, अन्त में सेनापति का स्थान।[1] इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक स्कंधावार के मध्य में राजा तथा उसके अन्तःपुर की स्थिति दूसरे उसका 'अपसार' नाम। प्रसाद ने 'अपसार' का नामोल्लेख नहीं किया है पर अन्तःपुर की स्थिति स्पष्ट कर दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इन शब्दों के प्रयोगों में प्रसाद ने अर्थशास्त्र का ही आधार लिया है पर कहीं कहीं इनके निश्चित अर्थ का निर्वाह वे नहीं कर पाये हैं।

कौटिल्य ने दूत को राजा का मुख बतलाया है और विस्तार से उसके कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है जिसमें राजकीय सन्देश-वहन संधि का पालन कराना, प्रताप का प्रकाशन राजा के लिए मित्रों का संग्रह करना शत्रु के मित्रों में फूट डालना आदि मुख्य हैं।[2] प्रसाद के नाटकों में

दूत और चर

आए हुए दूत इनमें से बहुत से कार्य करते हुए पाए जाते हैं। सिकन्दर का दूत मालवों के संधिविग्राहक सिंहरण के पास और शकराज का दूत रामगुप्त के पास "युद्ध या मैत्री" का सन्देश लेकर आता है।[3]

दूत

मालवेश बंधुवर्मा का दूत मालव की रक्षा के लिए स्कंदगुप्त से सैन्य सहायता मांगने आया है।[4] मालव और मगध साम्राज्य में पहले एक संधि हुई थी यहां दूत का उद्देश्य उसी 'संधि की रक्षा' के लिए प्रयत्न करना है। खिंगिल का जो दूत अनन्तदेवी के पास उपहार लेकर आता है यह दूत के तीन कार्य करता हुआ देखा जाता है। एक तो यह मगध की पुष्प-परिषद् और हूणों के बीच की गई गुप्त संधि का पालन कराना चाहता है दूसरा यह अवसर आने पर अपने प्रताप को प्रकट करने की धमकी भी देता है जिसके भय से

---

(१) पुरस्तान्नायकः। मध्ये कलत्रं स्वामी च। पार्श्वयोरश्वाः—बाहूत्सारं चक्रान्तेषु हस्तिनः। प्रसारवृद्धिर्वा सर्वतः। वनाजीवः। स्वदेशादन्यायतिर्मीविधिः। मित्रबलमासारः। कलत्रस्थानमपसारः पश्चात् सेनापतिः पर्यायाभिनिविशेत।

(२) 'दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च' अर्थ १/१६ ४९-५०

(३) चन्द्र० २/१४४ ध्रुव २/११

(४) स्कंद० १।१७

भटार्क उसे यह आश्वासन देता है कि वह ठीक अवसर पर स्कन्दगुप्त का धोखा देकर हूणों को सहायता देगा। इस प्रकार वह मृद्गभेद का कार्यसाधन करने में भी समर्थ हुआ है।[1] सिल्यूकस का दूत साइबर्टियस चन्द्रगुप्त के पास 'युद्ध और मैत्री का सन्देश' लेकर आता है और इसके लिए सिल्यूकस का 'प्रताप प्रकाशित करना' नहीं भूलता।[2] कौटिल्य ने जहाँ एक ओर दूत के लिए आदेश दिया है कि प्राणवध की आशंका होते हुए भी उसे अपने स्वामी का सन्देश स्पष्टता और निर्भीकता से कहना चाहिए[3] वहीं राजा के लिए भी स्पष्ट विधान किया है कि शस्त्र उठाने पर भी दूत अवध्य होता है।[4] शकराज का दूत गुप्त-सम्राट के पास महादेवी ध्रुवस्वामिनी की मांग जैसी अपमानजनक शर्त लेकर आता है और स्पष्ट कह देता है कि— 'उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे संधि के नियमों को स्वीकार करें'। इतने कटु सन्देश को केवल इसलिए सुनना पड़ा कि दूत अवध्य होता है।[5] यह अवध्यता स्वभावतः दूत की सुरक्षा की ओर भी संकेत करती है। सिंहरण यवन दूत को रक्षा के लिए ही रक्षकों को उसे सीमा तक पहुँचाने की आज्ञा देता है[6] परन्तु कटु एवं अपमानजनक सन्देश सुनकर क्रोध पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी दूत के लिए वध या बन्धन की भी आशंका हो सकती है। ऐसे अवसर पर चाणक्य स्पष्ट कह देते हैं कि यदि ऐसी आशंका हो तो विसर्जित होते ही तत्काल निकल भागने की चेष्टा करनी चाहिए।[7] खिंगिल अपमानजनक सन्देश लेकर गया था—अतः शकराज को उसके बन्दी होने की शंका होने लगती है।[8] एक स्थल पर प्रसाद के नाटकों में दूत विवाह का सन्देश लेकर भी आते हैं।[9] राजाओं के विवाह सम्बन्ध के लिए दूत-संप्रेषण की परम्परा का उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्रायः मिलता है।

चरों का उल्लेख प्रसाद के नाटकों में कई स्थलों पर हुआ है और उन्हें कहीं चर[10] कहीं गुप्त-चर[11] तथा कहीं गुप्त अनुचर[12] कहा गया है। साधारणतः प्रसाद

---

(१) स्कन्द० १।६२ (२) चन्द्र० ४।२११
(३) शासनं च यथोक्तं ब्रूयात्। प्राणाबाधेऽपि दृष्टे।—अर्थशास्त्र १।१६।११–१८
(४) तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारस्तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः।
—अर्थशास्त्र १।१६।१७
(५) ध्रुव० १।३५ (६) चन्द्र० २।१४४
(७) शासनमनिष्टमुक्त्वा [illegible] विसृष्टो व्यपगच्छेत् अन्यथा नियम्येत।
(८) ध्रुव० १।३५ (९) चन्द्र० १।७९
(१०) चन्द्र० ३।१५१ १६६ राज्यश्री १।७१
(११) चन्द्र० १।८२ २।१११
(१२) अजात० २।६७

चर

ने ऐसे व्यक्तियों को ही चर या गुप्तचर कहा है जो राज्य-प्रजा के रहस्यों का उद्घाटन करने तथा गुप्त-सूचनाएं देने का काम करते थे। शुक्रनीति में गुप्तचरों के लिए 'गूढ़चार' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका काम छद्म-वेश में रहकर राजा की रक्षा करने से लेकर राजकर्मचारियों एवं प्रजा के भेद मालूम करना था।[1] अर्थशास्त्र में इन्हीं को गूढ़ पुरुष कहा गया है। ये गूढ़पुरुष छद्मवेश, संकेत शब्द एवं अन्य कई प्रकार से राज्य-भिन्न प्रजा सभी के भेदों एवं षड्यन्त्रों का पता लगाकर राजा को सूचित करते थे। अपराधियों को पकड़ने से लेकर शत्रु राजा की सेना इत्यादि के भेद जानने तक का कार्य इन्हीं को सौंपा जाता था।[2] कालिदास ने गुप्तचर के लिए चर, अपसर्प तथा प्रणिधि शब्दों का प्रयोग किया है[3] और विशाखदत्त ने केवल चर का।[4] कौटिल्य ने गुप्तचरों के दो भेद किए हैं—संस्था और संचार। जो एक स्थान पर ही सन्यासी या कापटिक वेश में रहकर गुप्त-रहस्यों की खोज किया करते हैं उन्हें "संस्था" कहा गया है और जो नाना विभिन्न वेशों में इधर-उधर घूमकर अपना कार्य किया करते हैं उन्हें 'संचार'।[5] प्रसाद ने इस तरह का कोई अन्तर नहीं किया है तथापि उनके सभी गुप्तचर 'संचार' ही कहे जा सकते हैं। इसी प्रसंग में प्रसाद का 'आप्त प्रणिधि' शब्द विचारणीय है। यह उच्चस्तर के गूढ़ चर के अर्थ में आया हुआ प्रतीत होता है। प्रसाद ने दो स्थलों पर 'आप्त प्रणिधि' शब्द का प्रयोग किया है और दोनों स्थलों पर इसका सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से जोड़ा गया है साधारण गुप्तचरों से नहीं। 'अजातशत्रु' में राजा का मित्र तथा विश्वासपात्र समुद्रगुप्त काशी में मगध का गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजा गया है।[6] 'चन्द्रगुप्त' में राक्षस चाणक्य जैसे विद्वान को तक्षशिला में मगध का गुप्त प्रणिधि बनाकर भेजना चाहता है।[7] इस तरह के असाधारण गुप्त-प्रणिधियों का सम्बन्ध न तो शुक्रनीति से जोड़ा जा सकता है और न अर्थशास्त्र से। अर्थशास्त्र में

---

(१) शुक्रनीति १।११

(२) अर्थशास्त्र १।११।१—२—३—४

(३) रघुवंश १४।३१, ३२ १७।४८ कुमारसंभव २।६१७

(४) मुद्राराक्षस अङ्क १

(५) अर्थशास्त्र १।१२।८-९

(६) अजात० २/६६

(७) चन्द्र० १/८५

'प्रणिधि' शब्द स्वतन्त्र पारिभाषिक अर्थ में नहीं किन्तु दूत-प्रणिधि[1] (दूत से सम्बन्ध रखने वाले कर्त्तव्याकर्त्तव्य) राज प्रणिधि[2] (राजा के कर्त्तव्याकर्तव्य) निशान्त प्रणिधि[3] (रात्रि सुरक्षा के सम्बन्ध रखने वाले कर्तव्याकर्तव्य) जैसे शब्दों में विशेष रूप से पाया है। यहां प्रणिधि का न दूत अर्थ से सम्बन्ध है न चर अर्थ से। कालिदास में अवश्य 'प्रणिधि' शब्द 'गुप्त अभिकर्ता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] इस अर्थ में प्रणिधि के साथ 'गुप्त' विशेषण अनावश्यक है और यदि इसका अर्थ विशिष्ट दूत (लेगट इन्वौय या एमिसरी) लें तो ऐसा विशिष्ट दूत 'गुप्त' होकर नहीं रह सकता अतः प्रकार के इस प्रयोग का विशेष समर्थन नहीं किया जा सकता।

प्रसार के सभी गुप्तचर संचार-वर्ग के हैं अतः समय समय पर इनके वेशान्तर करने की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। चाणक्य आदि पर्वतेश्वर के स्कंधावार में नट नर्तकी सपेरा और ब्रह्मचारी बनकर जाते हैं।[5] चन्द्रगुप्त इन्द्रजाली के वेश में मगध सेना में प्रवेश करता है।[6] चाणक्य का चर क्षपणक वेश में गीत गाता हुआ भीख मांगता है और उस गीत के द्वारा ही बन्दी सिंहरण को सन्देश दे जाता है।[7] अर्थशास्त्र के 'कटक-शोधन' प्रकरण में बतलाया है कि गुप्तचरों को विशेष परिस्थितियों में किस प्रकार का वेश धारण करना चाहिये। ये गुप्तचर सिद्ध तापस सन्यासी ऐन्द्रजालिक नट भाण आदि का वेश धारण करते थे।[8] अर्थपूर्ण गीत गाते हुए क्षपणक और सपेरे के लिए प्रमाद सम्भवतः 'मुद्राराक्षस' के ऋणी हैं।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में स्त्री गुप्तचरों का भी उल्लेख हुआ है। मालविका नर्तकी के वेश में राक्षस का जाली पत्र और उसकी मुद्रा लेकर नन्द के पास जाती है।[9]

स्त्री गुप्तचर

सुवासिनी भी गुप्तचर बनकर सिल्यूकस की बन्दिनी हो जाती है और कार्नेलिया के पास रहने लगती है।[10] कौटिल्य लिखते हैं — यदि द्वार पर भिक्षुकी वेश में स्त्री गुप्तचर को रोक लिया जाय तो वह शिल्पकारिका नटी या दासी के रूप में संगीत कविता पाठ वाद्य या गूढ़ लेख द्वारा अपना गुप्त सन्देश सूचित कर दे।[11] इससे भी स्त्री गुप्तचरों का उपयोग में लाने की पुष्टि होती है। कौटिल्य इन्हें 'गूढ़ा (स्त्रियां)' कहते हैं।[12] अत

---

(१) अर्थशास्त्र १/११/१ (२) वही १/१९/१
(४) वही १/२०/११ (४) कुमार० ३/१
(५) चन्द्र २/१५७ (६) चन्द्र० २/१९८
(७) वही ३/१३३ (८) अर्थशास्त्र ४/४/३
(९) चंद्र० ४/१०२ (१०) चंद्र ४/२२२
(११) भिक्षुकी प्रतिषेधे द्वास्थपरम्परा मातापितृव्यञ्जना शिल्पकारिका कुशीलवा दास्यो वा गीत-पाठ्य-वाद्य भाण्ड गूढ़लेख-संज्ञाभिर्वा चारं निर्हरेयुः
अर्थशास्त्र १/१२/१५
(१२) अर्थशास्त्र ? १२/५/७०

शत्रु को पराजित करने के लिए परम रूप भीषणानि रूपीभि:[1] का उपयोग भी किया जाता था।

अर्थशास्त्र के प्रमाणों के अनुसार दूत और चर दो स्वतन्त्र पद हैं और उनके कार्य भी एक दूसरे से भिन्न हैं। असावधानी या किसी भी कारण से प्रणाय ने कई स्थलों पर इस अन्तर को भुलाकर एक ही व्यक्ति के लिये कहीं 'चर' और कहीं 'दूत' कह दिया है। स्कन्दगुप्त के पास आये हुए मालवेश के दूत के लिए वे 'चर का प्रवेश' जैसा रंगसंकेत देते हैं।[2] नगरहार के हूण स्कन्धावार से भेजे गए सेनापति खिंगल के दूत को 'चर' और 'दूत' दोनों संज्ञाएं एक साथ दी गई हैं।[3] 'राज्यश्री' ने देवगुप्त के लिए उसके मंत्री का युद्ध सम्बन्धी पत्र दूत लाता है,[4] यद्यपि यह कार्य चर का होना चाहिए था। स्थाण्वीश्वर से प्रभाकरवर्द्धन के निधन की सूचना भी देवगुप्त को दूत से ही मिलती है।[5] राज्यवर्द्धन को कान्यकुब्ज दुर्ग के भीतर की सैन्य सम्बन्धी गुप्त सूचना भी दूत ही देता है।[6] साधारण व्यवहार में प्राय: प्रत्येक सन्देशवाहक के लिए 'दूत' शब्द का ही प्रयोग होता है अतः संभवतः है कि प्रसाद उक्त स्थलों पर इन शब्दों के पारिभाषिक अर्थ को भूल गये हैं।

---

(१) अर्थशास्त्र	१२/२/१८
(२) स्कंद	१/१२
(३) स्कंद०	३/१२ ९१
(४) राज्यश्री	३/१६
(५) राज्यश्री	१/२४
(६) राज्यश्री	२/१५

सैन्य योजना और युद्ध

प्रसाद ने सेना के लिए "सेना"[1] तथा "वाहिनी"[2] शब्दों का प्रयोग किया है और सेना की एक टुकड़ी के लिए 'गुल्म'[3] का। सेना का साधारण अर्थ "सम्पूर्ण सैन्य-शक्ति" है और "वाहिनी" शब्द का प्रयोग भी प्रसाद ने इसी अर्थ में किया है। पारिभाषिक अर्थ के अनुसार एक वाहिनी में ८१ हाथी ८१ रथ २४३ घोड़े और ४०५ पदाति होते थे। यह आजकल की "बटालियन" के समकक्ष कही जा सकती है[4] पर प्रसाद ने इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं किया है।

सैन्य

डा० अग्रवाल के अनुसार प्राचीन काल में सेना के सबसे छोटे भाग को 'पत्ति' कहते थे जिसमें एक हाथी एक रथ तीन घोड़े और पांच पैदल होते थे। तीन 'पत्ति' का एक "सेनामुख" और तीन "सेनामुख" का एक "गुल्म" होता था। इस प्रकार एक गुल्म में नौ हाथी नौ रथ सत्ताईस घोड़े और पैंतालीस पैदल हुआ करते थे।[5] प्रसाद ने राज्य विशेष की सैनिक टुकड़ियों को गुल्म कहा है जैसे— मगध गुल्म 'पंचनद गुल्म' "यवनों के गुल्म' आदि। पर "गुल्म" का उपर्युक्त अर्थ मानने पर प्रसाद के उक्त प्रयोग असंगत से प्रतीत होते हैं। क्या पर्वतेश्वर अथवा हर्ष की सहायता के लिए एक ही मगधगुल्म अथवा पंचनद-गुल्म भेजना पर्याप्त माना जा सकता है? बहुवचन में होने के कारण "यवनों के गुल्म" के सम्बन्ध में यह आक्षेप नहीं किया जा सकता। प्रसाद के नाटकों में सेना के तीन अन्य प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है—आसीर सेना[6] रक्षित सेना[7] और रक्षक सेना[8]। इनका प्रयोग प्रसाद ने क्रमशः युद्ध में सबसे आगे लड़ने वाली सेना (वान-गार्ड) आसीर सेना की पूर्ति करने वाली सेना (रिलीफ) और राजा सेनापति अन्तःपुर आदि की रक्षा करने वाली सेना (आर्म्ड-गार्ड) के अर्थों में किया है। इनके अतिरिक्त एक स्थान

---

(१) स्कंद० ३/१४ १/९ (२) चन्द्र १/७८
(३) चन्द्र २/११८ राज्यश्री २/१४ चन्द्र २/१४१
(४) हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन – (अग्रवाल) पृ० १४०
(५) वही पृ० १४० (६) स्कंद० १/६ १/१२ चन्द्र ४/२३५
(७) चन्द्र २/११८
(८) स्क० ३/११

पर दुर्ग रक्षक सेना[1] का भी प्रयोग हुआ है। इसका सामान्य अर्थ ही लिया जाना उचित है।

प्रसाद के नाटकों में सेना के निम्नलिखित अधिकारियों का उल्लेख हुआ है—महाबलाधिकृत महासेनापति, बलाधिकृत सेनापति नायक और गौल्मिक। गुप्तकाल में सेना विभाग के प्रधान अधिकारी की उपाधि महाबलाधिकृत[2] थी। डास्टोर

सेनाधिकारी

के मत से गुप्तकाल की सेना में महासेनापति ही सबसे प्रधान अधिकारी होता था और उसी अधीन के एक अन्य अधिकारी को महाबलाधिकृत भी कहते थे।[3] परन्तु वे इन दोनों के संबन्ध को निर्धारित नहीं कर सके हैं ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध संचालन के निमित्त समस्त सेना का सर्वोच्च अधिकारी तो महासेनापति होता था किन्तु जो समस्त युद्ध विभाग का अधिकारी राजा के साथ युद्ध सम्बन्धी मंत्रणा में भाग लेता था वह महाबलाधिकृत होता था। महाबलाधिकृत को हम आधुनिक 'रक्षा-मंत्री' के समकक्ष रख सकते हैं। संभवतः गुप्त-काल में महासेनापति ही

महाबलाधिकृत

महासेनापति

रक्षा-मंत्री भी होता हो अथवा महाबलाधिकृत महासेनापति की एक अन्य उपाधि हो किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। महाबलाधिकृत शब्द वस्तुतः उत्तर-मौर्य कालीन है और 'अर्थशास्त्र' में इस पदाधिकारी का उल्लेख नहीं है किन्तु गुप्तकाल में इसका प्रचुर उपयोग मिलता है। प्रसाद ने मौर्य कालीन नाटक 'चन्द्रगुप्त' में भी इसका प्रयोग किया है।[4] सिकन्दर की सेना से युद्ध करने के लिए चन्द्रगुप्त को मालव-क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का 'महाबलाधिकृत' निर्वाचित किया गया था फिर भी उसे सेनापति ही कहा गया है[5] पहले तो यहाँ ऐतिहासिक दोष स्पष्ट है दूसरे यहाँ महाबलाधिकृत को सेनापति का पर्याय नाम लिया गया है। ऊपर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसके अनुसार भी यहाँ महासेनापति का प्रयोग ही समीचीन था। इस नाटक में महासेनापति का कहीं उल्लेख न होने से सेनापति को महासेनापति का समानार्थक मान ही मान लें पर युद्ध विशेष के लिए नियुक्त सेनापति को महाबलाधिकृत नहीं कहा जा सकता। स्कंदगुप्त में भी महाबलाधिकृत का प्रयोग हमारे उपर्युक्त निष्कर्षों के अनुसार नहीं हुआ है कुमारगुप्त के काल में भटार्क महाबलाधिकृत है[6] वह स्वयं कहीं भी सेना का नेतृत्व और संचालन नहीं

---

(१) राज्यश्री १/२८
(२) देखिये महाराज हस्तिन का ताम्रपत्र ५१०–११ ई०
— फ्लीट – सी० आइ० आइ (२१) पृ० १०९
(३) लाइफ इन दि गुप्ता एज – डास्टोर) पृ० २६४
(४) चन्द्र ९/१४०   (५) वही २/१४५
(६) स्कं० २/११७

करता अतः महासेनापति नहीं। किन्तु नवीन प्राप्त साम्राज्य की नींव स्कंदगुप्त ने उज्जयनी में रखी थी उसके महाबलाधिकृत पहले शाक्तिगुप्त हुए और उनकी मृत्यु के उपरान्त केतुवर्मा।[1] भटार्क के समान ही इनको भी "महासेनापति" नहीं कहा गया है किन्तु हूण-युद्ध में दोनों ने ही युद्ध का नेतृत्व किया था। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि दोनों ने ही "महासेनापति" का कार्य भार भी संभाला था प्रकार से यहां भी महासेनापति का उल्लेख न कर अपनी मान्यता सही रखी है कि महाबलाधिकृत और महासेनापति समानार्थक शब्द हैं।

महाबलाधिकृत और महासेनापति से एक स्तर नीचे ही बलाधिकृत और सेनापति आते हैं। बसरा की गुप्तकालीन मुद्राओं से ज्ञात होता है कि महाबलाधिकृत की आधीनता में कई बलाधिकृत होते थे।[2] अन्य गुप्तकालीन लेखों में भी सेना के विभिन्न अधिकारी के अर्थ में "बलाधिकृति" का उल्लेख हुआ है।[3]

बलाधिकृति व सेनापति

बलाधिकृति भी गुप्तकालीन उपाधि है अतः विग्रह के लिए बलाधिकृति के प्रयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता।[4] "स्कन्दगुप्त" में मालवीर सेना का संचालन करने वाला पर्णदत्त बलाधिकृत है।[5] एक स्थल पर स्कंदगुप्त उसे "सेनापति" कह कर सम्बोधन करता है।[6] यहीं यह प्रश्न उठता है कि बलाधिकृति और सेनापति में क्या सम्बन्ध है। अपने पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर हम यहां भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सेनापति और बलाधिकृति दोनों पृथक पृथक पद होते थे, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर बलाधिकृत सेनापति बनकर युद्ध-संचालन भी करते थे। कालिदास ने "सेना के प्रधान" के अर्थ में ही "सेनापति" शब्द को ग्रहण किया है।[7] अर्थशास्त्र की साक्षी के अनुसार सेना का विभाजन कई टुकड़ियों (पद) में किया जाता था। इस प्रकार के दस पदों के स्वामी को "पदिक" दस पदिकों के स्वामी को "सेनापति" और दस सेनापतियों के स्वामी को "नायक" कहते थे।[8] प्रकार से

(१) स्कं० २/७९ ३/१८
(२) लाइफ इन दि गुप्ता एज (सालटोर) पृ० २६४
(३) मथुरा स्टोन इमेज इन्सक्रिप्शन ऑफ आदित्यसेन ६७२-७३ ई०
—एपिग्राफिका इण्डिका (४१) पृ० २१०
(४) चन्द्रगुप्त २/११८ (६) स्कं० ३/४०
(५) स्कं० १/१०
(७) दि एम्परर वाज इन दि चार्ज आफ ए कमाण्डर इन चीफ, सेनापति एण्ड दि चीफ और दि एयर-ऍपरेन्ट मे दि आर्मी इन पर्सन ही ऐक्नोलेज्ड दि कौन्सिल आफ दी चीफ मार्शल।"
—इण्डिया इन कालिदास (उपाध्याय) पृ० १६५
(८) अर्थशास्त्र १०/६/४५-४७-४८

सेनापति का कौटलीय अर्थ न लेकर कालिदास के समान ही उसे सेना का प्रधान संचालक माना है। केवल एक ही स्थान पर "मगध-गुल्म" के अधिकारी को उन्होंने सेनापति कहकर संबोधित किया है।[1] "चन्द्रगुप्त" में जहाँ उपर्युक्त उल्लेख हुआ है, वहाँ यह वस्तुतः मगध-गुल्म नहीं मगध से आई हुई स्वतन्त्र सेना है जो पर्वतेश्वर की सहायता के लिए आई है। अतः यहाँ दोष "सेनापति" के प्रयोग में नहीं 'गुल्म' के प्रयोग में है परन्तु अगले ही वाक्य में उसे मगध "नायक" कह दिया गया है।[2] कौटिल्य के अनुसार दस सेनापतियों के ऊपर एक नायक होता है और वही तूर्य घोष ध्वज पताका आदि द्वारा व्यूहबद्ध सेना को विशेष संकेत देकर युद्ध आरम्भ करने की सूचना देता है।[3] यहाँ यह कहना कठिन है कि 'नायक' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है अथवा साधारण 'नेता' या 'सेनापति' के अर्थ में

नायक

परन्तु इतना तो निश्चित है कि 'सेनापति' का प्रयोग प्रसाद ने कहीं भी कौटलीय अर्थ में नहीं किया है। यहाँ वह 'नायक' से निम्नस्तर का माना गया है। बलाधिकृत पर्णदत्त से गुप्तसेना की नासीर सेना के नायक ने सहायता माँगी है[4] किन्तु साथ ही स्कन्दगुप्त नाटक में 'नायक' शर्वनाग पूरे एक गुल्म का संचालन करता है और उसका सहयोगी नायक को केवल महाबलाधिकृत के अधीन मानता है।[5] इन उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि प्रसाद के सामने 'नायक' का कोई पारिभाषिक स्वरूप नहीं है और वे सेनापति अथवा महाबलाधिकृत के अधीन सेना के एक अनिश्चित भाग के संचालक को नायक मान लेते हैं। यहाँ "अनिश्चित" इसलिए कहा है कि प्रसाद ने 'गुल्म' के अधिपति को भी नायक कह दिया है जिसके लिए अन्यत्र स्वयं उन्होंने 'गौल्मिक' शब्द का प्रयोग किया है[6] और यही उचित भी है।

प्रसाद ने सेना के अधिकारियों में 'महासंधिविग्रहक' और 'महादण्डनायक' को भी गिनाया है। महाबलाधिकृत के समान ही प्रसाद ने इन्हें मंत्रिपरिषद का सदस्य माना है। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में संधिविग्रहक हरिषेण का नाम है और उसे महासंधिविग्रहक कुमारामात्य और महादण्ड नायक कहा है। संधिविग्रहक का कार्य युद्ध और संधि से सम्बन्ध रखता है। "हर्षचरित" के अनुसार संधिविग्रहक का एक और कार्य शासक की घोषणाओं का प्रसारण करना भी है[7]। मौर्य-काल में इस प्रकार के किसी भी अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु सालटोर का मत है कि गुप्तकालीन "संधिविग्रहक" उपाधि कौटलीय *संधिविग्रह* अथवा *संधिविक्रम* का ही रूपान्तर

महासंधि विग्रहक

(१) चन्द्र॰ २/११७ (२) चन्द्र॰ २/११७
(३) अर्थशास्त्र १०/६/४८-४९ (४) स्कंद॰ १/६
(५) स्कंद॰ १/१६ (६) राज्यश्री २/१४
(७) हर्षचरित—शाम पृ॰ १८७

है।[१] संभव है ऐसा ही हो फिर भी "संधिविग्रहक" उपाधि मौर्यकालीन नहीं है। मत: प्रसाद का विष्णुगुप्त को "मगध का संधि-विग्रहक-अमात्य" कहना एक ऐतिहासिक भूल है।[२] "रघुवंश" में पुष्पमित्र संधिविग्रहक है और कुमार गुप्त और उसके कार्यकलाप से ज्ञात होता है कि वह युद्ध और संधि सम्बन्धी कार्यों में दक्ष है।[३] युद्ध और विदाओं के समस्त संधिविग्रहक युद्ध और शान्ति का मंत्री है।[४] महादण्डनायक का सम्बन्ध सेना की अपेक्षा प्रशासन से अधिक है।

अवसर पड़ने पर कभी कभी स्वयं सम्राट भी साम्राज्य का सैनिक अधिकार लेकर सेनापति के रूप में युद्ध के लिए प्रस्तुत होते हैं। ऐसे प्रसङ्ग प्रायः इन सभी नाटकों में आये हैं। गौड़ ग्रंथों में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। नाटकों से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस इन सबने सेना का नेतृत्व करते हुए युद्ध के लिए प्रयाण किया। गौड़ इतिहास से भी राजा युद्ध के स्वयं युद्ध करने का समर्थन होता है। स्कन्दगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओं के शिलालेखों में भी गुप्त सम्राटों द्वारा स्वयं युद्ध संचालन के विवरण मिलते हैं। हर्ष स्वयं अपनी सेना लेकर उत्तरापथ में विजय करने के लिए निकला था। यह आवश्यक नहीं होता था कि स्वयं सैन्य संचालन करते हुए भी सम्राट ही सेनापति हो। साधारणत: सेनापति सम्राट से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति होता था। कालिदास से भी इसकी पुष्टि होती है।[५]

सिल्यूकस ने भारत के लिए प्रयाण करते समय चन्द्रगुप्त देश में चौकसी करवा देता है कि सीमान्त में मार्ग ग्रहण करने में जो समय है, नैतिक है और जितनी सम्पत्ति है वह युद्ध विभाग की है।[६] इस कथन से प्राचीन मौर्य में 'युद्ध-विभाग' का उल्लेख हुआ है।

युद्ध-विभाग

इसका विवरण प्रसाद ने चन्द्रगुप्त की भूमिका में इस प्रकार दिया है— 'सेना विभाग के प्रत्येक ६ विभागों में पाँच सदस्य रहते थे। प्रथम विभाग जो सेना का था दूसरा विभाग युद्ध सम्बन्धी भोजन प्राप्त करके सेना तथा पशुओं और कामकरों के चारे का प्रबन्ध करता था। तीसरे वर्ग के आधीन पैदल सैनिक रहते थे। चौथा विभाग अश्वारोहियों का था। पाँचवा युद्ध

---

(१) लाइफ इन दि गुप्ता एज (सालेटोर) पृ० २२६ (२) अर्थ० १/१८८

(३) रघुवं० १।१७

(४) लाइफ इन दि गुप्ता एज (सालेटोर) पृ० २६६

(५) इण्डिया एज कालिदास (उपाध्याय) पृ० १६२

(६) चंद्र० ४।२५

रथ की देख भाल करता था। छठा युद्ध के हाथियों का प्रबंध करता था।[1] अर्थशास्त्र के भिन्नभिन्न प्रकार अधिकरण में इन सबका स्वतंत्र रूप से उल्लेख हुआ है। स्मिथ ने भी मेगास्थनीज और कौटिल्य दोनों के आधार पर इन विभागों का इसी क्रम से वर्णन किया है।[2]

प्रसाद ने रण-व्यूह का उल्लेख भी एक दो स्थानों पर किया है।[3] अर्थशास्त्र के 'सांग्रामिक प्रकरण' में विभिन्न प्रकार के युद्ध व्यूहों का उल्लेख मिलता है। प्रसाद के युद्ध-वर्णनों में व्यूह-योजना का संकेत तो मिलता है, परन्तु व्यूह के कोई निश्चित स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाते। प्रसाद सेना को चारों ओर से घेरने[4] पृष्ठ-भाग से आक्रमण करने[5] इत्यादि का वर्णन करते हैं परन्तु ये वर्णन इतने नहीं हैं कि कौटिलीय व्यूहों से उनकी तुलना कर उनका विवेचन किया जा सके।

व्यूह और युद्ध

अर्थशास्त्र में मंत्र-युद्ध अथवा कूट-युद्ध' की महत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि— एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता। प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद्गर्भगतानपि[6] शुक्रनीति में भी ठीक इसी प्रकार के भाव प्रकट किये गए हैं।[7] अर्थशास्त्र के मंत्रयुद्ध प्रकरण में इसके निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख है—शत्रु के सेनापति को मिलाकर उसकी सेना को दुर्बल कर देना विभिन्न वेषों में गुप्त पुरुष भेजकर शत्रु सेना में आतंक फैला देना अथवा आत्मविद्रोह करवा देना और उनके द्वारा ही शत्रु राजा एवं उसके अमात्यों में विग्रह और द्वेष उत्पन्न करवा देना धन देकर शत्रु राज्य में विद्रोह करवा देना सबल होने से पूर्व ही दुर्बल राष्ट्र पर आक्रमण कर उसे विजय कर लेना आदि।[8] प्रसाद के नाटकों में कूटयुद्ध या मन्त्रयुद्ध प्रणाली की भी चर्चा यत्र-तत्र हुई है। अजातशत्रु कौशल के सेनापति दीर्घकारायण के मिल जाने से दुर्बल हुई सेना पर आक्रमण करता है और शत्रु राजकुमार विरुद्धक से मैत्री कर लेता है[9] चन्द्रगुप्त मगध का इन्द्रजाली बनकर यवन सेना में आतंक फैला देता है और यवन सेना यह मानकर आगे बढ़ना अस्वीकार कर देती है कि शतद्रु के तट पर कई लाख दुर्धर्ष

मंत्र युद्ध

---

(१) चंद्र० (भूमिका) पृ० ४५-४६
(२) अर्ली हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया (स्मिथ) पृ० १३२
(३) चंद्र० २।१३५-३६
(४) वही ४।२३५ (५) वही ४।२४० (६) अर्थशास्त्र १०।६।९५
(७) शुक्रनीति ४।८ (८) अर्थशास्त्र १२।२ प्रकरण १६३ 'मंत्रयुद्ध'
(९) अजात० २ १०८

योद्धा उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।[1] चाणक्य अपने चरों एवं मालविका की सहायता से नन्द और अमात्य राक्षस में मनोमालिन्य उत्पन्न कराकर अपना काम निकाल लेता है और मगध में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि स्वयं मगध की प्रजा ही नन्द के विरुद्ध विद्रोह कर देती है जिसके कारण वणिकों के वेश में मगध में एकत्र चन्द्रगुप्त की सेना को विजय प्राप्ति का सुयोग मिल जाता है।[2] स्कन्दगुप्त में विभिन्न दुर्गपतियों को धन देकर मगध साम्राज्य में धन विद्रोह कराने का प्रयोग करता है[3] और राज्यश्री में देवगुप्त की सेना प्रजाजनों के वेश में कान्यकुब्ज दुर्ग में प्रवेश कर उसे विजय कर लेती है।[4] ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त का शक दुर्ग में जाकर शकराज का वध करना भी कूट युद्ध है। इसका समर्थन इतिहास तथा साहित्य दोनों करते हैं। इस प्रकार के स्त्रीवेशधारी युद्ध पुरुषों की कौटिल्य यामस्त्री कहते हैं।[5] शिवस्वामी ने कामन्दक नीति में इस प्रकार छल से भी शत्रु को जीतने का समर्थन किया है।

प्रसाद के नाटकों में जहाँ राजनीतिक संघर्ष हुए हैं वहाँ उनके परिणाम स्वरूप विरोधी सम्राटों में सन्धियाँ भी हुई हैं। प्रायः सभी प्रकार की संधियों में एक समानता दिखाई देती है और वह है कन्या सम्प्रदान अथवा विवाह-सम्बन्ध प्रसेनजित ने अपनी कन्या वाजिरा का विवाह कर अजातशत्रु से सन्धि की

सन्धि

थी यह एक ऐतिहासिक घटना है और प्रसाद के नाटक 'अजातशत्रु' में इसकी चर्चा हुई है।[6] गान्धारनरेश ने पर्वतेश्वर के साथ सन्धि की शर्तों में अपने पुत्र आम्भीक के लिये पर्वतेश्वर की कन्या की मांग की थी।[7] पर्वतेश्वर ने सिकन्दर को मैत्री होने पर सिकन्दर ने पर्वतेश्वर और आम्भीक में सन्धि कराई थी और उसे दृढ़ करने के लिये आम्भीक ने अपनी बहिन अलका का विवाह पर्वतेश्वर से कराने का प्रयत्न किया।[8] सिकन्दर ने मालवों के साथ जो सन्धि की उसमें सिकन्दर की ओर से आम्भीक ने ही अपनी बहिन अलका का विवाह सिंहरण से कर दिया।[9] सिल्यूकस-चन्द्रगुप्त की संधि में दो तात्कालिक पूर्व अपारों के बीच एक नियम स्त्रीवस्थिनी का होना आवश्यक माना है।[10] इसीलिए भारत की सीमा हिन्दूकुश तक बढ़ा लेने के साथ सिल्यूकस की कन्या का चन्द्रगुप्त से विवाह

---

(१) चन्द्र २।१२८ (२) चन्द्र० ३।१७२

(३) स्कंद० ३।६२ (४) राज्यश्री ११२८ (५) अर्थशास्त्र ११०।१५१

(६) अजात० १/११४ (७) चन्द्र० १/६४

(८) वही २/१३१

(९) वही ३/१५५ (१०) चन्द्र० ४/२५०

हुआ था। ध्रुवस्वामिनी स्वयं धाम समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा में उपहार स्वरूप गुप्त कुल में आई थी।[१] 'स्कंदगुप्त' नाटक में युद्ध के उपरान्त न सही शासन और गुप्त साम्राज्य की मैत्री को पुष्ट करने के लिये देवसेना और स्कंदगुप्त के बीच विवाह सम्बन्ध की सम्भावना और बन्धुवर्मा की इच्छा का उल्लेख भी प्रसाद ने किया है।[२] केवल दो युद्धों के उपरान्त इस तरह के सम्बन्ध नहीं हुए हैं एक तो स्कंदगुप्त में हूण-युद्ध के उपरान्त और दूसरे 'राज्यश्री' में देवगुप्त के आक्रमण के बाद परन्तु दोनों युद्धों में संधियों के लिए कोई स्थान ही नहीं है। दोनों आतता यियों में से एक तो समूल नष्ट कर दिया गया है और दूसरे को पूर्णतः पराजित कर देश की सीमा से बाहर खदेड़ दिया गया है। यहां महत्त्वपूर्ण सम्राटों की पराजय और तत्पश्चात् को गई सन्धि जैसे प्रसंग है ही नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रसाद ने सभी सन्धियों में परिणय या कन्या सम्प्रदान को महत्त्व दिया है।

उपर्युक्त जितनी भी संधियों का उल्लेख हुआ है उनमें से कई ऐतिहासिक घटनाएं हैं फलतः उस काल में इस प्रकार की परम्परा सम्भाव्य मानी जायगी। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृति तथा नीति ग्रन्थों में भी संधि के उक्त प्रकार का उल्लेख हुआ है। शुक्राचार्य संधि के सम्बन्ध में लिखते हैं कि बलवान से सन्धि सन्धि के लिये उपहार और उपहार के साथ अथवा उसके अतिरिक्त धन की सेवा कन्यादान करती और धन का दान ये दुर्बल तथा हारे हुए राजा के करणीय हैं।[३] अर्थशास्त्र[४] से भी इसकी पुष्टि होती है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में अन्य कई प्रकार की सन्धियों के अतिरिक्त 'कन्योपायनदान' का उल्लेख भी हुआ है। स्पष्ट है कि सन्धि की यह परम्परा गुप्तकाल में प्रचलित रही होगी। इतिहास के अनुसार बिम्बसार ने लिच्छवि-कुमारी चेल्हणा के साथ तथा चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह सम्बन्ध किये थे। ये विवाह युद्ध-विजय की सन्धि के परिणाम न होकर केवल मैत्री वृद्धि के लिए की हुई राजनीतिक सन्धियों के स्वरूप हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में शिखर स्वामी कहता है—'राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिये राजा रानी कुमार और अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है।[५] एक प्रकार से शिखरस्वामी के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए कौटिल्य[६] और शुक्र[७] अन्तिम स्थिति में विजित राजा को अपने आप की रक्षा करने की आज्ञा देते हैं राज्य की नहीं।

---

(१) ध्रुव० १/२१ (२) स्कंद० ५/१४०
(३) शुक्रनीति ४/७१-७२-७३-७४ (४) अर्थशास्त्र १२/१/१६ (आत्मरक्षा)
(५) ध्रुव १/२४ (६) आत्मरक्षा द्रव्यस्य तत्रपक्ष्योपायता
रक्षेत्स्वदेहं न धनं का सम्भिस्ये धनं यथा—अर्थशास्त्र १२/१/१७
(७) आत्मानं गापयेत्काले कुमार्गेषु बुद्धिमान्।
अमित्रा सहयोद्ध्यामितिमासित निर्णयम्।—शुक्र ४/७७

कौटिल्य ने युद्ध के लिये प्रस्थान से पूर्व दुर्गपालों तथा सीमान्त के द्वारों में मन्त्रपालों की स्थापना कर और सीमान्त वनों में भी रक्षकों को नियुक्त कर इस

सीमाप्रान्त और दुर्ग

प्रकार सीमा की रक्षा करने का परामर्श दिया है।[1] प्रसाद के नाटकों में स्थान स्थान पर सीमाप्रान्त के महत्व का उल्लेख हुआ है। बर्बर विदेशियों के रक्त से पृथ्वी का मान कर कोशल के सीमा प्रान्त में शान्ति स्थापित करने के उपक्रम में दण्डपुर को विजय चिह्न मिलता है।[2] चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की सन्धि में सिन्धु से हिन्दूकुश को भारत की नैसर्गिक सीमा मानना भी उल्लेखनीय है।[3] स्कन्दगुप्त में उत्तरापथ की सीमा की रक्षा को परम महत्व दिया गया है और इसके पौरुष युक्त हित स्कंदगुप्त उसकी रक्षा के लिए चल पड़ा।[4] रामगुप्त ने सीमाप्रान्त की रक्षा को इतना कम महत्व दिया कि शकराज सेना के बल से गिरि दुर्ग अधिकृत हो गया और देवगुप्त से उसकी रक्षा न की जा सकी।[5] शुक्रनीति[6] मयशास्त्र[7] तथा अन्य ग्रन्थों में भी दुर्गों के विभिन्न प्रकारों, उनके प्राकारों (परकोटा) उनकी समुचित रक्षा तथा उनके वास्तु भागों का विवरण मिलता है। प्रसाद के नाटकों में भी स्थान स्थान पर दुर्ग, दुर्गपति[8] परकोटा[9] तथा दुर्ग के गुप्त द्वारों[10] का उल्लेख हुआ है।

---

(१) अर्थशास्त्र २/१/६ ६/१/३४ (२) चन्द्रगु० १/५४ (३) चंद्र० ४/२४१
(४) स्कंद० १६११ २/७२ (५) ध्रुवस्वामिनी १/२९ (६) शुक्र ४/५०/६
(७) अर्थशास्त्र २/३/७ (८) स्कंद० ३/१२ (९) चंद्र० ३/१४८ (१०) चंद्र २/१५१

प्रसाद के नाटकों में सत्य का स्वरूप

प्रसाद नाटककार के साथ साथ इतिहास के विद्वान भी थे। अतः उनके ऐतिहासिक नाटकों के अधिकांश स्थलों पर 'इतिहास के सत्य' का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इतिहास के अर्द्ध-सिद्ध एवं सम्भाव्य स्थलों में ही प्रसाद ने काल्पनिक तत्वों की योजना की है। नाटकों के कथानकों पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर अच्छी तरह से पहुँचा जा सकता है कि उनके कथानकों की सामान्य रूपरेखाएं पूर्णतः ऐतिहासिक हैं। अजातशत्रु चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी स्कन्दगुप्त और राज्यश्री सभी के कथानकों के गौण तत्व चाहे प्रसाद ने कहीं से लिये हों किन्तु उनकी प्रधान घटनाएं इतिहास सिद्ध हैं। अतः इतिहासकार के सत्य की रक्षा उन्होंने अच्छी तरह से की है। प्रसाद ने जहां कहीं भी परिवर्तन किये हैं वे परिवर्तन इतिहास की अर्द्ध-सिद्ध या संभाव्य मान्यताओं में ही किये हैं।

इतिहासकार का सत्य

'कथानक' संबंधी परिच्छेद में इस संबंध में पूर्ण विचार किया जा चुका है कि प्रसाद ने अपने कथानकों में जो परिवर्तन किये हैं वे उचित थे अथवा नहीं। उसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ऐतिहासिक संभाव्यता का इतना अधिक ध्यान उन्होंने रखा है कि हम इस प्रकार के सामान्य कथन का प्रयोग कर सकते हैं कि प्रसाद ने सर्वत्र ही इतिहासकार के सत्य की रक्षा का प्रयास किया है।

प्रसाद ने कुछ परिवर्तन नाटककार के स्वानुभव के सत्य की रक्षा के लिए भी किये हैं नाटककार के स्वानुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल होता है और इस विशालता में उसके सभी पात्र उसकी सभी घटनाएं आ जाती हैं। अजातशत्रु का वाजिरा से पूर्वराग, चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया से प्रणय देवगुप्त की राज्यश्री के प्रति आसक्ति, चाणक्य की एक स्त्री के प्रति अनुरक्ति राक्षस का इस कारण चाणक्य से विरोध स्कन्द का असफल प्रणय के कारण आजीवन कौमार-व्रत ऐसी ही घटनाएं हैं, जो ऐतिहासिक तो नहीं हैं, पर जिनको प्रसाद ने ऐतिहासिक-भावभूमि में ला खड़ा किया है। प्रश्न यह है कि ऐसा उन्होंने क्यों किया ? कारण यही है कि इनसे उनकी कलाकृतियां प्राणवान बन सकी हैं और उनमें वास्तविक कलात्मकता का सृजन हो सका है। इन नवीनताओं अथवा परिवर्तनों को हम नाटककार के स्वानुभूत सत्य के अन्तर्गत रखते हैं। नाटककार अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह जानता है कि किस प्रकार का

स्वानुभव का सत्य

ऐतिहासिक पात्र किस प्रकार के काल्पनिक पात्र अथवा घटना के सम्पर्क में आकर अपने चरित्र के प्रत्येक पक्ष को अच्छी से अच्छी तरह प्रकाशित कर सकेगा। इस ज्ञान को वह इतिहास से नहीं पा सकता वरन् अपने व्यक्तिगत जीवन से प्राप्त करता है। प्रसाद में सौन्दर्य और प्रणय की जो काव्यमय अनुभूतियाँ थीं उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपने नाटकों में कितनी ही घटनाओं और कितने ही पात्रों का सृजन किया जिनको काल्पनिक कहने में भी संकोच होता है। 'चन्द्रगुप्त' की मालविका 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना और इन सबके मुख पर कोमल प्रणय विराट सत्य प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि व नाटककार के स्वानुभव के विराट सत्यों की जीवन्त प्रतिमाएं हैं। प्रसाद की स्वयं की यह मान्यता सी प्रतीत होती है कि नारी, पुरुष के जीवन में सबसे बड़ा योग दे सकती है वह उसका निर्माण कर सकती है और नाश भी। इस सत्य की चमक उनके नाटकों में सर्वत्र मिलती है।

नाटकीय परम्पराओं के सत्य की रक्षा के लिये भी प्रसाद ने इतिहास में कई परिवर्तन किये हैं। सबसे बड़ी बात प्रसाद के नाटकों का अन्त व्यक्तिगत ट्रैजेडी में न होकर करुणा की सार्वभौम व्यापक पीठिका पर होता है ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक घटना की ध्रुव-साक्षी होते हुए भी प्रसाद ने अपने नाटकों को दुःखान्त बनाने से यथाशक्ति बचाने का प्रयास किया है। 'अजातशत्रु' नाटक की घटना का इतिहास के अनुसार इतना सुखद अन्त नहीं हुआ था, जितना प्रसाद ने चित्रित किया है। यह सत्य है कि नाटक में भी अन्त में बिम्बसार को लड़खड़ा कर गिरते हुए चित्रित किया है किन्तु तथागत गौतम की अभय-मुद्रा के दिव्य आलोक में अपने सभी परिजनों से घिरे हुए राजा की मृत्यु की कटुता या क्षोभ लिये हुए नहीं है व्यापक करुणा की उदात्तता लिये हुए हैं। चन्द्रगुप्त के अन्त का करुणापूर्ण होना तो सम्भव ही न था किन्तु चाणक्य और मौर्य सेनापति के काषाय ग्रहण से नाटक के अन्त में हर्ष के साथ साथ वैराग्य पूर्ण सात्विकता का समावेश हो गया है। ध्रुवस्वामिनी का अन्त रामगुप्त की मृत्यु में तो हुआ है पर स्पष्ट रूप से प्रसाद ने वहाँ भी रामगुप्त की मृत्यु का उल्लेख न कर उसके गिरने का ही उल्लेख किया है और जो कुछ भी सहानुभूति अथवा कटुता उसकी मृत्यु से उत्पन्न होती वह चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी की जयकार में छिप गई है। स्कंदगुप्त का अन्त मार्मिक है और दुःखान्त भी उससे ज्ञात होता है कि स्कंद और देवसेना ने भावना से कर्तव्य को ऊंचा समझा। इसी घटना का दूसरे प्रकार का करुणापूर्ण अन्त राखालदास बनर्जी के 'करुणा' उपन्यास में देखा जा सकता है। प्रसाद ने वहाँ हूण युद्ध में स्कंद की विजय दिखाई है, उसकी मृत्यु नहीं। अतः यहाँ भी ने उसका यथा शास्त्रीय अन्त

नहीं करना चाहते थे यद्यपि स्कंदगुप्त का सारा रचना विधान भासकी का है। राज्यश्री का अन्त भी आध्यात्मिक शांति का ही सूचक है। इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपने नाटकों में कम से कम अन्त में तो प्रसाद ने भारतीय परम्परा के इस सिद्धान्त को अनायास ही स्वीकार कर लिया है कि नाटक दुःखान्त नहीं होना चाहिये। इसको किसी प्रकार का नाटकीय प्रयोग अथवा प्रसाद की दार्शनिकता कहकर नहीं टाला जा सकता। यह निश्चय ही *नाटकीय परम्परा के सत्य की रक्षा का प्रयास है—चाहे यह प्रयास जान बूझकर* किया गया था हो अथवा अनायास ही व्यंजित हो गया हो।

लोक-मानस का सत्य प्रसाद के नाटकों की घटनाओं में रहरहकर उभर आता है। प्रसाद के दुष्ट और क्रूर ऐतिहासिक चरित्र स्वभावतः दुष्ट और क्रूर हैं और उनकी रक्षा करने का कहीं प्रयास नहीं किया गया है। काव्य

लोक-मानस का सत्य

न्याय की कसौटी में वे सब अच्छी तरह से कसकर चित्रित किये गये हैं। अजातशत्रु की हार और अन्तिम आत्मग्लानि को कम न कर उसे बढ़ा दिया गया है और इस प्रकार उसे उच्चे मानवोचित गुणों को ग्रहण करने का अवसर दिया गया है। मागन्धी जैसी रूपगर्विता नारी के गर्व को प्रसाद ने चूर चूर करकेही दम लिया है चाहे इसमें उन्हें इतिहास को भी भ्रष्ट करना पड़ा है। देवदत्त का अन्त ऐतिहासिक है और वह सचमुच कभी सुधरा भी न था। बिम्बसार और वासवी का अन्तिम क्षणों का सुख सम्पूर्ण जीवन के दुःखों पर छा जाता है।

हृदय परिवर्तन प्रसाद को बहुत प्रिय है इसलिये प्रसाद ने अधिकांश पात्रों के हृदय परिवर्तन के लिये योग्य परिस्थितियों की योजना भी की है ताकि लोक मानस उसे स्वीकार कर सके। राक्षस का हृदय परिवर्तन मुद्राराक्षस पर आधारित है। आम्भीक को देशद्रोह की सजा दूसरे ही प्रकार से मिली। उसने अपने रक्त से अपना कलंक धोया जो इतिहास के अनुकूल नहीं है। नन्द के पापों का घड़ा भरता रहा और अन्त में शकटार के हाथों ही फूटा क्योंकि उसी के साथ उसने सबसे अधिक अत्याचार किया था। स्कंदगुप्त में रूपगर्विता अनन्तदेवी और विजया पतन की अन्तिम सीमा पर ही जाकर रुके हैं और उनका जो अन्त हुआ उस पर कोई असन्तोष नहीं कर सकता क्योंकि वह अत्यन्त न्यायोचित है। देवगुप्त और नरेन्द्रगुप्त के अन्त ऐतिहासिक हैं पर शांतिभिक्षु और सुरमा स्वयं अपने अभिशाप की ज्वाला में जलकर शांति की खोज में पुन देवी राज्यश्री के चरणों में ही नत मस्तक हुए। शांति भिक्षु और सुरमा के लिये कोई दण्ड विधानप्रसाद ने नहीं किया, यह शायद कुछ अखर सकता है किन्तु इसमें प्रसाद ने बौद्ध धर्म के क्षमा सिद्धांत की ही रक्षा नहीं की है वरन् लोक-मानस को इस सिद्धांत की आड़ में बहला भी दिया है।

अत्याचारी का शासन कभी शांति-पूर्ण नहीं हो सकता यह लोकमानस की मान्यता है। मन्द रामगुप्त और धननन्द के शासन काल में देश की दुर्दशा के जो चित्र प्रसाद ने खींचे हैं वे इस ओर पर्याप्त संकेत करते हैं।

काव्य-न्याय के संबंध में प्रसाद पर यदि कहीं आरोप लगाया जा सकता है तो वह 'चंद्रगुप्त' की कल्याणी और मालविका 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा और 'स्कंदगुप्त' की देवसेना के संबंध में। यदि देवसेना के लिए हम यह मान भी लें कि उसे तो प्रसाद उसका प्राप्य दे ही रहे थे पर उसने कर्तव्य के लिए उसे स्वयं ही अस्वीकार कर दिया तब भी कल्याणी मालविका और कोमा के सुन्दर-सुकोमल जीवन की करुणाजनक परिस्थिति के लिए प्रसाद स्वयं ही जिम्मेदार हैं। कल्याणी के सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि उसे आत्महत्या से नन्द के पापों का प्रायश्चित करना पड़ा कोमा को शकराज की प्रियतमा होने के कारण उसकी महत्वाकांक्षाओं का शिकार होना पड़ा मालविका अवश्य 'स्वर्गीय कुसुम' थी और उसकी हत्या के लिए प्रसाद का काव्य-न्याय अपराधी है अतः स्वयं प्रसाद भी अपराधी हैं।

भारतीय राष्ट्र के एक अत्यन्त प्रचलित विश्वास पर प्रसाद ने एक गहरी चोट मारी है। उन्होंने जन-मानस में अत्यन्त श्रद्धेय और वीर माने जाने वाले पर्वतेश्वर को कालान्तर में एक साधारण मद्यप और विलासी के रूप में चित्रित कर दिया है। यह ठीक है कि प्रसाद ने मुद्राराक्षस की विषकन्या से आलिंगन करने वाले राजा पर्वतक और ग्रीकों के पुरु (पर्वतेश्वर) को एक मानकर स्वाभाविक कारण-कार्य योजना प्रस्तुत की है किन्तु एक तो यह बात ऐतिहासिक नहीं और दूसरे जन-मानस इस बात को स्वीकार करने को कदापि प्रस्तुत नहीं हो सकता कि सिकन्दर के सामने बंदी-अवस्था में भी मस्तक न झुकाने वाला महावीर पुरु विषकन्या से इतना प्रिय हुआ होगा। जिस प्रकार विक्रमादित्य को न्यायरहित, राजा भोज को मानी तथा हृदय और मुख को पराक्रमहीन स्वीकार करने को लोक भावना प्रस्तुत नहीं उसी प्रकार पुरु (पर्वतेश्वर) को विलासी, कायर और मद्यप मानने को भी नहीं। प्रसाद के इस विधान को किसी प्रकार भी सत्य नहीं माना जा सकता।

प्रसाद के नाटकों में काल-क्रम दोष

अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों की तरह प्रसाद के नाटक काल क्रम दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। उक्त दोष प्रायः सभी नाटकों में उपलब्ध हो जाते हैं। काल घटना और वातावरण सभी में कहीं न कहीं प्रसाद व्यतिक्रम कर ही गये हैं किन्तु इनके साथ-साथ उक्त दोष के सबसे महत्वपूर्ण स्वरूप 'मनोवैज्ञानिक कालक्रम दोष' से भी वे अपने आप को मुक्त न रख सके।

'अजातशत्रु' नाटक में राजकुमार विरुद्धक को शाक्यों का संहार करते हुए चित्रित करके प्रसाद ने काल क्रम सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण व्यतिक्रम किया है। राजकुमार विरुद्धक ने अपने पिता प्रसेनजित के जीवन-काल में ही शाक्यों पर चढ़ाई नहीं की थी। उक्त घटना बाद की है।

काल-क्रम

'चन्द्रगुप्त' में सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया का पूर्ण यौवनावस्था में (अथवा किशोरावस्था में) सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत आना भी काल-दोष का ही स्वरूप है। कथानकों पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि कार्नेलिया (?) का चन्द्रगुप्त विवाह सिल्यूकस की पराजय के उपरान्त हुआ था। इन दोनों घटनाओं के बीच बाइस-तेईस वर्षों का अन्तर होने से इन दोनों घटनाओं के बीच काल की संभाव्यता नहीं रह जाती। 'स्कंदगुप्त' नाटक में कुमारगुप्त के *जीवन काल में ही मालवा में हूणों को आक्रमण करते हुए चित्रित किया गया है।* हम देख चुके हैं कि हूणों ने मालवा पर बहुत बाद में आक्रमण किया था और वस्तुतः वहां उनका अधिकार स्कंदगुप्त के जीवन-काल में नहीं हो पाया था। इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण दोष राज्यश्री में भी पाया जाता है। यहाँ प्रसाद का घटना-क्रम पूर्णतया इतिहास विरोधी हो गया है। कान्यकुब्ज के कारागार से मुक्त होकर देवी राज्यश्री विन्ध्याटवी में भाग गई थी। हर्ष और भंडि का मिलाप कान्य कुब्ज में हुआ और तुरन्त ही वह अपनी बहिन को खोजने निकल पड़ा। राज्यश्री की रक्षा के बहुत समय उपरान्त उसने उत्तर भारत को विजय किया और अन्त में चालुक्य से हार कर वापस लौटा। प्रसाद ने इस क्रम में इतना व्यतिरेक कर दिया है कि न तो वह इतिहास ही रह गया है और न उसमें घटनाओं की संभाव्यता की ही रक्षा हो सकी है। नाटक में हर्ष पहिले चालुक्य से लड़ता है और तब राज्यश्री को खोजने जाता है। इन दो घटनाओं के बीच काल का इतना अधिक अन्तर है कि घटनाएं बराबर जुड़ ही नहीं पाती। इसी प्रकार दिवाकरमित्र और राज्यश्री के सम्बन्ध में घटना क्रम को बदल दिया गया है। मूल घटना में, हर्ष एवं दिवाकरमित्र दोनों

उत्साहित भी करती थी। यह ठीक तो है किन्तु अधिक अच्छा होता यदि प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' की तरह इन स्त्रियों के युद्धोत्साह को एक सीमा में ही रहने देते और खान-पान का काम देते अथवा 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना और जयमाला की तरह या मालव दुर्ग में सिकंदर के सैनिकों से लड़ती हुई अलका की तरह उन्हें वीरता और साहस के प्रतीक भर बना देते जो आपत्तिकाल में अपनी रक्षा आप करने में समर्थ हों। किन्तु भारत की स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस के वालेन्टीयरों के आगे-आगे गीत गाती हुई चलने वाली नारी सुदूर इतिहास के कालों में अपना अस्तित्व नहीं छिपा पाती। काल-क्रम-दोष का यह स्वरूप संसार के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटककारों में पाया जाता है क्योंकि कोई भी कवि या नाटककार अपने युग के प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकता।

मूल्यांकन

प्रसाद भारत वर्ष के उन थोड़े से नाटककारों में से हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति को अपने नाटकों का उपजीव्य ही नहीं बनाया वरन् स्वयं इतिहास कार की दृष्टि और कुशलता के संयोग से इतिहास के अज्ञात अस्पष्ट अंशों की पुनर्रचना भी की। प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि पूर्णत भारतीय ही नहीं अत्यन्त व्यापक और उदार भी थी। वस्तुत प्रसाद का युग एक विराट सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना से प्रभावित था। विदेशी और विशेषकर अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति को पाश्चात्य इतिहास और संस्कृति से अपेक्षाकृत बाद का और पिछड़ा हुआ सिद्ध करने के लिये इतिहास की उस वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक पद्धति का प्रश्रय लिया जिसके कारण इतिहास को पुरातत्त्व संबंधी प्रमाणों के बिना कल्पित एवं अप्रामाणिक माना जाने लगा। विन्सेंट स्मिथ और उनके पूर्ववर्ती अधिकांश इतिहासकारों तथा उनसे प्रभावित भारतीय इतिहासकारों ने भी बौद्धकाल से ही भारतीय इतिहास का वास्तविक अन्वेषण किया। इसका कारण यह था कि उस समय तक भारतीय पुरातत्त्व अनुसंधानों ने परखम की यक्ष प्रतिमा तथा परवर्ती बौद्ध कालीन सामग्री खोज ली थी। परखम की प्रतिमा को अजातशत्रु के काल तक पहुँचाकर तथा बौद्ध इतिहास संबंधी अभिलेखों को पुरातत्त्व प्रमाणित मानकर वैदिक काल से लेकर छठी-सातवीं शती ईसवी पूर्व तक के भारतीय इतिहास को मात्र पौराणिक कहकर भारतीय मनीषा को भुलाने का सारा श्रेय अंग्रेज इतिहासकारों की प्रेरणा को ही जाता है यद्यपि उनमें भी महान् प्राच्य-विद हुए हैं।

भारत की स्वतंत्र मनीषा का विकास प्रसाद के समय तक हो चुका था। जर्मन इण्डोलोजिस्ट्स ने वैदिक ब्राह्मण और उपनिषद्कालीन वाङ्मय के अध्ययन की नवीन चुनौती को स्वीकार किया और पुनर्जागरण कालीन दृष्टि-बोध का उद्घाटन किया। भाऊ दाजी आदमताम अल्तेकर, भंडारकर जैसे इतिहासज्ञों ने भारतीय इतिहास का मात्र पुरातत्त्व के आधार पर नहीं वरन् भारतीय वाङ्मय के आधार पर निरूपित करना आरम्भ किया। वैदिक ब्राह्मण उपनिषद रामायण और महाभारत काल को ऐतिहासिकता प्रदान की गई उनके काल क्रम और उनकी तिथियों को निर्धारित करने का प्रयास किया गया और इस मिथ्या प्रचार को स्पष्ट किया गया कि भारतीय संस्कृति का अभ्युदय यूनानी संस्कृति अथवा उससे पूर्ववर्ती मध्य एशियाई अथवा मार्गटिशीय ईरानी बाबिलोनी संस्कृति से हुआ। सारे वैदिक साहित्य

को 'मिथ' मानना अस्वीकार किया गया और क्रमशः वैदिक सम्राटों राजाओं तथा राज्य-मंडलों का ऐतिहासिक रूप उद्घाटित किया जाने लगा। रामायण और महाभारत को हिन्दू सभ्यता के इतिहास ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया गया और पुराणों को भी हिन्दू इतिहास के संदर्भ ग्रंथों के रूप में देखा जाने लगा। आर्यों के आदि देश के संबंध में बड़ी बड़ी बहसें हुई और तिलक जैसे विचारकों की मान्यताओं के विरोध में भी भारतीय मनीषा ने भारत को ही आर्य जाति और आर्य-सभ्यता का जनक मान लिया।

इतिहास-दृष्टियों के इस सारे उहा-पोह पर प्रसाद की दृष्टि गई और उन्होंने पूर्ववर्ती और समसामयिक इतिहासकारों का गंभीरता से अध्ययन कर, भारतीय वाङ्मय का विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप उन्होंने भारतीय इतिहास की जो रूपरेखा गढ़ी वह अद्भुत थी। उन्होंने वैदिक इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम सम्राट सिद्ध करने का प्रयास किया वेद और परवर्ती ग्रंथों से अनेक प्रमाण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया कि इन्द्र ने असुरों पर अपनी अप्रतिम विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त को एक आर्य-साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया और स्वयं सम्राट की उपाधि ग्रहण की। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर देव जाति के ध्वंस प्रसंग को उन्होंने मानव सभ्यता के इतिहास का आधुनिक बिन्दु मान एक इतिहासकार की सूक्ष्म अन्तर्भेदिनी दृष्टि से सहस्रों वर्षों के व्यापक अन्तराल से उभरे इतिहास की रेखाओं में रंग भरना प्रारम्भ किया और सांस्कृतिक धरातल पर इतिहास की वैज्ञानिकता प्रकट होने लगी। आर्यों का आदि देश जहां से विश्व की समस्त सभ्यताओं का जन्म हुआ अनादि अनन्त काल से मानवता की जन्मभूमि रहा है। इस रूप में भारत और आर्यावर्त को प्रस्तुत कर उन्होंने इतिहास की भारतीय दृष्टि को स्थापित किया।

वैदिक वाङ्मय को इतिहास की सीमारेखा में लाने के उपरान्त प्रसाद ने साहित्यिक और पौराणिक सामग्री की ओर ध्यान दिया। देव सभ्यता के ध्वंस और मानव सभ्यता के आरम्भ का इतिहास कामायनी में चित्रित कर वे महाभारत के आख्यानों की ओर उन्मुख हुए। प्रसाद जानते थे कि यूनान के प्राचीनतम इतिहास के मूल में पौराणिक उपाख्यान ही हैं, जिन्हें कालान्तर में इतिहास मान लिया गया और वहां के साहित्य में अग्ररत्न प्रदान किया गया। 'मिथ' इतिहास बनता है और कई बार इतिहास भी 'मिथ' बनकर रह जाता है इस प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए प्रसाद ने 'प्राचीन' साहित्य और पुराणों में इतिहास की खोजना प्रारम्भ किया। पुराणों के ऐतिहासिक घटनाक्रम में प्रयुक्त प्रतीकों की इतिहास परक व्याख्या के बिना यह कार्य असम्भव था अतः प्रसाद ने महाभारत के कतिपय प्रतीकों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। जनमेजय के नागयज्ञ में नागों को मानवजाति के

धर्म के स्पष्ट करने का औपन्यासिक 'विधान' में कर चुके थे। यही नहीं विशाखा के 'अशोक का पश्चात्ताप' प्रसंग में पूर्व उदाहरण अशोक के उद्धार की जो कथा वर्णित है उसमें भी अशोक को मार्कण्डेय कुक्कुट व अशोक चन्द्रिकार से ले लिया था। पुराणों के प्रतीकों की ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या इस पीढ़ी के भारतीय इतिहासकारों ने प्रारम्भ कर दी थी और प्रसाद ने उसको नूतन साहित्यिकता प्रदान कर समाजवाद के व्यापक परिवेश में ला खड़ा किया।

इतिहास के प्रति प्रसाद अत्यन्त सचेष्ट रहे हैं। बौद्धकालीन इतिहास पर जितनी भी सामग्री उपलब्ध थी, उस सारी सामग्री को हस्तगत कर अजातशत्रु को केन्द्र में रख उन्होंने उसका संशोधन-अध्ययन किया है। पूर्ववर्ती और समसामयिक इतिहासकारों पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा बौद्ध धर्म संबंधी अनुशीलकों ने जो भी प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की प्रसाद ने उसको भी मूल ग्रन्थों के आलोक में परिवर्तित किया। जातक ग्रन्थों, विनय पिटक, दीघ निकाय, धम्मपद और उनकी विविध टीकाएं, महावंश, अवदानशतक, मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, दिव्यावदान, थेरीगाथा, पूर्व अतिरिक्त जैनों के कथानक ग्रंथ, सोमदेव का कथासरित्सागर संस्कृत नाटककारों द्वारा रचित स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, मेघदूत, रत्नावली तथा हर्षचरित एवं विष्णुपुराण की प्रचुर सामग्री का मंथन कर प्रसाद ने इतिहास के तथ्यों पर नया प्रकाश डालने का प्रयास किया तथा उसका अपने नाटकों में उपयोग भी किया, इतनी विस्तृत सामग्री का उपयोग करने के लिए उन्होंने नाट्य रचना के परम्परागत शिल्प को छोड़कर भी बिम्बसार-अजातशत्रु, प्रसेनजित-विरुद्धक, उदयन-वासवदत्ता एवं बुद्ध-देवदत्त संबंधी इतिहास की व्यापक ऐतिहासिक सांस्कृतिक पीठिका पर अजातशत्रु नाटक का प्रणयन किया। सारे बौद्धकाल को उसके राजनीतिक परिवेश के साथ इस नाटक में प्रस्तुत कर दिया गया है। इतिहास और संस्कृति के धरातल पर वे मानव भावनाओं को उभारने में सफल हुए हैं। रोम और यूनान के इतिहास के स्थान पर उन्होंने प्राचीन भारतीयों को प्रस्तुत किया है। कहीं कहीं इतिहास से वे हटे भी हैं किन्तु जहां कहीं उन्होंने ऐसा किया है वहीं भूमिका में स्पष्ट शब्दों में उसे स्वीकार भी कर लिया है। मागन्धीया, श्यामा और आम्रपाली जैसे इतिहास विश्रुत चरित्रों का तादात्म्य कर उन्होंने तीन नामों से प्रसिद्ध तीन चरित्रों को एक ही चरित्र में ढाल दिया, जो उनके नाटककार का कौतुक है। यह ऐतिहासिक प्रमाद न होकर उनके स्रष्टा का एक हल्का सा विनोद मात्र है जिसकी आलोचना वे कर चुके हैं। यहां उनका स्रष्टा जागरूक हो जाता है और इतिहासकार को वे थपकी देकर सुला देते हैं।

बौद्ध युग में और विशेषकर गौतम बुद्ध के समय में भगवान बुद्ध की करुणा का जो सद्-व्यवहार था उसे चित्रित करने में वे ऐतिहासिक ...

सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि अजातशत्रु नाटक में अजातशत्रु की कथा तो एक माध्यम मात्र है प्रसाद का उद्देश्य तो तथागत की अहिंसा और करुणा का वैसा ही जयघोष करना है जैसा तथागत के अवतरण के समय था। कथा-सापेक्षता के स्थान पर काल और युगधर्म-सापेक्ष शिव को अ भिव्यक्त करने में अजातशत्रु की सार्थकता प्रतीत होती है। इसमें तीन कथाएं हैं, तीन दिशाओं से चलती हैं काशी में केन्द्रित होती हैं और तीनों भिन्न भिन्न दिशाओं में जाकर समाप्त हो जाती हैं उनको एक सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी तथागत की आस्था और उनकी उद्देशित कर देने वाली करुणा है जो क्रूरता और मूर्खता को क्षमा और सहानुभूति में परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। यह इतिहास का सत्य है युग-धर्म और संस्कृति का सत्य है और मानव-चेतना का भी सनातन सत्य है। यहीं इतिहास संस्कृति से और ये दोनों कला से अनायास जुड़ जाते हैं।

क्या इतिहास पूरी तरह तटस्थ और विषयगत वैज्ञानिकता लिये हुए हो सकता है? यह प्रश्न विवादास्पद है, विवादास्पद इस अर्थ में कि विश्व की सभी सभ्यताओं के इतिहास राष्ट्रीय सांस्कृतिक या धार्मिक झुकाव से कहीं न कहीं दबे अवश्य होते हैं प्रत्येक देश का राष्ट्रीय इतिहास अपनी राष्ट्रीय चेतना आस्था और आकांक्षा के प्रति सजग और सतर्क रहता है। इसी प्रकार साहित्य और विशेषकर पुनरुत्थान या पुनर्जागरण का साहित्य राष्ट्रीय-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत के उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति सदा सजग रहता है। यही नहीं, अपने सम-सामयिक युग से भी वह प्रेरणा पाता है और उसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव उसकी रचनाएं ग्रहण करती हैं। प्रत्यक्ष में तो वह वर्तमान को अतीत में प्रक्षेपित करता है और परोक्ष में वह अतीत से काम-व्यापारों के ऐसे आयाम चुनता है जो वर्तमान संदर्भों की ओर भी इंगित कर सकने में समर्थ हों। प्रसाद का इतिहासकार और साहित्यकार भी इस सहज क्रम का संवरण नहीं कर सका है। हमारे स्वयं के निष्कर्ष इसे प्रमाणित करते हैं— 'यह गांधी के व्यक्तित्व के प्रसार का युग था और उसका प्रभाव युग धर्म पर क्रमशः बढ़ता चला जा रहा था। अजातशत्रु का नायक चाहे कोई हो इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ से लेकर अंत तक उसकी समस्त घटनाओं को मोड़ने की कुंजी बुद्ध के स्वयं के अथवा उसकी मूर्तिमती शिष्या मल्लिका के व्यक्तित्व में पाई जाती है। यहां पग-पग पर बुद्ध के सिद्धान्त कसौटी पर उतारे गये हैं और प्रत्येक द्वन्द्व के उपरान्त वे खरे उतरे हैं। अन्त में विरुद्धक के यौवराज्याधिकार की पुनः प्रतिष्ठा समस्त धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्ध विश्वासों के विरुद्ध बुद्ध सत्य-गुण प्रधान प्राचीन भारतीय विचारों की विजय ही नहीं बुद्ध के प्रकाशमान व्यक्तित्व की विजय भी है। गांधी जी की दडी मात्रा और मार्क्सवादियों की पद्धति के विपरीत उनका अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन उनकी राजनीतिक विजय का ही सूचक नहीं, आध्यात्मिक विजय का भी सूचक है।'

हिन्दू इतिहास में, बौद्ध काल के उपरान्त, सबसे महत्त्वपूर्ण युग मौर्य काल है, चाणक्य और चन्द्रगुप्त का वह युग जिसने सिकन्दर का आक्रमण देखा, और सिल्यूकस से भयंकर संघर्ष के फलस्वरूप जिस युग में मौर्य साम्राज्य का विस्तार हुआ। चाणक्य जैसे महान् कूटनीतिज्ञ का यह काल तो भारतीय इतिहास में एक 'सीमान्त' बन गया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भूमिका से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने इस सारे युग के इतिहास की कितने विस्तार से गवेषणा की है। उपलब्ध इतिहास में ग्रीक-रोमन जस्टिन, स्ट्राबो, एरियन, कर्टियस, प्लूटार्क, मेगास्थनीज, मैक्समूलर, और स्मिथ, वोल्फ, मैक्क्रिंडल, रायचौधरी के अतिरिक्त मोनियर विलियम्स, विलसन और कौटिल्य से प्रसाद ने प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। अन्य ग्रन्थों में मुद्राराक्षस, कथासरित्सागर, हेमचन्द्र परिशिष्ट पर्व, वायुपुराण, विष्णुपुराण, भागवत तथा दिव्यावदान, मनुस्मृति, कालिका तथा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जैसी पत्रिकाओं में छपे लेखों का उपयोग कर प्रसाद ने मौर्य काल का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। सामान्यतः कोई भी नाटककार इतिहास से नाटक की रूपरेखा ग्रहण करने के लिये (जैसा प्रसाद ने भी किया है) इतिहास पर अनुसंधान नहीं करता किन्तु प्रसाद के अध्ययन की यह विशदता ऐतिहासिक नाटककारों की कोटि में उन्हें एक स्वतन्त्र स्थान प्रदान करती है और उन्हें इतिहास-विज्ञ नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित कर सकने में समर्थ है।

इसी प्रचुर सामग्री के आधार पर निकाले गये प्रसाद के ऐतिहासिक निष्कर्ष बड़े रोचक हैं। एक राष्ट्रीय इतिहासकार की तरह प्रसाद ने यह प्रमाणित किया है कि सिकन्दर विश्वविजयी नहीं था और न उतना महान् ही जितना कि यूरोप तथा पाश्चात्य इतिहासकारों ने उसे चित्रित करने प्रयास किया है। मालव क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना से सिकन्दर पराजित हुआ वह बुरी तरह घायल भी हुआ तथा उसे केवल इसी कारण जीवित लौट जाने दिया गया कि उसने पर्वतेश्वर के साथ जो व्यवहार किया था, वह भारत पर उसका एक ऋण था जिसे उसको जीवन दान द्वारा चुका दिया गया। सिल्यूकस भी पराजित हुआ और उसकी पराजय के फलस्वरूप निपर पर्वतमाला तक भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा बढ़ा दी गई एवं उसे भारतीय प्रथा के अनुसार एक पराजित राजा की तरह कन्या-सम्प्रदान भी करना पड़ा। पाश्चात्य साम्राज्यवादी शक्तियों की, राष्ट्रीय सैनिक शक्ति और कूटनीति के हाथों यह ऐतिहासिक पराजय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

चाणक्य न केवल अर्थशास्त्र का प्रणेता एक महान् कूटनीतिज्ञ ही था वरन् अपने आदर्शों को ऐकान्तिक पूजने वाला, निस्पृह ऋषि भी था। सिकन्दर को भी

सैनिक बल से पराभूत तो होना ही पड़ा भारत के नग्न तपस्वी दाण्ड्यायन के हाथों उसे आध्यात्मिक शक्ति से भी हार खानी पड़ी ।

प्रसाद के उपर्युक्त सभी निष्कर्ष इतिहास से प्रमाणित हैं और ऐसे ही इतिहास ने समय समय पर भारत को प्रेरणा दी है । यह दूसरी बात है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने नाटकीय त्वरा और संक्षिप्तता के स्थान पर विस्तार और व्यापकता को प्रश्रय दिया है सुदीर्घ काल में घटी अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं का अंकन किया है और अनेक काल्पनिक प्रसंगों की अवतारणा भी की है । इससे भी यही स्पष्ट होता है कि परम्परित रचना प्रक्रिया से हटकर एक 'एपिक-ड्रामा' प्रस्तुत करना उन्हें अभीष्ट रहा है । 'एपिक- ड्रामा' क्यों इसका उत्तर यही है कि प्रसाद सांस्कृतिक इतिहास के एक सम्पूर्ण युग को अंकित कर सकने में इस नाटक की भी सार्थकता समझते हैं । उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक नाटक का चरम उत्कर्ष इसी में है कि वह एक युग को अपनी समग्रता में चित्रित कर उसकी महत्ता गरिमा *और उदात्तता को ऐतिहासिक संघर्ष के धरातल पर सम्पूर्ण रूप से उजागर कर दे ।* व्यक्तियों से अधिक उनकी दृष्टि में वे सांस्कृतिक मूल्य महत्वपूर्ण हैं जो किसी युग को अभिनन्दनीय बनाते हैं, इसीलिये उनका चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहीं ऊंचा है क्योंकि वह उस युग के समस्त उदात्त मूल्यों को धारण करने वाला है, उसकी मनीषा ही मूल्यों को निर्धारित और स्थापित करती है । उनकी अलका नन्ददुहिता कल्याणी से कहीं महान है क्योंकि वह अपने स्वार्थ को राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के आदर्श में विलीन कर देती है । पर्वतेश्वर से आम्भीक ऊपर उठ जाता है क्योंकि पर्वतेश्वर स्वतंत्रता के आदर्श से चलकर व्यक्ति केन्द्रित स्वार्थपरता के स्तर पर उतर आता है और आम्भीक घोर स्वार्थ से हटकर, पश्चात्ताप की ज्वाला से शुद्ध हो, राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में अपनी आहुति दे देता है । ये कतिपय मूल्य हैं जिन्हें प्रसाद की चेतना ने सांस्कृतिक धरातल पर स्वीकार कर नाटक में स्थापित किया है ।

मौर्यकालीन इतिहास प्रसाद के समसामयिक युग की ओर सीधा इंगित करता है, इसीलिये प्रसाद ने उसे सामर्थ्य भर निचोड़ा भी है । यूनानी वीरता (पाश्चात्य वीरता) के स्थान पर भारतीय वीरता (पौर्वात्य वीरता) का जयघोष एक स्वतंत्र चेता भारतीय इतिहासकार की दृष्टि है और शासक एवं गुलाम मनोवृत्तियों पर करारा प्रहार भी । चाणक्य की कूटनीति से सिकन्दर की पराजय प्रसाद युग का बहुत बड़ा स्वप्न रहा है और गांधीजी के नेतृत्व में यह स्वप्न पूरा हुआ । दाण्ड्यायन में प्रसाद ने गांधी जी को नहीं देखा था ऐसा कहना कठिन है । अंग्रेज साम्राज्यवाद को लंगोटी वाले गांधी के चरणों में झुका हुआ वे तभी देख चुके थे । दाण्ड्यायन की भविष्य वाणी भी सच हुई आर्यावर्त का सम्राट भारतीय ही हुआ एक विदेशी नहीं ।

प्रसाद के नाटककार ने यहाँ भी इतिहास के साथ खिलवाड़ किया है। उन्होंने ...ों के गौरव को मुद्राराक्षस के कथानक से भिन्न कर दो अलग-अलग पात्रों को एक ही चरित्र दे दिए हैं और लोक-परम्परा के सत्य की उपेक्षा की है। चन्द्रगुप्त को ... साधारण चरित्र की रूपरेखा में बाँध दिया है। राक्षस को देशद्रोही बना दिया और नन्द को छोड़। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रसाद इतिहास से अपरिचित थे, अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि नाटक में प्रसाद नाटककार की स्वतन्त्रता का ऐसा उपयोग करते हैं कि कभी कभी पाठक का ... मन में स्वाभाविक उलझन होता है किन्तु वे इतना कोई न कोई ऐसा ऐतिहासिक ... का संकेत भूमिका में छोड़ देते हैं जिससे पाठक ... कर कुतूहल में उनका ... देने की इच्छा होने लगती है। वस्तुस्थिति यहाँ भी यह है कि प्रसाद ... व्यक्तियों को उतना महत्व नहीं देते जितना उस की व्यापक चेतना को, उस समष्टि को जो व्यक्तियों को अपने विस्तार में समेटे रहती है। संभवतः ... ... की यही सार्थकता भी है।

प्रसाद ने गुप्तकाल के स्वर्ण युग को 'ध्रुवस्वामिनी' और 'स्कन्द-गुप्त' में चित्रित किया है। इतिहास की दृष्टि से मौर्य युग व अशोक का काल और गुप्तवंश का ... काल, ये दो और महत्वपूर्ण युग रहे हैं। अशोक पर प्रसाद ने कुछ नहीं लिखा ... कि आधुनिक युग में भी सबसे अधिक चर्चित युग 'अशोक' का ही रहा है। हर्षवर्धन पर प्रसाद के पर्याप्त ऐतिहासिक अनुसंधान किये थे जिसके परिणामस्वरूप 'इरावती' उपन्यास का कथानक उभर रहा था। ... लेकर लिखा गया यह उपन्यास पूर्ण हुआ होता तो हिन्दू इतिहास की ... में एक और महत्वपूर्ण कड़ी जुड़ जाती। इसके उपरान्त कई सौ वर्षों तक इतिहास की दृष्टि से अन्धकार युग माना गया है, जिसे इतिहास महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। ... नाटककार ने पुनः शासनतन्त्र के विनाश से भारतीय इतिहास का एक अन्य महान युग आरम्भ होता है।

ध्रुवस्वामिनी के लिये प्रसाद ने पुरोहित ... , ... , ... , उदयनाचार्य, ... जैसी ... तथा ..., ... और ... के ... की है। इसके अतिरिक्त ... के ... और ... को भी ... बनाया है। प्रसाद के ... में ... एक ... व ... था। प्रसाद ने ... सहित उसके अस्तित्व को ही इतिहासकारों को ... था। इतिहास की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना को अपने नाटक का विषय बनाया। इतिहास की ... का प्रसार ने विशेष ... के लिये उपयोग किया है। ... इतिहास के ... को भी उन्होंने ... से पुनः ...

किया है और इन दूसरे प्रमाणों के द्वारा ऐतिहासिक सूत्रों की एक संभावित को कल्पित किया है। इतिहास में यह संभावित ठीक इसी रूप में घटित नहीं हुई। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की अनुरक्ता किन्तु रामगुप्त की विवाहिता पत्नी थी और इतिहास से जो प्रमाण दिये जा सकते हैं उनसे यही ज्ञात होता है कि रामगुप्त की मृत्यु के उपरान्त चन्द्रगुप्त के शासक बनने पर ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की पट्टमहिषी बनी। यहाँ प्रसाद ने इतिहास पर एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है। उन्होंने रामगुप्त के विरुद्ध एक क्रान्ति करवा दी है रामगुप्त को राज्याधिकार से च्युत करवा दिया है और ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त से विवाह-मोक्ष दिलवा दिया है। इतनी बड़ी राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक क्रांति भारतीय इतिहास में कभी घटी थी या नहीं यह कहना कठिन है किन्तु उपलब्ध इतिहास के आधार पर प्रसाद के निष्कर्षों को चुनौती देना भी असंभव है। एक इतिहासकार की सम्पूर्ण प्रतिभा से प्रसाद ने इतिहास के अज्ञात और अस्पष्ट अंशों की जिस प्रकार सम्पूर्ति की है वह अपने आप में पूर्ण सम्भाव्य है।

यहाँ भी प्रसाद इतिहास से अपने युग को आलोकित करते हैं और सम्भवतः इस नाटक में उनके इतिहासकार की दृष्टि अपने युग पर सबसे अधिक है। इतिहास की घटना को विविध प्रमाणों से पुष्ट कर उन्होंने आधुनिक भारतीय नारी के लिये विवाह मोक्ष के अधिकार की शास्त्रीयता और सार्थकता दोनों को सिद्ध कर दिया है। यह निश्चय ही एक सचेतन इतिहासकार की दूरगामी दृष्टि है जो नाटक में प्रवेश पाते ही सामाजिक संदर्भों को अनायास ही पा लेती है। यह ठीक है कि ध्रुवस्वामिनी आधुनिक अर्थ में समस्या नाटक नहीं है क्योंकि उसमें समस्या का बौद्धिक स्वरूप नहीं है ऐतिहासिक भावना अन्य और शास्त्रीय स्वरूप है किन्तु इतिहास के परिप्रेक्ष्य में एक स्वच्छन्दतावादी (रूमानी) साहित्यकार ने जो भी प्रश्न उठाया है वह यदि ऐतिहासिक और शास्त्रीय है तो भी वह समस्या मूलक तो है ही।

स्कंदगुप्त संबंधी इतिहास के लिये प्रसाद ने स्मिथ, ऐलेन, जायसवाल भाऊ दाजी, दुर्गाप्रसाद शास्त्री फ्लीट राखलदास बनर्जी तथा कीथ की कृतियों अनेक शिला लेखों ताम्रपत्रों स्तंभलेखों तथा सिक्कों एवं गाथा सप्तशती कालकाचार्य कथा प्रबंध कोष राजावली, जैसलमेर का इतिहास सूक्ति मुक्तावली सुभाषितावली, पराक्रमबाहु चरित एवं कालिदास के ग्रंथों का प्रचुर उपयोग किया है। वस्तुतः स्कंदगुप्त नाटक में इतिहास होते हुए भी उसका बहुत बड़ा अंश कल्पित है किन्तु स्कंदगुप्त संबंधी इतिहास की भी प्रसाद ने अपने ढंग से पुनर्रचना की है, गुप्तकाल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम से खिन्न स्कंदगुप्त की उदासीनता को प्रसाद ने नाटक में चारित्रिक गुण बनाकर अन्तर्द्वन्द्व की उद्भावना कर दी है। पुरगुप्त और अनन्तदेवी द्वारा किये गये षड्यन्त्रों के लिए प्रसाद ने कोई प्रमाण नहीं दिये हैं किन्तु इतिहास

आश्चर्य तब और भी बढ़ जाता है, जब अन्त तक उनका इतिहासकार विजयी बना रहता है। देवसेना उनकी बड़ी ही सुन्दर कल्पना है किन्तु उसे भी उन्होंने इतिहास को समर्पित कर दिया है। जैसा मैं एक स्थान पर लिख चुका हूँ—"इतिहास स्कंद का उल्लेख करता है, देवसेना का नहीं किन्तु यदि इतिहास कभी चाहे तो प्रसाद की देवसेना को मांगकर अपने इतिहास में रख सकता है और यह निश्चित है कि इतिहास में आकर भी देवसेना काल्पनिक नहीं मालूम पड़ेगी वह इतिहास की एक करुण कोमल कड़ी बन जायगी और कोई उसके अस्तित्व को चुनौती नहीं दे सकेगा।

'राज्यश्री' के लिये प्रसाद मूलतः हर्ष चरित तथा ह्वेनसांग के भारत भ्रमण के वृत्तान्तों के ऋणी हैं किन्तु उन्होंने अनेक शिलालेखों सिक्कों और ताम्रपत्रों से भी अपनी सामग्री ली है। राज्यश्री में इतिहास स्पष्ट है और उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन भी नहीं किये गये हैं, केवल कारण-कार्य परम्परा में जहाँ कहीं भी कारण नहीं मिल पाया है वहीं प्रसाद ने दो कल्पित पात्रों शान्तिभिक्षु (विकट घोष) और सुरमा का सहारा ले लिया है। वस्तुतः इस नाटक में भी प्रसाद का उद्देश्य इतिहास की घटनाओं का चित्रण करना ही अधिक प्रतीत होता है। उन्होंने उस युग की घटनाओं से कुछ प्रसंग चुन लिये हैं और उन्हें वे चलचित्र की तरह पर्दे पर बड़ी शीघ्रता से चलाते हुए प्रतीत होते हैं, कई सेनेरियो तथा 'सीक्वेंस' तेजी से चलने के कारण सम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु वे सचमुच इतने सम्बद्ध नहीं हैं बिखरे हुए हैं। यह ठीक है कि लगभग सभी इतिहास द्वारा प्रमाणित हैं, किन्तु उनमें जीवन्तता अधिक नहीं आ पाती। परिणाम यह होता है कि समग्र नाटक का प्रभाव अन्तिम अंक और दृश्य में आकर केन्द्रित हो जाता है यहाँ प्रसाद का सांस्कृतिक इतिहासकार जागरूक है। बौद्ध धर्म की गरिमा अमिताभ की जन्मभूमि, महायान का वह गौरवशाली दृश्य जिसे चीनी यात्री ने अपनी आँखों देखा था सारे नाटक में समग्र प्रभाव की व्यंजना करता है। प्रारंभिक रचना होते हुए भी प्रसाद के इतिहासकार की पुनरुत्थानवादी दृष्टि की सार्थकता यहाँ भी स्वतः सिद्ध है।

प्रसाद के इन सभी नाटकों में जिन सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है वे एक ओर तो राष्ट्रीयता और देश प्रेम के छोर का स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर त्याग तितिक्षा करुणा क्षमा न्याय सहिष्णुता और व्यापक मानवता के आदर्श को समेटे हुए चलते हैं। प्रसाद की दृष्टि में भारतीयता ज्ञान की गरिमा से युक्त हृदय की उदात्त वृत्तियों से पोषित और समग्र मानवता की कल्याण कामना से परिपूर्ण दृष्टि है। उन्होंने धर्म जाति संस्कार और आडम्बरों से हीन मानवोचित संस्कृति को ही अपना आदर्श माना है। उनकी संस्कृति की परिभाषा बड़ी उदात्त है नारी को वे गरिमामयी ही देखना चाहते हैं जिसमें करुणा स्वार्थहीनता सौन्दर्य

कोमलता, समर्पण, विश्वास, शील ही नहीं किन्तु अन्याय का प्रतिकार करने की सामर्थ्य तथा स्वाभिमान एवं गर्व भी है। पुरुष का आदर्श स्वाभिमान वीरता और त्याग तथा कर्तव्य पर मर मिटने की शक्ति है। पशुता का विरोध और विश्व मैत्री साम्य और सहज मानव गुणों द्वारा कराना ही उन्हें अभिप्रेत है।

इतिहास की सीमाओं में भी प्रसाद ने सामाजिक न्याय और काव्य न्याय दोनों को स्वीकार किया है। संभवतः शुद्ध त्रासदी लिखने में प्रसाद इसलिये असमर्थ न हो सके यद्यपि त्रासदी के रचना तंत्र को वे ग्रहण करते रहे हैं और बड़ी कुशलता से उन्होंने उसका उपयोग भी किया है। उन्होंने इतिहास के तथ्यों को ही इस रूप में ग्रहण किया है कि त्रासदी के ढाने वाले होते हुए भी नाटक वैयक्तिक द्वन्द्व के स्तर पर कम किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-मानवीय द्वन्द्वों के स्तर पर अधिक प्रक्षेपित हुए हैं। यही कारण है कि उनके नाटक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक द्वन्द्वों एवं आकांक्षा अभिलाषाओं के नाटक हैं। व्यक्ति केन्द्रित अन्तर्द्वन्द्वों और व्यक्ति बनाम नियति के संघर्ष को उन्होंने उस व्यापक परिवेश में कहीं कहीं बड़े हल्के रंगों से छू भर दिया है। व्यक्ति के अपने त्रास, भय और उसकी आकांक्षा-अभिलाषाओं पर उन्होंने नाटक नहीं लिखे हैं।

अन्त में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि प्रसाद ने इतिहास का जितना व्यापक और गहन अध्ययन किया उतना शायद ही किसी नाटककार ने किया हो वस्तुतः उन्होंने अपने ढंग से भारतीय इतिहास की व्याख्या की उसके सांस्कृतिक पक्ष की गरिमा को पहिचाना साहित्य में उसे प्रतिष्ठित किया और अपने युग के समग्र परिप्रेक्ष्य में उन समस्त संदर्भों को स्थापित किया जिनमें सर्वहित मूल्यों पर उनकी आस्था थी।



कोमलता, समर्पण, विश्वास ही नहीं किन्तु अन्याय का प्रतिकार करने की सामर्थ्य तथा स्वाभिमान एवं गर्व भी है। पुरुष का आदर्श स्वाभिमान वीरता और त्याग तथा कर्तव्य पर मर मिटने की शक्ति है। पशुता का विरोध और विश्व मैत्री साम्य और सहज मानव गुणों द्वारा कराना ही उन्हें अभिप्रेत है।

इतिहास की सीमाओं में भी प्रसाद ने सामाजिक न्याय और काव्य न्याय दोनों को स्वीकार किया है। संभवत: शुद्ध त्रासदी लिखने में प्रसाद इसलिये समर्थ न हो सके यद्यपि त्रासदी के रचना तंत्र को वे ग्रहण करते रहे हैं और बड़ी कुशलता से उन्होंने उसका उपयोग भी किया है। उन्होंने इतिहास के तथ्यों को ही इस रूप में ग्रहण किया है कि त्रासदी के ताने बाने होते हुए भी नाटक वैयक्तिक द्वन्द्व के स्तर पर कम किन्तु राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–मानवीय द्वन्द्वों के स्तर पर अधिक प्रक्षेपित हुए हैं। यही कारण है कि उनके नाटक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक द्वन्द्वों एवं आकांक्षा अभिभावनाओं के नाटक हैं। व्यक्ति केन्द्रित अन्तर्द्वन्द्वों और व्यक्ति बनाम नियति के संघर्ष को उन्होंने उक्त व्यापक परिवेश में कहीं कहीं बड़े हल्के रंगों से छू भर दिया है। व्यक्ति के अपने खास मन और उसकी आकांक्षा-अभिलाषाओं पर उन्होंने नाटक नहीं लिखे हैं।

अन्त में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि प्रसाद ने इतिहास का जितना व्यापक और गहन अध्ययन किया उतना शायद ही किसी नाटककार ने किया हो। वस्तुत उन्होंने अपने ढंग से भारतीय इतिहास की व्याख्या की उसके सांस्कृतिक पक्ष की गरिमा को पहिचाना साहित्य में उसे प्रतिष्ठित किया और अपने युग के समग्र परिप्रेक्ष्य में उन समस्त संदर्भों को स्थापित किया जिनमें सन्निहित मूल्यों पर उनकी आस्था थी।

—